# गीता-दर्शन

अध्याय : १८

भगवान श्री रजनीश

# गीता-दर्शन

(अध्याय : १८)

प्रवचन

**भगवान् श्री रजनीश**

सम्पादन

**स्वामी योग चिन्मय**

संकलन

**स्वामी आनन्द हंस**

**रजनीश फाउन्डेशन प्रकाशन, पूना**

**१९७७**

**प्रकाशक**

मा योग लक्ष्मी

सचिव, रजनीश फाउन्डेशन

श्री रजनीश आश्रम, ६६, कोरेगाँव पार्क, पूना-१ (महाराष्ट्र)



प्रथम संस्करण : २१ मार्च, १९७७

प्रतियाँ : ३०००

**मूल्य**

राज संस्करण : सौ रुपये

सामान्य संस्करण : साठ रुपये

**मुद्रक**

लीडर्स प्रेस, १०८, मोतीशाह लेन,

मायखला, बम्बई-४०० ०१०.

# गीता-दर्शन

## भगवान् श्री रजनीश के कुछ अन्य प्रवचन संकलन

**गीता-दर्शन** पूरी भगवद्गीता पर २२० प्रवचन (११ खण्डों में)
**ताओ-उपनिषद्** लाओत्से कृत 'ताओ-तेह-किंग' पर १२७ प्रवचन (६ खण्डों में)
**महावीर-वाणी** ५४ प्रवचन (३ खण्डों में)
**जिन-सूत्र** महावीर-वाणी पर ६२ प्रवचन (४ खण्डों में)
**ऐस धम्मो सनन्तनो** बुद्ध-वचन : धम्मपद पर १२३ प्रवचन (६ खण्डों में)
**महागीता** अष्टावक्र संहिता पर ९१ प्रवचन (९ खण्डों में)
**भक्ति-सूत्र** नारद-भक्ति-सूत्र पर २० प्रवचन (२ खण्डों में)
**एक ओंकार सत्नाम** नानक-वाणी : जपुजी पर २१ प्रवचन
**महावीर : मेरी दृष्टि में** कश्मीर शिविर में २६ प्रवचन
**कृष्ण : मेरी दृष्टि में** मनाली शिविर में २० प्रवचन
**दिया तले अँधेरा** झेन और सूफी बोध कथाओं पर २१ प्रवचन
**सहज समाधि भली** कबीर-वाणी और झेन, सूफी व उपनिषद् की कहानियों पर २१ प्रवचन
**तत्त्वमसि** ५२० अमृत पत्र
**साधना-सूत्र** मैबिल कॉलिन्स की 'लाइट ऑन द पाथ' पर १७ प्रवचन
**शिव-सूत्र** १० प्रवचन
**कबीर-वाणी पर** दस-दस प्रवचनों के पाँच संकलन
सुनो भाई साधो/ गूंगे केरी सरकरा/ कस्तूरी कुण्डल बसै
कहे कबीर दीवाना/ मेरा मुझमें कुछ नहीं
**पिव पिव लागी प्यास** दादू-वाणी पर १० प्रवचन
**सबै सयाने एकमत** दादू-वाणी पर १० प्रवचन
**अकथ कहानी प्रेम की** फरीद-वाणी पर १० प्रवचन
**बिन घन परत फुहार** सहजो बाई के पदों पर १० प्रवचन
**भज गोविन्दम्** आदि शंकराचार्य के पदों पर १० प्रवचन
**ईशावास्योपनिषद्** आबू शिविर में १३ प्रवचन
**निर्वाणोपनिषद्** आबू शिविर में १५ प्रवचन
**सर्वसार उपनिषद्** माथेरान शिविर के १७ प्रवचन
**अध्यात्म उपनिषद्** आबू शिविर के १७ प्रवचन
**कैवल्य उपनिषद्** आबू शिविर के १७ प्रवचन
**कठोपनिषद्** आबू शिविर के १७ प्रवचन
**समाधि के सप्त द्वार** आनन्द शिला शिविर के १७ प्रवचन
**जिन खोजा तिन पाइयाँ** कुण्डलिनी-योग पर १८ प्रवचन
**मैं मृत्यु सिखता हूँ** ध्यान व समाधि पर १५ प्रवचन
**नहीं राम बिन ठाँव** १६ प्रश्नोत्तर प्रवचन
**बिन बाती बिन तेल** १९ प्रवचन

## आमुख

यह युग बुद्धि-केंद्रित है—और बुद्धि एक घाव बन गयी है।

उससे न तो जीवन में आनन्द फलित होता, न शांति का आविर्भाव होता, न जीवन में प्रसाद बरसता।

जीवन केवल चिन्ताओं—और चिन्ताओं से भर जाता है; विचार—और विचारों की विक्षिप्त तरंगें व्यक्ति को घेर लेती हैं।

बुद्धि अगर मालिक हो जाय तो विक्षिप्तता तार्किक परिणाम है।

बुद्धि अगर सेवक हो, तो अनूठी है।

उसके सहारे तो सत्य की खोज होती है।

फर्क यही ध्यान रखना कि बुद्धि तुम्हारी मालिक न हो।

मालिक हुई—कि बुद्धि उपाधि हो गयी।

इसलिए कृष्ण का उपयोग है।

उनकी समर्पण की दृष्टि औषधि बन सकती है।

एक तरफ ढल गया है जगत्—बुद्धि की तरफ।

अगर थोड़ी भक्ति, थोड़ी श्रद्धा का संगीत भी पैदा हो, तो बुद्धि से जो असंतुलन पैदा हुआ है, वह संतुलित हो जाय; यह जो एकांगीपन पैदा हुआ है, एकान्त पैदा हुआ है, वह छूट जाय।

जीवन ज्यादा संगीतपूर्ण हो, ज्यादा लयबद्ध हो।

इसलिए कहता हूँ : इस युग को कृष्ण की जरूरत है।

अहंकार पक गया है।

संकल्प प्रगाढ़ हुआ है।

मनुष्य के हाथ में बड़ी ऊर्जा है।

यह ऊर्जा नरक ले जाएगी—यह ऊर्जा पृथ्वी को हिरोशिमा और नागासाकी में बदल देगी—अगर जल्दी से इस ऊर्जा का रूपान्तरण न हुआ।

अगर यह ऊर्जा संकल्प से हटकर समर्पण की तरफ न बही, तो यह रेगिस्तान में खो जाएगी, मरुस्थल में खो जाएगी।

इसके साथ आदमी भी खो जाएगा। एक महाअग्नि होगी, एक महाविस्फोट होगा।

मनुष्य की प्रौढ़ता पकी है—

और कृष्ण के संदेश की ऐसे ही क्षण में जरूरत है।

# गीता-दर्शन

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के अठारहवें अध्याय : 'मोक्ष-संन्यास-योग' पर
भगवान् श्री रजनीश द्वारा दिये गये
इक्कीस प्रवचनों का संकलन

# विषय-अनुक्रमणिका

नियोजन/ऊर्जा तटस्थ है/संकल्प—अहंकार भी बन सकता है/नास्तिक की नासमझी/पश्चिम के पास ऊर्जा है—संकल्प की/पश्चिम धर्म में जाय—तो पूरब को मात कर सकता है/पके हुए तेजस्वी अहंकार को समर्पण सरल/नपुंसक और निस्तेज अहंकार के समर्पण का कोई मूल्य नहीं है/अर्जुन जैसा ऊर्जस्वी अहंकार हो, तो क्षण में क्रांति संभव/इस युग को कृष्ण की जरूरत है/अहंकार पक गया है/पका हुआ अहंकार समर्पण न बने, तो महाविनाश की संभावना/●ग्यारहवें अध्याय में कृष्ण ने अर्जुन को दिव्यदृष्टि दी और अपना विश्वरूप दिखाया। और अठारहवें अध्याय पर आकर अर्जुन को कृष्ण-चेतना का प्रसाद मिला। बीच के इस अंतराल का क्या अर्थ है ? /दिव्य-दृष्टि पाकर अर्जुन घबड़ा गया/अर्जुन तब तैयार न था—झेलने को/दिव्य-दृष्टि उधार थी/बिना पात्रता अर्जित किये—मत माँगना/धीरे-धीरे अपने को निखारना/संजय का आह्लाद/तुम्हारी तैयारी और प्रभु-प्रसाद का मिलन/अरबों-खरबों सूर्यों का सामना/सात अध्यायों के बाद अर्जुन तैयार हो पाया/पहली घटना अहंकार और संदेह आधारित थी/दूसरी घटना समर्पण जनित थी/अज्ञानी मानता है कि वह है/ज्ञानी पाता है कि वह नहीं है/●गीता का—शापेनहार और बर्ट्रेंड रसेल पर कैसा भिन्न-भिन्न असर पड़ा ? /शापेनहार अर्जुन की तरह गहन विषाद में था/गीता पढ़ी तो उसे सिर पर उठाकर नाच उठा/विषाद में एक आशा की किरण/रसेल को विषाद न हुआ था/रसेल का बुद्ध से थोड़ा ताल-मेल बना/बुद्ध का धर्म—तर्क और बुद्धि का धर्म/कृष्ण और क्राइस्ट का मार्ग है—समर्पण, प्रार्थना, भक्तिभाव/रसेल बुद्धि के पार के लिए तैयार नहीं/विचार प्रगाढ हो तो विषाद फलित/ . . . सत्य की निकटता भी रूपांतरित करती है/जगत् में महानतम घटना—अहंकार का समर्पण बनना/सत्य ही जीतना है—असत्य नहीं/परमात्मा—प्रत्येक व्यक्ति की संभावना/गीता का संदेश : विषाद से आनन्द की यात्रा/आत्म-विस्मरण दुःख है और आत्म-स्मरण—परमानंद—मुक्ति।

# अन्तिम जिज्ञासा : क्या है मोक्ष, क्या है संन्यास

**पहला प्रवचन**

प्रातःकाल, दिनांक २१ जुलाई, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

# अथ अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ।।१।।

श्री भगवानुवाच

काम्यानां कर्मणांन्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्व कर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।।२।।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ।।३।।

अर्जुन बोला, 'हे महाबाहो, हे हृषीकेश, हे वासुदेव, मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ।'

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर श्री कृष्ण भगवान बोले, 'हे अर्जुन, कितने ही पण्डितजन तो काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास जानते हैं और कितने ही विचक्षण पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं।

'तथा कई एक मनीषी ऐसा कहते हैं कि कर्म सभी दोषयुक्त हैं, इसलिए त्यागने के योग्य हैं। और दूसरे विद्वान ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं।'
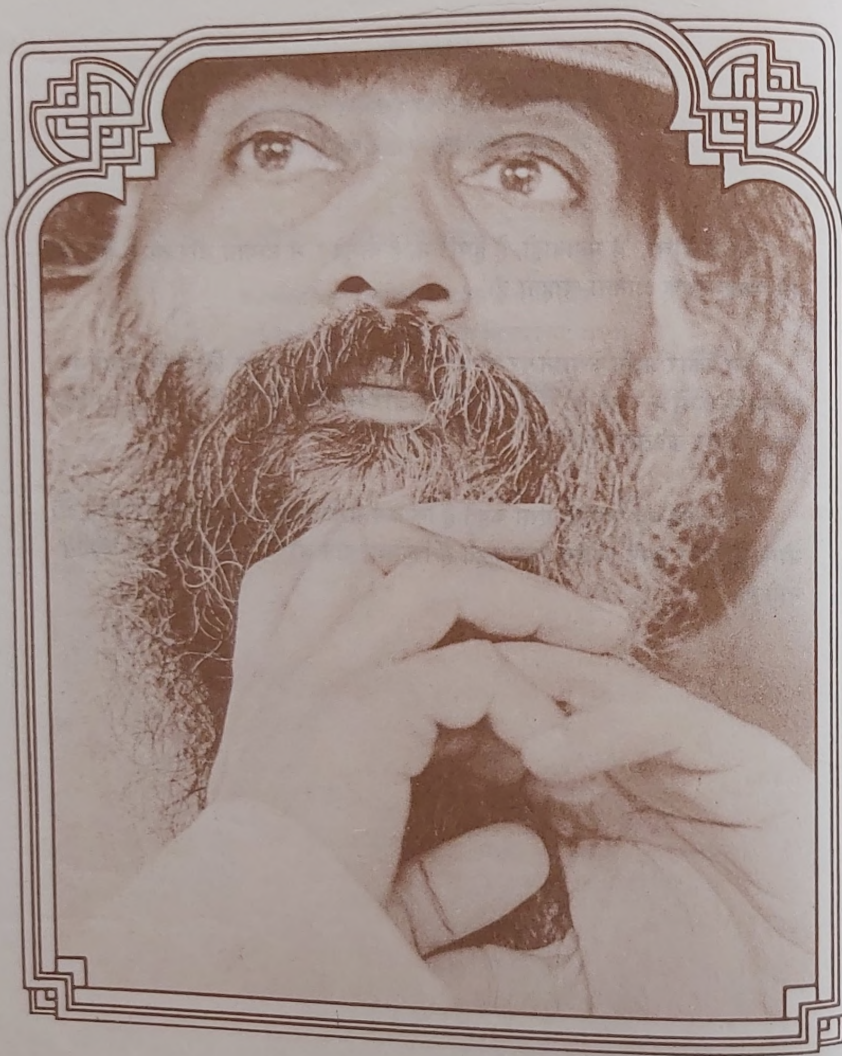
कृष्ण की गीता का अंतिम अध्याय आ गया। जो शुरू होता है, वह समाप्त भी होता है। कृष्ण जैसे अनूठे पुरुषों के वचन भी अंत पर आ जाते हैं। उनके द्वारा भी जिन शब्दों का उच्चार होता है, वे भी पानी पर खींची गई लकीरें सिद्ध होते हैं। कृष्ण भी उसे नहीं बोल पाते, जो कभी समाप्त न होगा। बोलने में वह आता ही नहीं।

जो भी बोला जाएगा—शुरू होगा, अंत होगा; उसकी सुबह होगी, साँझ होगी; जन्म होगा, मृत्यु होगी।

सभी शास्त्र जन्मते हैं और मर जाते हैं। और सत्य तो वह है, जो कभी जन्मता नहीं और कभी मरता नहीं। सत्य तो शाश्वत है; शब्द क्षण-भंगुर हैं।

शब्दों के क्षण-भंगुर बबूलों पर सत्य का प्रतिफलन पड़ जाय, इतना काफी है। तुम्हारे शब्द भी बबूले हैं; कृष्ण के शब्द भी बबूले हैं। दोनों ही मिटेंगे। दोनों ही क्षण-भंगुर हैं। फर्क इतना है कि तुम्हारे शब्द पर सत्य की कोई प्रतिछाया नहीं पड़ती। कृष्ण के शब्द पर सत्य की प्रतिछाया पड़ती है। जैसे पानी के बबूले पर सूरज झलकता हो; इन्द्रधनुष खिंच गया हो—बबूले के आसपास। सातों रंग प्रकट हो गये हों। तुम्हारा बबूला बस, बबूला है—खाली। बबूला तो कृष्ण का भी बबूला ही है; पर सत्य की छाया है।

तुम्हारी झील में चाँद का कोई प्रतिबिम्ब नहीं है। कृष्ण की झील में चाँद का प्रतिबिम्ब है। यद्यपि झील में बने चाँद को चाँद मत समझ लेना। झील में खोजने मत लग जाना; नहीं तो खोजोगे तो बहुत, पाओगे कुछ भी नहीं। चाँद झील में नहीं है, झील में दिखाई पड़ता है। झील से इशारा सीख लो। झील से समझ लो कि प्रतिबिम्ब कहाँ से आ रहा है। इसका मूल उत्स कहाँ है। फिर झील की तरफ पीठ कर लो और चाँद की तरफ यात्रा शुरू कर दो।

कृष्ण ने जो कहा है—गीता में, उसमें मत उलझ जाना। न मालूम कितने उस

अरण्य में उलझे हैं और भटक गये हैं। कितनी टीकाएँ हैं—कृष्ण की गीता पर! मैं कोई टीका नहीं कर रहा हूँ।

एक अरण्य खड़ा हो गया है—कृष्ण के शब्दों के आस-पास। न मालूम कितने लोग जीवन उसी में बिता डालते हैं। वे गीता के पण्डित हो जाते हैं; कृष्ण से वंचित रह जाते हैं।

गीता थोड़े ही सार है; वह तो झील में बना प्रतिबिम्ब है—चाँद का। समझ लेना—इशारा—और झील को छोड़ देना। यात्रा बिलकुल अलग-अलग है। अगर झील में छलाँग लगा ली और चाँद को खोजने के लिए डुबकियाँ मारने लगे, तो तुम टीकाएँ ही पढ़ते रहोगे। तब तुम कृष्ण के शब्दों में ही उलझ जाओगे। शब्दों में तो कुछ सार नहीं है। झील में उतरना ही मत। झील ने तो इशारा दे दिया है—ठीक अपने से विपरीत। दिखाई तो पड़ता है—प्रतिबिम्ब—झील के भीतर; चाँद होता है—झील के ऊपर—ठीक उलटा।

शब्द को सुन कर निःशब्द की यात्रा पर निकल जाना। ठीक उलटी यात्रा है। कृष्ण को सुनकर गीता में मत फँसना; कृष्ण की खोज में निकल जाना।

जहाँ से उठती है गीता, उस चैतन्य का नाम कृष्ण है। गीता तो शब्द ही है; बड़ा बहुमूल्य शब्द है—पर शब्द ही है। हीरा बड़ा बहुमूल्य पत्थर है, पर पत्थर ही है। और इसीलिए गीता का अंत आ जाता है; कृष्ण का तो कोई अंत नहीं है।

जो है—उसका कभी कोई अंत नहीं है। सपने ही बनते और मिटते हैं। एक बड़ा प्यारा सपना है—गीता।

सपने में भी दो तरह के सपने होते हैं। एक तो बिलकुल ही सपना होता है; जिससे यथार्थ का कोई भी नाता नहीं होता और एक ऐसा भी सपना होता है, जिसमें यथार्थ की थोड़ी भनक होती है। सपना तो वह भी है; लेकिन यथार्थ की थोड़ी भनक है। सपने को छोड़ देना, भनक को पकड़ लेना। वह जो यथार्थ का घूँघुर बज रहा है—धीमा-धीमा, सपने के शोरगुल में उसे ठीक से पकड़ लेना, ताकि शोरगुल में न उलझ जाओ।

कृष्ण ने यह गीता कही—इसलिए नहीं कि कह के सत्य को कहा जा सकता है। कृष्ण से बेहतर कौन जानेगा कि सत्य को कहकर कहा नहीं जा सकता! —फिर भी कहा; करुणा से कहा है।

सभी बुद्ध पुरुषों ने इसलिए नहीं बोला है कि बोल कर तुम्हें समझाया जा सकता है। बल्कि इसलिए बोला है कि बोलकर ही तुम्हें प्रतिबिम्ब दिखाया जा सकता है।

प्रतिबिम्ब ही सही—चाँद की थोड़ी खबर तो ले आयेगा! शायद प्रतिबिम्ब से प्रेम पैदा हो जाय और तुम असली की तलाश करने लगो, असली की खोज करने





लगो, असली की पूछताछ शुरू कर दो।

लेकिन अकसर ऐसा हुआ है कि बुद्ध पुरुषों के वचन इतने महत्त्वपूर्ण हैं, इतने कीमती हैं, इतने सारगर्भित हैं कि लोग उनमें ही उलझ गये हैं। फिर सदियाँ बीत जाती हैं, लोग शास्त्रों का बोझ बढ़ाये चले जाते हैं! बात ही उलटी हो गई। कहा किसी और कारण से था। कहने के लिए न कहा था; न कहने की तरफ इशारा उठाया था। शब्द से भी तुम्हारे भीतर निःशब्द को जगाने की चेष्टा है। बोल कर भी बुद्ध पुरुष चाहते हैं कि तुम न-बोलने की कला सीख लो।

तो पहली बात : कृष्ण की गीता तक का अंत आ जाता है, तो तुम्हारे गीतों का तो कहना ही क्या। वे अंत को आ जाएँगे। और जिसका अंत ही आ जाना है, उसमें क्या उलझना। उसमें जितने उलझे, उतना ही समय गँवाया—उतना ही जीवन व्यर्थ खोया। खोजो उसे—जिसका कोई अंत नहीं आता।

शाश्वत है सत्य। सत्य को भी जो जान लेते हैं, वे भी समय की धार में उस सत्य को वैसा ही नहीं ला सकते, जैसा वह अपने में है। समय की धार में लाते ही प्रतिबिम्ब बन जाता है। समय दर्पण है। शाश्वत उसमें एक ही तरह से पकड़ा जा सकता है—वह प्रतिबिम्ब की तरह है। इसे थोड़ा समझ लेना।

इसलिए मैं कहता हूँ : गीता तो इतिहास की घटना है; कृष्ण इतिहास की घटना नहीं हैं। कृष्ण तो पुराण-पुरुष हैं। गीता कभी घटी है; कृष्ण कभी घटते हैं? कृष्ण सदा हैं।

यह गीता का फूल तो लगा एक दिन; सुबह खिला; उठा आकाश में; सुगंध फैली; साँझ मुरझाया और गिर गया। अब फिर बहुत नासमझ हैं, जो उसी फूल पर अटके बैठे हैं। जिन्होंने उसी फूल पर टीकाएँ लिखीं हैं। उसी फूल के आसपास सिद्धांतों का जाल बुना है। वे भूल ही गये कि यह फूल असली बात न थी। यह तो एक चेष्टा थी—शाश्वत की—समय की धारा में प्रवेश की; ताकि तुम तक आवाज पहुँच सके।

बस, यह एक आवाज थी; यह अनंत की पुकार थी—कि तुम सुन लो—और चल पड़ो। यह कोई घर बनाकर बैठ जाने का मामला न था। यह तो एक आह्वान था। लेकिन इस आह्वान को मान कर जाने के लिए तो बड़ी हिम्मत चाहिए। अर्जुन जैसा क्षत्रिय भी बामुश्किल जुटा पाया। जुटाता; बिखर जाता। सम्हालता अपने को; चूक जाता।

सब तरफ से उसने भागने की कोशिश की। लेकिन कृष्ण मिल जायँ; तो उनसे कभी कोई भाग पाया है? भागने का उपाय नहीं है। इसलिए अर्जुन न भाग पाया अन्यथा अपनी तरफ से उसने सब चेष्टा की; सब तर्क लाया।

मनुष्य जाति के इतिहास में—उस परम निगूढ़ तत्त्व के संबंध में जितने भी तर्क

हो सकते हैं, सब अर्जुन ने उठाये। और शाश्वत में लीन हो गये व्यक्ति से जितने उत्तर आ सकते हैं, वे सभी कृष्ण ने दिये। इसलिए गीता अनूठी है। वह सार-संचय है; वह सारी मनुष्य की जिज्ञासा, खोज, उपलब्धि—सभी का नवनीत है। उसमें सारे खोजियों का सार—अर्जुन है। और सारे खोज लेने वालों का सार कृष्ण हैं।

कृष्ण कभी घटे—समय में, इस बात में पड़ना ही मत। ऐसे व्यक्ति सदा हैं। कभी-कभी उनकी किरण उतर आती है; कहीं से संघ मिल जाती है। अर्जुन संघ बन गया। प्रेमपूर्ण हृदय ही संघ बन सकता है।

अर्जुन शिष्य ही नहीं है। वस्तुतः तो शिष्य वह था ही नहीं। क्षत्रिय और शिष्य हो—जरा कठिन है! वह एक ही भाषा जानता है : मित्र की या शत्रु की। और कोई भाषा नहीं जानता। या तो तुम उसके मित्र हो या उसके शत्रु हो। उसका गणित सीधा साफ है : जो मित्र नहीं, वह शत्रु है।

कृष्ण से भी अर्जुन का प्राथमिक नाता मित्र का है। शिष्य तो वह फँस कर बन गया। शिष्य होने में तो जैसे उसकी चेष्टा न थी—अनजाने उलझ गया। बात तो उसने ऐसी ही शुरू की थी, जैसे मित्र से पूछ रहा हो। इसमें थोड़ा समझ लेने जैसा है।

सत्य की खोज की दिशा में एक गहन मैत्री का भाव तो चाहिए ही। शिष्य का भाव तो तुम्हारे बस के भीतर नहीं है। वह गुरु पैदा करेगा। तुम्हारा अहंकार कैसे शिष्य हो सकता है—प्रथम से? वह इतना भी राजी हो जाय—मित्र होने को, तो भी काफी है। इतनी सुविधा दे दे तुम्हें, तो भी बहुत है।

अर्जुन ने बात तो शुरू किया था—मित्र की तरह से, अंत होते-होते शिष्य हो गया। जैसे-जैसे पूछा, वैसे-वैसे मुश्किल में पड़ा। जैसे-जैसे पूछा, वैसे-वैसे कृष्ण का विराट् रूप प्रकट होने लगा। जिसको सदा मित्र की तरह जाना था, जिसमें और किन्हीं गहराइयों की खबर ही न थी, जिसमें कभी झाँका ही न था, जिसे स्वीकार ही कर लिया था कि अपना मित्र है...। यह भी थोड़ा समझ लेना।

तुमने जिन्हें मित्र ही समझ लिया है, उनके भीतर भी विराट् छिपा है। जिनके ऊपरी व्यवहार से ही तुम समाप्त हो गये हो। तुमने समझ लिया कि परिचित हो गये; गलती मत करना।

अगर तुम थोड़े मित्र को संधि दोगे, तो तुम वहीं से विराट् को पाओगे; वहीं से कृष्ण की किरण उतर आयेगी। इसलिए गहन मैत्री में धर्म की शुरुआत होती है। प्रेम में प्रार्थना का प्रारम्भ है। प्रेम में ही बीज बोये जाते हैं, जो किसी दिन परमात्मा बनते हैं।

यह भी समझ लेने जैसा है कि एक गहन सहानुभूति चाहिए, तो ही समझ पैदा हो सकती है। एक तरह की विवादग्रस्त मनोदशा से समझ पैदा नहीं हो सकती।





अर्जुन ने तर्क तो सब उठाये, पर बड़ा संवादपूर्ण हृदय था। उन तर्कों में कृष्ण को गलत करने की चेष्टा न थी, सिर्फ अपने संशयों की—अभिव्यक्ति थी, अभिव्यन्जना थी।

जब तुम तर्क उठाते हो, तो दो तरह से उठा सकते हो : एक तो—कि दूसरे को गलत करने की चेष्टा हो; तब तुमने शत्रुता खड़ी कर ली। संवाद बिखर गया। गीता पैदा न हो सकेगी।

गीत कहीं पैदा होता है वहाँ—जहाँ संवाद ही पैदा न हो सके? संवाद का स्वर गीत है। संवाद का समस्वर हो जाना गीत है। जहाँ दो व्यक्ति एक ऐसी समस्वरता में बँध जाते हैं—समाधि की, संगीत की—वहाँ गीत पैदा होता है।

भगवद्गीता पैदा हुई—उसमें अर्जुन का हाथ उतना ही है, जितना कृष्ण का। न तो अकेले कृष्ण से वह हो सकती थी, न अकेले अर्जुन से हो सकती थी। उन दोनों का समतुल हाथ है; वहीं से गीत जन्मा है।

अगर विवाद की दृष्टि हो, तो जिज्ञासा सुंदर नहीं रह जाती; कुरूप हो जाती है। जिज्ञासा जिज्ञासा ही नहीं रह जाती, एक तरह की शत्रुता हो जाती है। तुम पूछते ही हो—गलत सिद्ध करने को। तुम पूछते हो—मान कर कि तुम पहले से जानते ही हो। मित्र भी पूछ सकता है; प्रश्न की शब्दावलि एक ही जैसी भी हो, तो भी कोई मूल नहीं होने वाली है।

मित्र जब पूछता है, तो वह इसलिए नहीं पूछता कि तुम गलत हो। वह इसलिए पूछता है कि 'मेरे मन में संदेह है। तुम तो ठीक ही होओगे; मैं ही कहीं गलत हूँ। पर यह संदेह मेरे भीतर है, इसका भी मैं क्या करूँ?'

कल एक संन्यासी मेरे पास आये। उनकी आँख में आँसू आ गये और उन्होंने कहा कि 'कभी-कभी आपके सम्बन्ध में भी विरोध के विचार पैदा हो जाते हैं।' पर आँख में आँसू हैं; पीड़ा है, तब तो यह विरोध का विचार भी अत्यंत प्रेम से भरा है।

मैंने उनसे कहा, 'फिर होने दो। फिर कोई चिंता नहीं है। आने दो—विरोध के विचार को। वह तुम्हें घेर न पायेगा; तुम उसे जीत लोगे। क्योंकि 'तुम' विरोध में नहीं हो, फिर कोई विरोधी विचार कुछ फर्क नहीं ला सकता। लेकिन तुम अगर विरोध में हो, तो विरोधी विचार न भी हो, तो भी क्या फर्क पड़ेगा। विवाद तो खड़ा ही है।'

अर्जुन के मन में बड़े संदेह थे; कृष्ण गुरु हैं—ऐसी भी कोई धारणा न थी। हो भी कैसे सकती है?

बड़ी पुरानी तिब्बती कहावत है कि शिष्य गुरु को नहीं खोज सकता; गुरु ही शिष्य को खोजता है। बात कुछ जँचती है—बेबूझ हुई भी जँचती है। बेबूझ तो इसलिए कि गुरु क्यों खोजने निकलेगा—शिष्य को? उसे क्या जरूरत पड़ी है? उसकी भी

जरूरत है। वह जरूरत ऐसे ही है, जैसे मेघ जब जल से भर जाता है, तो बरसना चाहता है—भूमि खोजता है—उत्तप्त भूमि खोजता है।

वह जरूरत ऐसी ही है, जैसे जब फूल गंध से भर जाता है, तो किन्हीं नासापुटों की प्रतीक्षा करता है। हवा के पंखों पर सवार होकर यात्रा पर निकलता है—खोजने—नासापुट। वह जरूरत वैसी ही है, जैसे जब रोशनी जलती है, दीया प्रकाश से भरता है, तो बरसता है—चारों तरफ बँटता है।

मुहम्मद ने कहा है कि 'अगर पहाड़ मुहम्मद के पास न आयेगा, तो मुहम्मद पहाड़ के पास जायेगा। जल से भर गया मेघ; खोजता है—उत्तप्त हृदय को।

बेबूझ इसलिए कि हम सोचते हैं : गुरु को क्या पड़ी है! और बेबूझ इसलिए भी कि शिष्य की ही तलाश है, तो शिष्य को ही खोजना चाहिए। लेकिन फिर भी कहावत सही है।

शिष्य खोजेगा कैसे? उसके पास मापदण्ड कहाँ? उसके पास क्या है निकस? कैसे कसेगा? क्या है कसौटी? कैसे करेगा स्वीकार कि कौन गुरु है? किन चरणों में झुकेगा? किस सहारे झुकेगा? कौन-सा हिसाब है उसके पास? गुरु को जानता तो नहीं, पहचान तो कोई भी नहीं। इस अज्ञात मार्ग पर कैसे निर्णय करेगा कि यहीं छोड़ दूँ; कर दूँ समर्पण—इन्हीं चरणों में—हो जाऊँ यहीं निछावर। बस, अब आगे कोई मंजिल नहीं; आ गया घर—ऐसी कैसे प्रतीति होगी उसे?

गुरु एक दूसरे जगत् में रहता है। वह यहाँ दिखाई पड़ता है, यहाँ होता नहीं; उसका शरीर यहाँ होता है, उसका स्वयं का होना तो बहुत दूर होता है। वह तो ऐसे वृक्ष की तरह है, जिसकी जड़ें जमीन में गड़ी हैं और शाखाएँ—प्रशाखाएँ आकाश को छू रही हैं। उसके पैर ही यहाँ हैं। इसलिए तो हम गुरु के पैर छूते हैं, क्योंकि उससे ज्यादा हम पहचान कैसे पायेंगे?

गुरु का पैर छूना बड़ा प्रतीकात्मक है। हम यह कह रहे हैं कि तुम्हारे पैर ही इस संसार में हमें मिल सकते हैं, इससे ज्यादा तो हम तुम्हें यहाँ न पा सकेंगे। इन पैरों के पार तो तुम किसी और लोक में हो। बस, हम टटोल कर तुम्हारे पैर भी पा लें, तो मार्ग मिल गया, राह मिल गई। फिर हम तुम्हें खोज ही लेंगे। सहारा मिल गया। एक सूत्र हाथ में आ गया; फिर होओ तुम कितनी ही दूर, यात्रा हो कितनी ही लम्बी, लेकिन अब भरोसे से हम इस धागे के सहारे चल लेंगे।

लेकिन कैसे पहचानोगे चरणों को? कैसे पहचानोगे गुरु की उपस्थिति को? इसलिए कहावत बेबूझ होती हुई भी ठीक है कि गुरु ही खोजता है।

इसके पहले कि तुम गुरु को चुनो, गुरु तुम्हें चुन लेता है। इसके पहले कि तुम उसकी तरफ चलो, उसकी पुकार तुम्हारे हृदय को खींचने लगती है। इसके पहले कि तुम





होश से भरो—कि तुम बुला लिए गये हो—तुम आ चुके होते हो।

अर्जुन को पता ही नहीं कि कैसे सारा खेल हो गया है! कैसे उसने कृष्ण को अपना सारथी चुन लिया है। कैसे कृष्ण सारथी हो, उसके रथ पर सवार होकर इस महाभारत के युद्ध में आ गये हैं? कैसे अनायास किसी और को पास न पाकर कृष्ण से वह पूछ बैठा है। कोई और था भी नहीं—जिससे पूछे। मजबूरी थी; जैसे वह अपने से ही बोला हो। सारथी भी था मौजूद, इसलिए सारथी को पूछ लिया है—और एक अनन्त यात्रा शुरू हो गई। अनजाने में, अँधेरे में उसकी शुरुआत है, जैसे बीज अंधकार में जमीन के फूटता है, उसे पता भी नहीं होता : कहाँ जा रहा है।

अंकुर को पता भी कैसे होगा कि कहाँ जा रहा हूँ! उसने पहले तो कभी आकाश देखा नहीं। उसने पहले तो कभी हवाओं में झोंके नहीं लिए। उसने पहले तो कभी सुबह की धूप में झपकी नहीं ली। वह जागा ही नहीं, बाहर आया ही नहीं; बीज में बंद था। यह तो पहली ही बार यात्रा हो रही है। तोड़ता है—जमीन की परतों को। बिलकुल नाजुक कोमल अंकुर कठोर पृथ्वी को तोड़ कर बाहर आ जाता है। कोई अज्ञात पुकार है, जैसे सूरज ही उसे खींचता हो—जमीन के बाहर—कि आओ; कि जैसे हवाएँ उसे बुलाती हों और वह रुक न पाता हो—अवश खिंचा हुआ चला आया है।

धीरे-धीरे चीजें साफ होती हैं। धीरे-धीरे अंकुर आकाश में उठता है और आश्वस्त होता है।

अर्जुन को पता नहीं है : वह क्यों पूछने लगा है। अर्जुन को पता नहीं है : क्यों उसने सारथी बना लिया है—कृष्ण को; क्यों सारथी से पूछ रहा है! यह सब हुआ है। अर्जुन की तरफ से यह सब अंधकारपूर्ण है; कृष्ण की तरफ से यह सब साफ-साफ है।

अर्जुन को खयाल ही है कि उसने चुन लिया है—कृष्ण को। कृष्ण ने ही उसे चुना है। अर्जुन को खयाल है कि उसने प्रश्न उठाये हैं; कृष्ण ने ही उसे उकसाया है। अर्जुन को खयाल है कि वह जिज्ञासा कर रहा है; कृष्ण ने ही उसे अतृप्त किया है।

अगर तुम मेरी बात समझो, तो यह भी हो सकता था कि कृष्ण की जगह अगर और कोई सारथी होता, तो अर्जुन को ये प्रश्न भी न उठे होते। ये जिज्ञासाएँ भी न जगी होतीं; यह कृष्ण की मौजूदगी में फूटता हुआ अंकुर है। सम्भावना भीतर थी अन्यथा पत्थर को थोड़े ही सूरज तोड़ लेगा, बीज को ही तोड़ सकता है।

भीतर सम्भावना थी, इसलिए कृष्ण की पुकार सुनी जा सकी। लेकिन अर्जुन के जो कदम हैं—प्राथमिक, वे बिलकुल अज्ञात में हैं।

तुम भी मेरे पास चले आये हो, तुम्हारे पहले कदम बिलकुल अंधकारपूर्ण हैं। अनेक व्यक्ति मेरे पास आकर कहते हैं कि 'हम क्यों आ गये हैं, हमें कुछ पता नहीं। हम

यहाँ क्यों हैं ? किसलिए हम यहाँ आपके पास रुक गये हैं—कुछ पता नहीं !' कभी-कभी वे घबड़ा भी जाते हैं कि यहाँ क्या कर रहे हैं।

कोई दूर स्वीडन से आया है, डेनमार्क से आया है। उसे कभी सपना भी नहीं हो सकता था—पूना का। पूना है भी कहीं—इससे भी कोई उसका लेना-देना न था। और तब अचानक किसी दिन उसे यह बात यहाँ भी पकड़ लेती है कि मैं यहाँ क्या कर रहा हूँ ! छः महीने हो गये—आये हुए, घर से। पुकार आ रही है : वापस लौट आओ। किसी की पत्नी है, बच्चे हैं; किसी के पिता हैं, माँ है।

मेरे पास लोग आ कर बार-बार कहते हैं कि 'आप हमें बतायें : हम यहाँ क्या कर रहे हैं ? हम यहाँ क्यों हैं।' उनकी बात ठीक है। प्राथमिक क्षण अंधकार में ही हैं—उनके लिए। मैं जानता हूँ, वे यहाँ क्यों हैं; वे नहीं जानते हैं। गुरु ही खोज लेता है।

जीसस ने कहा है : जैसे मछुआ जाल फेंकता है—पानी में; मछलियों को पकड़ लेता है। ऐसा ही एक जाल है, जो बड़ा अदृश्य है और चैतन्य के सागर में फेंका जाता है। और जब अर्जुन जैसी कोई मछली फँस जाती है, तो गीता का जन्म होता है।

अर्जुन कोई छोटी-मोटी मछली नहीं है। बड़ा बहुमूल्य व्यक्ति है, बड़ी मूल्यवान सम्भावनाएँ हैं, बड़ा उसका भविष्य है।

धीरे-धीरे एक-एक उत्तर—कृष्ण का—उसके भीतर और अनेक प्रश्नों को उठाता गया। लेकिन यह संवाद है; वह विवाद नहीं कर रहा है। वह कृष्ण को गलत सिद्ध नहीं कर रहा है। वह कृष्ण को गलत सिद्ध नहीं करना चाहता है। बहुत गहरे में तो वह यही चाहता है कि कृष्ण ही सही हों और मैं गलत होऊँ। लेकिन करूँ क्या, मजबूरी है; प्रश्न उठते हैं, संदेह है, संशय है, तो कहूँगा न तो क्या करूँगा; कहना ही पड़ेगा।

वह बड़ी दुविधा में है। हृदय प्रेम करना चाहता है—मस्तिष्क संदेह उठाता है। हृदय चाहता है—हटाओ सब संदेह; डूब जाओ—इस गहरी मैत्री में। लेकिन मन संदेह उठाये चला जाता है।

मन के संदेह हल करने ही होंगे। मन को निरस्त करना ही होगा। मन की शंकाएँ काटनी ही होंगी। लेकिन अर्जुन का हृदय मन के साथ नहीं खड़ा है, इसलिए हल हो सका। अगर अर्जुन का हृदय भी मन के साथ खड़ा हो, फिर कोई हल नहीं है, फिर कोई समाधान नहीं है। फिर तुम हल करना ही नहीं चाहते।

इस बात को तुम अपने भीतर ठीक से पहचान लेना। क्योंकि मुझे क्या लेना-देना कृष्ण से और अर्जुन से। सवाल मेरे और तुम्हारे होने का है। ये सब तो मेरे लिए बहाने हैं। जिनके बहाने मैं तुमसे कुछ कह रहा हूँ। तुम अपने भीतर गौर से देख लेना। अगर तुम पाओ कि तुम मुझे गलत सिद्ध करना चाहते हो—यह तुम्हारे हृदय





में है, तो तुम व्यर्थ ही अपना समय खराब कर रहे हो। अगर तुम चाहते हो कि अंततः मैं सही सिद्ध हो जाऊँ और तुम गलत हो जाओ—फिर भी तुम्हारा मन संदेह उठा रहा है—फिर कोई अड़चन नहीं है। फिर तुम उठाये जाओ; सब संदेह काटे जा सकेंगे। लेकिन अगर तुम्हारा हृदय ही उनसे जुड़ा हो, तो तुम्हारे विपरीत मैं तुम्हें मुक्त न कर पाऊँगा। हाँ, तुम मुक्त होना चाहो, तो कितनी ही बाधाएँ हैं, सब काट डाली जाएँगी। कोई बाधा बाधा न बन सकेगी। तुम मुक्त होना ही न चाहो, तो फिर कोई उपाय नहीं है। फिर मेरे दिए हुए सब उपाय भी नई जंजीरें बन जाएँगे। तुम उनसे भी बँधोगे—छूटोगे नहीं।

आ गया यह आखिरी अध्याय—अर्जुन की जिज्ञासा का, कृष्ण के समाधानों का। इस आखिरी अध्याय का नाम है—मोक्ष संन्यास योग। भारत के लिए मोक्ष अंतिम बात है। वह अठारवाँ अध्याय है। उसके पार फिर कुछ नहीं है।

दुनिया में कहीं भी मोक्ष आखिरी बात नहीं है। दुनिया में मनुष्य के चैतन्य की इतनी गहराई से खोज ही नहीं हुई है।

भारत ने चार पुरुषार्थ कहे हैं : अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष। अधिक संस्कृतियाँ बहुत अगर ऊँची उठीं, तो धर्म तक जाती हैं।

अब यह बड़े मजे की बात है कि मोक्ष धर्म के भी पार है। मुक्त तो कोई तभी होता है, जब धर्म भी छूट जाता है। वह आखिरी बन्धन है—बड़ा प्रीतिकर, बड़ा, मधुर, मगर वह भी बन्धन है। अगर तुम हिन्दू हो, तो मोक्ष दूर है अभी। अगर मुसलमान हो, तो मोक्ष अभी दूर है। धर्म तक आ जाओगे। हमने उसे तीसरा ही पड़ाव कहा है—मंजिल नहीं।

मोक्ष तो तब है, जब धर्म भी छूट गया, शास्त्र भी छूट गये, शब्द भी छूट गये। तुम्हें पता ही न रहा कि तुम कौन हो। कोई आइडेन्टिटी, कोई तादात्म्य न रहा। कोई तुमसे पूछे, तो तुम हँसोगे; कुछ भी न कह पाओगे—हिन्दू, कि मुसलमान, कि जैन, कि बौद्ध ? और एक गहरे अर्थ में तुम सभी हो गये। मंदिर भी तुम्हारा, मसजिद भी तुम्हारी, गुरुद्वारा भी तुम्हारा, और न कोई गुरुद्वारा रहा तुम्हारे लिए, न कोई मसजिद रही, न कोई . . . । कुरान भी गई, गीता भी गई, वेद भी गये, बाइबिल भी गई और एक अर्थ में सब घर आ गया। वेद भी तुम्हारा, बाइबिल भी तुम्हारी, गीता भी तुम्हारी। तुम अब बंधे न रहे। तुम पार हो गये—एक अतिक्रमण हुआ।

मोक्ष बड़ी अनूठी बात है। वह पूर्वीय धारणा है। दुनिया की कोई जाति उतनी ऊँची नहीं गई। ज्यादा से ज्यादा जातियाँ धर्म तक ऊँची गईं। जो उतने भी नहीं जा सके, वे काम तक गये। काम यानी वासना—सेक्स। अधिक लोग काम तक ही जा पाते हैं, जो उनसे भी नीचे हैं, वैसे भी बहुत लोग हैं; बड़ी संख्या है उनकी—जिनके लिए अर्थ

ही सब कुछ है—धन।

अब यह थोड़ा सोचने जैसा है। जिसके जीवन में धन ही सब कुछ है, वह काम-वासना वाले व्यक्ति से भी निम्न चेतना दशा का है। क्योंकि धन तो मुरदा है। काम-वासना कम से कम प्राकृतिक तो है—जीवंत तो है। धन तो जोड़ता नहीं, तोड़ता है। धन तो शोषण है, धन तो हिंसा है। प्रेम कम से कम जोड़ता तो है। किसी से भी जोड़ता है—एक स्त्री से, एक पुरुष से, परिवार से। कोई सम्बन्ध तो बनाता है।

काम-वासना में कुछ सेतु तो है! धन में तो कोई सेतु नहीं है। इसलिए धन का दीवाना किसी से भी नहीं जुड़ता। उसके आसपास कोई जगह नहीं होती—जहाँ से तुम सम्बन्ध बना लो। वह सम्बन्धों से डरता है। क्योंकि सम्बन्ध बने कि झंझट आई। कहीं उसका धन न माँगने लगो! सम्बन्ध बने, तो तुम्हें उसने निकट लिया। निकट में डर है, क्योंकि तिजोरी के पास आ रहे हो। तुम्हारा हाथ उसकी जेब में जा रहा है। इतने पास वह किसी को भी न लेगा।

सबसे निम्न चेतना है—जिसका लक्ष्य जीवन में अर्थ है। धन, मकान, वस्तुएँ —वह निम्नतम चेतना है। और वह संस्कृति निम्नतम है—जो अर्थ पर पूर्ण हो जाती है।

अर्थ के ऊपर काम है। कम से कम दूसरे से जुड़ने की थोड़ी सम्भावना है, द्वार खुला है। कोई बहुत बड़ा द्वार नहीं है—बड़ा क्षुद्र द्वार है, लेकिन है। कोई बहुत विराट् द्वार नहीं है। संकीर्ण है; उसमें से घसिट के आना और जाना भी कष्टपूर्ण है। और उससे दूसरे से तुम जुड़ते भी हो और नहीं भी जुड़ते; क्योंकि जिससे भी तुम्हारा काम-वासना का सम्बन्ध है, उससे गहरा सम्बन्ध हो ही नहीं पाता।

यह बड़े मजे की बात है। अगर तुम पति हो और तुम्हारी पत्नी से तुम्हारा केवल काम-वासना का सम्बन्ध है, तो सम्बन्ध ही नहीं है। नाममात्र को है। एक ने दूसरे के हृदय को जाना नहीं, पहचाना नहीं। एक ने दूसरे के जीवन में कोई गहराई नहीं छूई; एक ने दूसरे की गहराई को पुकारा ही नहीं। बस, शरीर के ऊपर—परिधि पर थोड़ा-सा मिलन है। और वह भी मिलन क्षण-भंगुर है। फिर फासला है—फिर मिलन है—फिर फासला है। मिलना और बिछुड़ना—मिलना और बिछुड़ना। और बिछुड़ना चौबीस घंटे है; मिलना क्षण भर को है। इसलिए कोई बड़ा सम्बन्ध नहीं है।

और जिससे भी तुम्हारा काम-वासना का सम्बन्ध है, उससे तुम्हारा संघर्ष जारी रहेगा, द्वन्द्व जारी रहेगा, विरोध जारी रहेगा। क्योंकि तुम्हें भीतर गहराई में ऐसा लगता ही रहेगा कि मैं निर्भर हूँ; अपनी वासना की तृप्ति के लिए निर्भर हूँ। इसलिए पति पत्नियों से लड़ते ही रहेंगे, पत्नियाँ पतियों से लड़ती ही रहेंगी; जब तक उनके बीच से काम-वासना तिरोहित न हो जाय, तब तक संघर्ष जारी रहेगा। जब





तक पति पत्नी उस जगह न आ जायँ, जहाँ उनके भीतर तीसरा चरण उठ जाय—धर्म का, तब तक कलह जारी रहेगी; तब तक उन दोनों के बीच शांति का राज्य स्थापित नहीं हो सकता। और ऐसा सम्बन्ध भी क्या, जो सिर्फ कलह का सम्बन्ध है।

अगर मुझसे कोई पूछे कि 'काम-वासना या धन की दौड़?' तो मैं कहूँगा : काम वासना। कम से कम थोड़े तो बाहर आओगे। बहुत सुंदर रूप से न आओगे, मगर आओगे तो! मुख्य द्वार से न आओगे, लेकिन सरकते हुए, सेंध लगा के आओगे दीवाल में—आओगे तो! ठीक है; चलो, इतना ही सही। जुड़ोगे तो। जुड़ना कोई गहरा न होगा। परिधि परिधि का मिलन होगा। हृदय हृदय से फासले पर रहेंगे। पर चलो, कुछ शुरुआत तो हुई।

जो संस्कृतियाँ अर्थ और काम—दो पर ही समाप्त हो जाती हैं, वही अधार्मिक संस्कृतियाँ हैं।

फिर तीसरा है द्वार—धर्म का। धर्म तुम्हें खोलता है। तुम्हें तुम्हारे शरीर के ऊपर उठाता है। और कहता है : तुम शरीर ही नहीं हो। तुम्हें चैतन्य बनाता है। तुम्हें चैतन्य की पहली गंध देता है; चैतन्य का पहला स्वाद देता है। फिर तुम धर्म से जुड़ते हो जब, तब बड़ी और ही बात हो जाती है। जब पति-पत्नी ऐसी जगह आ जाते हैं, जहाँ उनके बीच नाता वासना का नहीं, काम का नहीं—धर्म का हो जाता है, तभी प्रेम पैदा होता है।

प्रेम धर्म की छाया है। धार्मिक व्यक्ति के आसपास प्रेम बरसता है। तुम फर्क समझ सकते हो। काम-वासना से भरे व्यक्ति के पास तुम एक तरह की दुर्गंध पाओगे। धर्म से भरे व्यक्ति के पास तुम एक तरह की सुगंध, एक ताजगी—सुबह की ओस की ताजगी; नये ताजे फूलों की गंध पाओगे।

जब धार्मिक व्यक्ति तुम्हारी आँखों में देखेगा, तो तुम्हारे भीतर आश्वासन का जन्म होगा—भय का नहीं। काम-वासना से भरा हुआ व्यक्ति तुम्हारी आँखों में देखेगा, तो तुम भयभीत होओगे; तुम कंप जाओगे। वह तुम्हारे शरीर के पीछे है, तुमसे उसे कोई प्रयोजन नहीं है। तुम हो या नहीं—इससे कोई अर्थ भी नहीं है। उसका रस तुम्हारी देह में है। बस, देह से ज्यादा उसकी गहराई नहीं है।

धर्म प्रेम तक ले जायेगा। और धर्म तुम्हें एक से नहीं जोड़ेगा—बहुतों से जोड़ देगा। काम तुम्हें एक से जोड़ेगा और बहुतों से तोड़ देगा। काम का सम्बन्ध ईर्ष्या का, वैमनस्य का, प्रतिस्पर्धा का सम्बन्ध है।

तुम्हारी पत्नी चौबीस घंटे डरी रहेगी कि तुम किसी और स्त्री की तरफ तो नहीं देख रहे! तुम्हारा पति सदा भयभीत रहेगा कि पत्नी किसी और पुरुष में उत्सुक तो नहीं है। यह बड़ा संकीर्ण है और ओछा है; इतनी संकीर्णता में हृदय का कमल खिल

ही नहीं सकता।

फिर एक धर्म का जगत् है, वहाँ तुम्हारे जीवन में प्रतिस्पर्धा गिरती है, ईर्ष्या गिरती है, परिग्रह गिरता है। तुम धीरे-धीरे शांति की तरफ उत्सुक होते हो, मौन की तरफ उत्सुक होते हो। मंदिर की तरफ तुम्हारी यात्रा शुरू होती है।

धर्म के जगत् में मंदिर, मसजिद, गुरुद्वारे, पूजागृह महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। गीता, कुरान, बाइबिल महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। सत्संग, सद्वचनों का सुनना, सज्जनों का साथ रस देने लगता है। एक नई ही वीणा बजने लगती है। तुम पहली दफा अनुभव करते हो कि पदार्थ ही नहीं है, इसमें परमात्मा छिपा है। कण-कण में तुम्हें उसकी प्रतीति की थोड़ी-सी झलकें आनी शुरू हो जाती हैं। कभी-कभी अचानक वातायन खुल जाता है। और तुम पाते हो कि लोग साधारण नहीं हैं, असाधारण हैं। यहाँ प्रत्येक वस्तु में—चाहे वह कितनी ही साधारण हो—बड़ी असाधारण गरिमा छिपी है। प्रत्येक वस्तु एक आभा से मण्डित हो जाती है। एक गरिमा व्याप्त हो जाती है। यह जगत् तुम्हें ऐसा नहीं लगता कि तुम किसी अजनबी जगह हो, लगता है कि यह तुम्हारा घर है। विरोध छूटता है। संघर्ष मिटता है। सहयोग शुरू होता है।

धार्मिक व्यक्ति के जीवन का स्वर है—सहयोग। उसकी भाषा संघर्ष की नहीं रह जाती।

कुछ संस्कृतियाँ धर्म तक जाती हैं। लेकिन पूरब वहाँ नहीं रुकता। वह कहता है : अभी एक कदम और; और वह है—मोक्ष। मोक्ष का अर्थ है : अब तुम धर्म से भी मुक्त हो जाओ।

मोक्ष बड़ी अनूठी धारणा है। क्योंकि सहयोग का भी मतलब है कि कहीं न कहीं संघर्ष की धुन मौजूद होगी, नहीं तो सहयोग किससे? किस बात का? मित्रता का अर्थ यह है कि कुछ शत्रुता शेष होगी, नहीं तो मित्रता की क्या जरूरत? प्रेम का अर्थ यह है कि घृणा कहीं छिपी होगी, मौजूद होगी अन्यथा प्रेम का भी क्या सवाल है? और तुम्हें कण-कण में परमात्मा दिखाई पड़ता है, इससे बात साफ है कि अभी पदार्थ और परमात्मा दो हैं, एक नहीं हुए। अभी कण भी है और उसमें परमात्मा दिखाई पड़ रहा है।

एक फकीर मेरे पास मेहमान थे—कोई पाँच वर्ष पहले। वे मुझसे कहने लगे, 'मुझे तो कण-कण में परमात्मा दिखाई पड़ता है।' मैंने पूछा कि 'कण-कण भी दिखाई पड़ता है और परमात्मा भी—दोनों!' वे थोड़े चौंके। उन्होंने कहा कि 'दिखाई तो दोनों ही पड़ते हैं।' तो फिर, मैंने कहा, 'परमात्मा अभी पूरा नहीं हुआ। नहीं तो कण खो ही जाएगा।'

मोक्ष की दशा में परमात्मा ही है। फिर ऐसा नहीं है कि दिखाई पड़ता है—वृक्ष





में। वृक्ष है ही नहीं, परमात्मा ही है। वृक्ष परमात्मा का एक रूप है। परमात्मा कहीं छिपा है—ऐसा नहीं; परमात्मा प्रकट है।

धर्म के जगत् में परमात्मा छिपा है, अप्रकट है। प्रतीति होती है। थोड़ी झलकें आती हैं। थोड़ा खयाल आना शुरू होता है। चेतना जग रही है।

धर्म का जगत् ऐसे है, जैसे सुबह तुम बिस्तर पर पड़े हो, उठना चाहते हो, थोड़ी नींद टूट भी गई है, नहीं भी टूटी है, अलसाए हुए हो। सड़क पर कोई दूध बेच रहा है, आवाज सुनाई पड़ती है। पत्नी उठ गई और बरतन साफ कर रही है और उसकी आवाज सुनाई पड़ती है। और बच्चा स्कूल नहीं जाना चाहता, रो रहा है—इन सब का थोड़ा-सा खयाल आता है। ऐसी झलक आ रही है कि दुनिया जाग गई; उठो।

धर्म अलसाई हुई दशा है। न तो आदमी सोया हुआ है, न अभी जागा हुआ है; मध्य में है। मोक्ष परिपूर्ण जाग्रत चैतन्य का नाम है। मोक्ष शब्द का ही अर्थ है मुक्ति—जहाँ कोई परतंत्रता ही न रही।

इसे तुम ठीक से समझ लो, क्योंकि पूरब में जिन्होंने बहुत गहन खोज की है, उन्होंने कहा, 'जब तक दूसरा है, तब तक परतंत्रता रहेगी।' दूसरे की मौजूदगी ही परतंत्रता है। जब तक दो हैं, तब तक अड़चन रहेगी। अद्वैत चाहिए, तभी स्वतंत्र हो पाओगे। जब सब ही बचे और कुछ न बचे, तभी स्वतंत्र हो पाओगे। जब तक दूसरा है, तब तक दूसरा तुम्हारी सीमा बनायेगा।

तुमने कभी खयाल किया : तुम अकेले अपने बाथरूम में होते हो, तब एक तरह की स्वतंत्रता होती है। तुम मुसकराते हो, गीत गाते हो, गुनगुनाते हो। जिनको लाख समझाओ कि जरा गुनगुना दो—लोगों के सामने, वे भी बाथरूम में बड़े मधुर गीत गाते हैं।

दूसरे की मौजूदगी में परतंत्रता है। दूसरा मौजूद है, तो तुम सिकुड़े। और अगर तुमको पता चल जाय कि कोई चाबी के छेद से झाँक रहा है, तो तुम वहाँ भी सिकुड़ जाओगे, वहाँ भी डर जाओगे। वहाँ भी तुम्हारी स्वतंत्रता छिन जाएगी। तुम परतंत्र हो गये; दूसरे की नजर आई कि तुम परतंत्र हुए।

रास्ते पर तुम अकेले जा रहे हो, तब तुम्हारी चाल और होती है। फिर अचानक कोई रास्ते पर निकल आया; तुम्हारी चाल तत्क्षण बदल जाती है। तुम्हें होश नहीं है, इसलिए तुम्हें पता नहीं चलता; लेकिन सब बदल जाता है। अकेले में तुम और ही होते हो; दूसरे के सामने तुम और ही हो जाते हो : एकदम तुम्हारा चेहरा झूठा हो जाता है।

जिन्होंने खोजा, उन्होंने पाया है कि जब तक हम अकेले ही न बचें, तब तक कुछ पूरी स्वतंत्रता नहीं उपलब्ध हो सकती।

मोक्ष का अर्थ है : तुम डूब गये—सर्व में और सर्व डूब गया तुममें। बूंद गिरी सागर में, सागर गिरा बूंद में। अब कोई दूसरा न रहा; दुई मिट गई। अब ऐसा नहीं है कि परमात्मा दिखाई पड़ता है कहीं, अब परमात्मा ही है—देखने वाला और दिखाई पड़नेवाला।

इसलिए कुछ ज्ञानियों ने तो परमात्मा को भी इनकार कर दिया, क्योंकि उससे दुई पता चलती है। महावीर ने कहा, 'कौन परमात्मा? कैसा परमात्मा? आत्मा ही परमात्मा है।'

इसे तुम ठीक से समझना। यह महाज्ञान का शब्द है। नासमझ समझे कि महावीर नास्तिक हैं। बुद्ध ने इनकार ही कर दिया; परमात्मा से ही नहीं—आत्मा से भी—कि कौन . . . ? क्योंकि जब भी तुम कुछ कहो, कोई भी शब्द उपयोग करो, हर शब्द दूसरे की मौजूदगी को पैदा करता है।

अगर तुम कहो, 'आत्मा है', तो उसका अर्थ यह हुआ कि तुम अनात्मा को भिन्न कैसे करोगे? अनात्मा भी होगी ही। जब हम कहते हैं, 'प्रकाश है', तुमने अंधकार स्वीकार कर लिया। जब तुम कहते हो, 'परमात्मा है', तब तुमने संसार स्वीकार कर लिया। जब तुम कहते हो, 'मोक्ष है', तो तुमने बंधन स्वीकार कर लिया। इसलिए बुद्ध ने कहा कि 'न तो कोई आत्मा है, न कोई परमात्मा है। न कोई मोक्ष है।'—यह परम मोक्ष की अवस्था है; यह परम मुक्ति है, यह निर्वाण है—और यही लक्ष्य है।

ठीक ही है कि अठारहवाँ अध्याय 'मोक्ष संन्यास योग' है। मोक्ष है : परम लक्ष्य; संन्यास है : मार्ग—उस परम लक्ष्य को पाने का। मोक्ष को पाना है—संन्यास से पाया जाता है; और कोई पाने का उपाय नहीं है। अकेले होना है—इतने अकेले हो जाना है कि सब तुममें समाहित हो जाय, तो इसकी यात्रा का प्रस्थान बिंदु संन्यास है।

पूरब की दो ही खोजें हैं : मोक्ष—गंतव्य; संन्यास—मार्ग।

सिकन्दर शिष्य था—प्लेटो का। प्लेटो की धारणाएँ धर्म तक पहुँच जाती हैं। लेकिन मोक्ष की उसे भी कोई समझ नहीं है। जब सिकन्दर भारत आने लगा, तो प्लेटो ने कहा, 'भारत से लौटते वक्त तुम बहुत चीजें लूट कर लाओगे; एक चीज मेरे लिए लाना—एक संन्यासी ले आना। मैं एक संन्यासी को देखना चाहता हूँ—कि यह संन्यास क्या है।'

यह अनूठा फूल भारत में ही खिला है। यह खिल ही नहीं सकता था—दूसरी संस्कृति में, क्योंकि मोक्ष की धारणा ही न थी—तो संन्यास का सवाल कहाँ उठता है! जब मोक्ष का गंतव्य होता है सामने, तो फिर संन्यास का विज्ञान उठता है।

अर्जुन आखिरी जिज्ञासा कर रहा है, उसके पार फिर कोई जिज्ञासा नहीं होती। वह आखिरी जिज्ञासा कर रहा है—संन्यास की और मोक्ष की। इसे तुम समझो।





अर्जुन बोला, 'हे महाबाहो, हे हृषीकेश, हे वासुदेव, मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ।' मुझे साफ-साफ समझा दें : क्या है—संन्यास; और क्या है—मोक्ष? यह आखिरी जिज्ञासा है, इसके पार कोई जिज्ञासा हो नहीं सकती। और जो पूछना था, पूछ लिया। अब आखिरी बात पूछने को आ गई है। 'मुझे अलग-अलग करके समझा दें . . .।' क्योंकि धारणाएँ—संन्यास की, मोक्ष की, त्याग की—बड़ी सूक्ष्म हैं और बहुत नाजुक हैं। और ज्ञानियों ने बहुत तरह के वक्तव्य दिए हैं, इसलिए बड़ी उलझन वहाँ भी है।

पहले अर्जुन कहता है, 'हे महाबाहो, हे हृषीकेश, हे वासुदेव . . . !' यह सिर्फ वह अपने हृदय की बात कह रहा है। हृदय थकता नहीं—प्यारे को पुकारने से। तीन-तीन बार दुहराता है! वह यह कह रहा है कि 'हृदय तो आश्वस्त है कि तुम जो कहोगे, ठीक ही होगा; बुद्धि आश्वस्त नहीं है।' पहले हृदय को रख देता है सामने।

पुरानी परम्परा थी कि जब तुम गुरु के पास जाओ, तो पहले चरण छुओ, फिर पूछो। वह केवल इतना ही कहना था कि 'ऐसे तो चरणों में झुका हूँ; आप जो कहेंगे, वह ठीक ही होगा; उसमें गलत होने का कोई सवाल नहीं है। लेकिन मैं अबुद्धि हूँ। और मेरी बुद्धि में अभी बहुत-सी चिंतनाएँ चलती हैं . . .।'

तो चरण में झुकना प्रतीक है कि संवाद की तैयारी है, सुनने को राजी हूँ। श्रावक बनने को आया हूँ; विवाद की उत्सुकता नहीं है। तब पूछता है शिष्य।

'हे महाबाहो, हे हृषीकेश, हे वासुदेव, मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ।'

कृष्ण बोले : 'हे अर्जुन, कितने ही पण्डितजन तो काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास जानते हैं। और कितने ही विचक्षण पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं। तथा कई मनीषी ऐसा कहते हैं कि कर्म सभी दोषयुक्त हैं, त्यागने के योग्य हैं। और दूसरे विद्वान ऐसा भी कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं।'

पण्डित का अर्थ उस दिन कुछ और था, आज कुछ और है। पण्डित का अर्थ उन दिनों प्रज्ञावान पुरुष था—जिसने जाना है। आज पण्डित का अर्थ होता है : शास्त्रज्ञ, जो शास्त्र को जानता है। इन दोनों में बड़ा फर्क हो गया है। आज पण्डित शब्द तो निंदित है। किसी को पण्डित कहने का अर्थ ही यह है कि वह कुछ नहीं जानता—कोरा पण्डित है! शब्दों की भरमार है। अनुभव से खाली है।

उन दिनों पण्डित का अर्थ था—जो प्रज्ञा को उपलब्ध हो गया है, जिसने अंतर्ज्योति को जला लिया है।

कृष्ण कहते हैं, 'हे अर्जुन, कितने ही पण्डितजन, कितने ही प्रज्ञावान पुरुष काम्य-कर्मों के त्याग को संन्यास जानते हैं।'

काम्य कर्म क्या है ? अगर तुम गीता की टीकाएँ पढ़ोगे, तो काम्य कर्म के सम्बन्ध में गीता के टीकाकार जो कहते हैं, वह बिलकुल ही गलत कहते हैं। गीता के सभी टीकाकार यह मानकर चलते हैं कि काम्यकर्म वे कर्म हैं, जो वेद विहित हैं; करने योग्य हैं—जिनको करना ही चाहिए। अगर यह बात ठीक हो—यह बात भी ठीक हो सकती है, क्योंकि प्रज्ञावान पुरुष सदा ही शास्त्र, वेद से मुक्ति की तरफ ले जाना चाहते हैं। लेकिन यह बात मुझे ठीक नहीं मालूम पड़ती।

मेरी दृष्टि में काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास कहने का अर्थ यह नहीं हो सकता कि 'जो कर्म वेदविहित हैं—उनका त्याग'।

काम्य कर्मों का त्याग एक ही अर्थ रख सकता है कि कर्म दो तरह के हैं : एक जो आवश्यक हैं और दूसरे जो काम्य हैं। आवश्यक कर्म तो ऐसा है, जैसे भूख लगेगी, तो भोजन जुटाना पड़ेगा। कैसे तुम जुटाते हो—इससे कोई फर्क नहीं पड़ता; बुद्ध को भी जुटाना पड़ता है। वे भी भिक्षा के लिए गाँव में निकलते हैं। यह तो जरूरत है, यह तो आवश्यकता है।

प्यास लगेगी, तो शरीर के लिए पानी देना पड़ेगा। न दोगे तो आत्महत्या का पाप लगेगा। वर्षा है—छप्पर खोजोगे। धूप घनी है, तो बुद्ध भी छायापूर्ण वृक्ष के नीचे बैठते हैं। ये काम्य कर्म नहीं हैं। ये अनिवार्य कर्म हैं, इनका तो त्याग करने को कोई प्रज्ञावान पुरुष नहीं कहता है।

काम्य कर्म वे हैं, जो वासनाजन्य हैं। जैसे बड़ा मकान चाहिए। जरूरत शायद न भी हो, सिर्फ अहंकार की आकांक्षा हो। क्योंकि छोटे मकान में छोटा अहंकार लग सकता है। बड़े मकान में बड़ा अहंकार लग सकता है। शायद सोने के लिए तो जितनी जगह तुम छोटे मकान में लेते हो, उतनी ही बड़े मकान में लोगे। लेकिन बड़ा मकान चाहिए।

लोग बड़ा मकान जिंदा रहते ही नहीं चाहते—मरकर भी चाहते हैं। सम्राट तो अपनी कब्र भी पहले से बनवा रखते हैं, क्योंकि पीछे क्या भरोसा—लोग बड़ी कब्र बनायें, न बनायें; तो अपनी कब्र पहले ही बना रखते हैं। बड़ी-बड़ी कब्रें बनाई गई हैं और आदमी मरकर उतनी ही जगह लेता है; जितना गरीब लेता है—उतना ही अमीर लेता है।

अगर जिंदगी में भी काम्य कर्म छूट जायँ, तो तुम्हारी जरूरतें भी वही हैं, जो गरीब की हैं। अमीर की भी वही हैं, गरीब की भी वही हैं। प्यास लगती है—पानी चाहिए। भूख लगती है—भोजन चाहिए। त्याग का अर्थ होगा—संन्यास का अर्थ होगा : जरूरत ही शेष रह जाय। गैर-जरूरत हट जाय। जो गैर-जरूरी है, जो किसी कामना के कारण पैदा हुआ है, जो किसी पागलपन से पैदा हुआ है, वह हट जाय। अगर





तुम इसे ठीक से समझ लो, तो तुम पाओगे : जीवन बड़ा सरल हो जाता है। चाहिए ही कितना कम है !

सुखी होने के लिए बहुत कम चाहिए; दुःखी होने के लिए बहुत ज्यादा चाहिए। दुःख छोटे से नहीं होता। दुःख के लिए बड़ा विराट् आयोजन चाहिए।

अगर निश्चित रहना हो, तो बड़े थोड़े में हो जाता है। लेकिन चिंता चाहिए हो, तो थोड़े में नहीं होता; उसके लिए सिकन्दर बनना जरूरी है।

तुम जितना इकट्ठा करते जाओगे, उतना ही पाओगे कि दुःखी और चिंतित होते जाते हो। फिर भी गणित तुम्हारी समझ में नहीं आता। तुम सोचते हो : शायद थोड़ा और ज्यादा हो जाय, तो फिर सुखी हो जाऊँगा। और ज्यादा हो जाता है—और दुःखी हो जाते हो। वही मन जो तुम्हें यहाँ तक ले आया, कहता है, 'अब और थोड़ा कर लो, तो बिलकुल सुखी हो जाओगे।' और ऐसे वह तुम्हें लेता चलता है। अगर तुम गौर से देखोगे तो तुम पाओगे : जब तुम्हारे पास कम था, तब तुम सुखी थे।

सभी को ऐसा लगता है कि बचपन में सुख था, उसका कुल कारण इतना है कि बचपन में तुम्हारे पास कुछ भी नहीं था, कोई परिग्रह नहीं था। कुल कारण इतना है कि तुम्हारी जरूरतें भर थीं। भूख लगती थी—भोजन कर लेते थे। प्यास लगती थी—पानी पी लेते थे ; फिर खेलने बाहर निकल जाते थे। थक गये, तो घर आकर सो जाते थे। कुछ भी पकड़ न थी, मालकियत कोई भी न थी।

छोटे बच्चों को गौर से देखो। रंगीन कंकड़-पत्थर उन्हें इतना आनन्दित कर देते हैं—जितने हीरे-जवाहरात भी तुम्हें न कर सकेंगे। तितलियों के पंख बीन लाते हैं और घर ऐसे आते हैं, जैसे कि सम्राट् हो कर चले आ रहे हैं। उनके खीसों में हाथ डालो : कंकड़, पत्थर, सीप—न मालूम क्या-क्या तुम पाओगे ! रात भी उनसे उन्हें निकालो तो उनका मन नहीं होता, वे कहते हैं कि 'रहने दो'। वह उनका धन है; तुम्हें पता नहीं; तुम उनका धन ले रहे हो। बड़ा सरल है; छोटा-सा सब कुछ है; बहुत है, पर्याप्त है।

फिर जैसे-जैसे तुम्हारे पास चीजें आनी शुरू होती हैं—जिस दिन बच्चे के मन में मालकियत का स्वर उठता है, उसी दिन चिंता शुरू हो जाती है; उसी दिन बचपन समाप्त हो गया; बच्चा मर गया। अब कोई और दूसरा प्रविष्ट हो गया। अब यह दौड़ चलेगी—मरते दम तक। और जिंदगी भर बार-बार तुम्हें याद आयेगी कि बचपन बड़ा सुखी था।

ज्ञानी पुरुष कहते हैं, बच्चे जैसे ही जीओ। जरूरत की चीज चाहिए—निश्चित चाहिए—उसके लिए जो कर्म करना पड़े, उसके त्याग को कोई भी नहीं कहता। लेकिन जो व्यर्थ की कामनाएँ हैं, उनकी पूर्ति के लिए जो कर्म किए जाते हैं, वे छोड़ दो।

मुझसे लोग कहते हैं : 'समय नहीं है—ध्यान के लिए।' कर क्या रहे हो चौबीस

घंटे ? बहुत काम का जाल है। ध्यान ही आखीर में काम आता है; शेष सब किया हुआ व्यर्थ हो जाता है। जिसने जीवन में थोड़े से क्षण ध्यान के पा लिए, वही बचाये हुए सिद्ध होते हैं। बाकी सब—बाकी सब नाली में बह गया, कुछ काम का नहीं आता। लेकिन व्यर्थ को हम करने में संलग्न हैं; सार्थक को करने के लिए समय नहीं है !

कृष्ण कहते हैं, 'कितने ही पण्डितजन काम्यकर्म के त्याग को संन्यास कहते हैं।' यह एक दृष्टि है, यह एक मार्ग हुआ—संन्यास तक पहुँचने का। 'और कितने ही विचक्षण पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं।' लेकिन कृष्ण कहते हैं : 'ऐसे भी विचक्षण पुरुष हैं . . .।'

जीवन सुंदर है इसीलिए कि यहाँ बड़े भिन्न होने के उपाय हैं। यहाँ अगर गुलाब ही गुलाब के फूल होते, तो बड़ी ऊब पैदाकर देते। यहाँ हजार-हजार तरह के फूल हैं।

तो कृष्ण कहते हैं कि वे भी प्रज्ञावान पुरुष हैं, जो कहते हैं कि काम्यकर्म छोड़ दो, पर ऐसे विचक्षण पुरुष भी हैं, जो कहते हैं, कुछ छोड़ने की जरूरत नहीं है; केवल फल का त्याग कर दो। इनको 'विचक्षण' कहते हैं। कृष्ण कहते हैं कि इनको बड़ी अनूठी दृष्टि उपलब्ध हुई है : इनकी दृष्टि अनूठी है। साधारणतः समझ में न आयेगी यह बात।

पहले तरह के जो पुरुष हैं, उनकी बात साधारणतः समझ में आ जाती है; अड़चन नहीं है। जरूरत का काम करो, गैर-जरूरत का छोड़ दो। सीधा गणित है। इसलिए पहले तरह के पुरुषों का भारी प्रभाव पड़ा है। महावीर, बुद्ध—सभी पहली तरह के पुरुष हैं।

दूसरी तरह के पुरुष तो कृष्ण हैं, जनक हैं। वे बड़े विचक्षण लोग हैं। वे कहते हैं, 'कुछ छोड़ने की जरूरत नहीं है। छोड़ना, पकड़ना क्या है ? सिर्फ फलत्याग कर दो।' वे कहते हैं : 'फल की भर आकांक्षा न हो। फिर तुम्हें राज्य भी बनाना हो, तो बनाये चले जाओ। हरजा नहीं है।'

फल की आकांक्षा न हो। पाने का कोई खयाल न हो। बहुत कठिन है लेकिन। तुम्हें भी लगेगा कि बात तो दूसरी ही ठीक है; इसलिए नहीं कि दूसरी ठीक लगती है। दूसरी ठीक लगेगी कि उसमें कामना को बचा लेने का उपाय लगता है। उसमें लगता है, 'तो फिर हरजा ही नहीं है। जब जनक भी ज्ञान को उपलब्ध हो गये—राजमहलों में रह कर, तो हम भी हो जाएँगे।' मगर तब तुम चूक जाते हो।

तुम अगर काम-वासना के कारण सोच रहे हो कि दूसरी बात सरल है, तो तुम गलती में पड़ रहे हो। दूसरी बात पहली से ज्यादा कठिन है।

जिस काम की वासना चली गई हो, उसको न करना बहुत आसान है। सिर्फ फल-त्याग करना बहुत कठिन है। उसका मतलब है : आधे का त्याग और आधे का जारी रखना। उसका अर्थ यह हुआ कि काम तो वैसा ही करना—जैसा सांसारिक लोग कर





रहे हैं, लेकिन बिलकुल विभिन्न दृष्टि से करना। दुकान चलाना, लेकिन लाभ की भावना न रखना। इससे सरल है—दुकान छोड़ कर पहाड़ भाग जाना। क्योंकि उसमें मामला बिलकुल साफ है। दुकान करनी है, तो दुकान करो; पहाड़ जाना है, पहाड़ चले जाओ।

लेकिन दूसरे जो विचक्षण पुरुष हैं, वे कहते हैं, 'दुकान पर ऐसे बैठो, जैसे पहाड़ पर बैठोगे।' यह जरा सूक्ष्म है, ज्यादा नाजुक है। इसमें खतरा है। खतरा यह है कि कहीं तुम दुकान पर ऐसे न बैठे रहो, जैसे दुकान पर दूसरे लोग बैठे हैं; और यह भ्रांति बना लो कि 'हम पहाड़ पर हैं। हमारी कोई फलेच्छा थोड़े ही है ! हमारी कोई फल की आकांक्षा थोड़े ही है ! हम तो यह कर्तव्यवश किए चले जा रहे हैं।' और भीतर फल की इच्छा है।

तुम सारी दुनिया को धोखा दे सकते हो, लेकिन अपने को कैसे दोगे ? और असली सवाल अपना है। अपने भीतर तुम जरा भी देखोगे तो साफ पाओगे कि धोखा दे रहे हो। क्योंकि काम, फल तुम्हारे भीतर गूँजता ही रहेगा।

वस्तुतः दुकान पर बैठे लोग, दुकान पर बैठना नहीं चाहते हैं, मजबूरी है। फल पाने के लिए बैठना पड़ता है। अगर उन्हें भी कोई मिल जाय जो कहे कि 'दुकान पर न बैठो, ये ताबीज ले लो—(कोई सत्य साईं बाबा) इससे बिना कुछ किए फल की प्राप्ति होगी', तो वे भी पहाड़ जाने को तैयार हैं। कौन नासमझ दुकान पर बैठने का रस ले रहा है ! लेकिन बिना दुकान पर बैठे फल नहीं मिलता। बड़ा दुकान बनाना है, वह नहीं बनता। पहाड़ पर बैठने से नहीं बनेगा। इसलिए मजबूरी में वे काम में लगे हैं।

अगर तुम बाजार में इस तरह हो सको, जैसे तुम एकांत में होओ; तुम काम ऐसे कर सको, जैसा कि फलाकांक्षी करता है—बिना फलाकांक्षा के, तो तुमने बड़ी विचक्षण दृष्टि पा ली। तब कुछ छोड़ने की जरूरत नहीं है, तब तो इतना ही समझना काफी है कि फल 'उसके' हाथ में है, कर्म मेरे हाथ में है। करना मुझे है; फल देना, न देना उसकी मरजी। फिर जो वह तुम्हें दे दे, तुम उससे ही तृप्त हो। न दे, तो न देने से तृप्त हो। छीन ले, छिन जाने से तृप्त हो। फिर तुम्हारी तृप्ति को कोई नहीं तोड़ सकता।

इसको तुम कसौटी समझ लो : अगर तुम्हारी तृप्ति में अंतर पड़ता हो . . . दुकान में लाभ होता हो, तो तुम्हारे पैर जरा तेजी से और प्रसन्नता से चलते हों—तुम तृप्त मालूम होते हो; हानि होती हो, तो तुम उदास हो जाते हो—दीन-हीन हो जाते हो, पैर लथड़ाने लगते हैं, तो फिर मत समझना कि तुमने फलाकांक्षा का त्याग कर दिया है।

बुद्ध और महावीर का मार्ग सरल है; जनक और कृष्ण का बहुत कठिन है। इसलिए वे कहते हैं, कोई विचक्षण पुरुष—कभी-कभी कोई ऐसा अद्‌भुत—बहुत अनूठा व्यक्ति ही इसको साध पाता है—कि महल में बैठा है और उसे पता ही नहीं है कि यह महल

है—कि हीरे जवाहरातों से घिरा है, लेकिन घिरा हो, न घिरा हो—सब बराबर है।

'हे अर्जुन, कितने ही पण्डितजन तो काम्यकर्मों के त्याग को संन्यास जानते हैं और कितने ही विचक्षण पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं। तथा कई मनीषी ऐसा कहते हैं कि कर्म सभी दोषयुक्त हैं, इसलिए त्यागने के योग्य हैं।'

ऐसा भी एक वर्ग है—मनीषियों का, जानने वालों का, जो कहता है; 'सभी कर्म त्यागने योग्य हैं। कर्म मात्र दोषयुक्त हैं।' तुम जो भी करोगे, उसमें ही दोष लगेगा। साँस भी लोगे, तो भी हिंसा होती है। पानी भी पीओगे, तो पानी के कीटाणु मरेंगे। भोजन करोगे, हिंसा होगी। चलोगे, पैर रखोगे, छोटे जीवाणु दबेंगे और हत्या होगी।

तो ऐसे भी मनीषी हैं, जो कहते हैं कि कोई भी कर्म करोगे, दोष लगेगा ही। इसलिए अकर्म को उपलब्ध हो जाओ; कर्म करो ही मत। और धीरे-धीरे कर्म त्याग करते जाओ। और अंतिम लक्ष्य वह है, जहाँ तुम ऐसी घड़ी में पहुँच जाओ, जहाँ कोई भी कर्म न होता हो। तभी तुम मुक्त हो सकोगे।

वे भी ठीक कहते हैं।

कृष्ण एक गहन समन्वय हैं। उन्होंने भारत में जो भी जाना गया था तब तक, उस सभी को गीता में समाविष्ट कर लिया है। उनका किसी से कोई विरोध नहीं है। वे सभी के भीतर सत्य को खोज लेते हैं। इसलिए गीता सार-ग्रंथ है। वेद को अगर भूल जाओ, तो चलेगा। क्योंकि जो भी वेद में सार है, वह गीता में आ गया।

महावीर विस्मृत हो जायँ—चलेगा। क्योंकि महावीर का जो भी सार है, वह गीता में आ गया। सांख्य शास्त्र न बचे—चलेगा। गीता में सारी बात महत्त्व की आ गई है।

अगर भारत के सब शास्त्र खो जायँ, तो गीता पर्याप्त है। कोई भी प्रज्ञावान पुरुष गीता से फिर से सारे शास्त्रों को निर्मित कर सकता है। गीता में सारे सूत्र हैं। तो गीता निचोड़ है।

गीता अकारण ही करोड़ों लोगों के हृदय का हार नहीं हो गई है; अकारण ही नहीं हो गई है।

जब पहली दफा जर्मनी के एक बहुत बड़े विचारक शॉपनहार ने गीता पढ़ी, तो उसने सिर पर रखी और नाचने लगा। शॉपनहार को किसी ने कभी नाचते नहीं देखा था। वह बहुत गम्भीर चित्त आदमी था, नाचना जँचता ही नहीं था उसको। उसका पूरा दर्शन ही उदासी—दुःखवाद है। वह कहता है: 'हँसी की तो कोई सुविधा ही नहीं है—जगत् में।' वह नाचने लगा। उसके पास बैठे मित्रों ने कहा, 'तुम पागल हो गये शॉपनहार! क्या कर रहे हो?' उसने कहा कि 'ऐसा ग्रंथ कभी देखा नहीं, जिसमें सब आ गया। ऐसा ग्रंथ कभी देखा नहीं, जिसमें सभी विरोधों के बीच सामन्जस्य हो





गया; जिसमें किसी का खण्डन नहीं किया गया है। और सभी को स्वीकार कर लिया गया है!'

हिन्दुओं ने ऐसे ही कृष्ण को पूर्ण अवतार नहीं कहा है। महावीर थोड़े अधूरे लगते हैं; एकांगी मालूम होते हैं। और अगर सभी महावीर हो जायँ, तो संसार को बड़ा धक्का लगेगा; भारी नुकसान होगा। फिर आगे महावीर होने की भी सम्भावना खत्म हो जाएगी। नहीं, महावीर इक्के-दुक्के ठीक, नमूने की तरह अच्छे हैं। लेकिन सभी जगह वे ही खड़े हो जायँ—जहाँ निकलो, वहीं वे ही खड़े हैं, बहुत घबड़ानेवाला हो जाएगा।

नमक की तरह ठीक। पूरा भोजन महावीर का नहीं हो सकता। इसलिए मैं निरन्तर कहता हूँ: जैन कोई संस्कृति पैदा नहीं कर पाये। वे कर नहीं सकते, क्योंकि नमक से कहीं पूरा भोजन बना है!

जैन केवल एक विचारक समाज रह गया—एक विचार का समूह रह गया। संस्कृति नहीं है—जैनों के पास। अगर तुम जैनियों से कहो, जैसा मैंने कहा, लेकिन कोई जवाब नहीं देता। अगर तुम उनसे कहो कि 'पच्चीस सौ वर्ष महावीर के पूरे हो गये, तुम बड़ा शोरगुल मचा रहे हो, जगह-जगह आयोजन, सभा, समारम्भ! तुम एक काम करके दिखा दो—एक जैन बस्ती बसा के दिखा दो, जिसमें सब जैन हों, तो हम मान लेंगे कि तुम्हारे पास कोई संस्कृति है।' तुम नहीं बसा सकते, क्योंकि चमार कौन होगा? भंगी कौन होगा? खेती कौन करेगा?

इसलिए जैन कभी समाज भी नहीं बन पाये, संस्कृति भी नहीं बन पाये; वे हिन्दुओं की छाती पर बैठे रह गये। उनका अपना कोई आधार नहीं है जमीन में। इसलिए जैन समाज को अलग कहने का कोई अर्थ ही नहीं है; वह हिन्दुओं का एक अंग है। उसको अलग कहने का अर्थ तभी हो सकता है, जब वे बता दें कि हम एक प्रयोग भी करके बता सकते हैं कि यह छोटी बस्ती है—हजार लोगों की, इसमें सब जैन हैं। अगर तुम सब मिल कर एक बस्ती भी नहीं बसा सकते, तो तुम सर्वांग नहीं हो, अधूरे हो।

पूरा नमक—भोजन नहीं बन सकता। नमक बिलकुल जरूरी है; उसके बिना भोजन बड़ा बेस्वाद हो जाएगा।

तो कभी-कभी इक्का-दुक्का महावीर प्रीतिकर हैं, मगर उनका समूह नहीं। अन्यथा वे जान ले लेंगे। इसलिए महावीर अधूरे हैं।

बुद्ध अधूरे हैं—यद्यपि महावीर से ज्यादा क्षमता है—बौद्धों की। उन्होंने समाज बना के बता दिए, उन्होंने संस्कृति सम्हाल के बता दी। लेकिन उनको समझौते करने पड़े। इसलिए अगर बुद्ध वापस लौटें, तो जापान, चीन, बर्मा या श्याम, अनाम—बौद्धों के जो मुल्क हैं, वे किसी को बौद्ध नहीं कहेंगे। क्योंकि उन्होंने इतने समझौते कर

लिए हैं कि जिसका हिसाब नहीं है। बुद्ध की पूरी शुद्धता ही खो गई है।

बुद्ध ने खुद ही कहा है कि 'मेरा धर्म पाँच सौ साल से ज्यादा नहीं चलेगा।' क्या कारण होगा? जब तुम बहुत शुद्ध बात कहोगे, तो ज्यादा देर नहीं टिक सकती—इस अशुद्ध दुनिया में। पाँच सौ साल भी टिक जाय, तो बहुत। वह भी मात्र आशा है।

मेरे देखे तो, जबतक बुद्ध रहते हैं, तभी तक बुद्धत्व टिकता है, उससे ज्यादा नहीं टिक सकता। क्योंकि बात ही इतनी शुद्ध है; उसमें जड़ें नहीं हैं—जमीन में प्रवेश करने की। वह आकाश में मंडराता हुआ बादल है। वह ज्यादा देर नहीं टिक सकता। कभी-कभार आयेगा—चला जायेगा।

कृष्ण संपूर्ण हैं। कृष्ण पूरी सीढ़ी हैं। बुद्ध, महावीर बस, सीढ़ी का आखिरी हिस्सा हैं—अधर में लटके हुए। उनका दूसरा हिस्सा जमीन से नहीं टिका है। वे शुद्ध हैं; अशुद्धि से बहुत भयभीत हैं। कृष्ण समाहित कर लेते हैं—सभी को—अशुद्धि को भी। और मेरे माने वही शुद्धि वास्तविक है, जो अशुद्धि को भी समाहित कर लेती हो। नहीं तो शुद्धि ही क्या? जो अशुद्धि को भी न पी जाय—वह शुद्धि क्या? वह अमृत अमृत नहीं है, जो जहर को न पी जाय। अगर जहर से अमृत नष्ट होता हो, तो जहर से कमजोर है। उसकी क्या कीमत, अगर वह जहर को पी ले और अमृत न बना दे!

कृष्ण ने सारी दृष्टियों को समाहित कर लिया है—और बिना किसी अड़चन के।

'जो कहते हैं कि काम्य कर्मों का त्याग संन्यास है, वे भी पण्डितजन हैं, वे भी जानने-वाले लोग हैं।' मगर उनका जानना भी एक दृष्टि है, एक अंग है, एक ढंग है; वह भी अधूरा है।

फिर ऐसे विचक्षण पुरुष हैं, जो कहते हैं; 'कर्मफल का त्याग ही त्याग है।' वे भी ठीक ही कहते हैं। फिर ऐसे मनीषी हैं, जो कहते हैं कि सभी कर्म दोषयुक्त हैं।

महावीर यही कहते हैं: कर्म मात्र दोषयुक्त है, इसलिए त्यागने योग्य है। वे भी ठीक कहते हैं। वे भी मनीषी हैं; उन्होंने भी बड़ा जाना है, ऐसे ही नहीं कह दिया है।

और दूसरे विद्वान भी हैं, जो कहते हैं: यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं।

एक और वर्ग है चौथा, वह भी बुद्धिमानों का है। वह भी नासमझों का नहीं है। वे कहते हैं कि 'तीन तरह के कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं: यज्ञ, दान और तप।'

तपरूप कर्म वे हैं, जो तुमने जो जो गलत किया है, उसे काटने के लिए किए जाते हैं। काँटा लग गया है, तो एक और काँटा खोजना पड़ता है—पहले को निकालने को, नहीं तो लगे काँटे को कैसे निकालोगे?

गलत कर्म तुमने किए हैं, तो उनको निकालने के लिए तुम्हें दूसरे शुभ कर्म करने पड़ेंगे, क्योंकि गलत कर्म तुम कर चुके हो। तुमने किसी को गाली दे दी, अब माफी





माँगनी पड़ेगी, ताकि सब संतुलित हो जाय।

गाली से जो असंतुलन पैदा हुआ था, वह भी कर्म था। माफी माँगना भी उसी तरह कर्म है। दोनों में वाणी का उपयोग हुआ है, दोनों में मुँह का उपयोग हुआ। लेकिन माफी माँगनी पड़ेगी, ताकि संतुलन आ जाय।

तपरूप कर्म का अर्थ है—संतुलन लाने वाले कर्म; जिनसे जीवन संतुलित होता है।

तुमने बहुत अपराध किए हैं, थोड़ी सेवा भी करो। तुमने बहुत चूसा है, विर्सजित भी करो। तुमने बहुत छीना है, बाँटो भी। नहीं तो यह होगा कि अब तक तो काफी छीना, लूटा, दुःख दिया और अब अचानक तुमको यह दर्शन शास्त्र का सार समझ में आ गया कि सब कर्म त्याज्य हैं। अब तुम कुछ भी नहीं करते, अब तुम बैठ गये। तो वे जो काँटे लगे हैं, वे लगे रह जाएँगे। वे छिदे रह जाएँगे। उन्हें काटो, उन्हें निकालो। उनके लिए ये कर्म भी तपरूप कर्म हैं।

तुमने जो-जो छीना है, जहाँ-जहाँ हिंसा हुई है, जहाँ-जहाँ शोषण हुआ है और निरंतर हुआ है, सारे जीवन की यात्रा शोषण और हिंसा की है; तो दान करो, बाँट दो; जहाँ से लिया है, वहाँ लौट जाने दो, ताकि संतुलन आ जाय।

'और यज्ञ....।' यज्ञ उस कर्म का नाम है, जो तुम अपने लिए नहीं करते—जो तुम समष्टि के लिए करते हो। जो तुम अपने ही लिए नहीं करते—सबके लिए करते हो।

यज्ञ—वैसा विराट् कर्म है, जिसमें तुम्हारी अपनी कोई स्वयं की आकांक्षा नहीं है। जो स्वयं की आकांक्षा से किया जाय, वह यज्ञ नहीं है। सबके लिए करते हो।

समझो: तुम एक अस्पताल बनाते हो, वह यज्ञरूप हो जाता है। तुम अकेले ही थोड़े उसमें बीमार पड़ के इलाज करवाओगे; सभी के काम आयेगा। तुम एक विद्यापीठ बनाते हो; तुम्हारे बच्चे ही थोड़े उसमें पढ़ेंगे; सबके बच्चे उसमें पढ़ेंगे।

जो-जो कर्म सिर्फ स्वार्थ के लिए नहीं किए जाते, वे सभी यज्ञरूप हैं। स्वार्थ के लिए तुमने बहुत कर्म किए हैं, अब तुम थोड़े परार्थ के लिए कर्म करो।

कृष्ण कहते हैं: ऐसे भी विद्वान हैं, जो कहते हैं: यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं है। बाकी सब कर्म त्यागने योग्य हैं...।

ये चार दृष्टियाँ हैं। चारों सही हैं और चारों तरह के लोग मिल जाएँगे—जिनके लिए ये सही हैं। इसलिए तुम इसकी बहुत फिक्र मत करना कि कौन सही है, तुम ज्यादा इसकी फिक्र करना कि मेरे साथ किस विचार का तालमेल बैठता है।

गीता तो ऐसे है, जैसे केमिस्ट की दुकान होती है। उसमें लाखों दवाइयाँ हैं; वे सभी काम की हैं—इसीलिए हैं। तुम कोई भी दवाई उठाकर मत ले आना! तुम अपने प्रिस्क्रिप्शन को ले जाना—वह जो डॉक्टर ने लिख के दिया है। तुम्हारे योग्य कोई

दवा होगी; सभी दवाएँ तुम्हारे योग्य न होंगी।

गीता भारत की खोजी गई सभी औषधियों का संग्रह है। उसमें से तुम चुन लेना; उसमें तुम्हें जो मौजू लगे, उसमें तुम्हें जो सत्यरूप लगे . . .। सभी सत्यरूप है, पर तुम्हें जो सत्यरूप लगे, तुम उसे आत्मसात् कर लेना। तुम उससे यात्रा पर निकल जाना। और सभी मार्ग वहीं पहुँचा देते हैं।

मंजिल तो एक है, मार्ग अनेक हैं। दृष्टि साफ हो, तो किन्हीं भी मार्गों से चल कर आदमी वहीं पहुँच जाता है। तुम बैलगाड़ी से चलो, थोड़ी देर ज्यादा लगेगी। तुम ट्रेन से चलो, थोड़े जल्दी आ जाओगे। कुछ हानियाँ बैलगाड़ी की हैं, कुछ हानियाँ ट्रेन की हैं।

बैलगाड़ी से चलोगे, तो गति तो नहीं होगी, लेकिन अनुभव ज्यादा होगा। गति तो बहुत धीमी होगी, लेकिन पहाड़-पर्वत, नदी-नाले—सभी को तुम देखते—जीते हुए—आओगे।

ट्रेन से चलोगे, जल्दी पहुँच जाओगे; लेकिन इतनी तेजी से निकलती रहेगी ट्रेन कि बस, झलक मिलेगी—पहाड़ की, नदी की, नालों की।

हवाई जहाज से आओगे, कोई झलक भी नहीं मिलेगी। यहाँ बैठे नहीं कि उतरने का समय आ जाएगा। चाय पी पाओगे—ज्यादा से ज्यादा। और अब और द्रुत वेग के यान बनते जा रहे हैं, जिनमें तुम पट्टी बाँध पाओगे और खोल पाओगे। और पहुँच जाओगे। अनुभव से वंचित हो जाओगे।

राह का भी बड़ा आनन्द है।

मेरे एक मित्र हैं, वे हमेशा पैसेंजर गाड़ी से ही चलते हैं। धनी हैं, पर बड़े समझदार हैं। दिल्ली पहुँच सकते हैं—घन्टे भर में; जहाँ रहते हैं, वहाँ से हवाई जहाज की भी सुविधा है। मगर वे जाते हैं—ट्रेन में—और वह भी पैसेंजर! कई जगह बदलते हैं। तीन दिन लग जाते हैं—दिल्ली पहुँचने में।

एक दफा मुझे अपने साथ ले लिए। मैंने कहा, 'यह मामला क्या है? चलो मैं भी चलूँ!' निश्चित वे आनन्द लेते हैं राह का। उनको एक-एक स्टेशनकी गतिविधि पता है। 'कहाँ रसगुल्ले अच्छे बनते हैं . . .!' बड़ा भोगते हैं—मार्ग को। वे दुःख पाते ही नहीं—पैसेंजर में। हर स्टेशन पर उतरते हैं; स्टेशन मास्टर से मिल आते हैं; कुलियों से पहचान है . . .। जिंदगी भर वे उसी रास्ते पर तीन-तीन दिन यात्रा करते रहे हैं—अनेक बार। वे कहते हैं : यह तो अपना . . .। इतनी जल्दी क्या है? जाना कहाँ है?

वे भी ठीक कहते हैं। राह भी अपना आनन्द लिए है। फिर राह भी अलग-अलग हैं। मंजिल एक है।

तुम अपना रस पहचानना, अपना भाव समझना—और राह चुन लेना।





कृष्ण सभी राहें बता देते हैं। फिर वे अपना भाव भी बता देंगे कि उनका भाव क्या है? उनकी क्या दृष्टि है? ऐसे तो उन्होंने अपनी दृष्टि कह ही दी। जैसे ही उन्होंने कहा, 'कुछ विचक्षण पुरुष' वहीं उन्होंने अपना रस भी बता दिया। जब उन्होंने कहा कि 'कुछ विचक्षण पुरुष, कुछ अद्‌भुत पुरुष. . .।' बस, उन्होंने वहाँ चुनाव भी कर दिया। बाकी को कहा पण्डित हैं, ज्ञानी हैं, समझदार हैं, विद्वान हैं; पर एक को कहा—'विचक्षण—अनूठी दृष्टि वाले लोग।' वहीं उन्होंने अपना झुकाव दिखा दिया।

कृष्ण स्वयं ही वे विचक्षण दृष्टि वाले पुरुष हैं। अगर उनकी बात तुम्हें जँच जाय, तो बड़ी अनूठी है। क्योंकि कुछ छोड़ना नहीं पड़ता और सब छूट जाता है; कुछ करना नहीं पड़ता और सब हो जाता है।

सार में उस विचक्षण दृष्टि की बात इतनी ही है कि तुम परमात्मा के उपकरण हो जाते हो—निमित्त मात्र। वह कराता है, तुम करते हो। वह देता है, तुम लेते हो। वह छीनता है, तुम छिन जाने देते हो। तुम बीच से हट जाते हो। तुम कहते हो : जो तेरी मरजी। बाजार में रखेगा, बाजार में रहेंगे। मगर वहाँ भी तेरा ही आनन्द है; तूने ही रखा है। और तुझसे हम ज्यादा समझदार नहीं हैं। पहाड़ भेज देगा, पहाड़ चले जाएँगे। तू जहाँ भेज देगा, वहीं चले जाएँगे। तेरे ही कारण जा रहे हैं : यह हमारी खुशी है। तेरे काम से जा रहे हैं : यह हमारा आनन्द है। तू हमसे कुछ उपयोग ले रहा है, हम धन्यभागी हैं।

## गीता का पुनरुज्जीवन • प्रेम और समर्पण • सत्संग का रहस्य
## सात्त्विक, राजस और तामस त्याग

**दूसरा प्रवचन**

प्रातःकाल, दिनांक २२ जुलाई, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

ऐतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

परन्तु हे अर्जुन, उस त्याग के विषय में तू मेरे निश्चय को सुन । हे पुरुषश्रेष्ठ, वह त्याग सात्त्विक, राजस और तामस––ऐसे तीनों प्रकार का ही कहा गया है ।

तथा यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं है, किन्तु वह निःसंदेह करना कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप––ये तीनों ही बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं ।

इसलिए हे पार्थ, यह यज्ञ, दान और तपरूप कर्म तथा और भी सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म आसक्ति को और फलों को त्याग कर अवश्य करने चाहिए––ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ।
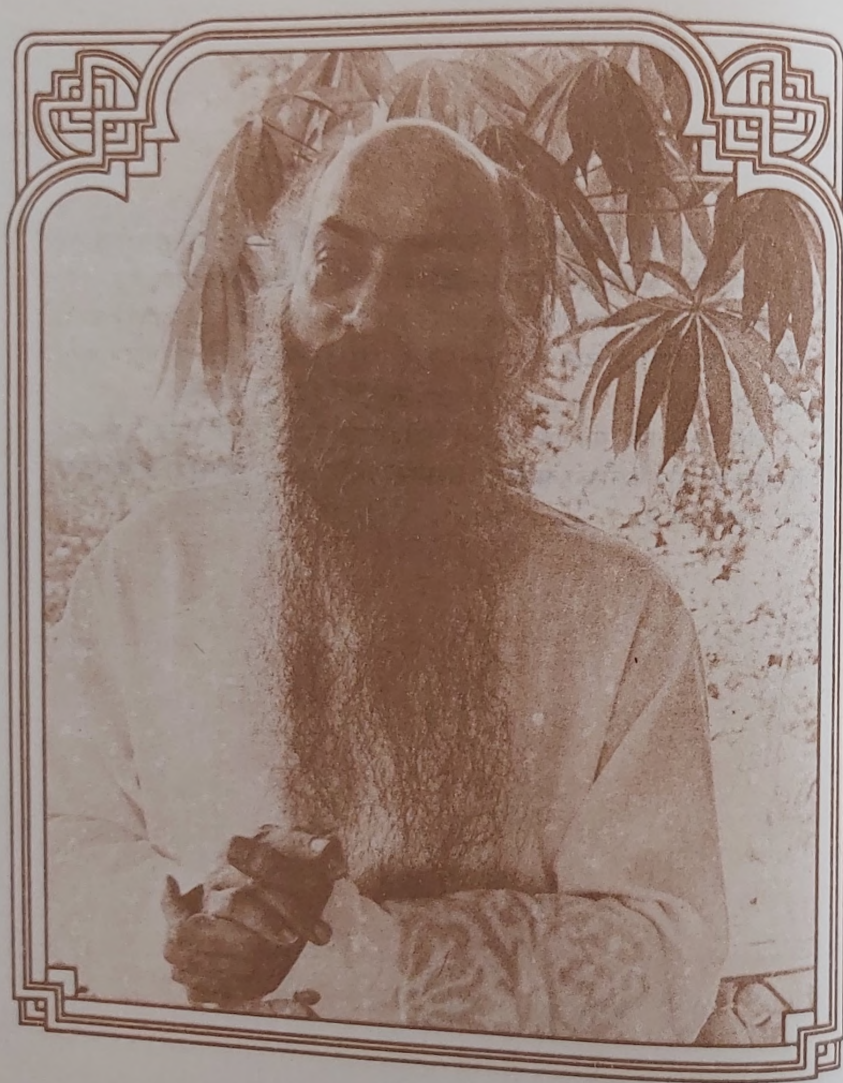
पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : आपने कहा कि समय के प्रवाह में शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं, फिर हजारों वर्ष पूर्व कही गई गीता अब तक अर्थपूर्ण कैसे रह गई है ?

कृष्ण ने जो कहा था, अगर और कृष्णों ने उस पर बार-बार नये अर्थों के कलम न लगाये होते, तो वह अर्थहीन हो गयी होती; बासी पड़ गयी होती; सड़ गयी होती; उसे समझने का फिर कोई उपाय न रह जाता। लेकिन इन हजारों वर्षों में, और बहुत कृष्णों ने गीता को फिर-फिर पुनरुज्जीवित किया, फिर-फिर कहा। हर बार गीता को फिर नया जीवन मिल गया। जब शंकर ने गीता को पुनरुज्जीवित किया, तब फिर कृष्ण दुबारा बोले।

कृष्ण कोई व्यक्ति की बात नहीं है; कृष्ण तो चैतन्य की एक घड़ी है, चैतन्य की एक दशा है, परम भाव है। जब भी कोई व्यक्ति परम को उपलब्ध हुआ, और उसने फिर गीता पर कुछ कहा, तब तब गीता से पुरानी राख झड़ गयी, फिर गीता नया अंगारा हो गयी।

ऐसे हमने गीता को जीवित रखा है। समय बदलता गया, शब्दों के अर्थ बदलते गये, लेकिन गीता को हम नया जीवन देते चले गये; गीता आज भी जिन्दा है।

कुरान कभी मर जाएगा, क्योंकि कुरान पर व्याख्या की आज्ञा नहीं है। गीता कभी भी न मरेगी, क्योंकि गीता को फिर से जीवन देने की सुविधा है। कुरान--जैसा मुहम्मद ने कहा था, उसे वैसा ही बचाने की चेष्टा की गयी है। उस पर कोई दूसरा मुहम्मद कुछ जोड़ न दे, कुछ बदल न दे ! अगर दूसरे मुहम्मदों को बदलने और जोड़ने की सुविधा न हुई, तो समय मार डालेगा। समय किसी की भी चिन्ता नहीं करता। सभी कुछ बासा हो जाता है।

भारत ने एक कला खोज ली है अपने शास्त्रों को सदा जीवित रखने की--वह है : उनकी पुनर्पुनर्व्याख्या। फिर-फिर हम विचार करते हैं। फिर-फिर कृष्ण की चेतना

से उत्तर मिल जाता है। अर्थ बदलते जाते हैं, लेकिन गीता अर्थहीन नहीं हो पाती। हर युग के अनुकूल अर्थ हम फिर खोज लेते हैं। जितना युग से पीछे रह जाती है गीता, हम उसे फिर खीच लेते हैं।

जो मैंने गीता पर इधर इन पांच वर्षों में कहा है, उससे गीता अत्याधुनिक हो जाती है; बीसवी सदी की घटना हो जाती है। अब पिछले पाँच हजार साल को हम भूल सकते हैं। जो मैंने कहा है, उसमें गीता के पुराने पड़ते रूप को एकदम अत्याधुनिक कर दिया है। इन पांच हजार सालों में जो भी घटा है, मनुष्य की चेतना ने जो नयी-नयी करवटें ली हैं––नयी-नयी विधाएँ खोजी हैं, मनुष्य की चेतना ने जो नये अनुभव किये हैं, उन सबको मैंने समाविष्ट कर दिया है। अब गीता को नया खून मिल गया।

शब्दों पर अगर अर्थों की कलम लगती चली जाय––युग के अनुकूल अगर नये अर्थों की अभिव्यन्जना होती रहे, तो किसी शास्त्र को पुराना पड़ने की जरूरत नहीं है। शास्त्र पुराना पड़ता है––मतान्धता से; लकीर के फकीर अगर लोग हो जाते हैं, तो शास्त्र पुराना पड़ जाता है।

हम शास्त्र के लिए थोड़े हैं, शास्त्र हमारे लिए है। इसलिए जब हम बदल जाते हैं, हम शास्त्र को बदल लेते हैं। ऐसे ही जैसे कि हजारों साल पहले घर में दीया जलता था, अब बिजली जलती है। अब भी तुम दीया जलाने की कोशिश करोगे, तो नासमझ हो। लेकिन दीया जलने से जो प्रकाश मिलता था, वही प्रकाश और भी प्रगाढ होकर बिजली से मिल जाता है।

जो शब्द कृष्ण ने अर्जुन से कहे थे, उन पर तो बहुत धूल जम गयी है; उसे हमें रोज बुहारना पड़ता है। और जितनी पुरानी चीज हो, उतना ही श्रम करना पड़ता है, ताकि वह नयी बनी रहे। इसलिए समय का प्रवाह तो किसी को भी माफ नहीं करता, पर अगर हम हमेशा समय के करीब खीच लायें पुराने शास्त्र को, तो शास्त्र पुनः पुनः नया हो जाता है। उसमें फिर नये अर्थ जीवित हो उठते हैं, नये पत्ते लग जाते हैं, नये फूल खिलने लगते हैं।

गीता मरेगी नहीं, क्योंकि हम किसी एक कृष्ण से बंधे नहीं हैं। हमारी धारणा में कृष्ण कोई व्यक्ति नही है––सतत आवर्तित होने वाली चेतना की परम घटना है। इसलिए कृष्ण कह पाते हैं कि जब-जब होगा अँधेरा––होगी धर्म की ग्लानि, तब-तब मैं वापस आ जाऊँगा––सम्भवामि युगे युगे। हर युग में वापस आ जाऊँगा।

तुम यह मत सोचना कि मोर-मुकुट वाले कृष्ण हर युग में वापस आ जाएँगे। जो गया, वह गया। अब मोर-मुकुट की कोई संगति न बैठेगी। और मोर-मुकुट लगाये अगर कृष्ण को तुमने खड़ा कर दिया बाजार में, तो तुम मखौल उड़वा दोगे; तुम उनका मजाक करवा दोगे। वे नाटकीय मालूम पड़ेंगे अब। जो उस दिन स्वाभाविक था, आज





बिलकुल नाटक हो जाएगा।

उन दिनों, कृष्ण के समय में, पुरुष पहनते थे आभूषण––स्त्रियाँ नहीं। वह स्वाभाविक था, ज्यादा प्राकृतिक था। प्रकृति में भी तुम जाओ तो वही पाओगे। मोर नाचता है; जो मोर नाचता है और जिस मोर के पास इन्द्रधनुषों जैसे रंगे हुए पंख हैं, वह पुरुष है। मादा के पास कोई इन्द्रधनुषी रंग नहीं है। कोयल पुकारती है। वह जो पुकारती है कोयल, वह पुरुष है; मादा चुप है। मुर्गे की कलगी देखी है! और जिस शान से अकड़ कर चलता है! मुर्गी के पास वैसी कलगी नहीं है।

सारी प्रकृति में मादा चुप है; अपने सौंदर्य का प्रचार नहीं करती; पुरुष करता है। होना भी यही चाहिए, क्योंकि मादा के होने में ही सौंदर्य है––किसी और अतिरिक्त होने की जरूरत नहीं है। मादा के होने में ही माधुर्य है। अब और आभूषण नही चाहिए। जो कमी है, वह पुरुष को पूरा करनी पड़ती है।

मादा कोयल का तो चुप होना भी मधुर है; लेकिन पुरुष कोयल को तो गीत गाना पड़ेगा, तभी थोड़ा-सा माधुर्य आ सकेगा। इसलिए सारी प्रकृति में खोजने पर तुम पाओगे––पुरुष सजा-धजा है; मादा बिलकुल सादी है। उसका सादा होना ही सौंदर्य है।

उन पुराने दिनों में मनुष्य भी प्रकृति के अनुकूल था; तो कृष्ण मोर-मुकुट बाँधे खड़े हैं। स्वाभाविक था। आज हालत बिलकुल उलटी हो गयी है। आज पुरुष कोई आभूषण नहीं पहनता; पहने तो तुम समझोगे : कुछ दिमाग खराब है! स्त्रियाँ पहनती हैं।

प्रकृति अस्त-व्यस्त हो गयी है। जो नहीं होना चाहिए, वह हो रहा है; जो होना चाहिए, वह नहीं हो रहा है। सभ्यता ने सब डांवाडोल कर दिया है। शिक्षण ने तुम्हारे मन की स्वाभाविकता को डिगा दिया है। स्त्री तो अपने आप में ही सुंदर है, उसे निमंत्रण भी भेजने की जरूरत नही है। उसे पुकारने की भी आवश्यकता नही है। प्रेमी उसे खोजता आयेगा।

और ध्यान रखना : जब भी स्त्री आभूषण सजा लेती है . . . । पुराने दिनो में भी स्त्रियाँ सजाती थीं, लेकिन वे सिर्फ वेश्याएँ थीं; नगर-वधुएँ थीं, जिनको बाजार में खड़ा होना था। स्त्री जब आभूषण से सज जाती है, और निमंत्रण भेजती है, तो उसने स्त्रैण तत्त्व खो दिया। उसने अपने भीतर के मादापन का माधुर्य खो दिया। उसे याद ही न रही कि उसका तो होना काफी है। अब सोने से लदने से उसके सौंदर्य में कुछ बढ़ेगा नहीं; घट सकता है।

तो आज कृष्ण को अगर उनकी ही रूपरेखा में खड़ा कर दो––जैसे वे थे, तो ठीक है––कोई नौटंकी, कोई नाटक में चलेगा, जीवन में नहीं चलेगा। जीवन में वे बड़े बेतुके

लगेंगे। जो उनके इस बाहरी रूपरेखा के सम्बन्ध में सच है, वही उनकी भीतरी रूप-रेखा के सम्बन्ध में भी सच है। सब बदला है।

जब कृष्ण बार-बार लौटेंगे, तो हर बार नये ही होकर लौटेंगे। और हर बार कृष्ण अपनी नयी-नयी सम्भावनाओं में––उद्‌भावनाओं में गीता पर फिर से बोल देंगे। गीता फिर पुनरुज्जीवित हो जाएगी।

अगर तुम्हें बहुत कठिनाई न हो समझने में तो मैं ऐसा कहना चाहूँगा कि कृष्ण ही बार-बार लौट कर अपनी गीता की पुनः पुनः व्याख्या करते रहे हैं, इसलिए गीता मर नहीं पायी है।

● दूसरा प्रश्न : कल आपने कहा कि अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष––ये चार पुरुषार्थ हैं। कृपा पूर्वक समझाएँ कि इन्हें पुरुषार्थ क्यों कहा गया है ?

क्योंकि इन्हीं के माध्यम से तुम्हारे भीतर जो छिपा है अर्थ, वह प्रकट होता है। तुम कौन हो––इनकी ही चुनौती में वह प्रकट होता है। तुम क्या हो––एक विशेष परिस्थिति में ही तुम्हें उसकी स्मृति आनी शुरू होती है।

एक आदमी अर्थ के पीछे पागल है, धन का दीवाना है। वह धन की दीवानगी से कुछ कह रहा है कि वह कौन है। वह अपने पुरुष के अर्थ को प्रकट कर रहा है। वह निम्नतम पुरुष है। उसने जीवन के कोई ऊँचे काव्य नहीं जाने हैं। वह क्षुद्र से राजी है। वह ठीकरों को पकड़े बैठा है। जहाँ हीरे-जवाहरात बरस सकते थे, वहाँ उसने कंकड़-पत्थर चुन लिए हैं। वह अपना अर्थ प्रकट कर रहा है; वह यह कह रहा है कि मैं कौन हूँ।

जब कोई आदमी किसी स्त्री के पीछे भाग रहा है, तब भी वह अपना अर्थ प्रकट कर रहा है। वह कह रहा है : मैं कौन हूँ। वह कह रहा है : मैं कामी हूँ। कामना उसका अर्थ है इस क्षण। वह कह रहा है : मैं गुलाम हूँ; वासना का दास हूँ। वह कह रहा है कि मेरी जीवन की इतिश्री काम-वासना है, वही मेरी परिधि है; उसके पार न मेरे लिए कोई परमात्मा है, न कोई मोक्ष है।

तुम जो कर रहे हो, उससे प्रकट करते हो कि तुम कौन हो।

धन को पकड़ने वाला व्यक्ति तो काम-वासना में भी जाने से डरता है––कि कहीं धन पर कोई आँच न आ जाय। कृपण तो विवाह भी करने में भयभीत होता है। कृपण किसी को पास नहीं आने देना चाहता। क्योंकि जो भी पास आयेगा, वह भागीदार बनने लगेगा। कृपण की अपनी भाषा है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन एक ट्रेन से यात्रा कर रहा था। उसके पास ही बैठा था एक युवक; और उसने पूछा, 'क्या महानुभाव, आप बता सकेंगे कि समय क्या





हुआ है ?' नसरुद्दीन के हाथ में घड़ी थी, लेकिन उसने जल्दी अपनी घड़ी छिपा ली। और उसने कहा, 'माफ करिए; मैं न बता सकूँगा––कि समय क्या है।'

वह युवक थोड़ा हैरान हुआ। इस तरह की घटना कभी जीवन में उसके घटी न थी कि कोई समय बताने से मना कर दे। उसने पूछा, 'मैं समझा नहीं। इसमें आपको क्या अड़चन हो रही है ?'

नसरुद्दीन ने कहा, 'अब अगर पूरी बात ही समझनी है, तो समझाये देता हूँ। लेकिन बात जरा लम्बी है। अभी तुम पूछोगे : समय क्या हुआ है। फिर मैं बता दूँ, बात आगे बढ़ेगी। कहाँ जा रहे हो––पूछोगे। मैं कहूँ : बम्बई जा रहा हूँ। तुम कहोगे : मैं भी बम्बई जा रहा हूँ। ऐसे ही तो आदमी बात-बात में फंसता है। तुम भी बम्बई जा रहे हो; मैं बम्बई ही रहता हूँ। मैं कहूँगा : अच्छा, आना, मेरे घर भोजन कर लेना। ऐसे ही तो आदमी उलझ जाता है। बात में से बात, बात में से बात निकलती आती है। जवान लड़की है घर में; तुम भी जवान हो; देखने-दाखने में अच्छे भी हो। कोई न कोई झंझट हो जाएगी। आज नहीं कल, तुम कहोगे : जरा आपकी बेटी को सिनेमा ले जा रहा हूँ ! और किसी न किसी दिन तुम आ जाओगे––विवाह के लिए। और मैं तुमसे कहे देता हूँ : जिसके पास अपनी घड़ी भी नहीं, उससे मैं लड़की का विवाह नहीं करूँगा।'

कृपण आदमी का अपना तर्क है। उसके देखने के अपने ढंग हैं। वह हर तरफ से रुपये को देखता है। उसको आदमी दिखाई ही नहीं पड़ते; रुपये ही दिखाई पड़ते हैं। जब वह किसी की तरफ देखता है, तो उसे रुपयों की गड्डियाँ दिखाई पड़ती हैं; आदमी नहीं दिखाई पड़ता। उसकी अपनी जीवन शैली है। उसका एक ढंग है––जिसमें बँधा हुआ, वह जीता है। अगर तुम्हारे पास रुपये हैं, तो तुमसे और तरह का व्यवहार करता है। नहीं हैं, तब और तरह का व्यवहार करता है। तुम्हारी आत्मा का कोई सवाल नहीं है; तुम्हारी जेब कितनी वजनी है––इसका ही सवाल है। जब धन होता है, तब तुम्हें पहचानता है; जब नहीं होता है, तब बिलकुल पहचान छोड़ देता है; भूल ही जाता है कि तुम हो। वह अपना अर्थ प्रकट कर रहा है।

तुम्हारी आकांक्षा बताती है : तुम्हारी आत्मा कहाँ है।

कामी कह रहा है कि मेरी आत्मा बस, काम-वासना में है। उसके पार उसे कुछ दिखाई नहीं पड़ता। वह मंदिर भी जाता है, तो मंदिर में प्रार्थना करती स्त्रियों को देखने जाता है। वह मंदिर जाता नहीं; वह प्रार्थना करता नहीं। उसका रस ही वहाँ नहीं है।

जो आदमी धर्म की आकांक्षा करता है, सद्‌वचन सुनता है, सत्य की खोज में निकलता है; सोचता है : जीवन का रहस्य क्या है; वह भी अपने अर्थ को प्रकट कर रहा है। उसकी नजर मंदिर पर लगी रहेगी। वह भला बाजार में बैठा हो। भला बाजार से उठ

भी न सकता हो, लेकिन नजर मंदिर पर लगी रहेगी। उसका पुरुषार्थ--उसकी भावना से प्रकट हो रहा है। उसके भीतर एक अहोभाव चल रहा है--निरन्तर--परमात्मा के प्रति। न भी जा सके, जाना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, लेकिन एक अन्तर्धारा बह रही है।

फिर जो आदमी मोक्ष की अभीप्सा करता है कि मुक्त हो जाऊँ--सभी कुछ से मुक्त हो जाऊँ, इतनी गहन अभीप्सा करता है कि अपने से भी मुक्त हो जाऊँ; यह स्व होने का भी बन्धन न रहे; बन्धन ही न रहे! शून्य होने की जो तैयारी दिखलाता है। वह एक बड़ी गहरी समझ है। वह अपने भीतर के आखिरी फूल को प्रकट कर रहा है। उसका कमल खिल गया है।

इसलिए इनको पुरुषार्थ कहा है। ये तुम्हारे अर्थ को बताते हैं, ये तुम्हारे जीवन की सार्थकता को, व्यर्थता को सूचित करते हैं।

● तीसरा प्रश्न : आपने कहा कि जैन एक पूरी बस्ती नहीं बसा सकते, इसलिए अधूरे हैं। लेकिन वही हाल तो संन्यासी का भी है, तो क्या संन्यास भी अधूरा नहीं है?

अब तक था, अब नहीं होगा। मेरा संन्यासी पूरी बस्ती बसा सकता है।

अब तक संन्यास लंगड़ा था, पंगु था, निर्भर था। और यह कैसी दुःख की बात है कि संन्यासी गृहस्थ पर निर्भर हो! और जिस पर तुम निर्भर हो, उससे ऊपर होने की आकांक्षा ही नासमझी है।

संन्यासी सोचता है कि वह ऊपर है; और होता है निर्भर--उस पर, जो उसके नीचे है। जीता श्रावक के ऊपर है, लेकिन सोचता है : मैं ऊपर हूँ। श्रावक ही ऊपर है; वह खुद के लिए भी आयोजन कर रहा है, तुम्हारे लिए भी आयोजन जुटा रहा है। उसका दान बड़ा है, उसकी सेवा बड़ी है।

अब तक संन्यासी अधूरा था और निश्चित ही अब तक संन्यासी बस्ती नहीं बसा सकते थे। संन्यासियों के लिए दूसरों की बस्तियाँ चाहिए, जिनको संन्यासी पापी कहता है, भटके हुए कहता है, अँधेरे में पड़े कहता है, मूर्च्छा में डूबे कहता है, जिनके लिए नरक का इन्तजाम कर रखा है उसने--उनके ऊपर ही निर्भर होता है। यह बड़ी विडम्बना की बात है। और फिर भी अपने को ऊपर मानता है।

तुम जिस पर निर्भर हो, उससे ऊपर नहीं हो सकते। और ऐसा होता भी नहीं। बस, दिखावा होता है। संन्यासी को बिठा देते हो तुम--तख्त पर--ऊपर--नीचे तुम बैठते हो, लेकिन तुम जानते हो : बागडोर तुम्हारे हाथ में है।

मेरे पास संन्यासियों की खबरें आती हैं कि वे मुझसे मिलना चाहते हैं, लेकिन अपने अनुयायियों के कारण आ नहीं सकते हैं। उनके अनुयायी उन्हें आने नहीं देते!





यह बड़े मजे की बात है। तो अनुयायी नेता है, मार्गदर्शक है, मालिक है। है; क्योंकि वही भोजन देता है, वही औषधि देता है, वही ठहरने को जगह देता है। वही स्वागत-समारम्भ करता है। उसके बिना तुम कहीं भी नहीं हो सकते। और तुम्हें वह यह भी धोखा देता है कि तुम तख्त पर ऊपर बैठ जाओ, कोई हर्जा नहीं है, क्योंकि जानता है : तुम्हारी लगाम उसके हाथ में है। वह आखिरी निर्णायक है।

यह संन्यास लकवा लगा संन्यास है। बीमार संन्यास है, रुग्ण संन्यास है।

मेरा संन्यासी पूरी बस्ती बसा सकता है; बसायेगा। क्योंकि मैं, तुम जो कर रहे हो, उससे तुम्हें नहीं तोड़ रहा हूँ। तुम जो कर रहे हो, उसे पूरे भाव से करना है--यही कह रहा हूँ। तुम जो कर रहे हो, उसे ईश्वर अर्पण करके करना है--इतना ही कह रहा हूँ। तुम जो भी कर रहे हो : तुम सड़क पर बुहारी लगाते हो, कि जूते बनाते हो, कि क्या करते हो, यह सवाल नहीं है। तुम जो भी करते हो, उसे ही ध्यानपूर्वक करना है। उसे ही ऐसी तल्लीनता से करना है कि वही तुम्हारी प्रार्थना--वही तुम्हारी साधना हो जाय। तब संन्यासी पूरी बस्ती बसा सकता है। तब सारी दुनिया संन्यासी की हो सकती है।

अब तक जो संन्यासी था, वह कभी भी पूरी दुनिया में नहीं फैल सकता था। क्योंकि उसके ऊपर भारी बन्धन थे।

जैन संन्यासी भारत के बाहर नहीं जा पाये, क्योंकि वहाँ जैन श्रावक नहीं है, जो उनको भोजन देगा। पहले जैन श्रावक वहाँ होना चाहिए, तब जैन संन्यासी जा सकता है। नहीं तो भोजन कहाँ लेगा? वह किसी और के घर में तो भोजन ले नहीं सकता! वह तो अपवित्र है। अब जब तक जैन संन्यासी न जाय, जैन श्रावक वहाँ कैसे हो। इसलिए वह बात ही न उठी। इसलिए जाने का सवाल ही न उठा। इसलिए जैन सिकुड़ कर मर गये। उनकी कोई संख्या है?--पच्चीस लाख संख्या है! अगर महावीर ने पच्चीस जोड़ों को भी दीक्षा दी होगी तो पच्चीस सौ साल में पच्चीस जोड़े पच्चीस लाख बच्चे पैदा कर देंगे। यह भी कोई विकास हुआ! कुंद हो गया, बंद हो गया, सब तरफ से हाथ-पैर कट गये।

न; मेरा संन्यासी सारी दुनिया में फैल सकता है, क्योंकि वह किसी पर निर्भर नहीं है।

स्वनिर्भरता तभी सम्भव है, जब तुम अपनी रोटी खुद कमा रहे हो; अपने कपड़े खुद बना रहे हो; अपने जीवन के लिए परम मुक्त हो, किसी पर निर्भर नहीं हो, तभी तुम वास्तविक रूप से स्वतंत्र हो सकते हो।

गृहस्थ ही जब तक संन्यासी न हो जाय--गृहस्थ रहते हुए ही संन्यासी न हो जाय, तब तक संन्यास जीवंत नहीं होगा, मुरदा होगा; उसमें वास्तविक प्राण नहीं हो सकते;

धड़कन उधार होगी।

● चौथा प्रश्न : आपने कहा कि भगवान् कृष्ण और अर्जुन के बीच मैत्री का सम्बन्ध गहन था और उसी सम्बन्ध से गीता-ज्ञान का उदय हुआ। फिर अर्जुन संदेह भी उठाता है और शीघ्र ही समर्पित शिष्य हो जाता है। कृपा पूर्वक इस पर प्रकाश डालें।

जहाँ प्रेम है, वहाँ श्रद्धा ज्यादा दूर नहीं। प्रेम के पास ही श्रद्धा का शिखर है। श्रद्धा प्रेम का ही निखार है, निचोड़ है।

अर्जुन प्रेम तो करता है कृष्ण को—मित्र की तरह करता है। एक गहन सहानुभूति है; कृष्ण को समझने के लिए तैयारी है। कृष्ण के प्रति मन में कोई विरोध नहीं है, कोई द्वेष नहीं है। कोई प्रतिरोध नहीं है—कृष्ण के प्रति। द्वार खुला है। कृष्ण मित्र हैं और जो भी कहेंगे, वह कल्याणकर होगा। कृष्ण भटकायेंगे नहीं—इतना भरोसा है। इस भरोसे से देर नहीं लगती, और जहाँ मित्र भाव था, वहीं गुरु-शिष्य का जन्म हो जाता है।

बुद्ध ने तो अपने संन्यासियों को कहा है कि तुम लोगों के 'कल्याण-मित्र' होना। फिर उसी कल्याण-मैत्री से उनके मन में श्रद्धा उठेगी। तो समर्पण भी फलित होगा। बुद्ध ने कहा है कि आने वाले संसार में जो बुद्ध होगा, उसका नाम मैत्रेय होगा। मैत्रेय का अर्थ है—मित्र।

मित्रता से ही शुरुआत होती है। अगर जरा-सी भी शत्रुता है, तो श्रद्धा भाव तो पैदा ही कैसे होगा? फिर तो द्वार ही बन्द हैं। फिर तो तुम पहले से ही डरे हो; फिर पहले से ही तुम अपनी सुरक्षा कर रहे हो; फिर संवाद नहीं हो सकता।

गीता संवाद है। संवाद का अर्थ है : दो हृदयों के बीच होती बात है—दो मस्तिष्कों के बीच नहीं। दो विचार आपस में लड़ नहीं रहे हैं, संघर्ष नहीं कर रहे हैं। दो भाव मिल रहे हैं। एक संगम फलित हो रहा है।

शिष्य जब आता है शुरू में, तो शिष्य तो हो ही नहीं सकता। शिष्य होना तो बड़ी उपलब्धि है। इसलिए नानक ने अपने पूरे धर्म का नाम ही सिक्ख रख दिया। 'सिक्ख' शिष्य शब्द का रूप है। सारे धर्म का सार ही इतना है कि तुम शिष्य हो जाओ। सिक्ख हो जाओ; सीखने को तैयार हो जाओ।

साधारणतः अहंकार सीखने को तैयार नहीं होता; सिखाने को तैयार होता है। अहंकार का रस यह होता है कि किसी को सिखा दूँ, सलाह दे दूँ। इसलिए दुनिया में इतनी सलाह दी जाती है; कोई नहीं लेता, फिर भी लोग दिए चले जाते हैं! बाप बेटे को दे रहा है, पति पत्नी को दे रहा है, पत्नी पति को दे रही है, पड़ोसी पड़ोसी को दे रहे हैं।





लोग सलाह दिए चले जाते हैं। कोई माँग नहीं रहा है। दुनिया में सबसे कम माँगे जानेवाली चीज सलाह है और सबसे ज्यादा दी जानेवाली चीज भी सलाह है।

सलाह देने का बड़ा मजा है; क्योंकि देते वक्त तुम्हें लगता है कि तुम ज्ञानी हो गये, लेने वाला अज्ञानी हो गया।

दूसरों को अज्ञानी सिद्ध करने का मजा लेना हो, तो सलाह देने से ज्यादा सुगम और कोई तरकीब नहीं है। बिना अज्ञानी कहे, अज्ञानी सिद्ध कर दिया—दे दी सलाह! इसलिए जिन चीजों का तुम्हें पता भी नहीं है, उनकी भी तुम सलाह देते हो। स्वप्न में भी जिनकी छाया तुमने देखी नहीं है, उनके सम्बन्ध में भी जब सलाह देने का मौका आता है, तो तुम पीछे नहीं रहते।

सलाह देने को तो एकदम तुम उछल कर तैयार हो जाते हो। सलाह लेने को तुम इतने तैयार नहीं दिखाई पड़ते। और जो सलाह लेने को तैयार है, वही शिष्य हो सकता है। तो अहंकार तो बाधा देगा।

मित्रता का अर्थ है : तुम अपने अहंकार को बचा कर भी प्रेम कर सकते हो। शिष्यत्व का अर्थ है : तुम्हें अहंकार छोड़ के प्रेम करना पड़ेगा। मित्र का अर्थ है : मैं मैं हूँ, तुम तुम हो; हम दोनों समान हैं। लेकिन हम एक दूसरे में रस लेते हैं।

शुरुआत तो मित्रता से ही होगी, अंत शिष्यत्व पर होगा।

तो अर्जुन के मन में भाव तो मैत्री का है; कृष्ण उसके सखा हैं, बचपन के सखा हैं। इस सखा-भाव से ही उसने अपने हृदय को उनके प्रति खुला छोड़ दिया है। जिज्ञासाएँ उठाई हैं, लेकिन जिज्ञासाएँ अदालत में उठाये गये तर्कों की भाँति नहीं हैं। किसी को हराना नहीं है; कुछ जानना है; कुछ समझना है।

और कृष्ण ने जो उत्तर दिए हैं : धीरे-धीरे उसकी संदेह की व्यवस्था को उन्होंने तोड़ दिया; उसके संशय छिन्न हो गये। धीरे-धीरे उसके भीतर संशय की जगह श्रद्धा का आविर्भाव हुआ है। उसने आँख खोल कर देखा कि जिसे उसने सखा समझा था, वह सिर्फ सखा नहीं है। सखा में विराट् के दर्शन हुए हैं।

तुमने भी जिसे समझा है, वह सखा ही नहीं है। तुमने जिसे पत्नी समझा है, वह पत्नी ही नहीं है। तुमने जिसे बेटा समझा है, वह बेटा ही नहीं है। किसी दिन आँखें खुलेंगी, तो तुम पाओगे : वहीं विराट् है, सभी तरफ विराट् है; वही छिपा है।

तुम यह मत सोचना कि यह कोई चमत्कार है—जो कृष्ण ने दिखा दिया। यह चमत्कार नहीं है, जो कृष्ण ने दिखा दिया। यह चमत्कार है—जो अर्जुन ने देख लिया।

अर्जुन जैसे-जैसे खुलता गया और जैसे-जैसे सरल होता गया; उसकी ग्रंथि अहंकार की, जैसे जैसे टूटी, जैसे जैसे उसने कृष्ण को गौर से देखा कि जिसमें मैंने सखा देखा था, वह सिर्फ सखा नहीं है—परम गुरु उसमें छिपा है। जैसे-जैसे यह भाव प्रगाढ हुआ—

वह पुराना सखा कृष्ण खो गये।

एक अर्थ में यह घटना बड़ी कठिन है--मित्र में परमात्मा को देखना। क्योंकि जिसे तुमने मित्र की तरह जाना है, उसे परमात्मा की तरह जानने में बड़ी अड़चन हो जाती है। इसलिए जीसस ने कहा है कि 'पैगम्बर की पूजा अपने ही गाँव में नहीं होती।' ठीक है बात। क्योंकि गाँव के लोग जानते हैं : तुम कौन हो। अगर जीसस अपने गाँव जाते, तो लोग कहते : 'बढ़ई का लड़का है--वह जोसफ का लड़का है। दिमाग फिर गया है। ऊँची-ऊँची बातें करने लगा है।' कोई मानने को राजी न होता कि बढ़ई का लड़का और ज्ञान को उपलब्ध हो गया है।

हम भूल ही नहीं सकते--बाहर की परिधि को, क्योंकि वही हमारा परिचय है।

कबीर ज्ञान को उपलब्ध हो गये। एक सुबह नदी पर, गंगा पर स्नान करने गये हैं। देखा : एक पड़ोसी परिचित है, ऐसे हाथ से ही चुल्लू भर-भर के स्नान कर रहा है। तो उन्होंने जल्दी से अपना लोटा माँजा और उसको दिया कि लोटे से स्नान कर लो; ऐसे चुल्लू से भर भर के स्नान कितनी देर में कर पाओगे !

उस आदमी ने कहा, 'सम्हाल के रख अपना लोटा जुलाहे ! क्या जुलाहे का लोटा लेकर हम अपने को अपवित्र करेंगे !' वह मुहल्ले का ही आदमी था। कबीर जुलाहा है, यह भूलना उसे मुश्किल है।

कबीर ने कहा कि 'बड़ी गजब की बात तुमने कह दी। लेकिन जब यह लोटा ही तुम्हारी गंगा में स्नान करने से पवित्र न हुआ, तो तुम कैसे हो जाओगे ? तुमने मेरी तो दृष्टि खोल दी; अब गंगा में नहाने न आऊँगा; क्या सार ! लोटे को घिस-घिस के परेशान हो गया और साफ न हुआ, शुद्ध न हुआ। जुलाहे का लोटा, जुलाहे का रहा; तो तुम स्नान कर करके क्या पा लोगे?'

लेकिन जिसको तुमने जुलाहे की तरह जाना है, उसे गुरु की तरह जानना मुश्किल हो जाता है।

जीसस ठीक कहते हैं : 'पैगम्बर की पूजा अपने ही गाँव में नहीं होती।' एक अर्थ में तो मित्र को परमात्मा की तरह जानना बहुत कठिन है। और एक अर्थ में बिना मित्र बनाये परमात्मा को पहचानना कठिन है। क्योंकि तब शुरुआत ही कैसे होगी!

तो तुम पर निर्भर करेगा। अगर तुम थोड़े सजग हो, तो मित्रता धीरे-धीरे, धीरे-धीरे गहरे में ले जा सकती है। अगर तुम बेहोश हो, तो मित्रता नीचे उतार सकती है।

मित्रता ऊपर जाने वाली सीढ़ी भी बन सकती है और मित्रता नीचे जानेवाली सीढ़ी भी बन सकती है। अकसर तो ऐसे ही होता है कि मित्रता नीचे जानेवाली सीढ़ी बनती है। जब तक दो व्यक्ति एक दूसरे को माँ-बहन की गाली न देते लगें, तब तक समझना मित्रता पूरी नहीं है; तब समझो कि पक्की है। इतने नीचे जब तक न उतर





जायँ, तब तक मित्रता सिद्ध ही नहीं होती !

तुम दो व्यक्तियों के व्यवहार को देख कर कह सकते हो कि गहरी मित्रता है या नहीं। अगर गाली वगैरह दे रहे हों और मजे से हँस रहे हैं, तो समझो कि मित्रता है। साधारण सौजन्य भी छूट जाता है; साधारण संस्कार भी छूट जाते हैं। दोनों अपने निम्नतल पर उतर आते है। तब मित्रता मालूम पड़ती है।

अर्जुन अनूठा व्यक्ति रहा होगा, इसलिए कृष्ण अगर उसे पुरुषश्रेष्ठ कहते हैं, तो कुछ आश्चर्य नहीं है। मित्र के भीतर परमात्मा को देख लिया ! जिसे बचपन से जाना है, उसके भीतर अनजान की झलक पा ली। जो बिलकुल ज्ञात मालूम होता है, उसके भीतर अज्ञात का द्वार खुल गया।

इस मैत्री से ही गीता जन्मी है। इस मैत्री के भाव से ही अर्जुन शिष्य हुआ और कृष्ण को गुरु होने का मौका दिया।

ध्यान रखना : कोई तुम्हारे ऊपर गुरु नहीं हो सकता; तुम मौका दे सकते हो। गुरु होना कोई जबरदस्ती नहीं है। गुरु तुम्हारे ऊपर अपने को थोप नहीं सकता। क्योंकि गुरु कोई हिंसा नहीं है; आक्रमण नहीं है। इसलिए दुनिया में कोई गुरु नहीं बन सकता, केवल शिष्य गुरु बना सकता है। वह तुम्हारी ही भावदशा है।

शिष्य ही गुरु को निर्मित करता है--एक अर्थ में। क्योंकि जैसे ही वह झुकता है, वैसे ही गुरु पैदा होता है। जितना झुकता है, उतनी ही गुरुता का दर्शन होता है।

अर्जुन धीरे-धीरे झुकता गया है। उसने अपनी सब जिज्ञासाएँ उठा ली हैं; सब प्रश्न उठा लिए हैं। कृष्ण उसके एक-एक प्रश्न को काटते गये हैं--बड़े धीरज से। क्योंकि गुरु को तो बहुत धैर्य रखना जरूरी है। अज्ञान इतना गहरा है और मन के इतने पुराने जाल हैं कि तुम एक तरफ से सम्हालो, दूसरी तरफ से बिगड़ जाता है। दूसरी तरफ से सम्हालो, तीसरी तरफ से बिगड़ जाता है। और मन अंत तक चेष्टा करता है जीतने की।

जब शिष्य गुरु के पास आता है, तो गुरु और शिष्य के मन के बीच एक गहन संघर्ष शुरू होता है। इस बात को थोड़ा समझ लेना।

जब भी शिष्य गुरु के पास आता है, तब शिष्य के मन और गुरु के बीच संघर्ष शुरू होता है। शिष्य के हृदय और गुरु के बीच तो मैत्री होती है। लेकिन शिष्य की बुद्धि--विचार--और गुरु के बीच बड़ा संघर्ष होता है। ये दोनों ही बातें होनी चाहिए --कि हृदय में मैत्री का भाव हो, तो संवाद पैदा हो सकेगा। गुरु जो कहेगा, वह समझ में आ सकेगा। क्योंकि समझ अंततः हृदय की है, प्रेम की है। और अगर हृदय में वह भाव न हो--सिर्फ बुद्धि में प्रश्न हों--तो तुम शिष्य नहीं हो। तुम सिर्फ कुतूहलवश, जिज्ञासा-वश आ गये हो। तुम रूपांतरित होने को नहीं आये हो। तुम कुछ शब्दों का संग्रह करके

लौट जाओगे। तुम थोड़े पण्डित हो जाओगे। तुम मिटोगे नहीं; तुम थोड़े से और आभूषण अपने अहंकार के लिए जुटा लोगे।

मन में तो प्रश्न उठेंगे ही। जैसे वृक्षों में पत्ते लगते हैं, ऐसे मन में प्रश्न लगते हैं। लेकिन अगर हृदय में प्रेम हो, तो गुरु जीत जाएगा, शिष्य हारेगा। और शिष्य का हारना ही शिष्य की जीत है। गुरु का जीतना ही शिष्य की जीत है। क्योंकि गुरु जीत जाय, तो ही तुम उठोगे--उस कचरे से, जहाँ तुम पड़े हो। अगर तुम जीत गये, तो तुम वहीं पड़े रह जाओगे।

अर्जुन हारने को राजी है; लेकिन जल्दी हारने को भी राजी नहीं है। क्योंकि अगर तुम जल्दी हार गये, तो भी धोखा होगा। मन में प्रश्न बने ही रह जाएँगे, जो बार-बार उठेंगे। हमेशा लौट-लौट कर आ जाएँगे।

तो अर्जुन अपनी सारी जिज्ञासाएँ रख लेता है। मन जो भी प्रश्न उठा सकता है, उठा लेता है, उसमें कंजूसी नहीं करता। और हृदय के प्रेम में जरा भी बाधा नहीं डालता। हृदय का द्वार खुला रहता है और गुरु मन को काटे चला जाता है।

कृष्ण तो एक तलवार हैं, वे अर्जुन के एक-एक संशय को गिराये जा रहे हैं। लेकिन इतना भरोसा होना चाहिए--कि किसी के हाथ में तलवार देख कर भय न पैदा हो जाय। किसी के हाथ में तलवार देख कर ऐसा न लगे कि क्या पता, यह संशय काटते-काटते मुझको ही नहीं काट देगा! इतना भरोसा चाहिए कि यह बीमारी ही काटेगा। जैसे तुम एक सर्जन के पास जाते हो, तो भरोसा चाहिए। तुम लेट जाते हो; तुम बेहोश कर दिए जाते हो। तुम भरोसा रखते हो कि यह आदमी बीमारी की ग्रंथि ही काटेगा--ट्यूमर ही निकालेगा। अब बेहोश हालत में यह क्या करेगा--पता नहीं। लेकिन एक भरोसा है, एक ट्रस्ट है, एक श्रद्धा है।

इसलिए धर्म की परम घटना बिना श्रद्धा के नहीं घटती, क्योंकि धर्म सबसे बड़ी सर्जरी है। जिसमें तुम्हारा सबसे बड़ा ट्यूमर--अहंकार निकाला जाएगा। और तुम्हारे जीवन में संशय के जितने रोगाणु हैं, उन सबको बाहर फेंका जाएगा। वह सबसे बड़ी शुद्धि है; आमूल रूपांतरण है। जड़-मूल से बदलाहट है। उतनी ही बड़ी श्रद्धा भी चाहिए। ऐसी श्रद्धा न हो, तो बेहतर है--गुरु के पास मत जाना।

मैंने सुना : मुल्ला नसरुद्दीन गया था चिकित्सक के पास। जैसे ही चिकित्सक ने उसे कहा कि 'लेटो टेबल पर'; उसने जल्दी से खीसे में हाथ डाला, अपना बटुआ निकाला। चिकित्सक ने कहा, 'कोई फिक्र नहीं; फीस बाद में दे देना।' उसने कहा, 'फीस कौन दे रहा है! हम अपने रुपये गिन रहे हैं। ऑपरेशन के बाद गिनने में क्या सार! पहले गिन लेना उचित है। कितने थे, इतना पक्का तो होना चाहिए; ऑपरेशन के बाद वापस गिन लेंगे।'





इतना भी भरोसा न हो, तो गुरु के पास जाना ही मत। अगर गुरु के पास भी हाथ जेब में पड़ा रहे और बटुए में नोट गिनते रहो और संदेह बना रहे . . .।

संदेह के होने में कोई बुराई नहीं है; संदेह मन में ही हो, हृदय में न हो। हृदय भरोसा करता हो। तो वह परम घटना घट सकती है। तुम्हारे मन की मृत्यु हो जाएगी और तुम विराट् जीवन को उपलब्ध हो सकोगे।

● पांचवां प्रश्न : आपने कहा कि सद्गुरु ही शिष्य को खोजता है। और विश्व के सुदूर कोनों से अपने होने वाले शिष्यों को आप पूना बुला रहे हैं। यदि सद्गुरु कुछ नहीं करता, तो यह शिष्य का खोजना, उसे अपने पास बुलाना, आदि घटनाएँ किस प्रकार घटती हैं?

बस, घटती हैं। जैसे पानी भागा चला जाता है--सागर की तरफ; जैसे दीये की लौ उठती है--आकाश की तरफ। कोई दीया चेष्टा थोड़े ही करता है कि आकाश की तरफ उठे। और चेष्टा करेगा, तो गिरेगा किसी न किसी दिन; थक जाएगा। लेकिन दीया थकता ही नहीं; उसकी ज्योति उठे ही चली जाती है। अगर नदियाँ चेष्टा करती हों, अगर गंगा श्रम करती हो--सागर की तरफ जाने का, तो कभी तो थकेगी।

श्रम से तो कभी न कभी थक ही जाओगे। तो फिर गंगा कहेगी, जाने भी दो, कुछ दिन छुट्टी। लेकिन बहे चली जाती है, बहे चली जाती है। यह बहना एक स्वाभाविक कृत्य है।

जैसे पानी गड्ढे की तरफ बहता है, ऐसा जब भी कहीं गुरुत्व पैदा होता है, तो जिनकी भी खोज है, वे बहे चले आते हैं। कोई कुछ करता नहीं। गुरु शिष्य को ऐसे ही बुलाता है, जैसा गड्ढा पानी को बुलाता है। कोई बुलाता नहीं है। जैसे चुम्बक खींच लेता है--बिना खींचे। कोई खींचने के लिए उपक्रम थोड़े ही करना पड़ता है। नहीं तो चुम्बक को भी विश्राम करना पड़े; बारह घंटे खींचे और बारह घंटे विश्राम करे! नहीं, विश्राम की जरूरत ही नहीं आती, क्योंकि श्रम नहीं है यह।

तुम मेरे पास हो; न तो तुम चेष्टा करके आ गये हो, न मैंने चेष्टा करके तुम्हें बुला लिया है। बस, यह घटना मेरे और तुम्हारे बीच घटी है कि तुम आ गये हो और मैं यहाँ हूँ। यह उतनी ही प्राकृतिक है, जैसे गंगा सागर में गिरती है।

धर्म में--धर्म के गहनतम रूप में कर्तव्य का सवाल ही नहीं है। और गुरु अगर कुछ करता हो, तो गुरु ही नहीं है। गुरु तो अकर्ता है। कर्ता तो खो गया है, क्योंकि कर्ता का तो अर्थ ही अहंकार होता है।

इसलिए एक बड़ी रहस्यपूर्ण बात है, वह यह कि गुरु के पास बैठ-बैठ के धीरे-धीरे कुछ होता है। गुरु करता नहीं है, तुम करते नहीं, पर घटता है। इसको हमने सत्संग कहा है। यह संसार का सबसे बड़ा रहस्य है।

सत्संग का अर्थ है : शिष्य बैठा है, गुरु बैठे हैं; साथ-साथ हैं। कुछ घटता है—इन दोनों की मौजूदगी में कुछ घटता है। जिसकी खोज है, वह खोज लेता है। जिसके पास देने को है, वह बाँट देता है।

पर यह भाषा के साथ तकलीफ है, क्योंकि हम तो जो भी कहेंगे, उसमें ही क्रिया आ जाएगी। क्योंकि भाषा में हमने ऐसा कोई भी शब्द नहीं जाना; (जान भी नहीं सकते) क्योंकि भाषा तो संसारी आदमी बनाता है; कर्ता का भाव वाला आदमी बनाता है। वहाँ तो सभी क्रियाएँ हैं।

एक आदमी बैठता है, वह कहता है : हम ध्यान कर रहे हैं। अब ध्यान कहीं किया जाता है! तुम तो यह भी कहते हो कि हम प्रेम कर रहे हैं! प्रेम कहीं किया जाता है? प्रेम होता है। जब होता है, तब होता है; नहीं होता तो नहीं होता। जब नहीं होता, तब करके दिखाओ ? जैसे मैं तुम्हें दे दूँ किसी व्यक्ति को, और कहूँ : चलो, इसको प्रेम करके दिखाओ। दिखा सकोगे? हाँ, अभिनय कर सकते हो। गले लगा लो, लेकिन हड्डियाँ हड्डियों से मिलेंगी, हृदय में कोई उद्भावना न होगी।

क्या करोगे—अगर मैं कहूँ कि इस व्यक्ति को प्रेम करो—इसी समय! कुछ न कर सकोगे। ज्यादा से ज्यादा अभिनय कर सकोगे। धोखा है अभिनय, झूठ है अभिनय। प्रेम तो होता है, तो होता है। नहीं होता, तो नहीं होता। लेकिन प्रेम में कितनी घटनाएँ घटती हैं!

ध्यान . . . ? लोग कहते हैं : ध्यान कर रहे हैं। 'ध्यान कर रहे हैं'—कहना ठीक नहीं है। 'ध्यान में हैं', इतना कहना ठीक है। क्योंकि करोगे कैसे ध्यान ? अगर करने वाला मौजूद रहा, तो तुम बाहर ही बाहर घूमते रहोगे; भीतर कैसे जाओगे ? करने वाला कभी भीतर गया है?

जब सब करना छूट जाता है, तो तुम भीतर होते हो। जब विचार का कृत्य भी नहीं रह जाता, कोई क्रिया की लहर तुम्हारे पास नहीं रह जाती, तब तुम भीतर होते हो। ध्यान में व्यक्ति होता है; ध्यान किया नहीं जा सकता।

प्रार्थना कर सकते हो? बकवास कर सकते हो; उसको तुम प्रार्थना कहते हो! प्रार्थना भाव दशा है। तुम प्रार्थना में हो सकते हो। प्रार्थना में सन्नाटा हो जाएगा, मौन हो जाएगा। मन चुप होगा। कहीं कोई आवाज न उठेगी। एक गहन सन्नाटा छा जाएगा। उसी सन्नाटे में तुम झुकोगे। उसी सन्नाटे में तुम परमात्मा में गिरोगे। उसी सन्नाटे में तुम स्वीकार किए जाओगे—अंगीकार होओगे।

प्रार्थना में हो सकते हो, प्रार्थना कर नहीं सकते। और तुमने प्रार्थना की, तो वहाँ विवश अभिनय हो जाएगा।

मंदिरों में पुजारी प्रार्थना कर रहे हैं; अभिनय चल रहा है! कैसा मजा है! नौकर





रख छोड़े हैं तुमने मंदिरों में। जिनको तुम तनख्वाह देते हो—प्रार्थना करने की। वे जिंदगी भर प्रार्थना करते रहते हैं। और कुछ भी नहीं घटता।

रामकृष्ण को मंदिर में रखा गया था; भूल से ही हो गयी—यह बात। क्योंकि ऐसा पुजारी कोई नौकरी करने नहीं आता। गरीबी थी, तकलीफ में थे, राजी हो गये। राजी होने में गरीबी ही नहीं थी, करुणा भी थी। क्योंकि जिस महिला ने यह मंदिर बनाया—दक्षिणेश्वर का कलकत्ते में, वह शूद्र थी। कोई ब्राह्मण उसके यहाँ नौकरी करने को राजी न था। शूद्र के मंदिर में कौन ब्राह्मण करने को प्रार्थना जाय ?

भगवान् भी शूद्र ने बनवाया हो, तो शूद्र हो जाता है। अब शूद्र भगवान् की कौन पूजा करे! कोई भ्रष्ट होना है? आदमी के तर्क बड़े अद्भुत हैं।

और वह महिला निश्चित ही बड़ी अद्भुत महिला थी। रानी रासमणि उसका नाम था। बड़े भाव से उसने मंदिर बनाया था। लेकिन पुजारी न मिले मंदिर में। और वह शूद्र थी, इसलिए खुद मंदिर के गर्भ-गृह में प्रवेश करने से डरती थी—कि अगर मैंने भीतर प्रवेश किया तो कहीं लोगों को पीड़ा न हो, दुःख न हो। अन्यथा वह भी पूजा कर सकती थी। वह मंदिर के द्वार पर बाहर से पूजा करके जाती थी। वह ज्यादा ब्राह्मण थी—उन ब्राह्मणों से, जो मंदिर में पूजा करने को राजी नहीं थे—क्योंकि इसमें पैसा रासमणि का लगा था।

रामकृष्ण राजी हो गये—संयोग ही था—दयावश—करुणावश; और गरीबी थी, नौकरी चाहिए थी। और नौकरी उन्हें कहीं और मिल भी न सकती थी। क्योंकि वे कुछ अनूठे ढंग के पुजारी थे, जैसा कि पुजारी होते नहीं—या कि सिर्फ असली पुजारी होते हैं।

तो यह संयोग मिल गया : रासमणि को पुजारी नहीं मिलता था, रामकृष्ण को पूजा का मंदिर नहीं मिलता था। जम गई बात। मगर थोड़े ही दिन में अड़चन शुरू हो गई।

ट्रस्टी थे मंदिर के, उन्होंने रासमणि को कहा कि यह पुजारी न चलेगा। इससे तो बिना पूजा का मंदिर रहे, वह बेहतर। प्रतीक्षा करें हम, कोई ब्राह्मण आ जाएगा—ढंग का। यह तो ढंग का आदमी ही नहीं है। क्योंकि इसने तो ऐसे जघन्य अपराध किये हैं कि क्षमा नहीं किया जा सकता।

क्या अपराध थे?

अपराध ये थे कि कभी तो पूजा करते वे, कभी न करते। एक अपराध तो यह था : कभी दिनों बीत जाते, वे जाते ही न मंदिर में और कभी दिन-दिन भर पूजा चलती।

अब यह भी कोई ढंग है ! पूजा तो नियम से होनी चाहिए, पूजा तो एक रूटीन है, जैसे कि मिलिट्री में होती है—बायें घूम, दायें घूम। जल्दी से किया—पूजा पूरी

हुई, अपने घर गये, पुजारी घर गया।

रामकृष्ण से पूछा गया : 'यह क्या गड़बड़ है!' उन्होंने कहा कि 'जब होती है, तब होती है। जब नहीं होती है, मैं क्या करूँ! क्या मैं झूठ करूँ? भगवान् के सामने झूठा खड़ा होकर हाथ हिलाऊँ, सिर हिलाऊँ? कुछ बोलूँ, जो मेरे हृदय में नहीं है! जब नहीं होती है, जब मैं रेगिस्तान की तरह हूँ, तब कैसे जाऊँ मंदिर में! जब होती है, तब जाता हूँ। और जब होती है, तो जब तक होती रहती है, फिर निकलता नहीं हूँ। फिर भूख प्यास भूल जाती है, दिन बीत जाते हैं।

कभी-कभी तो ऐसा होता कि बीस-बीस घंटे वे खड़े हैं; आँसुओं की धार बह रही है; नाच रहे हैं। सुनने वाले आते हैं, चले जाते हैं। सुबह होती है, साँझ होती है; मगर पुजारी लगा है।

दूसरा अपराध था कि वे पहले खुद भोग लगा लेते हैं—अपने को और फिर भगवान् को प्रसाद चढ़ा देते हैं। पहले भगवान् को भोग लगना चाहिए, फिर खुद प्रसाद लेना चाहिए। यहाँ तो सब बिलकुल उलटा मामला है!

उनसे कहा गया, 'कम से कम इतना तो बंद करो। क्योंकि यह बिलकुल ही शास्त्र के विपरीत है।' मगर प्रेम कहीं शास्त्र को मानता है? पूजा किसी शास्त्र के अनुसार चलती है? शास्त्र के अनुसार तो अभिनय चलता है, नाटक चलता है।

तो रामकृष्ण ने कहा, 'फिर मैं पूजा नहीं करूँगा। फिर मुझे छोड़ दें; छुट्टी दे दें। यह मैं कर ही नहीं सकता; यह मेरी माँ नहीं कर सकती थी; मैं कैसे कर सकता हूँ?'

लोगों ने पूछा, 'क्या मतलब?' उन्होंने कहा, 'मेरी माँ जब भी कुछ बनाती थी, तो पहले खुद चखती थी, फिर मुझे देती थी। देने योग्य भी है या नहीं—यह भी तो पक्का होना चाहिए। तो मैं बिना चखे भगवान् को दे नहीं सकता। क्योंकि कई बार मैं पाता हूँ कि शक्कर कम है, कई बार पाता हूँ : ज्यादा है; कई बार पाता हूँ : नमक है ही नहीं। कई बार कुछ भूल-चूक होती है। मैं भगवान् को ऐसे नहीं दे सकता।'

अब यह किसी बड़े गहन प्रेम से आती पूजा है। इसके लिए कोई शास्त्र निर्मित नहीं हुआ है, न हो सकता है। क्योंकि यह हर पुजारी की अलग होगी। हर पुजारी अपना ही शास्त्र होगा।

नहीं, गुरु कुछ करता नहीं है। वहां महान घटनाएँ घटती हैं; बिना किए घटती हैं; बिना किसी के चेष्टा के घटती हैं। कोई उनके करने से थकता नहीं। शिष्य जहाँ राजी है, गुरु जहाँ मौजूद है, बस, उनकी मौजूदगी दोनों की साथ चाहिए—सत्संग चाहिए घटनाएँ शुरू हो जाती हैं।

● छठवां प्रश्न : अर्जुन संदेह और संदेह उठाता है; कृष्ण प्रत्युत्तर भी देते जाते हैं। ठीक वैसे ही हमारे भीतर भी प्रश्नों का मंथन चलता है। लेकिन मुश्किल यह है कि आपको





बहुत बार सुन कर, पढ़कर भीतर से ही उत्तर भी तत्क्षण आ जाते हैं। इससे अंततः उलझाव तो बना ही रहता है। क्या करें?

बुद्धि से आये हुए उत्तर काम नहीं आयेंगे। तुमने अगर मुझे सुना, तो दो तरह से सुन सकते हो। एक तो तुम्हारी बुद्धि है, तर्क है, विचार है—वहाँ से सुन सकते हो। मेरी बात जँच सकती है; ठीक है। लेकिन यह जँचना हृदय का नहीं है। मेरा तर्क तुम्हारे तर्क को काट सकता है। लेकिन यह काट मन से गहरे न जायेगी।

तो तुम्हारे भीतर जब प्रश्न उठेंगे, उत्तर भी उठेगा। लेकिन प्रश्न भी मस्तिष्क में होंगे, उत्तर भी मस्तिष्क में होगा। उत्तर गहरे से आना चाहिए—हृदय से आना चाहिए, तब काटेगा। उत्तर प्रश्न से ज्यादा गहराई से आना चाहिए, तभी सुलझाव बनता है। नहीं तो सुलझाव नहीं बनता।

तो जब तुम पाओ . . . इसको कसौटी समझो . . . जब तुम पाओ कि कोई उत्तर तुम्हारे भीतर आया, लेकिन सुलझाव नहीं आता, तो समझ लेना कि वह उत्तर उत्तर ही नहीं है। अभी खोज जारी रखनी है। अभी प्रश्न को सम्हालो, अभी उत्तर की फिक्र मत करो। अभी और पूछना है, अभी और जानना है, अभी और सिर रगड़ना है।

तुमने जल्दी उत्तर मान लिया है। प्रश्न मरा नहीं है और उत्तर मान लिया है। तो प्रश्न तो बार-बार सिर उठायेगा। और तुम्हारा उत्तर नपुंसक है; तुम्हारा प्रश्न ही बलवान है और तुम्हारा उत्तर कमजोर है। इसीलिए तो सुलझाव नहीं आता।

तो और पूछना पड़ेगा अभी। अभी और खोजना पड़ेगा। तुमने जल्दी ही उत्तर को स्वीकार कर लिया है, इसीलिए अड़चन आ रही है। इतनी जल्दी न करो।

कोई जल्दी नहीं है। अनन्त काल शेष है। धीरज से चलो। ऐसा न हो कि उठाये गये कदम फिर-फिर उठाने पड़ें। ऐसा न हो कि फिर-फिर पीछे लौटना पड़े। कुछ अधूरा मत छोड़ जाओ।

जो प्रश्न तुम्हारे भीतर है, जब तक हल ही न हो जाय, तब तक जल्दी मत समझ लेना—कि हल हो गया। मन चाहता भी है कि जल्दी हल हो जाय। क्योंकि मन की एक दूसरी बीमारी है—जल्दी, अधैर्य।

तो भोजन पका ही नहीं, तुम कच्चा ही उतार लेते हो—चूल्हे से, फिर पेट में दर्द होता है। भोजन को पकने दो; इतनी जल्दी मत करो। जल्दी किए कुछ भी न होगा। जितनी जल्दी करोगे, उतनी देर हो जाएगी।

धीरज से चलो। कहीं पहुँचने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम जहाँ हो, वहीं सब मिल जाने वाला है। कोई यात्रा नहीं है। तुम जो हो, वहीं सब छिपा है। खजाना तुम्हारे साथ है, कुंजी भला खो गई हो, लेकिन खजाना नहीं खो गया है। इसलिए घबड़ाओ

मत और जल्दी मत करो।

एक-एक प्रश्न को सुलझाओ और प्रेम से सुलझाओ, क्योंकि हर प्रश्न के सुलझाने में तुम भी सुलझोगे। अगर प्रश्न को तुमने ऐसे ही टाल दिया, समझा-बुझा लिया अपने को--ऊपर-ऊपर--कि हल हो गया; सांत्वना बना ली; संतोष तो न हुआ और सांत्वना बना ली, तो प्रश्न फिर सिर उठायेगा। तुम ज्यादा देर उससे बचे न रह सकोगे। फिर तुम उत्तर दिए चले जाओ, वह उत्तर उधार है, वह तुमने मुझसे ले लिया, वह तुम्हारे भीतर घटा नहीं।

जल्दी नहीं है। मैं जो उत्तर दे रहा हूँ, उन्हें बीज की तरह लो। वे वृक्ष नहीं हैं। अगर तुमने मेरे उत्तर को वैसा ही स्वीकार कर लिया--जैसा मैंने दिया है, तो तुम जरूर उलझाव पाओगे; अड़चन आयेगी। क्योंकि मेरा उत्तर, मेरा उत्तर है। वह तुम्हारा कैसे हो सकता है?

मेरे उत्तर को तो इशारे की तरह लो, बीज की तरह लो। वृक्ष तो तुम्हारा तुम्हारे भीतर पैदा होगा। मेरी तरफ से इंगित ले लो, फिर अपने उत्तर को आने दो--धीरज से। एक दिन तुम पाओगे : जैसे तुम्हारे भीतर प्रश्न उठा है, ऐसे ही तुम्हारा अपना उत्तर भी आ गया है।

तुम्हारा प्रश्न है, तो तुम्हारा ही उत्तर हल करेगा। मेरे उत्तर से तुम्हारे उत्तर को पास आने की सुविधा हो सकती है, लेकिन मेरे उत्तर को तुम अपना उत्तर मत बना लेना अन्यथा तुम उधारी में पड़ जाओगे; और धर्म नगद सत्य है; वह उधार नहीं है।

अब सूत्र :

'परन्तु हे अर्जुन, उस त्याग के विषय में तू मेरे निश्चय को सुन . . . ।' कृष्ण कहते हैं, 'मेरे निश्चय को सुन'। यह शब्द समझ लेने का है। बहुत कीमती है।

चित्त की दो दशाओं में निश्चय का भाव पैदा होता है। एक : जब तुम तर्क से, विचार से, मंथन से किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हो, तब भी लगता है : निश्चय हुआ। लेकिन वह निश्चय क्षण-भंगुर है। नये तर्क आयेंगे और वह निश्चय डगमगा जाएगा। नयी सम्भावनाएँ होंगी, और निश्चय टूट जाएगा।

तो तर्क से जो निश्चय आता है, उसको निष्कर्ष कहो, निश्चय मत कहो। वह सिर्फ निष्कर्ष है--कनक्लूजन है, डिसीजन नहीं है। इसलिए वह हमेशा अस्थाई है, जैसे विज्ञान है।

विज्ञान निष्कर्ष लेता है--निश्चय नहीं। न्यूटन ने कुछ खोजा, तो कुछ निष्कर्ष लिए। फिर आइन्स्टीन ने उसको गलत कर दिया; खोज आगे बढ़ गई। आइन्स्टीन न्यूटन का दुश्मन नहीं है। न्यूटन की खोज को ही आगे बढ़ाया। उसी खोज को आगे खींचने से पता चला कि बहुत-सी चीजें बदलनी पड़ेंगी; वह निष्कर्ष बदलना पड़ा।





आइन्स्टीन के जाते ही दूसरे लोग आइन्स्टीन को आगे खींच रहे हैं, निष्कर्ष बदल रहे हैं।

इसलिए विज्ञान कभी भी निश्चयात्मक रूप से कुछ भी न कह सकेगा। उसके निष्कर्ष बदलते ही रहेंगे।

तर्क कभी भी निश्चय पर नहीं पहुँचता। उसके सभी निश्चय निष्कर्ष होते हैं। फिर नया कोई तर्क उठा, फिर कोई नयी घटना घटी, फिर सब डाँवाडोल हो जाता है।

लेकिन कृष्ण यह नहीं कहते कि 'मैं तुझे अपना निष्कर्ष बताता हूँ'। वे कहते हैं : 'मैं तुझे अपना निश्चय बताता हूँ।' निश्चय हम उस अवस्था को कहते हैं--जिसमें कोई बदलाहट न होगी; समय की धारा जिसमें कोई परिवर्तन न लायेगी। कुछ भी घट जाय, कैसी भी स्थितियाँ बदल जायँ, निश्चय नहीं बदलेगा।

निश्चय का अर्थ है : जिसे हमने तर्क के ऊहापोह से नहीं, बल्कि आत्म-जागरण से पाया है।

अंधेरे में तुम टटोलते हो, उस टटोलने से तुम जो निष्कर्ष लेते हो, वह निष्कर्ष है। फिर रोशनी हो गई, उस रोशनी में तुम जो निष्कर्ष लेते हो, वह निश्चय है।

समझो कि राह पर तुमने देखा--तुम चले आ रहे हो, दूर तुम्हें दिखाई पड़ता है कि कोई खड़ा है, मालूम होता है : कोई चोर, कोई शरारती छिपा है--वृक्ष के नीचे। बिलकुल ठीक लगता है; निष्कर्ष तुमने ले लिया; घबड़ाहट भी आ गयी। लेकिन मजबूरी है, राह से गुजरना ही पड़ेगा। तुमने अपने हाथ में डण्डा सम्हाल लिया। तुम अपने निष्कर्ष के अनुकूल तैयार भी हो गये। थोड़ी दूर आगे जाकर तुम पाते हो कि नहीं, यह कोई चोर नहीं है, यह तो पुलिसवाला है। निष्कर्ष बदल गया। तुमने डण्डे को शिथिल छोड़ दिया। मस्ती से फिर चलने लगे। और पास गये, तो जाकर देखा : वहाँ पुलिसवाला भी नहीं है; वह तो सिर्फ बिजली का खम्भा है।

परिस्थिति बदलती है : निष्कर्ष बदल जाते हैं। क्योंकि नयी परिस्थिति के अनुकूल निष्कर्ष को होना चाहिए। लेकिन निश्चय नहीं बदलता।

निश्चय परिस्थिति पर निर्भर ही नहीं है; नहीं तो बदलेगा। निश्चय तो आत्म-निर्भरता है। तुम अपने भीतर इतने इकट्ठे हो गये हो, एक जुट हो गये हो; तुमने भीतर एक ऐसी योग की स्थिति पा ली है, एक ऐसी समाधि पा ली है, एक ऐसा समाधान मिल गया है; अब कोई भी बदल न सकेगा।

विज्ञान निष्कर्ष तक पहुँचता है; धर्म निश्चय तक। विज्ञान संदेहों को हल करके निष्कर्ष लेता है। धर्म संदेह से मुक्त होकर निश्चय लेता है। विज्ञान में संदेह मौजूद ही रहता है, छिपा रहता है--भीतर--परदे की आड़ में। धर्म में संदेह की मृत्यु हो जाती है, लाश निकल जाती है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं : 'हे अर्जुन, उस त्याग के विषय में तू मेरे निश्चय को सुन।' मैं कोई पण्डित की तरह नहीं बोल रहा हूँ, कृष्ण उससे कह रहे हैं। 'मैं कोई विचारक की तरह नहीं बोल रहा हूँ। यह मेरे जीवन का निश्चय है। ऐसा मैंने जाना है।'

एक अंधा आदमी प्रकाश के सम्बन्ध में बोले, तो वह निष्कर्ष से ज्यादा कभी नहीं हो सकता है। क्योंकि अनुभव तो उसका कोई भी नहीं है। और आँख वाला आदमी प्रकाश के सम्बन्ध में बोले, तो वह निश्चय है। और सारी दुनिया भी उससे कहे कि तुम गलत हो, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता। जो अनुभव से जाना गया है, उसमें अन्तर नहीं आता। अनुभव शाश्वत की उपलब्धि है।

हम उसी को सत्य कहते हैं, जो शाश्वत है, सनातन है। इसलिए विज्ञान के पास ज्यादा से ज्यादा परिकल्पनाएँ हैं—हाइपोथेसिस हैं—सत्य नहीं। सत्य तो केवल धर्म की अनुभूति है।

'हे अर्जुन, मेरे निश्चय को सुन। हे पुरुष-श्रेष्ठ . . .।' अर्जुन को कृष्ण बार-बार पुरुष-श्रेष्ठ कहते हैं, बड़े भाव से कहते हैं।

शिष्य जितना ज्यादा झुकता जाता है, उतना ही श्रेष्ठ होता जाता है। यह विरोधाभास है। तुम सोचते हो : जितने अकड़े खड़े रहेंगे, उतने ही श्रेष्ठ हो जाएँगे। गुरु के सामने तुम जितने अकड़ते हो, उतने ही निकृष्ट सिद्ध होते हो। वहाँ तो झुकना ही कला है। वहाँ तो तुम जितने झुकते हो, उतने ही श्रेष्ठ होते चले जाते हो। वहाँ तो तुम बिलकुल झुक जाते हो, तो तुम श्रेष्ठता की आखिरी परम सीमा हो जाते हो।

अर्जुन पुरुष-श्रेष्ठ है। वह झुकता जा रहा है—प्रतिपल झुकता जा रहा है। और पुरुष-श्रेष्ठ इसलिए भी है कि अब उसने संन्यास और मोक्ष की जिज्ञासा की है। वह पुरुष-श्रेष्ठ ही करते हैं। निकृष्ट पुरुष धन के बाबत पूछता है।

मेरे पास लोग आ जाते हैं। अब मेरे पास आने के पहले ही उन्हें सोचना चाहिए कि मेरे पास किसलिए जा रहे हैं! वे पूछते हैं कि 'ध्यान करने से आर्थिक लाभ होगा कि नहीं?' नुकसान हो सकता है। लाभ कैसे होगा!

ध्यान करोगे, तो घंटे भर तो दुकानदारी बंद हो जाएगी। उतना नुकसान होगा। ध्यान करोगे, तो लोगों की जेब से पैसा निकालने में थोड़ी-सी झिझक होने लगेगी। उतना नुकसान होगा।

ध्यान करोगे, तो शोषण जरा मुश्किल मालूम होगा; उतना नुकसान होगा। ध्यान करोगे, तो झूठ बोलने में अड़चन आयेगी; उतना नुकसान होगा।

तो मैं उनसे कहता हूँ, 'ध्यान की तरफ जाना ही मत। ध्यान से हानि है।' वे कहते हैं कि 'नहीं, आप मजाक कर रहे होंगे। क्योंकि हमने तो यही सुना है कि ध्यान करने से सभी तरह का लाभ होता है। लौकिक,पारलौकिक—सभी तरह का लाभ है।' लाभ





पर नजर है, परलोक से मतलब क्या है? ध्यान से धन पाने की आकांक्षा उठती हो, तो बड़ा निकृष्ट चित्त है।

पुरुष जब श्रेष्ठ चित्त से भरता है, तो उसकी जिज्ञासा मोक्ष की होती है। वह कहता है : 'मुक्त कैसे हो जाऊँ? देख लिया संसार, जान लिया संसार; दुःख के अतिरिक्त कुछ भी न पाया; पीड़ा के अतिरिक्त कुछ भी न मिला। काँटे ही काँटे थे। फल सिर्फ आश्वासन थे; आते कभी न थे; दूर दिखाई पड़ते थे; पास पहुँचने से सब काँटे ही सिद्ध होते थे।

संसार से—संसार की पीड़ा से जो ऊब गया, जो जाग रहा है, वही पूछता है : मुक्त कैसे हो जाऊँ? वही पूछता है : 'संन्यास क्या है? त्याग क्या है? हे कृष्ण मुझे साफ-साफ करके बता दें।'

कृष्ण ने कहा, 'हे पुरुषश्रेष्ठ, वह त्याग सात्त्विक, राजस और तामस—ऐसे तीन प्रकार का कहा गया है।'

कृष्ण सांख्य के गणित को पूरा का पूरा स्वीकार करते हैं। और हर चीज तीन प्रकार की है, तो त्याग भी तीन प्रकार का होगा; संन्यास भी तीन प्रकार का होगा।

एक तो वह आदमी है, जो त्याग करेगा, लेकिन उसके कारण तामसिक होंगे। अनेक लोग सिर्फ आलस्य के वश त्यागी हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि त्यागी हो गये, फिर समाज खिलाता-पिलाता है, फिक्र लेता है, फिर खुद कुछ करना नहीं पड़ता। जिनको कुछ नहीं करना है, जिनका प्रमाद गहरा है, वे त्याग कर लेते हैं!

भारत में सौ संन्यासियों में से निन्यानबे तामसी मिलेंगे। बड़ी संख्या है उनकी। कोई पचपन लाख संन्यासी हैं, भारत में। अब अगर पचपन लाख संन्यासी सात्त्विक हों, तो इस पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आये। तामसी हैं; छोड़ने में रस नहीं है; पकड़ने की चेष्टा—करने की इच्छा न थी। उतनी भी इच्छा न थी—कि कुछ करें। निष्क्रिय हैं, अकर्मण्य हैं। मुफ्त खाने मिल जाय, पीने मिल जाय, तो बस—यही उनके जीवन का परम लक्ष्य है। इस तरह का तमस् त्याग कहाँ ले जाएगा!

फिर कुछ लोगों का त्याग राजस है। राजस का अर्थ है : जो उन्होंने जबरदस्ती किया है। एक तरह की हिंसा है उसमें, ऊर्जा है। राजस व्यक्ति या तो दूसरे को दबाये या अपने को दबाये—दबायेगा जरूर। उसका सारे जीवन का ढंग हिंसा का है। अगर वह दूसरों को न दबा सके, तो अपने को दबायेगा। अगर वह दूसरों पर मालकियत सिद्ध न कर सके, तो अपने पर मालकियत सिद्ध करेगा।

तो राजस व्यक्ति भी त्याग कर सकता है, लेकिन उसके त्याग में हिंसा होगी। वह अपने को सतायेगा। वह अपने पर मालकियत करने की कोशिश करेगा। वह अपने शरीर के साथ ऐसा व्यवहार करेगा, जैसे शरीर कोई दूसरा है। वह खड़ा रहेगा, जब

शरीर को बैठना था। वह भूखा रहेगा, जब शरीर को भूख लगी थी। जब प्यास लगी थी, तब वह प्यासा रहेगा। वह काँटों पर लेटेगा। वह सब तरह से शरीर को सतायेगा। वह मजा वही ले रहा है, जो वह दूसरों को सताने में लेता। यह त्याग भी कहाँ ले जाएगा! यह त्याग भी हिंसा है।

फिर एक सात्त्विक त्याग है—संतुलन का, सत्त्व का, समता का, बोध का, सम्यक्त्व का—कि तुम्हारी समझ बढ़ी, तुमने जीवन को जाना-पहचाना। न तो तुम अकर्मण्यता के कारण छोड़ के भागते हो; न तुम भागने में मजा है—भागने में दौड़ है—इसलिए भागते हो।

तुम्हारा संन्यास तुम्हारे बोध की एक परिपक्व दशा है। तुम्हारी समझ का ही परिणाम है। तुमने देखा कि संसार में कुछ पकड़ने जैसा नहीं है, क्योंकि सभी छूट जाएगा। जो छूट ही जाना है, उसे पकड़ना क्या? जो छूट ही जाना है, वह छूट ही गया है।

तुमने दौड़ को भी देख लिया और पाया कि कोई मंजिल नहीं आती; यह संसार कोल्हू के बैल की तरह है: दौड़ो बहुत, पहुँचना नहीं होता। तुमने दौड़ भी छोड़ दी। अब तुम एक सम्यक्त्व में स्थिर हो गये हो। तुम्हारे जीवन में एक अनतिशय का भाव पैदा हुआ है। न तो तुम इस तरफ डोलते हो, न तुम उस तरफ डोलते हो, तुम मध्य में ठहर गये हो। घड़ी का पेंडुलम जैसे बीच में रुक गया है। न बायें जाता, न दायें जाता है, क्योंकि कहीं जाने में कोई सार नहीं है। होने में सार है—जाने में सार नहीं है। दौड़ने में सार नहीं है, रुकने में सार है।

कहीं पहुँचना नहीं है; जहां हो, वहीं पूरी तरह हो जाना है। स्वयं में स्थिर होना है। ऐसा जो संन्यास है, वह सात्त्विक है।

'हे पुरुषश्रेष्ठ, वह त्याग, वह संन्यास तीन प्रकार का कहा गया है। तथा यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं हैं। वे निस्संदेह ही करने चाहिए, उनका करना कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं। इसलिए हे पार्थ, यह यज्ञ, दान और तपरूप कर्म तथा और भी सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म आसक्ति और फलों को त्याग कर अवश्य करने चाहिए। ऐसा मेरा निश्चित उत्तम मत है।'

कृष्ण कहते है: यज्ञ, दान और तप इन्हें भी छोड़ने की कोई जरूरत नहीं है। कृष्ण एक संतुलन बिठा रहे हैं—लोक में और परलोक में।

कृष्ण 'इस' संसार के विरोध में नहीं हैं; और 'उस' संसार के पक्ष में हैं। यह थोड़ी नाजुक बात है। साधारणत: जो लोग परलोक के पक्ष में हैं, वे इस लोक के विपक्ष में होते है। जो लोग इस लोक के पक्ष में हैं, वे परलोक के विपक्ष में होते हैं। जो भौतिकवादी हैं, वे अध्यात्मवादी नहीं होते। जो अध्यात्मवादी हैं, वे भौतिकवादी नहीं होते।





कृष्ण भौतिकवादी और अध्यात्मवादी दोनों हैं।

पदार्थ और परमात्मा में किसी का तिरस्कार नहीं करना है। संसार में और मोक्ष में भी एक संतुलन साध लेना है। यह गहरे से गहरे संतुलन की बात है।

कृष्ण कहते हैं: इसलिए संसार में जो कर्तव्य है, उसे छोड़ कर भाग जाना उचित नहीं है। भाग कर भी जाओगे कहाँ? संसार ही पाओगे—जहाँ भी भाग कर जाओगे। कर्म को छोड़ोगे भी कैसे? 'छोड़ना' भी कर्म है। पलायन करोगे—वह भी कर्म होगा; आँख बंद करके बैठोगे, वह भी कर्म होगा। बैठना भी कर्म है।

तो कर्म से तो भाग नहीं सकते। जब तक जी रहे हो—श्वास चलती है, तब तक कर्म चलता ही रहेगा। तब फिर ध्यान रखो कि जो कर्म हो, वह यज्ञरूप हो; वह दूसरे के हित के लिए हो। तुम्हारी श्वास भी चले, तो दूसरे के हित के लिए चले; वह स्वार्थ के लिए न चले। दानरूप हो . . .। दूसरे को देने के लिए तुम्हारी चेष्टा हो, छीनने की चेष्टा न हो। तुम्हारा कर्म तपरूप हो। तुम जो करो, वह स्वयं को निखारने और शुद्ध करने के लिए हो; अशुद्ध करने के लिए न हो।

तो कहीं कुछ भागने की जरूरत नहीं है। करने का इतना ही है कि 'हे पार्थ यह यज्ञ, दान और तपरूप कर्म और भी सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म आसक्ति को छोड़ कर और फल की आकांक्षा को छोड़ कर किए जायँ।'

तुम किसी की सेवा करो, तो धन्यवाद भी मत माँगना। अन्यथा सेवा व्यर्थ हो गई। तुम तपश्चर्या करो, तो परमात्मा की तरफ शिकायत से मत देखते रहना कि इतनी तपश्चर्या कर रहा हूँ: अभी तक कुछ हुआ नहीं! तपश्चर्या को तुम आनन्द मान कर करना।

तुम अगर दान दो, तो तुम देने में सुख लेना। देने के पार—और देने के बाद तुम्हारी कोई आकांक्षा न हो। इसलिए तो गुप्तदान को श्रेष्ठतम दान कहा गया है—कि जिसको दिया है, उसे धन्यवाद देने का भी मौका न मिले; उसे पता ही न चले कि किसने दिया है। और देने वाले को इतनी भी आकांक्षा न हो कि जब राह पर, जिसे उसने दिया है, वह मिले तो नमस्कार करे; कि अखबार में खबर छपे; कि रेडियो पर घोषणा हो।

आकांक्षा—फल की—बताती है कि तुम्हारे जीवन में साधन और साध्य अलग-अलग हैं; साधन अभी—और साध्य भविष्य में। और योग का सार सूत्र यही है कि साधन ही साध्य हो जाय। यह वर्तमान क्षण ही तुम्हारा सारा भविष्य हो जाय। आज में ही सब समा जाय; इस कृत्य में ही सारा समाविष्ट हो जाय, इसके पार कोई आकांक्षा न हो।

जिस दिन साधन ही साध्य हो जाता है और जिस दिन कदम ही मंजिल हो जाती है—उसी दिन तुम जहां बैठे हो, वहीं होना मोक्ष हो जाता है, उसी दिन पा लिया।

कृष्ण की पूरी प्रक्रिया कर्मत्याग की नहीं, फलाकांक्षा के त्याग की है। और फलाकांक्षा का त्याग वही कर सकता है, जिसने बड़ी सात्त्विक प्रौढ़ता को पाया हो।

फलाकांक्षा का त्याग तामसी नहीं कर सकता। क्योंकि तामसी तो कर्म का त्याग कर सकता है, फल का त्याग नहीं कर सकता। तामसी की आकांक्षा क्या है? वह कहता है : फल तो सब मिलने चाहिए, कर्म कुछ भी न करना पड़े—यह तामसी की आकांक्षा है। वह कहता है : बैठे-बैठे मिल जाय, तो हम राजी हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन ने सिगरेट त्याग दी थी। फिर मैंने एक दिन उसे सिगरेट पीते देखा, तो पूछा, 'क्या हुआ नसरुद्दीन?' उसने कहा, 'मैंने खरीदना त्यागा है। लेकिन कोई अगर पिला दे, तो क्या हर्ज है?'

प्रमादी कर्म नहीं करना चाहता, इसे तुम ठीक से समझ लो। प्रमादी कर्म नहीं करना चाहता, फल चाहता है। सत्त्व को उपलब्ध व्यक्ति कर्म करता है, फल नहीं चाहता।

एक छोर है प्रमाद—निम्नतम। दूसरा छोर है—श्रेष्ठतम—सत्त्व। और मध्य में जो राजसी है, उसकी दशा बड़ी अलग है। उसे कर्म करने में ही मजा आता है; क्रिया में ही मजा आता है। उसमें इतनी ऊर्जा है, इतनी शक्ति है कि वह दौड़-धूप करने में रस लेता है। अगर उसे दौड़-धूप करने को न मिले, तो परेशानी होती है।

जैसे तामसी उठ नहीं सकता, वैसे राजसी बैठ नहीं सकता। जैसे तामसी को सुबह बिस्तर से उठने में भारी अड़चन आती है—संसार का सारा कष्ट आता है, वैसे राजसी को रात बिस्तर पर जाने में भारी कष्ट आता है। राजसी की रात लम्बी होती जाती है, वह जागता है—दो बजे, तीन बजे तक। कुछ नहीं तो नाचता है, होटल में, क्लब में—कहीं भी—समय बिताता है। ताश खेलता है—कुछ करना है! उसके भीतर इतनी बेचैनी है कि उस बेचैनी को न निकाले तो वह सम्हाल न सकेगा।

तामसी पड़ा रहता है; उसे उठने में अड़चन है।

ऐसा हुआ जापान में कि जापान में एक सम्राट् हुआ; वह झक्की था, आलसी था, उसे एक खयाल आया कि आलसियों में कभी ही कोई सम्राट् हो पाता है : अब मैं हो गया हूँ, तो और आलसियों के लिए भी इन्तजाम कर दूँ। तो उसने राज्य में खबर भिजवाई कि जितने भी आलसी हों, वे सभी दरख्वास्त दे दें। उन्हें कुछ करने की जरूरत नहीं रहेगी। क्योंकि अगर तुम आलसी हो, तो उसमें तुम्हारा क़सूर क्या! भगवान् ने तुम्हें आलसी बनाया, उसका मतलब भगवान् चाहता है : तुम आलसी रहो। जिन्हे उसने काम करने वाला बनाया, वे काम करें—अपने लिए भी, तुम्हारे लिए भी। मगर आलसी का कसूर क्या है? कोई अंधा है, कोई लंगड़ा है—कोई आलसी है, तो इसमें करोगे क्या!





हजारों लोगों की दरख्वास्तें आयीं। मंत्री तो घबड़ा गये, कि अगर इतने लोग खाली बैठ जाएँगे, तो डूब जाएगी नाव राज्य की। सम्राट् से उन्होंने प्रार्थना की कि ये तो बहुत ज्यादा लोग आलसी होने के लिए दरख्वास्त दिए हैं; खजाना डूब जाएगा। यह चल न सकेगा मामला! सम्राट् ने कहा, चलेगा; तुम उन सबको आने दो। जाँच कर ली जाएगी।

असली आलसी तो एक ऐसी अनूठी घटना है कि वह छिपाये छिप नहीं सकता। बुला लिए गये आलसी—उनकी परीक्षा के लिए। परीक्षा यह थी कि उन्हें घास के झोपड़ों में ठहरा दिया गया और रात आग लगा दी गयी। भागे लोग निकल कर। जो भी नकली थे, भाग गये। चार लेकिन पड़े रहे। पड़े ये; उन्होंने और कम्बल ओढ़ लिया। किसी ने कहा भी कि, 'आग लगी है।' उन्होंने कहा, 'ऐसी बातें न करो—आधी रात; नींद खराब न करो। अब जिसने लगायी है, वही बुझायेगा भी।' निश्चित बुझाई भी गई आग। चार बचे; हजारों आये थे!

आलसी की जीवन ऊर्जा उठती नहीं। वह मरा-मरा है; जैसे मरने के पहले मरा हुआ है। वह लाश की तरह है; उसकी जीवन ऊर्जा बैठी हुई है—सक्रिय नहीं है।

राजसी उन्मत्त है—ऊर्जा से। जरूरत से ज्यादा शक्ति है। वह भागेगा, दौड़ेगा—जमाने भर की राजनीति करेगा, उपद्रव खड़े करेगा; वह उसके बिना जी नहीं सकता।

अभी मैं एक लिस्ट देख रहा था—गुजरात में जो मंत्रिमंडल बना है उसका। तो एक नाम मुझे बड़ा प्यारा लगा। नाम है : 'भाईदास भाई गड़बड़िया कॉन्ट्रैक्टर'। सभी मंत्रियों का नाम यही होना चाहिए। पहले तो 'भाईदास भाई' भी कोई नाम हुआ! न तो 'भाई' नाम है, न 'दास' नाम है—भाईदास भाई! फिर 'गड़बड़िया'। और उसमें भी जो कमी रह गयी वह 'कॉन्ट्रैक्टर'!

राजसी का एक जगत् है, उसका एक पागलपन है। वह दौड़ेगा—दौड़ेगा। उसे कहीं पहुँचना नहीं है, पहुँचने से कोई लेना-देना भी नहीं है। ऊर्जा है, बेचैनी है।

फिर सत्त्व को उपलब्ध व्यक्ति है; वह संतुलित है। वह उतना ही करता है, जितना करना जरूरी है। वह श्रम और विश्राम के बीच खड़ा है। वह सदा श्रम और विश्राम के बीच संतुलन को साधता है। उसका जीवन सम्यक्त्व की धारा है। समत्व, अनतिशय, निरति—उसके सूत्र हैं। वैसा व्यक्ति ही आकांक्षा को छोड़ सकता है—फल की आसक्ति को। वैसा व्यक्ति ही अपने अहंकार को छोड़ देता है। क्योंकि जब तुम फल की आकांक्षा नहीं करते, तो तुम्हारा अहंकार गिर जाता है। बिना भविष्य के अहंकार जीयेगा कैसे? भविष्य का सहारा चाहिए; वर्तमान में तो अहंकार होता ही नहीं।

इस क्षण बोलो, कहाँ है तुम्हारा अहंकार?—इस क्षण? इस क्षण तो भीतर

सन्नाटा है। तुम खोजो भी—कहाँ हूँ मैं—तो कहीं पाओगे न। कल—बड़ा मकान बनाना है, बड़ी कार खरीदनी है; कल है अहंकार। अभी इसी क्षण खोजोगे—पाओगे नहीं।

जितना भविष्य बड़ा बनाओगे, उतना बड़ा अहंकार है। या अतीत में है अहंकार। जो तुमने किया या जो तुम करोगे—उन दोनों में अहंकार है, लेकिन जो तुम हो, वहाँ कोई अहंकार नहीं है। तुम्हारा होना निर्‌अहंकारपूर्ण है।

अस्तित्व की कोई अस्मिता नहीं है। अस्तित्व तो बस, है। बस, होना ही है। इसलिए कृष्ण बार-बार सभी द्वारों से अर्जुन को समझाते हुए एक बात पर लौट आते हैं; वह उनकी गीत की टेक है; वे बार-बार उसी कड़ी पर आते हैं—कि तू फलाकाक्षा छोड़ दे, और परमात्मा जो कराये तू कर।

न तो तू अपनी तरफ से करने वाला हो, न अपनी तरफ से न करने वाला हो। न तो तामस न राजस; परमात्मा जो कराये—तू कर। तू निमित्त मात्र हो जा।



## गुरु-पूर्णिमा का राज़ • सम्यक् श्रवण • युगानुकूल संन्यास सनातन का गीत • फलाकांक्षा का त्याग

### तीसरा प्रवचन

प्रातःकाल, दिनांक २३ जुलाई, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।। ७ ।।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।।८।।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।।९।।

और हे अर्जुन, नियत कर्म का त्याग करना योग्य नहीं है, इसलिए मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है।

और यदि कोई मनुष्य जो कुछ कर्म है वह सब ही दुःखरूप है—ऐसा समझकर शारीरिक क्लेश के भय से कर्मों का त्याग कर दे, तो वह पुरुष उस राजस त्याग को करके भी त्याग के फल को प्राप्त नहीं होता है।

और हे अर्जुन, करना कर्तव्य है, ऐसे समझ कर ही जो शास्त्र विधि से नियत किया हुआ कर्तव्य कर्म आसक्ति को और फल को त्याग कर किया जाता है, वह ही सात्त्विक त्याग माना गया है।

**पहले कुछ प्रश्न।**

● पहला प्रश्न : आषाढ़-पूर्णिमा को गुरु-पूर्णिमा के रूप में मनाने का क्या राज है ?

धर्म जीवन को देखने का काव्यात्मक ढंग है।

एक तो राह है जीवन को देखने की—गणित की, और एक राह है जीवन को देखने की—काव्य की। गणित की यात्रा विज्ञान पर पहुँचा देती है, और अगर काव्य की यात्रा पर कोई चलता ही चला जाय तो परम काव्य—परमात्मा पर पहुँच जाता है। लेकिन काव्य की भाषा को समझना थोड़ी दुरूह है, क्योंकि तुम्हारे जीवन की सारी भाषा गणित की भाषा है। गणित की भाषा से तो तुम परिचित हो ; काव्य की भाषा से परिचित नहीं हो।

दो भूलों की संभावना है। पहली तो भूल यह है कि तुम काव्य की भाषा को केवल कविता समझ लो—एक कल्पनामात्र। तब तुमने पहली भूल की। और दूसरी भूल यह है कि तुम कविता की भाषा को गणित की तरह सच समझ लो, तथ्य समझ लो—तब भी भूल हो गई। दोनों से जो बच सके, वह समझ पायेगा कि आषाढ़-पूर्णिमा का गुरु-पूर्णिमा होने का क्या कारण है।

काव्य की भाषा का उपयोग तथ्यों के सम्बन्ध में नहीं है, रहस्यों के सम्बंध में है। जब कोई प्रेमी कहता है अपनी प्रेयसी से कि तेरा चेहरा चाँद जैसा है, तो कोई ऐसा अर्थ नहीं है कि चेहरा चाँद जैसा है। फिर भी वक्तव्य व्यर्थ भी नहीं है। चाँद जैसा तो चेहरा हो कैसे सकता है ?

आइंस्टीन का बड़ा प्रसिद्ध मजाक है। उसने जिस युवती से विवाह किया था, वह थोड़ी कविता करती थी। उसका नाम था—इफा आइंस्टीन। आइंस्टीन ने उससे कहा, 'मैं समझ ही नहीं पाता'—क्योंकि आइंस्टीन तो गणित—साकार गणित—गणित का अवतार ; शायद पृथ्वी पर वैसा कोई गणितज्ञ कभी हुआ ही नहीं, और होगा भी, यह भी संदिग्ध है—उसने कहा, 'यह मैं समझ ही नहीं पाता। ये कविताएँ बिलकुल

बेबूझ मालूम पड़ती हैं। लोग कहते हैं, प्रेयसी का चेहरा चाँद जैसा! चाँद न तो सुंदर है...।'

चाँद पर जाकर चाँद-यात्रियों को पता चल गया कि आइंस्टीन सही है, सब कवि गलत हैं। वहाँ खाई-खड्ड हैं; न कोई हरियाली है, न कोई लहलहाती झीलें हैं; न फूल खिलते हैं, न पक्षी गीत गाते हैं; मरुस्थल है—और इतना मुरदा मरुस्थल है कि जहाँ कोई, कुछ भी जीवित नहीं है। सौंदर्य की बात इस मरघट से क्या हो सकती है? और स्त्री के चेहरे को चाँद का चेहरा कहना...! आइंस्टीन ने कहा, 'अनुपात भी नहीं बैठता—कितना बड़ा चाँद, कितना छोटा-सा चेहरा!'

बात ठीक ही है। अगर काव्य की भाषा को तुमने तथ्य की भाषा समझा, तो यही स्थिति बनेगी। फिर दूसरी तरफ ऐसे लोग हैं, जिन्होंने काव्य की भाषा को तथ्य की भाषा सिद्ध करने की चेष्टा की है—जैसे जीसस को कहा है ईसाइयों ने कि वे कुँआरी माँ से पैदा हुए। यह काव्य है। कुँआरी माँ से कोई कभी पैदा नहीं होता। यह तथ्य नहीं है, यह इतिहास नहीं है; पर फिर भी बड़ा अर्थपूर्ण है—इतिहास से भी ज्यादा अर्थपूर्ण है। यह बात अगर इतिहास से भी घटती तो दो कौड़ी की होती। इसमें जाननेवालों ने कुछ कहने की कोशिश की है, जो साधारण भाषा में समाता नहीं। उन्होंने यह कहा है कि जीसस जैसा व्यक्ति सिर्फ कुँआरी माँ से ही पैदा हो सकता है। जीसस जैसी पवित्रता—कल्पना भी हम नहीं कर सकते कि कुँआरेपन के अतिरिक्त और कहाँ से पैदा होगी!

तो जिन्होंने कहा है कि जीसस कुँआरी माँ से पैदा हुए, उन्होंने जरूर बड़ी गहरी बात कही है—बड़ी अर्थपूर्ण; लेकिन भाषा तथ्य की नहीं है, भाषा काव्य की है। वे यह कह रहे हैं कि जीसस को देख कर हमें इस असंभव पर भी भरोसा आता है कि वे कुँआरी माँ से ही पैदा हुए होंगे।

इसे न तो सिद्ध करने की कोई जरूरत है, न असिद्ध करने की कोई जरूरत है। दोनों ही नासमझियाँ हैं। इसे समझने की जरूरत है। काव्य एक सहानुभूति चाहता है।

महावीर को प्रेम करनेवाले लोग कहते हैं कि उनके शरीर से पसीना नहीं बहता था, दुर्गंध नहीं आती थी; वे मलमूत्र-विसर्जन नहीं करते थे। बिलकुल झूठी बात है। तथ्य की तो बात हो ही नहीं सकती, अन्यथा महावीर जी ही न सकते थे। तब तो महा कब्जियत की अवस्था होती, जैसी कि कभी किसी को न हुई हो। मलमूत्र का विसर्जन ही न करें, उनकी तुम तकलीफ समझ सकते हो। आनंद तो दूर, नरक पैदा हो जाता।

नहीं; मलमूत्र तो विसर्जन किया ही होगा। लेकिन इतने पवित्र पुरुष में मल पैदा हो सकता है, इसकी हम कल्पना नहीं कर सकते। पसीना तो बहा ही होगा। सूरज किसी को माफ नहीं करता और सूरज के नियम किसी के लिए बदलते नहीं। धूप पड़ी





होगी तो इस फकीर—महावीर से पसीना बहा ही होगा, तुमसे ज्यादा बहा होगा; क्योंकि न कोई छप्पर, न कोई मकान रहने को, नग्न, प्रगाढ़ धूप हो कि वर्षा हो, आकाश के नीचे...! इसलिए तो महावीर का नाम ही दिगम्बर हो गया—आकाश ही जिनका एकमात्र वस्त्र है। खूब पसीना बहा होगा। लेकिन कहनेवाले जो कह रहे हैं, वह बिलकुल ही ठीक कह रहे हैं। वे यह कह रहे हैं कि इस पवित्रता से पसीने की बदबू पैदा हो सकती है, यह हम कैसे मानें! वे यह कह रहे हैं कि जरूर हमसे कोई भूल हुई होगी, अगर हमने महावीर के शरीर से कोई दुर्गंध उठती देखी; तो वह हमारी ही नासापुटों की भूल रही होगी, वह महावीर से नहीं हो सकती।

ये सब काव्य हैं। इनको काव्य की तरह समझो, तब इनका माधुर्य अनूठा है; तब इसमें तुम डुबकियाँ लगाओ और बड़े हीरे तुम ले आओगे, बड़े मोती चुन लोगे। लेकिन किनारे पर दो तरह के लोग बैठे हैं, वे डुबकी लगाते ही नहीं। एक सिद्ध करता रहता है कि यह बात तथ्य नहीं है, झूठ है। वह भी नासमझ है। दूसरा सिद्ध करता रहता है कि यह तथ्य है, झूठ नहीं है। वह भी नासमझ है। क्योंकि वे दोनों ही एक ही मुद्दे पर खड़े हैं। वे दोनों ही यह मान रहे हैं—उन दोनों की भूल एक ही है कि काव्य की भाषा तथ्य की भाषा है। दोनों की भूल एक है। वे विपरीत मालूम पड़ते हैं, विपरीत हैं नहीं।

सारा धर्म एक महाकाव्य है। अगर यह तुम्हें खयाल में आये तो आषाढ़ की पूर्णिमा बड़ी अर्थपूर्ण हो जाएगी। अन्यथा, एक तो आषाढ़—पूर्णिमा दिखाई भी न पड़ेगी, बादल घिरे होंगे, आकाश तो खुला न होगा, चाँद की रोशनी पूरी तो पहुँचेगी नहीं। और प्यारी पूर्णिमाएँ हैं—शरद-पूर्णिमा है—उसको क्यों न चुन लिया? ज्यादा ठीक होता, ज्यादा मौजू मालूम पड़ता। नहीं; लेकिन चुननेवालों का कोई खयाल है, कोई इशारा है—वह यह है कि गुरु तो पूर्णिमा जैसा और शिष्य है आषाढ़ जैसा। शरद्-पूर्णिमा का चाँद तो सुंदर होता है, क्योंकि आकाश खाली है। वहाँ शिष्य है ही नहीं, गुरु अकेला है। आषाढ़ में सुंदर हो, तभी कुछ बात है—जहाँ गुरु बादलों जैसा घिरा हो शिष्यों से।

शिष्य सब तरह के जन्मों-जन्मों के अँधेरे को लेकर आ गये हैं। वे अँधेरे बादल हैं, आषाढ़ का मौसम हैं—उसमें भी गुरु चाँद की तरह चमक सके, उस अँधेरे से घिरे वातावरण में भी रोशनी पैदा कर सके, तो ही गुरु है। इसलिए आषाढ़ की पूर्णिमा! गुरु की तरफ भी इशारा है उसमें और शिष्य की तरफ भी इशारा है। और स्वभावतः दोनों का मिलन जहाँ हो, वहीं कोई सार्थकता है।

ध्यान रखना, अगर तुम्हें यह समझ में आ जाय—काव्य प्रतीक, तो तुम आषाढ़ की तरह हो, अँधेरे बादल हो—न मालूम कितनी कामनाओं और वासनाओं का जल तुममें भरा है; और न मालूम कितने जन्मों-जन्मों के संस्कार लेकर तुम चल रहे हो—

तुम बोझिल हो। तुम्हें तोड़ना है, तुम्हें चीरना है। तुम्हारे अँधेरे से घिरे हृदय में रोशनी पहुँचानी है—इसलिए पूर्णिमा।

चाँद जब पूरा हो जाता है, तब उसकी एक शीतलता है।

चाँद को ही हमने गुरु के लिए चुना है। सूरज को चुन सकते थे—ज्यादा मौजू होता, तथ्यगत होता। क्योंकि चाँद के पास अपनी रोशनी नहीं है। इसे थोड़ा समझना।

चाँद की सब रोशनी उधार है। सूरज के पास अपनी रोशनी है। चाँद पर तो सूरज की रोशनी का प्रतिफलन होता है। जैसे कि तुम दीये को आइने के पास रख दो तो आइने में से भी रोशनी आने लगती है, वह दीये की रोशनी का प्रतिफलन है, वापस लौटती रोशनी है। चाँद तो केवल दर्पण का काम करता है, रोशनी सूरज की है। हमने गुरु को सूरज ही कहा होता तो बात ज्यादा तथ्यपूर्ण होती। और सूरज के पास प्रकाश भी महान है, विराट् है। चाँद के पास कोई बहुत बड़ा प्रकाश थोड़े ही है—बड़ा सीमित है; इस पृथ्वी पर आता है, और कहीं तो जाता नहीं।

पर हमने सोचा है बहुत, सदियों तक, और तब हमने चाँद को चुना है—दो कारणों से। एक : गुरु के पास भी रोशनी अपनी नहीं है, परमात्मा की है। वह केवल प्रतिफलन है। वह जो दे रहा है—अपना नहीं है; वह केवल निमित्तमात्र है; वह केवल दर्पण है।

तुम परमात्मा की तरफ सीधा नहीं देख पाते—सूरज की तरफ सीधा देखना बहुत मुश्किल है। देखो, तो अड़चन समझ में आ जाएगी। प्रकाश की जगह आँखें अंधकार से भर जाएँगी। परमात्मा की तरफ सीधा देखना असंभव है, आँखें फूट जाएँगी, अंधे हो जाओगे। रोशनी ज्यादा है, बहुत ज्यादा है—तुम सम्हाल न पाओगे, असह्य हो जाएगी। तुम उसमें टूट जाओगे, खण्डित हो जाओगे—विकसित न हो पाओगे। इसलिए हमने सूरज की बात छोड़ दी। वह थोड़ा ज्यादा है; शिष्य की सामर्थ्य के बिलकुल बाहर है। इसलिए हमने बीच में गुरु को लिया है।

गुरु एक दर्पण है—पकड़ता है 'सूरज' की रोशनी और तुम्हें दे देता है। लेकिन इस देने में रोशनी मधुर हो जाती है। इस देने में रोशनी की त्वरा और तीव्रता समाप्त हो जाती है। दर्पण को पार करने में रोशनी का गुणधर्म बदल जाता है।

सूरज इतना प्रखर है; चाँद इतना मधुर है! इसलिए तो कबीर ने कहा है : 'गुरु गोविंद दोइ खड़े, काके लागूँ पाँय।'—किसके छुऊँ पैर ? वह घड़ी आ गई, जब दोनों सामने खड़े हैं। फिर कबीर ने गुरु के ही पैर छुए, क्योंकि—'बलिहारी गुरु आपकी, जो गोविंद दियो बताय।' सीधे तो देखना संभव न होता। गुरु दर्पण बन गया। जो असंभवप्राय था, उसे गुरु ने संभव किया है; जो दूर आकाश की रोशनी थी, उसे जमीन पर उतारा है। गुरु माध्यम है। इसलिए हमने चाँद को चुना।





गुरु के पास अपना कुछ भी नहीं है। कबीर कहते हैं : मेरा मुझमें कुछ नहीं।

गुरु है ही वही—जो शून्यवत् हो गया है। अगर उसके पास कुछ है, तो वह परमात्मा का जो प्रतिफलन होगा, वह भी विकृत हो जाएगा, वह शुद्ध न होगा। चाँद के पास अपनी रोशनी ही नहीं है—जिसको वह मिला दे, मिश्रित कर दे। चाँद शून्य है; उसके पास कोई रोशनी नहीं है; लेता है सूरज से, देता है तुम्हें। वह सिर्फ मध्य में है, माधुर्य को जन्मा देता है।

सूरज कहना ज्यादा तथ्यगत होता, लेकिन ज्यादा सार्थक न होता—इसलिए हमने चाँद कहा है।

फिर सूरज सदा सूरज है, घटता-बढ़ता नहीं है। गुरु भी कल शिष्य था, सदा ऐसा ही नहीं था। बुद्ध से बुद्ध पुरुष भी कभी उतने ही तमस्, अंधकार से भरे थे, जितने तुम भरे हो।

सूरज तो सदा एक-सा है। इसलिए वह प्रतीक जमता नहीं। गुरु भी कभी खोजता था, भटकता था—वैसे ही—उन्हीं रास्तों पर जहाँ तुम भटकते हो, जहाँ तुम खोजते हो। वही भूलें गुरु ने की हैं, जो तुमने की हैं—तभी तो वह तुम्हें सहारा दे पाता है। जिसने भूलें ही न की हों, वह किसी को सहारा नहीं दे सकता। वह भूल को समझ ही नहीं सकता। जो उन्हीं रास्तों से गुजरा हो; उन्हीं अंधकारपूर्ण मार्गों में भटका हो, जहाँ तुम भटकते हो; उन्हीं गलत द्वारों पर जिसने दस्तक दी हो, जहाँ तुम देते हो; मधुशालाओं और वेश्याघरों से जो गुजरा हो; जिसने जीवन का सब विकृत और विकराल भी देखा हो; जिसने जीवन में शैतान से भी सम्बंध जोड़े हों—वही तुम्हारे भीतर की असली अवस्था को समझ सकेगा।

नहीं, सूरज तुम्हें न समझ सकेगा; चाँद समझ सकेगा। चाँद अँधेरे से गुजरा है; पन्द्रह दिन—आधा जीवन तो अँधेरे में ही डूबा रहता है। अमावस भी जानी है चाँद ने; सदा पूर्णिमा ही नहीं रही है; भयंकर अंधकार भी जाना है; शैतान से भी परिचित हुआ है; सदा से ही परमात्मा को नहीं जाना है। यात्री है चाँद। सूरज तो यात्री नहीं है। सूरज तो वैसा-का-वैसा है; अपूर्णता से पूर्णता की तरफ आया है गुरु—चाँद की तरह—एकम् आई, दूज आई, तीज आई—धीरे-धीरे बढ़ा है—एक-एक कदम, और वह घड़ी आई, जब वह पूर्ण हो गया है।

गुरु तुम्हारे ही मार्ग पर है—तुमसे आगे; पर मार्ग वही है, इसलिए तुम्हारी सहायता कर सकता है। परमात्मा तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता।

यह तुम्हें थोड़ा कठिन लगेगा सुनना। परमात्मा तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता, क्योंकि वह उस यात्रा में कभी भटका नहीं है, जहाँ तुम भटक रहे हो। वह तुम्हें समझ ही न पाएगा। वह तुमसे बहुत दूर है। उसका फासला अनंत है। तुम्हारे और उसके

बीच कोई भी सेतु नहीं बन सकते। गुरु और तुम्हारे बीच सेतु बन सकते हैं। कितना ही अन्तर पड़ गया हो पूर्णिमा के चाँद में—कहाँ अमावस की रात; कहाँ पूर्णिमा की रात—कितना ही अन्तर पड़ गया हो, फिर भी एक सेतु है। अमावस की रात भी चाँद की ही रात थी—अंधेरे में डूबे चाँद की रात थी; चाँद तब भी था, चाँद अब भी है। रूपान्तर हुए हैं, क्रान्तियाँ हुई हैं; लेकिन एक सिलसिला है।

तो, गुरु तुम्हें समझ पाता है। और मैं तुमसे कहता हूँ: तुम उसी को गुरु जानना, जो तुम्हारी हर भूल को माफ कर सके; जो माफ न कर सके, समझना, उसने जीवन को ठीक से जीया ही नहीं। अभी वह पूर्ण तो हो गया होगा—जो मुझे संदिग्ध है; जो दूज का चाँद ही नहीं बना, वह पूर्णिमा का चाँद कैसे बनेगा? धोखा होगा। इसलिए जो महा गुरु हैं, परम गुरु हैं, वे तुम्हारी सारी भूलों को क्षमा करने को सदा तत्पर हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि स्वाभाविक है, मनुष्य मात्र करेगा। उन्होंने स्वयं की हैं, इसलिए दूसरे को क्या दोष देना, क्या निंदा करनी? उनके मन में करुणा होगी।

तुम गुरु की पहचान इससे करना कि कितनी करुणा है। तुम जब क्रोधित हो जाओ और गुरु अगर तुम्हें नरक भेजने की धमकी देने लगे, तो समझना करुणा नहीं है। तुम भटक जाओ, तुम मार्ग से उतर जाओ, तुम काम-वासना से घिर जाओ, और गुरु तुम्हें माफ न कर सके, तो समझना कि गुरु पूर्णिमा का चाँद नहीं है। उसने आवरण बना लिया होगा—पूर्णिमा के चाँद का। वह नकली चाँद है, जैसा कि फिल्म के परदे पर दिखाई देता है। वह असली चाँद नहीं है।

चाँद तो सारी यात्रा से गुज़रा है, सारे अनुभव हैं उसके। मनुष्यमात्र के जीवन में जो हो सकता है, वह उसके जीवन में हुआ है। वही गुरु है, जिसने मनुष्यता को उसके अनंत-अनंत रूपों में जी लिया है—शुभ और अशुभ, बुरे और भले, असाधु और साधु, सुन्दर और कुरूप; जिसने नरक भी जाना है, जीवन का स्वर्ग भी जाना है; जिसने दुःख भी पहचाने और सुख भी पहचाने; जो सबसे प्रौढ हुआ है और सबकी संचित निधि के बाद जो पूर्ण हुआ है, चाँद हुआ है। इसलिए हम सूरज नहीं कहते गुरु को, चाँद कहते हैं।

चाँद शीतल है। रोशनी तो उसमें है, लेकिन शीतल है। सूरज में रोशनी है, लेकिन जला देती है। सूरज की रोशनी प्रखर है, छिदती है, तीर की तरह है। चाँद की रोशनी फूल की वर्षा की तरह है—छूती भी नहीं और बरस जाती है।

गुरु चाँद है—पूर्णिमा का चाँद है। और तुम कितनी ही अँधेरी रात होओ और तुम कितने ही दूर होओ, कोई अन्तर नहीं पड़ता—तुम उसी यात्रा-पथ पर हो, जहाँ गुरु कभी रहा है।

इसलिए बिना गुरु के परमात्मा को खोजना असंभव है। परमात्मा का सीधा





साक्षात्कार तुम्हें जला देगा, राख कर देगा। सूरज की तरफ आँखें मत उठाना। पहले चाँद से नाता बना लो। पहले चाँद से राज़ी हो जाओ। फिर चाँद ही तुम्हें सूरज की तरफ इशारा कर देगा। 'बलिहारी गुरु आपकी, जो गोविंद दियो बताय।'

इसलिए आषाढ़-पूर्णिमा गुरु-पूर्णिमा है। पर ये काव्य के प्रतीक हैं। इन्हें तुम किसी पुराण में मत खोजना। इनके लिए तुम किसी शास्त्र में प्रमाण मत खोजने चले जाना। यह तो मैंने जैसा देखा है, वैसा तुम से कह रहा हूँ।

●दूसरा प्रश्न: क्या हमारे रोज़-रोज़ प्रश्न करने से किसी दिन संवाद घटित हो सकेगा, और क्या संवाद ही किसी दिन समझ बन जाएगा?

तुम्हारे रोज़-रोज़ प्रश्न पूछने से संवाद नहीं घटेगा; रोज़-रोज़ मैं तुमसे जो कह रहा हूँ, उसे सुनने से घटेगा—पूछने से नहीं। पूछे तो तुम जा सकते हो—अनंत जन्मों तक; पूछते ही रहे हो; सुना नहीं है। और अकसर ऐसा होता है कि मन जितना ज्यादा प्रश्नों से भरा होता है, उतना ही सुनने में असमर्थ हो जाता है। तुम्हारे मन में तुम्हारा प्रश्न ही गूँजता रहता है; सुनने के लिए अवकाश नहीं होता, जगह नहीं होती। तुम अपने प्रश्न से इतने भरपूर होते हो कि कहाँ प्रवेश करे—जो मैं तुमसे कह रहा हूँ, वह कहाँ जाय?

नहीं; पूछते तो तुम रहो जन्मों तक, उससे कुछ न होगा। पूछना तो एक रोग है; वह कोई स्वास्थ्य की दशा नहीं है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि मत पूछो—क्योंकि रोगी हो, तो पूछना ही पड़ेगा। नहीं पूछने से यह मत समझ लेना कि तुम रोगी न रहे। अस्पताल से भाग जाने से कोई स्वस्थ नहीं हो जाता; और न ही स्वस्थ है इस कारण: क्योंकि वह किसी डॉक्टर से कभी अपनी बीमारी के सम्बंध में नहीं पूछता।

नहीं; पूछना तो तुम्हें होगा। तुम रुग्ण हो। रोग में प्रश्न उठते हैं। तुम्हारी स्थिति करीब-करीब विक्षिप्त की है। मन में गूँजती ही रहती हैं बातें—जागते-सोते, तुम्हारे रोग तुम्हारा पीछा करते रहते हैं। सपने भी तुम वे ही देखते हो जो तुम्हारे रोग से पैदा होते हैं। दिन और रात—चौबीस घंटे—अहर्निश तुम्हारी रोग की धारा बहती रहती है।

पूछना तो पड़ेगा। पूछने से घबड़ाना मत। लेकिन पूछना अकेला काफी नहीं है। पूछकर चुप होना, ताकि सुन भी सको। पूछा इसीलिए था—ताकि सुन सको। पूछा इसीलिए था—ताकि राह बन सके संवाद के लिए। अगर तुम सुन सको तो संवाद घटित होगा—मेरी तरफ से तो सदा घट रहा है; तुम्हारी तरफ से घटने की बात है।

मैं तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर दिये जाता हूँ, सिर्फ इसी आशा में कि तुम धीरे-धीरे सुनना सीख जाओगे। मगर इससे विपरीत भी हो सकता है। तुममें से कई असाध्य रोगी हैं। वे जितना पूछते हैं, उतनी ही उनकी पूँछ बढ़ती चली जाती है। उनको एक

प्रश्न का उत्तर दो, वे उस उत्तर में से दस प्रश्न लेकर दूसरे दिन हाजिर हो जाते हैं। ऐसा लगता है, जैसे पूछना ही उनका व्यवसाय है; जैसे पूछने के लिए पूछ रहे हैं; जैसे नहीं पूछेंगे तो कोई बड़ी हानि होगी! सुनने की चिंता नहीं मालूम पड़ती। क्योंकि अगर तुम अपने एक भी प्रश्न का उत्तर सुन लो, तो तुम्हारे सब प्रश्नों का उत्तर मिल जाय। क्योंकि सुनने के क्षण में जो शांति तुम पर घटित होगी, वही उत्तर है।

मैं जो दे रहा हूँ, वह थोड़े ही उत्तर है; वह तो बहाना है—तुम्हें चुप करने का, तुम्हें मौन में ले जाने का। अगर तुम सुनने के लिए भी मौन हो गये—कि मैं क्या कह रहा हूँ, इसे सुनने के लिए तुम मौन हो गये, तो इस मौन में जो शांति घटित होगी, जो मधुर स्वर भीतर बजने लगेगा, जो वीणा छिड़ जाएगी, वही उत्तर है।

मैं उत्तर नहीं दे रहा हूँ; उत्तर तो तुम्हारे भीतर छिपा है। मैं सिर्फ तुम्हें थोड़ा-सा चुप करना सिखा रहा हूँ, ताकि तुम्हें अपना उत्तर सुनाई पड़ जाय।

प्रश्न तुम्हारा है, तो उत्तर मेरा कैसे हो सकता है? जिसका प्रश्न है उसको अपना उत्तर खोजना पड़ेगा। जहाँ से प्रश्न आया है, वहीं उत्तर खोजना पड़ेगा। जिस गहराई से प्रश्न उठा है, उसी गहराई में उत्तर खोजना पड़ेगा। जहाँ से दर्द उठा है, दवा वहीं खोजनी पड़ेगी।

फिर मैं क्या कर रहा हूँ?—तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर दिये जाता हूँ। वे उत्तर नहीं हैं; वे केवल उत्तरों के नाम पर तुम्हारे हाथों को दिये गये खिलौने हैं। तुम शायद उन खिलौनों में थोड़ी देर उलझ जाओ और चुप हो जाओ। शायद मुझे सुनते-सुनते ध्यान लग जाय। वैसा घटता है। जो प्रथम कोटि के व्यक्ति हैं, जिनके लिए इशारे काफी होते हैं, उनको वैसे घट जाता है। वे सुनते-सुनते ही ध्यानमग्न हो जाते हैं। वे भूल ही जाते हैं—कि मैं क्या कह रहा हूँ। उन्हें तो दिखाई पड़ने लगता है कि मैं क्या हूँ। वे भूल ही जाते हैं—मेरे शब्दों को; शब्द के पीछे जो मौजूद है, उसकी उन्हें प्रतीति होने लगती है। मेरे पास, बात को सुनते-सुनते बात तो गौण हो जाती है, सत्संग शुरू हो जाता है; बात तो भूल ही जाती है। वह तो बहाना था। उसके बिना शायद तुम चुप न बैठ सकते, तुम्हें चुप बैठना कठिन होता।

तुम्हारे मन को थोड़े खिलौने दे रहा हूँ, ताकि मन वहाँ उलझ जाय और तुम्हारी चेतना शांत हो जाय। जैसे छोटे बच्चों को हम करते हैं—वे उधम कर रहे हैं, शोर-गुल मचा रहे हैं, तो उन्हें खिलौना दे दिया। थोड़ी देर वे कोने में बैठकर खिलौने में लीन हो जाते हैं—घर को थोड़ी राहत मिलती है।

मैं जो कह रहा हूँ, वे अगर उत्तर होते, तब तो तुम उन्हें कंठस्थ कर लेते—बात समाप्त हो जाती। लेकिन वे उत्तर नहीं हैं। उत्तर कभी किसी ने दिये ही नहीं। बुद्ध पुरुष तो केवल तुम्हारे प्रश्न मिटाते हैं, उत्तर देते नहीं; तुम्हारे प्रश्नों को साफ करते





हैं, ताकि मन खाली हो जाए।

प्रश्न तो तुम्हारे भीतर हैं; अब अगर तुम उत्तरों को भी सम्हाल कर रख लिए, तो भीड़ और बढ़ जाएगी। वैसे ही काफी तुम परेशान थे, प्रश्नों से परेशान थे; अब तुम उत्तरों से परेशान हो जाओगे। परेशानी तुम्हारी जारी रहेगी।

नहीं; सुनो। और जब मैं कहता हूँ, सुनो, तो मेरा अर्थ है: परिपूर्णता से सुनो। तुम्हारे कान ही न सुनें—तुम्हारे शरीर का रोआँ-रोआँ सुने। तुम्हारा मन ही न समझे—तुम्हारा हृदय, तुम्हारी हड्डी-मांस-मज्जा भी समझे। तुम अपनी पूर्णता में सुनो। सुनने में तुम ऐसे लीन हो जाओ कि तुम बचो ही न—सुनना ही रह जाय।

ऐसी घड़ी आती है। और जब ऐसी घड़ी आती है, सब प्रश्न हल हो जाते हैं। इस घड़ी को हमने सत्संग कहा है। सत्संग का मतलब है: ऐसे किसी व्यक्ति के पास होना, जिसके जीवन में ऐसी घड़ी घट गई है। उसके पास होकर ही किसी दिन तुम्हारे जीवन में भी वैसी घड़ी घट सकती है। लेकिन पास होने का मतलब है: बीच में दीवालें खड़ी मत करना। तुम्हारे प्रश्न भी दीवाल हो सकते हैं। तुम्हारी जानकारी दीवाल हो सकती है। तुम्हारे शब्द दीवाल हो सकते हैं। उनको हटाओ।

●तीसरा प्रश्न: आपने कहा कि कृष्ण एक समन्वय हैं—संसार और संन्यास के बीच। और आपने कहा कि आपका संन्यास भी कृष्ण के संन्यास जैसा है। परन्तु मुझे आश्चर्य होता है कि बुद्ध, महावीर और शंकराचार्य जैसे ज्ञानियों ने हजारों लोगों को संन्यास में दीक्षित किया और उन्हें भोजन आदि आवश्यकताओं के लिए समाज पर ही निर्भर रहने का आदेश दिया। यदि संन्यासी का समाज पर निर्भर रहना आपकी दृष्टि में गलत है, तो उपरोक्त परम ज्ञानियों ने क्या समझकर अपने संन्यासियों को अर्थोत्पादन की मनाही की?

बहुत-सी बातें समझनी पड़ें।

पहली बात:

दिन और थे—समय और था। महावीर और बुद्ध के समय में एक घर में बीस लोग होते; एक आदमी कमाता, बाकी उन्नीस खाली बैठे रहते। उतना काफी था। लोगों की जरूरतें कम थीं और पृथ्वी की सम्पदा बहुत थी। लोगों की आकांक्षाएँ जरूरतों पर सीमित थीं। बहुत आकाश के फूल तोड़ लाने के लिए कोई पागल नहीं था। पेटभर भोजन मिल जाय, तन ढँकने को वस्त्र मिल जायँ, विश्राम के लिए छप्पर मिल जाय—बस काफी था। हर व्यक्ति सिकन्दर होने के लिए पागल नहीं था; कुछ थोड़े लोग पागल थे, पर उनकी संख्या बहुत थोड़ी थी। उन दिनों धर्म जीवन में व्यापक था; राजनीति बड़ी छोटी-सी बात थी। धर्म विराट् था; राजनीति सिर्फ एक कोना-कातर थी।

अब हालत बिलकुल उलटी है। अब राजनीति सब कुछ है; धर्म कोने-कातर में भी जी नहीं पा रहा है—वहाँ भी उसकी जान निकली जा रही है, वहाँ भी वह बच नहीं सकेगा। महत्वाकांक्षा प्रबल हुई है। अब कोई एक-दो सिकंदर नहीं होते; अब सभी सिकंदर हैं।

और संख्या बढ़ी, और पृथ्वी बोझिल होती गयी, और पृथ्वी की सम्पदा कम हो गयी।

और हर आदमी पागल है—असंभव वासनाओं के पीछे, जिनके मिलने से भी कुछ न होगा; न मिली तो जिंदगी ऐसे गई; मिल गई तो भी जिंदगी ऐसे गई।

तो उन दिनों जब एक घर में बीस आदमी होते और एक आदमी काम कर लेता और बाकी आराम से जीते—कोई अड़चन न थी कि बुद्ध ने, महावीर ने अपने संन्यासियों को अर्थोपार्जन के लिए नहीं कहा—जरूरत ही न थी; समाज करने भी न देता। यह बिलकुल सुखद था कि गाँव में दो-चार-पाँच लोग संन्यस्थ हो जायें। वह घर अपने को धन्यभागी मानता था जिससे एक-दो व्यक्ति संन्यस्थ हो जायें। वह घर अपने को दीन मानता था जिसमें कोई संन्यासी पैदा न हो, जिसमें सभी संसारी हों।

पहली बात—जरूरत न थी।

दूसरी बात :

लोग तामसी न थे; लोग बड़े सात्त्विक थे। संन्यास की तरफ वही जाता था, जिसके जीवन में संन्यास की संभावना आई। तामसी व्यक्ति संन्यास की तरफ जाता ही नहीं था। तामसी को संन्यास का खयाल ही नहीं उठता था। संन्यास तो परम शिखर था—जीवन का। सब कुछ जानकर, सब कुछ जीकर, सब कुछ अनुभव करके, लोग संन्यास की यात्रा पर जाते थे।

अब हालत बिलकुल उलटी है। अब तो जो अकर्मण्य हैं—जो कुछ नहीं कर सकते, आलसी हैं, प्रमादी हैं—वे संन्यास में उत्सुक हो जाते हैं। क्योंकि, वे फिर संन्यास लेकर समाज की छाती पर बैठ सकते हैं—दावेदार की तरह—कि तुम्हें भोजन खिलाना पड़ेगा।

संन्यासी अब बोझ हैं; तब बोझ न थे। तब संन्यासी जीवन को हलका करता था, निर्भार करता था; अब भारी कर देता है। अब गलत तरह का आदमी संन्यास में उत्सुक होता है। सही तरह का आदमी तो हजार बार सोचता है कि इस दिशा में जाना या नहीं; गलत तरह का आदमी हमेशा तत्पर होता है।

तो तुम अजीब किस्म के संन्यासी सारे मुल्क में देखोगे। कभी कुम्भ-मेला चले जाओ, तो तुम्हें दिखायी पड़ जाएँगे। ये वे संन्यासी हैं, जिनकी महावीर, बुद्ध और शंकराचार्य ने आकांक्षा की थी! उनमें तुम सब तरह के लम्पट, बिलकुल तृतीय श्रेणी





के व्यक्ति पाओगे—जिन्होंने अकर्मण्यता को अकर्म समझ लिया है।

अकर्म तो बड़ी अनूठी घटना है—कभी-कभी घटती है, सदियों में एकाध बार घटती है—कि करते हुए कोई व्यक्ति नहीं करता; ऐसा हो जाता है, जैसा कमल पानी में होते हुए पानी नहीं छूता। लेकिन अकर्मण्यता तो बड़ी सरल बात है। कोई भी खाली बैठना चाहता है। और अगर खाली बैठने से समाज आदर देता हो, तब तो कहना ही क्या!

सारी दुनिया में जो लोग जेलखानों में बंद होते, वे हिन्दुस्तान में संन्यासी हैं। तुम जेल के अपराधियों में भी इनसे बेहतर लोग पा लोगे। मगर इनमें तुम बहुत बेहतर लोग न पाओगे; दुष्ट, आलसी, अत्यंत विकृत चित्त-दशाओं से भरे हुए लोग पाओगे। अगर महावीर, बुद्ध और शंकराचार्य वापस लौट आएँ तो छाती पीटकर रोएँगे कि यह हमने क्या किया।

मगर यह होना स्वाभाविक है। इसके पीछे एक गणित है, एक अर्थशास्त्र है। उसे तुम समझ लो।

महावीर और बुद्ध ने संन्यास की जो महिमा गायी, उससे संन्यास का सिक्का पैदा हुआ। जब भी असली सिक्का पैदा होगा, थोड़े दिन में नकली सिक्का भी अन्दर आ जाएगा—बाज़ार में। यह सीधा अर्थशास्त्र है। क्योंकि असली सिक्का इतना कीमती सिद्ध हुआ और उसको इतना सम्मान मिला—सम्राट् उसके चरणों में झुके—असली सिक्के का सम्मान देखकर, न मालूम कितने अहंकारी, तामसी, व्यर्थ के लोगों को भी लगा कि यह तो बड़ा अच्छा धंधा है; इससे अच्छा कोई धंधा नहीं है—वे भी दौड़ आये मैदान में।

और तुम्हें पता होगा, अर्थशास्त्र का छोटा-सा नियम है कि जब भी नकली सिक्के बाज़ार में आ जाते हैं, तो असली सिक्कों का चलन बंद हो जाता है; नकली चलते हैं। तुम्हारी भी जेब में अगर एक नकली सिक्का पड़ा हो और एक असली, तो तुम पहले नकली को चलाने की कोशिश करते हो। सभी नकली को चलाने की कोशिश करते हैं! असली तिजोरियों में बंद हो जाते हैं, नकली बाजार में चलने लगते हैं।

वही हुआ। असली डरने लगे संन्यास लेने से। असली संन्यास में जाने से भयभीत हो गये। क्योंकि जो ढंग दिखायी पड़ा संन्यासियों का, वह तो बड़ा ही बेहूदा था, अशोभन था। वहाँ संन्यास तो कुछ भी न था; वहाँ तो अपाहिज, लँगड़े-लूले, अंधे, कोढ़ी—जिनकी जीवन में कोई जरूरत न थी, जिनका जीवन में कोई उपयोग न था—तिरस्कृत—वे सब इकट्ठे हो गये। संन्यास क्या हुआ, शंकरजी की बरात हो गयी!

स्वाभावतः असली सिक्का हट गया। असली सिक्के ने कहा, 'छिप जाओ; इस भीड़ में तो जाना ठीक नहीं है।' नकली चलता गया, असली हटता गया। यह होना था।

यह सदा होता है। जब भी कोई अच्छी चीज चलती है, तो जल्दी ही बुरी चीज़ भी बाजार में आ जाती है। स्वाभाविक है। क्योंकि, बेईमान हैं, चोर हैं, शैतान हैं—वे इसी राह में होते हैं; वे थोड़े दिन का फायदा उठा लेते हैं। बाजार में कोई भी एक चीज़ अच्छी चल रही हो—कोई दवा अच्छी चल रही हो, तुम तत्क्षण पाओगे कि झूठी दवाएँ—उसी नाम की—बाज़ार में आ गईं। उन पर लेबिल वही होगा; भीतर पानी होगा। पानी भी संदिग्ध है कि शुद्ध हो; वह भी पता नहीं, कहाँ से भर लिया गया होगा!

यही संन्यास के सम्बंध में हुआ। संसार में सभी चीज़ों के सम्बंध में यही होता है। इसलिए मैं अब संन्यास को एक दूसरा आयाम देना चाहता हूँ। महावीर वापस लौटें, वे मुझसे राज़ी होंगे। महावीर के संन्यासी राज़ी नहीं होंगे; वे तो महावीर से भी राज़ी नहीं होंगे; मुझसे कैसे राज़ी होंगे? महावीर, शंकराचार्य मुझसे राज़ी होंगे। इसमें कोई संदेह का सवाल ही नहीं है, क्योंकि वे देखेंगे; चीज़ तो साफ है।

अब हमें ऐसे संन्यास को पैदा करना होगा, जो संसार पर बोझरूप न हो। उसमें तामसी आदमी उत्सुक ही न होगा, क्योंकि दुकान भी करनी पड़े, बाज़ार भी जाना पड़े—और गेरुआ पहन के गाली भी खानी पड़े और लोग हँसें भी—तामसी यह झंझट न करेगा; वह कहेगा, यह उपद्रव किसको लेना! संन्यासी हो गये; बैठेंगे; तुम पैर छुओ; भोजन लाओ, भोग लगाओ! मगर यह क्या; ऐसे तो फायदा ही क्या इस संन्यास का कि हम जायें—सब्जी खरीदें; नोन, तेल, लकड़ी का हिसाब रखें और उलटे इस कपड़े की वजह से झंझटें आती हैं!

एक संन्यासी ने आकर कहा कि 'बड़ी मुश्किल हो गई है—आदत है पुरानी: धूम्रपान करने की; अब इस गेरुआ वस्त्र में कहीं भी करो, तो लोग ऐसा चौंक कर देखते हैं, जैसे हम कोई अपराध कर रहे हैं!'

एक संन्यासी ने मुझे कहा कि 'सिनेमा देखने की आदत है; एक दिन क्यू में खड़े थे, लोग ऐसे गौर से देखने लगे कि जैसे मैं कोई पाप कर रहा हूँ! मैं भी भागा वहाँ से कि इस गेरुआ को पहने हुए क्यू में—सिनेमा के हॉल के बाहर—खड़े होना ठीक नहीं है।'

तो, मेरा संन्यास तो तुम्हें अड़चन देगा; तामसी को तो उत्सुक कर नहीं सकता; जो बहुत सात्त्विक हैं, केवल वे ही उत्सुक हो सकते हैं। क्योंकि उससे तुम्हें कुछ लाभ तो हो ही नहीं रहा; हानि हो सकती है। लोभी भी उत्सुक नहीं हो सकते, क्योंकि इसमें हानि होगी—लाभ नहीं हो सकता। तुम जिस ग्राहक से दो पैसे ज्यादा ले लेते हो, उससे दो पैसे कम ले पाओगे। तुम्हारा होने का ढंग करुणा का होने लगेगा, ध्यान का होने लगेगा, प्रेम का होने लगेगा। तुम चोरी आसानी से न कर पाओगे। बेईमानी करोगे भी तो पीड़ा ज्यादा होगी; काँटा गड़ेगा कि यह तुम क्या कर रहे हो! अन्तःकरण





का जन्म होगा। तुम्हारे भीतर की आवाज धीरे-धीरे प्रखर और प्रगाढ होगी—जो तुम्हें खींचेगी, रोकेगी और लगाम बनेगी।

तो, इस संन्यास में तामसी को तो कोई रस हो ही नहीं सकता। इस संन्यास में लोभी को कोई रस हो नहीं सकता। क्योंकि मैं तुम्हारे जीवन की बाहर की व्यवस्था को तो बदलने को कह ही नहीं रहा हूँ; मैं कह रहा हूँ: तुम्हीं बदल जाओ। इससे तुम्हें अड़चनें ही होंगी। इससे तुम समाज में पाओगे कि तुम बेमौजूं हो गये। इसमें तो जिनके पास साहस है—और जिनके पास इतना साहस है कि लोग हँसें और वे उस हँसने को सह सकें—शांति से, संतुलन से, सौजन्य से; जो अपने पर भी हँसने में समर्थ हैं—अब वे ही केवल मेरे संन्यास में सम्मिलित हो सकते हैं।

लोग मुझसे कहते हैं कि अब आप कहते हैं तो हम लिये लेते हैं, मगर मजाक हो जाएगी।

ऐसा हुआ; बम्बई के एक युवक ने संन्यास लिया। पाँच-सात दिन बाद वह आया और उसने कहा कि 'मेरी पत्नी को संन्यास दे दें; बड़ी झंझट हो गई!'

मैंने पूछा, 'क्या हुआ?'

उसने कहा कि 'पत्नी के साथ कहीं जाता हूँ, लोग ऐसा देखते हैं कि . . . ! अब एक आदमी पूछने लगा: किसकी औरत लेकर—कहाँ जा रहे हो? अपनी ही औरत! लेकिन इन कपड़ों की वजह से मैं जवाब भी न दे पाया कि अब क्या कहूँ! संन्यासी की कहीं औरत होती है?'

खैर, पत्नी को संन्यास दे दिया; एक सप्ताह बाद वह अपने छोटे लड़के को लेकर आया—कि इसको भी दे दें।

मैंने पूछा, 'क्या हुआ?'

उसने कहा, 'हम ट्रेन में बैठे थे; दो आदमी कहने लगे कि मालूम होता है कि ये इस लड़के को भगा कर ले जा रहे हैं—छोटे बच्चे को।'

अब पूरा परिवार संन्यासी है!

युग बदलता है, जीवन की धाराएँ बदलती हैं—धर्म की भी धाराएँ बदलनी ही चाहिए। जो कभी सच था, वह सदा सच नहीं होता। जो आज सच है, वह शायद कल सच न रह जाय। लेकिन कल की क्या चिंता करनी? आज—तुम आज हो, आज तुम्हें जीना है—उसकी फिक्र कर लेनी चाहिए।

महावीर, बुद्ध और शंकर ने तो जो कहा, सोचकर ही कहा था—अपने युग के लिए कहा था। उन्होंने कोई ठेका सभी युगों का नहीं ले लिया है। मैं जो कह रहा हूँ, तुमसे कह रहा हूँ; कोई सारे युगों के लिए ठेका नहीं ले रहा हूँ—कि हजार साल बाद तुम कहो कि यह फलाँ आदमी ने ऐसा कहा था।

यह हो सकता है कि मेरी बात फैलती जाय, वह इतनी फैल जाय कि संन्यासी ज्यादा हो जायँ और गृहस्थ कम रह जायँ, तो गड़बड़ खड़ी हो जाएगी। तो हजार साल बाद, दो हजार साल बाद, किसी को कहना पड़ेगा, 'बंद करो यह सब! छोड़ो घर-द्वार! असली संन्यासी वही—जो हिमालय जाता है।' कहना पड़ेगा, क्योंकि अगर संन्यास इतना बढ़ जाय तो उसका अर्थ खो जाएगा।

अगर संन्यासी की संख्या ज्यादा हो जाय और गृहस्थ की कम हो जाय तो फिर संन्यासी फिक्र न करेगा—वह चोरी भी करेगा, बेईमानी भी करेगा। धीरे-धीरे गेरुआ वस्त्र स्वीकृत हो जाएँगे; फिर उनसे कोई दंश पैदा न होगा, कोई पीड़ा पैदा न होगी, कोई अंतःकरण न जगेगा—तो फिर किसी-न-किसी को उठ कर कहना ही होगा कि अब जब यह सब ही कर रहे हो तो यह गेरुआ तो कृपा करके छोड़ो, इसको क्यों खराब कर रहे हो?

जीवन एक वर्तुल है; वह रोज़ बदलता जाता है। और जो उसके साथ नहीं बदलते, वे पिस जाते हैं।

न तो तुम अतीत की फिक्र करो, न तुम भविष्य की; तुम इस क्षण की फिक्र करो, जो मेरे और तुम्हारे बीच अभी मौजूद है। इसका तुम उपयोग कर लो।

● चौथा प्रश्न : कृष्ण के पास तो एक अर्जुन था, इसलिए गीता का अंत आ गया। आप तो रोज़-रोज़ नये-नये अर्जुन जन्मा रहे हैं, आपकी गीता का अंत कैसे हो पायेगा?

होना भी नहीं चाहिए।

और कृष्ण की गीता का भी अंत अर्जुन के लिये हो गया हो, किसी और के लिये नहीं हुआ है। तुम्हारे लिये कृष्ण की गीता का अंत हुआ? वह तो तभी होगा, जब तुम भी उस जगह पहुँच जाओ, जहाँ अर्जुन पहुँच गया था, और उसने कहा कि 'हे महाबाहो, तुमने मुझे निस्संशय कर दिया; मेरे सारे भ्रम क्षीण हो गये; मुझे सत्य-दृष्टि उपलब्ध हुई।'

अठारहवाँ अध्याय अर्जुन के लिए आ गया—तुम्हारे लिए थोड़े ही। तुम्हें तो अभी काफी यात्रा करनी पड़ेगी, तब अठारहवाँ अध्याय आयेगा। क्योंकि वह तो अंतर्यात्रा है।

और निश्चित ही गीता का कभी क्या अंत होता है? गानेवाले बदल जाते हैं; गीत का कोई अंत नहीं है। जिसे कृष्ण ने गाया, उसे ही मैं गा रहा हूँ, उसे कोई और गायेगा। सुननेवाले बदल जाते हैं, गानेवाले बदल जाते हैं; गीता तो चलती जाती है। क्योंकि गीत शाश्वत का है। अगर यह कृष्ण का ही गीत होता, तो इसका अंत आ जाता। यह तो अस्तित्व का गीत है, इसलिए तो हम इसे श्रीमद्भगवद्गीता कहते हैं; इसे हम भगवान् का गीत कहते हैं—कृष्ण का नहीं।





कृष्ण तो एक रूप हैं, अर्जुन भी एक रूप है। इन दो रूपों से वही बोला है, उसी ने सुना है। ऐसे रूप बदलते रहेंगे। सुननेवाले बदल जाएँगे, गानेवाले बदल जाएँगे; लेकिन अस्तित्व तो दोनों के भीतर एक है। गीत जारी रहता है। गीत सनातन है।

अब सूत्र :

'और हे अर्जुन, नियत कर्म का त्याग करना योग्य नहीं है, इसलिए मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है।'

नियत कर्म कहते हैं उस कर्म को—जो शास्त्रों ने नियत किया। शास्त्र हैं उन व्यक्तियों की वाणियाँ, जिन्होंने जाना है। जिन्होंने जाना है, उन्हें हम 'शास्ता' कहते हैं; जो उन्होंने कहा है जानकर, उसे हम 'शास्त्र' कहते हैं; उसे मानकर चलने को हम 'अनुशासन' कहते हैं।

शास्त्र है अतीत में जाने हुए व्यक्तियों की वाणियाँ। उनमें बड़ा सार है। अगर आँख हो देखने की, तब तो शास्त्र में बड़ा सार है, उसमें सब छिपा है। और अगर आँख न हो देखने की, तो शास्त्र एक बोझ बन जाएगा। तब तुम गीता को ढोते रहो सिर पर . . .।

मैंने तुमसे पीछे कहा कि शापेनहार ने जब पहली दफा गीता पढ़ी—जर्मन विचारक ने—तो गीता को सिर पर रखकर नाचने लगा। तुम कभी नाचे हो गीता को सिर पर रखकर? नहीं; गीता से तुम्हारे पैरों में घूँघर नहीं बँधते, नाच नहीं आता। गीता से तुम्हारे हृदय में कोई गीत थोड़े ही गूँजता है। गीता तो एक बोझ है, जिसे तुम किसी तरह निभाये जाते हो; एक भार है, एक कर्तव्य है—प्रेम थोड़े ही है। शापेनहार नाचा। उसने गीता पढ़ी। उसने गीता के शब्द के पार देखा, निःशब्द में झाँका—बादल हट गये, खुला आकाश आ गया! शब्द को पार किया, शून्य में प्रतीति हुई! तो गीता फिर जीवंत हो गई।

शब्द की खोल को हटाओ, तुम सदा जीवित को छिपा पाओगे।

कृष्ण कहते हैं, 'शास्त्र ने जो नियत किया है, उसे छोड़ने की कोई जरूरत नहीं है।' उसे छोड़ने का मन करेगा, क्योंकि जो तामसी मन है—वह कुछ करना नहीं चाहता; वह हर कर्तव्य से बचना चाहता है।

कृष्णमूर्ति को सुननेवाले बहुत लोग हैं। उनमें से कोई कभी मेरे पास आ जाता है, तो वह कहता है, 'आप गीता पर बोल रहे हैं? और कृष्णमूर्ति तो कहते हैं कि सब शास्त्र बेकार हैं।' मैं उनसे कहता हूँ, 'सभी शास्त्रों ने यही कहा है। शास्त्रों का सार ही यही है कि सब शास्त्र बेकार हैं।' मैं उनसे कहता हूँ, 'तुम कृष्णमूर्ति को उद्धृत कर रहे हो—यह शास्त्र हो गया। कृष्ण को उद्धृत करो कि कृष्णमूर्ति को, इससे क्या फर्क पड़ता है? कृष्ण ने अर्जुन से कहा था, कृष्णमूर्ति ने तुमसे कहा है, तुम आकर मुझे बता रहे हो—तुम शास्त्र बता रहे हो।'

'फिर, तुमने शास्त्र पकड़ा था कभी ? अगर पकड़ा ही न था, तो तुम छोड़ोगे कैसे ?'

कृष्णमूर्ति कहते हैं, 'शास्त्र छोड़ दो।' वे बिलकुल ठीक कहते हैं, अपने अनुभव से कहते हैं। उनको बचपन में ऐनीबीसेंट और लीडबीटर ने खूब शास्त्र पकड़ाया—इतना ज्यादा पकड़ा दिया कि वे अभी तक छोड़े चले जा रहे हैं ! थोड़ा ज्यादा हो गया। वह अति भोजन हो गया। उससे वमन हुआ। वह अतिशय हो गया। हुआ अतिशय—करुणा के कारण ही, क्योंकि ऐनीबीसेंट और लीडबीटर की इच्छा थी कि कृष्णमूर्ति एक जगत्-गुरु की तरह प्रकट हों। बुद्ध ने जिस मैत्रेय की बात कही है कि आनेवाले युगों में मैत्रेय-बुद्ध पैदा होगा, तो ऐनीबीसेंट और लीडबीटर ने चेष्टा की कि यह कृष्णमूर्ति वही मैत्रेय बन जायें।

तो बड़ी कठिन चेष्टा थी, क्योंकि कोई किसी को मैत्रेय बना सकता है ? और उन्होंने बड़ा उपाय किया। उन्होंने इतना पढ़ाया, इतना सिखाया, इतना ध्यान करवाया कि कृष्णमूर्ति उससे घबड़ा गये—जैसे सभी छोटे बच्चे घबड़ा जाते हैं—क्योंकि छोटी उम्र थी, नौ वर्ष की उम्र थी, तब यह उपद्रव शुरू हुआ : नियम से उठाया, नियम से बिठाया, सोना नियम से, खाना नियम से—सब चीज़, एक-एक चीज़ का खयाल रखा कि कोई भूलचूक न हो जाय इस व्यक्ति के बुद्धत्व में—और हुई भी नहीं; यह आदमी बुद्ध हो ही गया। लेकिन एक खरोंच छूट गई, जो बुद्ध के ऊपर नहीं थी, जो कृष्णमूर्ति पर है। क्योंकि बुद्ध पर किसी ने जबरदस्ती चेष्टा नहीं की थी; सहज लम्बी यात्रा में घटनाएँ घटी थीं।

जो वर्षों में घटना चाहिए, वह ऐनीबीसेंट और लीडबीटर ने दिनों में घटाने की कोशिश की; जो जन्मों में घटता है, उसे वर्षों में सिकोड़ने की कोशिश की। उसका फायदा तो हुआ—कृष्णमूर्ति जो भी हैं आज, वह उसी बीज का वृक्ष है। लेकिन नुकसान भी हुआ। नुकसान यह हुआ कि—जैसा सभी छोटे बच्चों को हो जाता है—उनसे कहो, मत करो यह, तो छोटे बच्चे के अहंकार में भाव उठता है कि करके दिखा दूँ। उसके अहंकार को चोट लगती है। उसे पीड़ा होती है कि मुझे सब दबाये जा रहे हैं, तो वह मौका-बे-मौका देखकर विरोध करता है।

अहंकार तो चला गया कृष्णमूर्ति का—वे जागृत पुरुष हो गये; लेकिन मन पर जो संस्कार पड़े रह गये—वह ऐसे ही जैसे कि किसी ने छुरी से हाथ पर निशाना मार दिया हो, तो तुम बुद्ध भी हो जाओ, तब भी वह निशान हाथ पर बना रहेगा—ऐसे मन पर निशान छूट गये। वे तो बुद्ध हो गये, लेकिन मन का यंत्र खरोंचपूर्ण हो गया। जो-जो बातें उनसे ज़बरदस्ती करवाई गईं, उन्हीं-उन्हीं के विरोध में वे चालीस साल से बोल रहे हैं। वह खरोंच जाती नहीं; वह जाएगी भी नहीं। वह खरोंच यह है कि





ध्यान से कुछ भी न होगा : ज़रूर इस बच्चे को चार बजे, तीन बजे उठवाकर ध्यान करवाया गया है !

मेरे दादा थे, वे मुझे तीन बजे रात उठा लेते। उन्होंने मेरे जिंदगीभर से तीन बजे रात का जो मजा है, वह खराब कर दिया। मैं छोटा—उठने का मन नहीं; उसी वक्त नींद गहरी आ रही है—और वे खींच रहे हैं। और वे उठा लेंगे—और ठंडे पानी से स्नान . . . और चार बजे वे घूमने ले जाएँगे ! अभी मेरी आँखें झप रही हैं, हाथ-पैर हिल नहीं रहे और वे भागे जा रहे हैं—वे तेजी से चलते थे। वे जिस दिन मरे, उस दिन मुझे उनके मरने से दुःख नहीं हुआ; उस दिन मैंने कहा, 'हे भगवान् ! अब तीन बजे न उठना पड़ेगा !' बाद में मुझे पछतावा भी हुआ कि यह भी क्या बात हुई ! वे मुझे इतना प्रेम करते थे; वे तो मर गये और मुझे कुल इतना खयाल आया कि अब तीन बजे न उठना पड़ेगा, अब सो सकते हैं !

कृष्णमूर्ति का अब तक पीछा नहीं छूटा—'ध्यान से कुछ भी न होगा !'—ज्यादा करवा दिया ध्यान; अपच हुआ। 'शास्त्र से कुछ भी न होगा।'—शास्त्र बोझ बन गये। 'गुरु कहीं नहीं ले जा सकता !'—गुरु ने अतिशय धक्के दिये। वह खरोंच छूट गई।

कृष्ण कहते हैं : नियत कर्म . . . । शास्त्र ने जो कहा है, वह तो पूरा करो ही, क्योंकि वह जाननेवालों ने कहा है। और अगर जाननेवालों और तुम्हारी बुद्धि के बीच चुनाव करना हो तो जाननेवालों का ही चुनाव करना; तुम्हारी बुद्धि का क्या तुम भरोसा करते हो ? हाँ, जब तुम बुद्ध पुरुष हो जाओ, तब तुम अपनी बुद्धि का भरोसा कर लेना; पर अभी ?

और जो बुद्ध पुरुष हैं, उनका ढंग और ही है—वह हम समझने की कोशिश करेंगे।

तो कृष्णमूर्ति के पास—जो तामसी हैं, आलसी हैं, अहंकारी हैं, वे इकट्ठे हो गये हैं, क्योंकि वहाँ उन्हें एक रैशनॅलाइजेशन, एक तर्कयुक्त व्यवस्था मिल गयी है कि ध्यान करने में कोई सार नहीं है। ध्यान उन्होंने कभी किया नहीं था। बिना ध्यान किये—'ध्यान करने में कोई सार नहीं है'—इससे एक छुटकारा मिल गया कि ध्यान की झंझट से मुक्त हुए। 'गुरु से कुछ होगा नहीं'—इसलिए अब किसी के चरणों में झुकने की जरूरत न रही; झुकना वे चाहते न थे, झुकने में पीड़ा थी; अब एक तर्कयुक्त कारण भी मिल गया। 'शास्त्र को मानने से कुछ भी न होगा'—मानना वे चाहते भी न थे, क्योंकि शास्त्र को मानोगे, तो जीवन में एक अनुशासन लाना होगा, तब जीवन में एक अराजकता नहीं चल सकती, स्वच्छंदता नहीं चल सकती। और बड़ी हैरानी की बात तो यह है कि जितना अराजक जीवन होगा, उतना परतंत्र होता है; और जितना अनुशासित जीवन होता है, उतना स्वतंत्र होता है।

तो इस तरह के गलत लोग कृष्णमूर्ति के पास इकट्ठे हो गये, और उन सबको अपनी गलत बातों के लिए सही आधार मिल गये।

कृष्णमूर्ति बहुत विचारने जैसी घटना हैं—आध्यात्मिक जगत् में, क्योंकि इस भाँति पहले कभी किसी को जबरदस्ती बुद्धत्व की तरफ नहीं धकाया गया था। थियोसॉफी ने एक अनूठा प्रयोग किया। उसका लाभ भी हुआ, उसका दुष्परिणाम भी हुआ।

व्यक्ति को जाने देना चाहिए चुपचाप—अपनी ही यात्रा से, अपने ही कदमों से, अपने ही ढंग से; धकाना ठीक नहीं है। कृष्णमूर्ति के प्रयोग ने बता दिया कि अब किसी को बुद्धत्व की तरफ कभी भूल के मत धकाना, अन्यथा वह बुद्धत्व को उपलब्ध भी हो जाय तो भी खरोंच रह जाएगी, और खरोंच बड़े नुकसान पहुँचाएगी।

कृष्ण कहते हैं, शास्त्र में जो नियत है, वह किन्हीं अंधों की वाणी नहीं है; उसे बहुत जानकर ही उन्होंने कहा है। जब तुम बुद्ध पुरुष हो जाओ, जब तुम्हारी चेतना जागे, प्रज्ञावान हो जाओ, जब तुम्हारी अंतर्ज्योति जल उठे, तब तुम अपने निर्णय से चलना, अपने प्रकाश से। अभी तो तुम्हारे पास अपना प्रकाश नहीं है। अँधेरे में चलने से तो यही बेहतर है कि तुम उधार प्रकाश से ही चलो।

अंधे के पास अपनी आँख नहीं है, तो पचास-साठ साल का बूढ़ा अंधा भी एक छोटे बच्चे के कंधे पर हाथ रखकर चलता है। अनुभवी है—माना कि साठ-सत्तर साल का है, फिर भी एक गैर-अनुभवी बच्चे के कंधे पर हाथ रखकर चलता है।

तो शास्त्रों के वचन तो अनुभवियों के वचन हैं। तुम अपनी अंधी आँख की सलाह मानने की बजाय उनकी ही सलाह मानकर चलना। और जिस दिन तुम जाग जाओगे, उस दिन अगर चाहो तो छोड़ देना; हालाँकि अकसर बुद्ध पुरुषों ने छोड़ा नहीं। कभी-कभी छोड़ा है, और वह छोड़ा तभी है, जब शास्त्र समय के विपरीत पड़ा है, अन्यथा नहीं छोड़ा। क्योंकि तब बुद्ध पुरुष को यह देखना है कि कहीं शास्त्र समय के वितरीत पड़ गया, तो अब उसको मानकर चलनेवाला भी गड्ढे में गिरेगा। अगर शास्त्र समय के विपरीत नहीं है, तो मानकर चलना ही उचित है।

जीसस जिस रात विदा हुए अपने शिष्यों से, उन्होंने सब शिष्यों के पैर धोये। एक शिष्य ने पूछा, 'आप यह क्या करते हैं?' तो उन्होंने कहा कि 'आज रात मैं विदा हो जाऊँगा। मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ कि जब मैं तुम्हारे बीच था, तो मैं तुम्हारे पैर छूता था। मैं तुम्हें यह बताना चाहता हूँ कि तुम कभी अहंकारी मत बनना और ज़रूरत पड़े तो अपने शिष्यों के भी पैर छू लेना, क्योंकि मुझे डर है: मेरे हटते ही तुम दम्भी हो जाओगे—कि तुम जीसस के सबसे निकट लोग हो! तुम्हारा अहंकार प्रगाढ़ हो जाएगा।'

सारिपुत्र ज्ञान को उपलब्ध हो गया, लेकिन बुद्ध के चरण छूने उसने बंद न किये।





किसी ने पूछा, 'सारिपुत्र, अब तुम स्वयं बुद्ध हो गये—अब तुम क्यों बुद्ध के पैर छूए जाते हो?' सारिपुत्र ने कहा, 'और दूसरे बुद्धुओं को ध्यान में रखकर। अगर वे मुझे देख लेंगे कि मैं पैर नहीं छूता, तो वे झुकना बंद कर देंगे। मुझे तो कोई हानि न होगी, लेकिन उन्हें महा हानि हो जाएगी।'

तो फिर बुद्ध पुरुष तय करेगा यह देखकर कि शास्त्र अगर समय के अनुकूल है और तुम्हारे हित में है तो वह मानता रहेगा। वह नियम नहीं छोड़ देगा।

महावीर परम ज्ञान को उपलब्ध हो गये, लेकिन उन्होंने नियम नहीं छोड़े। नियम जैसे साधक के समय में थे, वैसे ही उन्होंने सिद्ध की अवस्था में भी जारी रखे। वे छोड़ना चाहते, छोड़ सकते थे—कोई अड़चन न थी। जो पाना था, वह पा लिया था; अब नियम को बाँधने की कोई जरूरत न थी। लेकिन दूसरों के लिए. . . क्योंकि महावीर से बहुत लोग सीखेंगे। महावीर ने तो पा लिया, इसलिए अब कोई खतरा नहीं है। अगर वे सुबह न उठें पाँच बजे और दस बजे उठें, तो कोई उनका मोक्ष खो नहीं जाएगा।

क्या आप सोचते हैं, महावीर अगर सिद्ध हो जाने के बाद सुबह न उठकर दस बजे उठने लगते, तो मोक्ष खो जाता? या क्या आप सोचते हैं कि महावीर मोक्ष प्राप्त करने के बाद अगर धूम्रपान करने लगते, तो मोक्ष खो जाता? लगता बेहूदा है कि महावीर धूम्रपान करें; लेकिन अगर करने लगते तो मोक्ष खो जाता? तब तो मोक्ष दो कौड़ी का है कि धूम्रपान करने से खो जाय—सिगरेट से भी कम कीमत का मालूम पड़ता है! नहीं; लेकिन महावीर ने धूम्रपान नहीं किया—इसलिए नहीं कि मोक्ष खो जाएगा। न वे दस बजे सोकर उठे, इसलिए नहीं कि दस बजे तक सोने से कोई मोक्ष की विपरीतता है; बल्कि उन सबके लिए जो अभी अँधेरे में चल रहे हैं, और जिनके लिए महावीर का जीवन ज्योति-स्तम्भ होगा, उनके लिए वे चुपचाप उन नियमों को पालते रहे, जिन नियमों की अब कोई सार्थकता महावीर के लिए नहीं।

कृष्ण को तो पक्का पता है, कृष्ण के लिए स्वयं तो नियत कर्मों का कोई मूल्य नहीं है। लेकिन अर्जुन के लिए—आनेवाले अर्जुनों के लिए, सदियों तक उनका वक्तव्य अर्थपूर्ण रहेगा। तो वे कहते हैं, 'हे अर्जुन, नियत कर्मों का त्याग करना योग्य नहीं।' जो शास्त्र ने कहा है, उसे तो करना ही है। उसका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है। उसे अगर तुमने छोड़ा तो उसका अर्थ होगा कि वह तुम आलस्य के कारण छोड़ रहे हो, तमस् के कारण छोड़ रहे हो—मूर्च्छा के कारण। ज्ञान की भला तुम कितनी ही बातें करो, उन बातों का कोई मूल्य नहीं है।

'और यदि कोई मनुष्य जो कुछ कर्म हैं, वह सभी दुःखरूप हैं, ऐसा समझकर शारीरिक क्लेश के भय से कर्मों का त्याग कर दे, तो वह पुरुष उस राजस त्याग को करके भी त्याग के फल को प्राप्त नहीं होता।'

और ऐसा भी हो सकता है कि कोई सोच ले कि जीवन में सभी कुछ दुःख है—जैसा बुद्ध ने कहा है : सब दुःख है; दुःख सार-सत्य है; दुःख प्रथम आर्य सत्य है—ऐसा सोच-कर अगर सारे जीवन को छोड़कर कोई भाग जाय तो भी—कृष्ण कहते हैं—वह ठीक नहीं कर रहा है। इसका यह अर्थ नहीं कि कृष्ण कहते हैं, बुद्ध ने गलत किया।

कृष्ण यही कह रहे हैं कि बुद्ध अपवाद हैं; अपवाद को नियम कभी मानना मत। बुद्ध ने जो किया, उससे अन्यथा वे कर ही न सकते थे। बुद्ध ने जो किया, वही होने को था। बुद्ध के जीवन में उसकी संगति है। फिर बुद्ध ने किसी से पूछकर नहीं किया। बुद्ध को भयंकर प्रतीति हुई जीवन में : दुःख ही दुःख सब तरफ—वे छोड़कर चले गये। ऐसा सोचकर अगर तुम भी छोड़कर चले जाओ जीवन को, तो यह त्याग भयपूर्ण हुआ ; तुम दुःख से भयभीत हो गये। बुद्ध दुःख से भयभीत नहीं हुए थे; दुःख से जागे थे।

कृत्य तो एक-से हो सकते हैं, अर्थ अलग-अलग हो सकता है। इसे तुम याद रखना।

बुद्ध तो जागे कि जीवन दुःख है, इसलिए छोड़ा। लेकिन तुम, जीवन दुःख है, ऐसा भयभीत हो सकते हो कि यहाँ तो दुःख ही दुःख है, कोई सार नहीं—भय लगता है, मौत आ रही है, नरक में पड़ना पड़ेगा। इन सब भय को इकट्ठा करके अगर भाग जाओ, तो यह भय कोई जागरण नहीं है। जो ऐसा समझकर छोड़ दे, उसके त्याग को, कृष्ण कहते हैं, वह राजस त्याग है। उसके पास ऊर्जा थी, शक्ति थी—भागने की, त्यागने की—उसने उपयोग कर लिया; लेकिन उपयोग जागरणपूर्वक नहीं हुआ।

'और हे अर्जुन, करना कर्तव्य है, ऐसा समझकर जो शास्त्रविधि से नियत किया हुआ कर्तव्य कर्म आसक्ति को और फल को त्यागकर किया जाता है, वह ही सात्त्विक त्याग माना गया है।'

करना कर्तव्य है—ऐसा जानकर तुम जो भी करते हो, उससे तुम मुक्त हो जाते हो। करना कर्तव्य है, ऐसा जानकर जो भी किया जाता है, उसकी कोई रेखा तुम्हारे ऊपर नहीं छूटती—जैसे तुमने किया ही नहीं, परमात्मा ने करवाया; उसकी मरजी थी—हुआ; तुम अपने को बीच में लाते ही नहीं; तुम, ज्यादा से ज्यादा, नाटक के एक पात्र हो जाते हो।

लेकिन हमारे जीवन की तो हालतें उलटी हैं। हम तो नाटक के पात्र में भी भूल जाते हैं; वहाँ भी ऐसा लगने लगता है कि हमारा जीवन दाँव पर लगा है। नाटक में अभिनय करनेवाले लोग भी कभी-कभी भूल जाते हैं कि यह सिर्फ अभिनय कर रहे हैं; वास्तविक हो जाता है; भ्रांति गहन हो जाती है।

तुम्हें भी कभी ऐसा अनुभव हुआ हो—कभी तुम किसी चीज़ का नाटक करके देखो।

पश्चिम में एक नया वैज्ञानिक प्रयोग चलता है, उसे वे साइकोड्रामा कहते हैं।





समझो कि कोई आदमी कहता है कि मुझे क्रोध से बहुत तकलीफ होती है, तो मनसविद् उससे कहता है, तुम बैठो इस कुर्सी पर, यह तकिया सामने रख लो; किस पर तुम्हें क्रोध आता है?—वह कहता है, मेरी पत्नी पर। तो मनोवैज्ञानिक कहता है, तुम इस तकिये को पत्नी मान लो।

अब यह सिर्फ नाटक है। तकिया कोई पत्नी है? पत्नी सुन ले कि ऐसा माना गया, तो तलाक ही दे दे। तकिये को पत्नी . . . ? लेकिन वह आदमी भी मानता है कि यह नाटक है। वह बैठ जाता है, तकिये को पत्नी मान लेता है। पहले वह हँसता है कि ऐसे कहीं क्रोध आएगा! वह कहता भी है कि ऐसे कहीं क्रोध आएगा? मनोवैज्ञानिक कहता है, 'तुम शुरू करो। तुम बोलना शुरू करो। तो जब क्रोध आने लगे तो पीटना शुरू करो—तकिये को।'

दो-तीन मिनट लगते हैं और आदमी धीरे-धीरे आविष्ट हो जाता है; वह पीटने लगता है, फेंकने लगता है। और जब वह पीटने, फेंकने लगता है तकिये को, तब कोई भी भेद नहीं रह जाता; चित्त पूरा-का-पूरा पकड़ लेता है। कृत्य हो गया—वह जो अभिनय था, वास्तविक हो गया।

अभिनय में भी हम वास्तविकता को आरोपित कर लेते हैं। और कृष्ण कह रहे हैं कि तुम वास्तविकता में भी अभिनेता हो जाओ। करना है; लिखा है नाटक के अंकों में, इसलिए पूरा करना है। तुम्हें कुछ बीच में आना नहीं है। लेकिन सपने तक में तुम बीच में आना चाहते हो।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन ने एक रात सपना देखा कि कढ़ाई के पास खड़ा है और गोबर तल रहा है। खुद भी घबड़ा गया कि यह भी कोई बात है! घबड़ाहट में नींद खुल गई। सुबह-ही-सुबह भागा हुआ एक ज्योतिषी के पास गया—जो कि सपनों के अर्थ बताता था। ज्योतिषी से कहा कि 'बहुत बुरा सपना आया। ऐसा सपना तो कभी सुना भी नहीं कि किसी को आया हो! चित्त बड़ी ग्लानि से भरा हुआ है। सपना यह है कि मैं गोबर तल रहा हूँ। नींद टूट गई—इतना दुःख हुआ। इसका क्या अर्थ है?' मुल्ला ने पूछा।

उस ज्योतिषी ने कहा कि 'एक रुपया लगेगा, अर्थ बता दूंगा।' नसरुद्दीन ने कहा कि 'नासमझ, अगर एक रुपया ही मेरे पास होता तो गोबर तलता? मछलियाँ न खरीद लाता?'

सपने को भी लोग वास्तविक समझते हैं! रुपया होता तो वह मछलियाँ खरीद लाता!

जिसने जीवन को ठीक से समझा, उसने समझा कि न तो तुम अपने कारण पैदा हुए हो, न अपने कारण जीते हो, न अपने कारण मरोगे; वह महाकारण, तुम्हारे सारे

जीवन में छिपा, परमात्मा है। कर्तव्य है, बस करना है, इसलिए किये चले जाओ। सब उस पर छोड़ दो।

कृष्ण का सार-सूत्र समर्पण है। समर्पण की इस भाव-दशा में फलाकांक्षा शून्य हो जाती है, फल का कोई सवाल नहीं है; फल की चिन्ता वह करे।

एक सूफी फकीर हज की यात्रा पर जा रहा था। जहाज पर हजारों यात्री थे। दूसरे ही दिन भयंकर तूफान आया। प्राण कंप गये यात्रियों के। बड़ा शोरगुल, उत्पात मच गया—त्राहि-त्राहि, हाहाकार! लगता था, अब गये, अब गये, बचेंगे नहीं! समुद्र बिलकुल विक्षिप्त मालूम होता था! ऐसी उत्तुंग तरंगें उठ रही थीं कि जहाज को डुबा ही देंगी! जहाज छोटा मालूम पड़ने लगा, जैसे एक छोटी-सी नाव हो—तरंगें इतनी भयंकर थीं! कैप्टेन चिल्ला रहा है लाउडस्पीकर पर, आज्ञाएँ दे रहा है! जीवन को बचाने के लिए नावें उतारी जा रही हैं, मल्लाह सजग हो गये हैं। सब कंप रहे हैं। स्त्रियाँ रो रही हैं, चिल्ला रही हैं। बच्चे चीख रहे हैं। कुत्ते भौंक रहे हैं। भाग-दौड़ मची है। सब एकदम पागलपन है! मौत की घड़ी है! सिर्फ वह एक सूफी फकीर एक जगह खड़े होकर बड़े मजे से देख रहा है; न केवल देख रहा है, बल्कि बड़ा प्रसन्न भी हो रहा है—जैसे कि एक भीतरी आनंद हो!

एक बूढ़ा आदमी उसे देखते-देखते क्रोध से भर गया। उसने कहा, 'सुनो जी! होश में हो? इधर इतने लोगों की जान जा रही है, तुम कोई नाटक देख रहे हो? तुम्हारी अकल में आ रहा है कि यह क्या हो रहा है?'

उस सूफी फकीर ने कहा, 'महानुभाव, आप इतने उत्तेजित क्यों हो रहे हैं? क्या जहाज आपके बाप का है? डूब रहा है—डूब रहा है!'

एक ऐसी भाव-दशा है : जब डूबे तो उसका, न डूबे तो उसका; बचे तो उसका, न बचे तो उसका—और आदमी अपने को बीच से हटा लेता है! तब कोई दुःख तुम्हें दुःख नहीं दे सकता—और कोई सुख तुम्हें विक्षिप्त नहीं कर सकता! तब तुम्हारे जीवन में एक परम शांति की दशा निर्मित हो जाती है। तब एक रसधार बहने लगती है—जिसे हम आनंद कहते हैं।

'और हे अर्जुन, करना कर्तव्य है, ऐसा समझकर ही, जो शास्त्र-विधि से नियत किया हुआ कर्तव्य कर्म आसक्ति को और फल को त्यागकर किया जाता है, वह ही सात्त्विक त्याग माना गया है।'

सात्त्विक त्याग का अर्थ है : फल का त्याग। सात्त्विक त्याग का अर्थ कर्म का त्याग नहीं। कर्म तो करना ही है। कर्म तो जीवन है। और परमात्मा ने जीवन दिया है, तुम भागनेवाले कौन?

और परमात्मा ने तुम्हें भेजा है, तुम त्यागनेवाले कौन? जिस विराट् से तुम्हारा





आना हुआ है, उसी विराट् पर छोड़ दो चिंताएँ। जहाज तुम्हारा नहीं है। उसकी मरजी! और उसकी मरजी में पूरे राजी हो जाओ। फिर तुम करोगे भी—और कर्म की रेखा भी तुम पर न पड़ेगी। तुम फिर जल में कमलवत् हो जाओगे! और जो जल में कमलवत् हो जाय, उसके जीवन में परम धन्यता प्रकट होती है।

## शास्त्रों का अर्थ • सद्गुरु की खोज • अहंकार और समर्पण
## कर्ताभाव का त्याग

**चौथा प्रवचन**

प्रातःकाल, दिनांक २४ जुलाई, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।।१०।।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।।११।।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ।।१२।।



और हे अर्जुन, जो पुरुष अकल्याणकारक कर्म से तो द्वेष नहीं करता और कल्याणकारक कर्म में आसक्त नहीं होता है, वह शुद्ध सत्त्वगुण से युक्त हुआ पुरुष संशयरहित मेधावी अर्थात् ज्ञानवान् और त्यागी है।

क्योंकि देहधारी पुरुष के द्वारा सम्पूर्णता से सब कर्म त्यागे जाने को शक्य नहीं हैं, इससे जो पुरुष कर्मों के फल का त्यागी है, वह ही त्यागी है, ऐसे कहा जाता है।

तथा सकामी पुरुषों के कर्म का ही अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात् भी होता है और त्यागी पुरुषों के कर्मों का फल किसी काल में भी नहीं होता है।
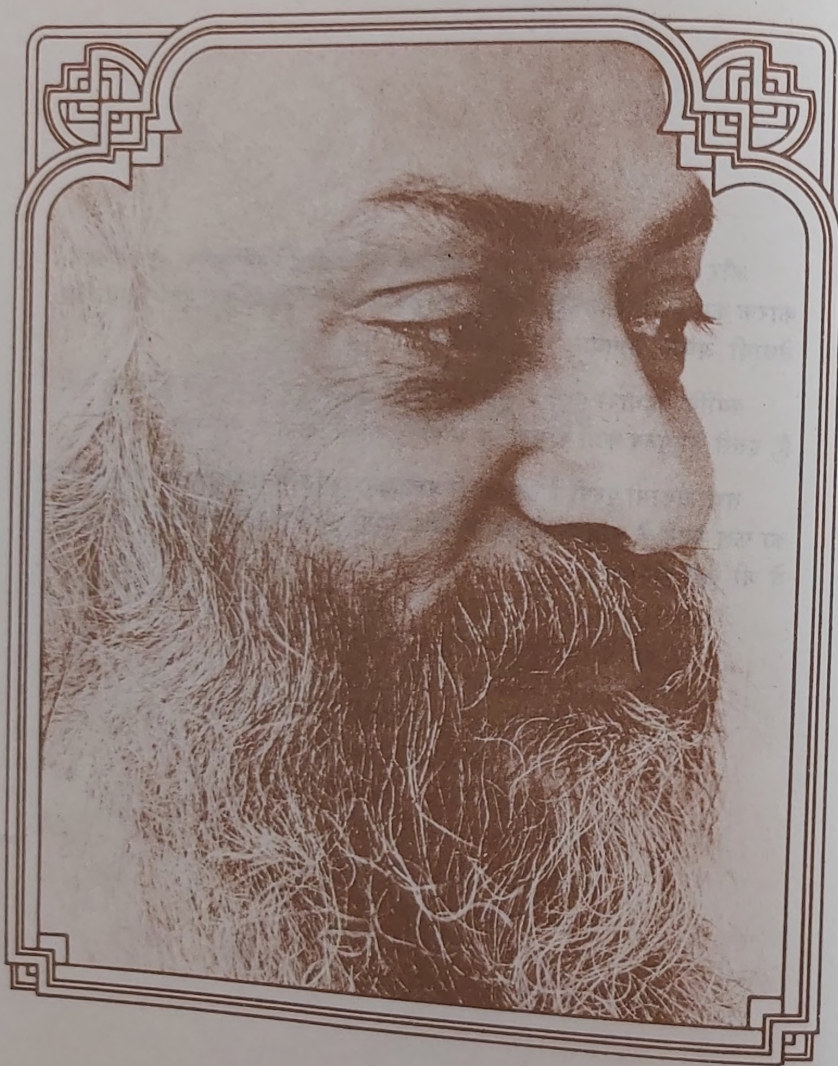
**पहले कुछ प्रश्न।**

●पहला प्रश्न : आपने कहा है कि ज्ञानियों ने जो कहा, वह शास्त्र है और अज्ञानियों को उन्हें मानना ही चाहिए; लेकिन प्रश्न है कि शास्त्र अनेक हैं और उनके वचन अनंत और अज्ञानी तो अज्ञानी ही ठहरा, फिर वह कैसे तय करे कि क्या उसके मानने योग्य है?

पहली बात : न तो शास्त्र अनेक हैं, और न उनके वचन अनंत। एक ही बात को अनेक-अनेक रूपों से जरूर कहा गया है। लेकिन बात एक ही है। 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'—उस एक को ही जानने वालों ने बहुत-बहुत भाँति से कहा है। कुरान का एक ढंग है। गीता का दूसरा ढंग है। बाइबिल का तीसरा; पर बात वही है। और अगर वस्तुतः तुम अज्ञानी हो, तो कठिनाई न होगी, यह बात समझने में कि तीनों शास्त्रों ने एक ही बात कही है। कठिनाई तो तब होती है, जब तुम झूठे ज्ञानी होते हो; जब पाडित्य तुम्हारे सिर पर सवार होता है, तब कठिनाई होती है। अज्ञानी तो सरल होता है। अज्ञानी के पास शब्दों का कोई बोझ नहीं होता, न आँख अंधी होती है, निर्मल होती है। ज्ञानी—तथाकथित ज्ञानी उपद्रव खड़ा करता है। तथाकथित ज्ञानी कहता है : जो गीता में कहा है, वह कुरान में नहीं है। क्योंकि इस तथाकथित ज्ञानी की पकड़ शब्दों पर है, सार पर नहीं; भाषा पर है, भाव पर नहीं। इसे शास्त्र की लकीरें घेर लेती हैं; शास्त्र के शून्य रिक्त स्थान इसे दिखाई नहीं पड़ते।

दुनिया में कलह है, वह पण्डितों के कारण है, अज्ञानियों के कारण नहीं है। मौलवी लड़ता है—लड़वाता है; पण्डित लड़ता है—लड़वाता है। अज्ञानी का क्या झगड़ा है! थोड़ी देर को सोचो : अगर दुनिया में पण्डित न हों, तो दुनिया में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई होंगे? अगर होंगे भी तो बड़े सरल होंगे। चर्च पड़ जाएगा रास्ते में तो तुम वहाँ भी नमस्कार कर लोगे; और मसजिद आ जाएगी पास, तो कभी वहाँ भी प्रार्थना कर लोगे; क्योंकि कोई तुम्हें समझाने वाला न होगा कि मंदिर अलग है, मसजिद अलग

है। यह तो समझाने वालों ने उपद्रव खड़ा किया है।

सरल आदमी का कोई भी झगड़ा नहीं है। और अज्ञान में बड़ी सरलता है।

तो तुम जब पूछते हो कि अज्ञानी कैसे तय करे कि कौन-सा शास्त्र ठीक है—तो तुम काफी ज्ञानी हो गये; अज्ञानी तुम हो नहीं। यह काफी ज्ञान की बात हो गई; यह तो बड़ी समझदारी आ गई। अन्यथा तुम पहचान लोगे; तुम पहचान लोगे कि फर्क शब्दों का हो सकता है; लेकिन फर्क सत्य का नहीं है।

कोई एक ढंग से प्रार्थना करता है, कोई दूसरे ढंग से प्रार्थना करता है। कोई पूरब की तरफ सिर कर के प्रार्थना करता है, कोई पश्चिम की तरफ सिर करके प्रार्थना करता है। लेकिन प्रार्थना का भाव—वह समर्पण—उस अनंत के चरणों में सिर रखने की वह धारणा—वह तो एक ही है।

अगर पण्डित-मौलवी न हों, तो कोई झगड़ा नहीं है। तुम सभी जगह उस एक ही ध्वनि को गूँजते हुए पाओगे, सभी जगह वही सार तुम्हें समझ में आ जाएगा।

इसलिए पहली तो बात यह है कि शास्त्र अनेक नहीं हैं; दिखाई पड़ते हैं; हो नहीं सकते अनेक। सत्य अनेक नहीं है, तो शास्त्र कैसे अनेक हो सकते हैं? भाषाएँ तो अनेक होंगी, क्योंकि जमीन पर कोई तीन सौ भाषाएँ हैं। जो आदमी अरबी जानता है, जब वह सत्य को उपलब्ध होगा, तो संस्कृत नहीं बोलेगा। अरबी ही बोलेगा। उसमें जो गीत पैदा होगा, वह अरबी भाषा को ही पकड़ कर तरंगित होगा—तुम तक आएगा। कुरान ऐसा ही गीत है।

गीत को देखो; शब्द को छोड़ो, छंद को पकड़ो। तो उपनिषद् में जो गीत है, वही कुरान में है। धुन को पकड़ो, मस्ती को पकड़ो, तो उपनिषद् जिन्होंने गाया है, तुम उन्हें उसी मस्ती, उसी नशे में डोलते पाओगे, जिस नशे में मुहम्मद को डोलते हुए पाया गया है। क्या तुम समझते हो कि फर्क दिखाई पड़ेगा—मस्ती में? नहीं; मस्ती में कोई फर्क न दिखाई पड़ेगा। हाँ, चोटी न बड़ी होगी मुहम्मद की। चोटी कोई शास्त्र है? जनेऊ न पड़ा होगा—गले में। जनेऊ कोई शास्त्र है?

तुमने अगर व्यर्थ को देखा तो फर्क पाओगे, अगर सार्थक को देखा, तो जरा भी फर्क न पाओगे।

और दूसरी बात : उपद्रव तुम्हारे 'ज्ञान' के कारण है; अज्ञान के कारण नहीं। अज्ञान की बड़ी मधुरिमा है। काश, तुम अज्ञानी हो सको, तो तुम्हारे ज्ञानी होने का द्वार खुल जाय। लेकिन तुम ज्ञानी होने के पहले, ज्ञान से भर जाते हो। वे शब्द तुम्हारे चारों तरफ इकट्ठे हो जाते हैं। फिर वे शब्द द्वार नहीं खुलने देते; फिर तुम शब्दों में जीते हो। तुम्हारे असली प्रश्न भी खो जाते हैं, वे भी नकली हो जाते हैं। तुम जीवन के साक्षात्कार की आकांक्षा नहीं करते। तुम सिद्धांतों को समझने की आकांक्षा करने





लगते हो।

मेरे पास कोई आता है, दुःखी है, अशांत है। और पूछता है : संसार परमात्मा ने बनाया या नहीं। तुम अपनी गृहस्थी से ही काफी परेशान हो गये हो, इतनी बड़ी गृहस्थी का बोझ मत लो। संसार किसने बनाया या नहीं बनाया—यह तुम्हारे प्राणों का प्रश्न भी कहाँ है। इससे तुम्हें लेना-देना क्या है? और बनाया हो किसी ने, यह जान लेने से तुम्हारे जीवन के प्रश्न कहाँ हल होंगे? न बनाया हो किसी ने, तो भी क्या फर्क पड़ेगा; तुम तो तुम ही रहोगे।

ये व्यर्थ के प्रश्न हैं। सार्थक प्रश्न हमेशा वास्तविक होता है। तुम पूछते हो; मैं अशांत क्यों हूँ; तुम पूछते हो कि शांत होने का उपाय क्या है; तुम पूछते हो कि मैं दुःख से भरा हूँ, आनंद की एक किरण नहीं जानी, कैसे जानूँ; कैसे खोलूँ वातायन—कैसे आँख खुले, कैसे अँधेरे के बाहर आऊँ? टटोलता हूँ—दीये को पाता हूँ, लेकिन कैसे जलाऊँ; ज्योति कैसे जले? और तुम्हारी ज्योति जले आनंद की; और शांति की बरखा होने लगे—तुम्हारे आसपास, तो तुम जानोगे। वे सब प्रश्नों के उत्तर भी जान लोगे, जो तुमने इसके पहले पूछे होते, तो व्यर्थ ही पूछे होते। और उन प्रश्नों के उत्तर जानने तुम्हें किसी के पास न जाना होगा।

जो शांत हुआ, उसे परमात्मा दिखाई पड़ने लगता है। असली सवाल परमात्मा नहीं है, असली सवाल शांति है।

शास्त्रों से तुम परमात्मा को मत पूछो, शास्त्रों से तुम शांति सीखो। और सभी शास्त्र शांति सिखाते हैं। सभी शास्त्र ध्यान की विधियाँ बताते हैं। सभी शास्त्र इशारे करते हैं कि कैसे तुम आनंदित हो जाओ। फिक्र छोड़ो : कुरान से सीखते हो कि गीता से सीखते हो; किस घाट से पीते हो पानी; सारा पानी गंगा का है। कहीं से भी पी लो; घाटों के नाम पर बहुत ध्यान मत दो; उनका कोई भी मूल्य नहीं है।

उपद्रव लेकिन ज्ञान के कारण हो रहा है। तुम हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, जैन हो—यह अड़चन है; अज्ञानी हो—यह अड़चन नहीं है। अज्ञानी हो, तब तो बिलकुल भले हो; कोई अड़चन नहीं है। सरल हो, सीधे हो। मन की पट्टी खाली है, उस पर कुछ लिखा जा सकता है। भरे नहीं हो, जगह है, तुम्हारे भीतर; सत्य को निमंत्रण दिया जा सकता है।

मैं तो अज्ञान की महिमा के गीत गाता हूँ। अगर तुम अज्ञानी ही हो सको, तो तुम पाओगे : ज्ञान तुम पर बरसने लगा।

अज्ञान को जान लेना ज्ञान का पहला कदम है। लेकिन अड़चन कहाँ से आ रही है? अड़चन यहाँ से आ रही है : अज्ञान तो मिटा नहीं, और तुमने कूड़ा-कचरा इकट्ठा कर लिया। शास्त्र से तुमने साधना नहीं सीखी, शास्त्र से तुमने सिद्धांत सीखे। शास्त्र

से अनुशासन सीखो। शास्त्र का मतलब ही यही होता है कि जिससे अनुशासन मिले—वह शास्त्र; जो तुम्हें जीवन की विधि दे—वह शास्त्र। लेकिन वह तुम्हें सुनाई नहीं पड़ती।

और तुम अपने शब्दों से इतने भरे हो कि मैं भी तुमसे जब बोल रहा हूँ, तब पक्का नहीं है कि तुम वही सुनते हो, जो मैं तुमसे कहता हूँ। तुम्हारे शब्द उसमें बाधा डालते होंगे; रंग बदल देते होंगे, धुन बदल देते होंगे, अर्थ बदल देते होंगे।

आदमी वही सुनता है, जो सुनना चाहता है। आदमी वही सुनता है, जो वह पहले ही सुन चुका है। आदमी उसको छोड़ देता है, जो उसके भीतर न पच सकेगा। उसको पचा लेता है, जो पहले से पचा हुआ है।

तुम मेरे पास आकर अगर हिन्दू हो, तो वही सुन लोगे, जो हिन्दू सुन सकता है। अगर मुसलमान हो, तो वही सुन लोगे, जो मुसलमान सुन सकता है। मुसलमान और मुसलमान होकर चला जाएगा; हिन्दू और हिन्दू होकर चला जाएगा। और मैं चाहता था कि हिन्दू मुसलमान मिट जायँ।

मैं एक वैद्य जी के घर में ठहरा हुआ था। पण्डित आदमी हैं। वे स्नान कर रहे थे—सुबह-सुबह। मैं अखबार पढ़ रहा था बाहर बैठ कर। उनका लड़का एक कोने में बैठ कर अपने स्कूल का काम कर रहा था। वह जोर-जोर से कुछ रट रहा था। वह रट रहा था अलंकार के भेद चार होते हैं: लाटानुप्राश, वृत्यानुप्राश, छेकानुप्राश, अंत्यानुप्राश—वह रट रहा था। मैंने उसको कोई ज्यादा ध्यान भी नहीं दिया था; ध्यान तो तब दिया—जब वैद्यजी—जो स्नान कर रहे थे—अन्दर स्नान घर में, वहीं से चिल्लाये: 'अरे नालायक, कहाँ की दवाइयों के नाम रट रहा है! अपना च्यवनप्राश . . . ! उसकी तो विदेशों तक में माँग है। रख नम्बर एक पर—च्यवनप्राश। यह कहाँ का छेकानुप्राश, अन्त्यानुप्राश . . .।' लड़का भी चौंका, मैं भी चौंका। लेकिन तभी पत्नी जो चौके में काम कर रही थी, जोर से मन्नाई। उसने कहा, 'तुम अपना स्नान करो और दूसरों को अपना काम करने दो। यह तुम्हारे च्यवनप्राश की वजह से इस घर में कोई बीमार तक नहीं पड़ सकता। च्यवनप्राश—च्यवनप्राश—कोई बीमारी आ जाय तो डर लगता है बताने में; तुम फिर वह च्यवनप्राश ले आओगे!'

कोई किसी की सुनता हुआ मालूम नहीं पड़ता। पत्नी शांत हो गई। मैं अपना अखबार पढ़ने लगा। लड़का फिर देख कर कि उपद्रव जा चुका, फिर याद करने लगा: 'अलंकार चार प्रकार के होते हैं . . .।' ऐसा वर्तुल है।

कोई किसी की सुन नहीं रहा है। अपनी-अपनी सुन रहे हैं लोग।

शास्त्र की तुम कहाँ सुनते हो। शास्त्र के पास भी अगर तुम अज्ञानी होकर जाओ—अज्ञानी होकर जाओ मतलब बालक की तरह हो कर जाओ, तो शास्त्र भी तुम्हें जगा देगा। लेकिन तुम तो जीवित शास्त्रों के पास भी—गुरुओं के पास भी ज्ञानी होकर





आते हो। वे भी तुम्हें नहीं जगा पाते।

शास्त्र तो मुरदा है, कागज पर खींची आड़ी-तिरछी लकीरें हैं। लेकिन वह भी जगा देगा; अगर तुम पण्डित की तरह न गये, प्यासे की तरह गये, तो शास्त्र भी जगा देगा। और अगर पण्डित की तरह तुम आये—सद्गुरु के पास भी, तो सद्गुरु भी तुम्हें जगा नहीं पायेगा; तुम सद्गुरु से भी अपनी नींद के बहाने खोज कर वापस लौट जाओगे।

इस बात को तय करने की जरूरत ही नहीं कि क्या मानने योग्य है, क्या मानने योग्य नहीं है। तुम कैसे तय करते हो: क्या खाने योग्य है, क्या खाने योग्य नहीं है? जो पच जाता है, जो स्वस्थ करता है, शक्तिवर्धक है, उसे तुम खाने योग्य समझ लेते हो। कंकड़-पत्थर नहीं खाते। अज्ञानी से अज्ञानी नहीं खाता पत्थर-कंकड़। क्यों? जानता है: वे पचेंगे नहीं; दुःख देंगे, पीड़ा देंगे।

जीवन जिससे रसपूर्ण हो जाय वही चुनने योग्य है। जिससे स्वास्थ्य बढ़े सौरभ बढ़े, वही चुनने योग्य है। जीवन जिससे उत्सव बने, वही चुनने योग्य है। जिससे जीवन उदास हो जाय; टूट जाय, खण्डहर हो जाय, वही छोड़ देने योग्य है।

मैं तुम्हें सिद्धांत चुनने की बात ही नहीं कर रहा; जीवन तुम्हारे पास है, वहीं कसौटी है। तुम उस पर ही कसे चलो।

जब तुम झूठ बोलते हो, तो जीवन में आनंद बढ़ता है? बस, इसको ही देखो। अगर बढ़ता हो, तो मैं कहता हूँ: झूठ ही बोलो। मैं तुमसे कभी न कहूँगा कि सच बोलो। अगर धोखा देने से, बेईमानी करने से, दूसरों को कष्ट देने से तुम्हारे जीवन में आनंद की वर्षा होती हो, तो वही धर्म है। तुम वही करो। किसी की मत सुनो। लेकिन ऐसा कभी होता नहीं। ऐसा हो नहीं सकता। वह जीवन का विधान नहीं है।

शास्त्र केवल इतना ही कहते हैं; वह जो अनंत-अनंत बार जाना गया है, उसी को दोहराते हैं। हर जाननेवाले ने जो अनुभव किया है, उसी को दोहराते हैं। वे इतना ही कहते हैं: कंकड़-पत्थर मत खाओ। झूठ दुःख देगा; सुख का कितना ही आश्वासन दे—दुःख देगा।

दूसरे को दुःख दोगे, दुःख लौटेगा। दूसरे को सताओगे, सताये जाओगे। अशांति पैदा करोगे लोगों के जीवन में, तुम्हारे जीवन में अशांति की प्रतिध्वनि होगी। और कुछ भी न होगा। क्योंकि संसार तो दर्पण है। तुम्हें अपना चेहरा ही सब तरफ दिखाई पड़ने लगेगा। तुम अपने ही चेहरों से घिर जाओगे। बस, शास्त्र इतना ही कहते हैं।

शास्त्र सीधे-साफ हैं। उलझाया है तो पण्डितों ने। वे एक-एक शब्द की इतनी बाल की खाल निकालते रहते हैं कि यह भूल ही जाता है कि शास्त्र भोजन की तरह है। वह चर्चा करने के लिये नहीं है बैठकर; वह पचाने के लिये है। वह खून बने तुम्हारा—हड्डी-मांस-मज्जा बने।

बोधिधर्म चीन गया; जब वह वापस लौटने लगा--नौ वर्ष के बाद, तो उसने अपने चार शिष्यों को बुलाया--जो कि श्रेष्ठतम थे, जो अर्जुन जैसे होंगे, जो पुरुषश्रेष्ठ थे, जिन्होंने उसको पूरी तरह पचाया था। और बोधिधर्म ने पहले से पूछा कि 'मैं जाता हूँ; परीक्षा की घड़ी आ गई। सार की बात जो तूने मुझसे सीखी, वह कह दे।' उस व्यक्ति ने कहा, 'सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अचौर्य--यही धर्म है।' बोधिधर्म ने कहा, 'तेरे पास मेरा शरीर है।' दूसरे से पूछा; उसने कहा, 'योग, साधना, विधियाँ, अभ्यास --यही सार है।' बोधिधर्म ने कहा, 'तेरे पास मेरा मांस है।' तीसरे से पूछा; उसने कहा, 'ध्यान, शांति, शून्यता--यही सारा राज है, कुंजी है।' बोधिधर्म ने कहा, 'तेरे पास मेरी हड्डियाँ हैं।' चौथे की तरफ आँख फेरी। चौथा उसके चरणों पर गिर पड़ा; बोला कुछ भी नहीं। बोधिधर्म ने उसे उठाया, उसकी आँखों में झाँका, वह बोला कुछ भी नहीं। बोधिधर्म ने कहा, 'तेरे पास मेरा सब कुछ है--मेरी आत्मा है।'

क्या मामला था?

एक ने इतना ही पचाया की चमड़ी बनी। बस, ऊपर-ऊपर रही। पचाया उसने भी; क्योंकि चमड़ी भी बिना पचाये नहीं बनती। लेकिन परिधि पर ही छुआ। दूसरा थोड़ा भीतर गया; वह मांस बना। उसने गुरु को थोड़ा गहरा पचाया। तीसरा और भीतर गया। उसने गुरु को और आत्मसात किया, वह हड्डियाँ बन गया। चौथा इतना गहरा गया कि कह भी न सका कि कितना गहरा गया हूँ, क्योंकि जो शब्द में आ जाय, वह कोई गहराई है? जो कही जा सके--वह भी कोई समझ है? समझ तो अतीत है--सब वचनों के। इसलिए वह चुप ही रह गया। उसने सिर्फ अपनी आँखें गुरु के सामने कर दीं कि अगर कुछ हुआ हो, तो तुम देख लो। मैं क्या कहूँ। कहने को कुछ भी नहीं है।

धर्म क्या कहा जा सकता है? कितना तुम पचाते हो? इसकी फिक्र छोड़ो कि शास्त्र अनेक हैं; कौन से चुनें। कोई भी चुन लो। जो हाथ आ जाय, वही काम दे देगा। उसकी बहुत विबूचना में मत पड़ो, क्योंकि समय व्यतीत होगा, जीवन खोयेगा। इसलिये पुराने दिनों में एक सहज व्यवस्था थी, और वह यह थी कि तुम जिस परंपरा में पैदा हुए हो, चुपचाप उसके शास्त्र को मानकर चलते चले जाओ। ताकि व्यर्थ की उलझन न खड़ी हो: कहाँ चुनो, क्या करो। जिस परम्परा में पैदा हुए हो, चुपचाप उस शास्त्र में डूबते चले जाओ। उसी शास्त्र में डूबकर एक दिन तुम पाओगे--कि सब परम्पराओं के पार निकल गये।

कोई परम्परा तोड़ने की भी जरूरत नहीं है। उसमें से भी ऊपर जाने का उपाय है। गहरे गये कि ऊपर चले जाओगे। उथले रहे कि भीतर रह जाओगे।

परम्परा बाँधती है--उनको, जो डुबकी लगाते ही नहीं। जो डुबकी लगाना





जानते हैं, वे तो परम्परा में से भी परम स्वतंत्रता को उपलब्ध हो जाते हैं।

मगर अब यह न हो सकेगा। बात बिगड़ गई। वह बात गयी, वह समय न रहा। अब तो सारी दुनिया छोटा-सा गाँव बन गई है। अब तो यह असंभव है कि हिन्दू मुसलमान से अपरिचित रह जाय। यह संभव नहीं है कि ईसाई हिन्दू से अपरिचित रह जाय। और बुरा भी नहीं है; एकदम शुभ है। सारे शास्त्र सब के लिये खुल गये हैं। हिन्दू के लिये मंदिर था, मुसलमान के लिये मसजिद थी, ईसाई के लिये चर्च था; अब सब मिश्रित हो गये। एक महासंगम घटित हुआ है पृथ्वी पर। इस महासंगम में जो नासमझ अपने को समझदार समझ बैठे हैं, वे बहुत कुछ गँवा देंगे। जो ना-समझ अपने को ना-समझ समझते हैं, वे बहुत कुछ बचा लेंगे।

अगर तुम अज्ञानी हो, तो इस महासंगम से बहुत लाभ होगा; क्योंकि तुम 'देख' पाओगे। शब्दों से खाली आँखें कुरान में गीता को खोज लेंगी, गीता में कुरान को देख लेंगी और तुम्हारा अहोभाव बढ़ेगा, तुम्हारी श्रद्धा और भरपूर होगी। क्योंकि सभी शास्त्र यही कहते हैं। सदियों-सदियों में, अलग-अलग देशों में, अलग-अलग हवाओं, परम्पराओं में जो भी कहा गया है, वह सब एक ही तरफ इशारा करता है। उँगलियाँ कितनी ही हों--चाँद एक है।

तुम्हारी श्रद्धा बढ़ेगी, अगर तुममें थोड़ी-सी भी सरलता है। अगर नहीं है, तो तुम बड़े डाँवाडोल हो जाओगे। तुम हिन्दू थे अब तक; विश्वास था, वह विश्वास भी डगमगा जाएगा, क्योंकि कुरान कुछ और कहती मालूम पड़ेगी। बाईबिल कुछ और कहती मालूम पड़ेगी। तुम उस हालत में हो जाओगे, जैसे धोबी का गधा, न घर का न घाट का। मसजिद जाओगे तो मंदिर बुलाएगा। मंदिर जाओगे तो मसजिद पुकारेगी। कुरान पढ़ोगे, तो गीता याद आयेगी। गीता पढ़ोगे, तो कुरान याद आयेगा। और तालमेल कुछ बैठेगा नहीं। क्योंकि ये सभी संगीत बड़े अलग-अलग हैं। ये वाद्य अलग-अलग हैं। इनका स्वर संयोजन अलग-अलग है। तो तुम बिलकुल पगला जाओगे, विक्षिप्त होने लगोगे।

तुम्हारा विश्वास भी खो जायेगा, अगर तुमने समझदार और पण्डित की तरह इस महासंगम को देखा। लेकिन अगर तुमने सरल निर्दोष बालक की तरह देखा, तो तुम्हारी श्रद्धा अनंत गुनी हो जाएगी।

विश्वास झूठा है; उसकी सुरक्षा करनी पड़ती है। तुम्हें पता ही न चले कि दूसरे लोग क्या सोचते हैं, तभी विश्वास बचता है। श्रद्धा बड़ी और बात है। श्रद्धा को तो खुला आकाश चाहिए, तभी बचती है। अगर घर में बंद कर दो, सड़ जाती है, मर जाती है।

तो अभी तक दुनिया विश्वास में जीयी है। हिन्दू घर में तुम पैदा हुए थे, हिन्दू पर

विश्वास किया था। जैन घर में पैदा हुए थे, जैन पर विश्वास किया था। न केवल इतना कि जैन पर विश्वास किया था—हिन्दू पर अविश्वास भी किया था, क्योंकि ये दोनों साथ-साथ रहेंगे : विश्वास अपने पर, दूसरे पर अविश्वास। ऐसे बाहर और भीतर से अपने को सम्हाले रखा था। लेकिन अब इस तरह का विश्वास नहीं टिक सकता। अब तो ऐसी परम श्रद्धा टिकेगी, जिसके लिए न तो अपने पर विश्वास की कोई जरूरत है, न तो दूसरे पर अविश्वास की कोई जरूरत है। अब तो ऐसी परम श्रद्धा जगत् में बचेगी, जिसको खुला आकाश घबड़ाता नहीं, जिसके लिए बंद घरों की दीवारों की जरूरत नहीं है।

तो विश्वास तो गिरेगा। इसलिए जो लोग विश्वास से ही अब तक धार्मिक रहे थे, अब उनके धार्मिक होने का कोई उपाय नहीं है। वे तो अधार्मिक हो जायेंगे। अब तो उन थोड़े से लोगों के जीवन में धर्म की हवा होगी, जिनके जीवन में श्रद्धा है। लेकिन बस, वही धर्म सच्चा है, जो खुले आकाश में बचता है।

वही धर्म सच्चा है, जो विपरीत धारणाओं को भी सुन कर बच रहता है। वही धर्म सच्चा है, जो सभी तर्क के पार भी बच रहता है। विरोधी विरोध करता रहे, फिर भी तुम्हारी श्रद्धा डगमगाए न। ऐसा नहीं कि तुम विरोधी को सुनते नहीं, कान में कंकड़ डाल लेते हो, कान बंद कर लेते हो। वह भी कोई श्रद्धा हुई, जो विरोधी को सुनने से डरती है! वह तो गहरे में संदेह है, इसीलिए भय है।

संदेह के साथ भय है। श्रद्धा के साथ अभय है। इसलिए तो मैं सभी शास्त्रों की तुम से बात कर रहा हूँ। मेरे पास केवल वे ही लोग टिक सकेंगे, जिनके भीतर श्रद्धा का जन्म हो रहा है। विश्वासी तो भाग जायेंगे घबड़ा कर—कि यह आदमी तो हमारा विश्वास छीन लेगा। वे तो दूसरों को भी कहेंगे : 'वहाँ मत जाना, वहाँ नास्तिक हो जाओगे।' उनका कहना भी ठीक है। कमजोर आएगा, नास्तिक हो जाएगा; शक्तिशाली आएगा, आस्तिक हो जाएगा।

मुझे जीसस का एक वचन बहुत प्रिय है; जीसस ने कहा है : 'जिनके पास है, उन्हें और दिया जाएगा, और जिनके पास नहीं है, उनसे वह भी छीन लिया जाएगा—जो उनके पास है।' तुम्हारे भीतर अगर श्रद्धा है, तो मैं उसे बढ़ा दूँगा। और अगर नहीं है, तो और घटा दूँगा। कम से कम बात तो साफ हो जाय। यह बीच में आधा लटकी त्रिशंकु की स्थिति तो न रहे। या नास्तिक या आस्तिक। यह बीच में अटका होना उचित नहीं है।

● दूसरा प्रश्न : कल आपने कहा कि परमात्मा अनंत सूर्यों से भी अधिक ज्योतिपूर्ण है, इसलिए उसकी ज्योति को झेलना असंभव है। लेकिन यह भी आप रोज ही कहते हैं कि मनुष्य परमात्मा का ही अंश है, फिर अंश अंशी को कैसे नहीं झेल पाता है?





जैसे कि बूँद पर सागर टूट पड़े, तो अगर बूँद मिटने को राजी हो, तभी झेल सकती है। अगर बचने की चेष्टा करे, तो फिर न झेल पाएगी। इस गणित को ठीक से समझ लो।

अगर तुम मिटने को राजी हो, तब तो तुम झेल लोगे परमात्मा को, फिर तो कोई डर ही न रहा। लेकिन अगर तुम बचना चाहते हो, तो फिर तुम परमात्मा को न झेल सकोगे। तब तुम मात्रा में झेलो। गुरु मात्रा में है। धीरे-धीरे झेलो। गुरु तुम्हें धीरे-धीरे राजी करेगा।

गुरु भी तुम्हें मिटाएगा, पर वह तुम्हारे पूरे भवन को एक साथ आग नहीं लगा देता। वह धीरे-धीरे एक-एक सहारा खींचता है। तुम्हारे बाकी सहारे बने रहते हैं; तुम कहते हो : कोई हरजा नहीं, यह एक डंडा अलग कर रहा है, कर लेने दो; इतने में क्या बिगड़ेगा। पूरा मकान तो खड़ा है। पर एक-एक डंडा करके वह सब खींच लेता है। एक दिन तुम अचानक पाते हो : सारा भवन गिर गया।

एक-एक ईंट खींचता है गुरु इसलिए तुम सोचते हो : एक ईंट से क्या बिगड़ता है; ले जाने दो। तुम्हारी कृपणता में भी तुम सोचते हो : एक ईंट से क्या बिगड़ेगा। उतने कृपण तुम भी नहीं हो, एक ईंट तुम भी छोड़ देते हो। मगर तुम्हें पता नहीं कि सारा भवन एक-एक ईंट से बना है। एक ईंट खिंच गई कि गुरु आश्वस्त हो गया कि अब दूसरी भी खींच लेंगे। जब भी खींचेगा—एक ही खींचेगा, इसलिए अब पक्का है, कि तुम एक तो खींचने देते हो, इतने से काम चलेगा; थोड़ी देर लगेगी। और एक-एक ईंट खिचते-खिचते एक दिन तुम पाओगे : तुम्हारा भवन अचानक गिर गया।

परमात्मा मात्रा से नहीं खींचता। परमात्मा को आदमी होने का पता नहीं है, गुरु को पता है। परमात्मा अपने ढंग से चलता है; उसका ढंग बड़ा विराट् है। उसे आदमी के छोटे-छोटे आँगनों का पता नहीं है; उसे तो बड़े आकाश का पता है। वह बाढ़ की तरह आता है। तुम अभी बूँद को झेलने को तैयार न थे, वह सागर की तरह आ जाता है; तुम घबड़ा उठते हो। भयंकर सागर की गर्जना—और तुम भाग खड़े होते हो। गुरु तुम्हें आहिस्ता-आहिस्ता थपकी दे दे कर मारता है। मारता वह भी है। क्योंकि तुम जब तक न मिटो, तब तक परमात्मा हो ही नहीं सकता। मिटना तो तुम्हें होगा।

तुम्हारा होना ही बाधा है। इसलिए मिटना तो पड़ेगा। मिटने की तैयारी तो सीखनी ही पड़ेगी। इसलिए मैं कहता हूँ कि तुम परमात्मा हो। लेकिन जब तक तुम नहीं मिटे हो—इसका तुम्हें पता न चलेगा। जब तक तुम्हारी सीमा है, तब तक 'तुम परमात्मा हो'—इसका तुम्हें पता न चलेगा। जब तुम्हारी सीमा खो जाएगी—और तुम पाओगे कि तुम हो—पहले से भी ज्यादा, पहले से भी पूर्ण—तभी तुम पाओगे

कि पहले तो तुम थे ही नहीं, अब पहली दफा हो। लेकिन वह तो मिटोगे तभी होगा।

वह तो बीज जब तक मिटेगा नहीं, तब तक अंकुर न हो पायेगा। और बीज कहता है: पहले भरोसा दिला दो। बीज कहता है: मैं बिना भरोसे के, जो हूँ, वह मिट जाऊँ; फिर पता क्या कि मिटने के बाद जीवन की कोई नई शृंखला फूटेगी या नहीं!

अंडा टूटेगा, तब पक्षी बाहर आएगा, लेकिन पक्षी भीतर से ही कहता है: 'पहले मुझे भरोसा दिला दो; मेरी सुरक्षा है यह अंडा; इसके भीतर सुख-चैन है; यह टूट जाएगा, तो इसके टूटने पर मैं बचूँगा? मेरे घर के मिट जाने पर मैं बचूँगा?'

तुम भी वही पूछते हो।

यह अहंकार तुम्हारा खोल है, सुरक्षा है। इसके भीतर तुम बचे मालूम पड़ते हो। यह तुम्हारा अस्त्र-शस्त्र है, कवच है। और सारा धर्म कहता है: तोड़ो इस अहंकार को। तुम कहते हो, तोड़ तो दें, लेकिन फिर हम बचेंगे? इसके बिना––तुम सोच भी नहीं सकते––कि कैसे बचोगे।

और कठिनाई यह है कि जब तक न टूटो, तब तक पता कैसे चले। और जब तक पता न चले, तब तक तुम टूटने को राजी कैसे होओ! इसलिए परमात्मा तुम्हें न फुसला सकेगा। वह वृक्ष है, तुम बीज हो। गुरु बीज भी था, अब वृक्ष हुआ है। तुमने उसे बीज की तरह भी जाना; अभी भी तुम बीज की खोल चारों तरफ... टूट गई है––लेकिन लिपटी हुई पाओगे। अभी भी बीज की खोल पड़ी है; टूट गई है; अंकुर हो गया है...।

गुरु तुम्हें पहले कदम से मिलता है, परमात्मा तुम्हें अंतिम कदम पर मिलेगा। अंतिम कदम बड़ा दूर है। पहला कदम पास मालूम पड़ता है। गुरु में एक सातत्य बन सकता है। परमात्मा में कोई सातत्य नहीं बनता।

इसलिए मैं कहता हूँ कि गुरु के द्वार से तुम्हारा परमात्मा से मिलन होगा और कोई उपाय नहीं है। गुरु के द्वार से ही सदा मिलन हुआ है। इसीलिए नानक ने तो अपने मंदिर को गुरुद्वारा नाम दे दिया।

गुरु द्वार है—वह सिर्फ द्वार है—एक खुला द्वार है, जिससे प्रवेश होता है; जिससे बस, प्रवेश होता है और जिसे भूल जाना है। गुरु को सदा याद नहीं रखना है। द्वार को कोई याद रखता है? प्रविष्ट हो जाता है; भूल जाता है। मगर जब तक प्रविष्ट नहीं हुए हो, तब तक द्वार की तलाश रहती है।

गुरु खाली जगह है। लेकिन बड़ी कठिनाई है, गुरु के साथ भी। कठिनाइयाँ ऐसी हैं: तीन तरह के गुरु होते हैं। एक तो गुरु होता है, जिसको शास्त्रों ने सद्गुरु कहा है। उसे तो पहचानना जरा कठिन होता है। उसे समझना भी थोड़ा कठिन होता है। वह थोड़ा बेबूझ होता है, अतर्क्य होता है। उसके पास––उसको समझने को तो बड़ा धीरज चाहिए। उसका व्यवहार भी, उसका बोलना, उसका कहना, उसकी जीवन विधि––सभी





तुम्हारे गणित से थोड़ी अलग होती है—होगी ही; क्योंकि तुमने जो गणित सोचा हुआ है, वह पुराने गुरुओं के आधार पर सोचा है। और कोई एक गुरु दूसरे गुरु जैसा नहीं होता।

अगर तुमने महावीर से गणित सीखा है––गुरु का, तो तुम मेरे पास आकर देखोगे कि यह आदमी तो नग्न नहीं है, इसलिए ज्ञानी नहीं हो सकता। और ऐसा आज हो रहा है, ऐसा नहीं; महावीर के समय में भी––महावीर से जिसने गणित सीखा गुरु होने का––कि गुरु क्या है, वह बुद्ध के पास गया, तो उसने कहा, बुद्ध गुरु नहीं हो सकते, क्योंकि यह तो कपड़ा पहने हुए है। गुरु तो नग्न होता है।

बुद्ध के पास जिन्होंने गुरु होने का अर्थ सीखा, वे महावीर को देखकर समझे कि यह तो जरूरत से जरा ज्यादा है। यह दिखावा है, नग्न होने की क्या जरूरत है? नग्न रहने की जरूरत है, 'होने' की थोड़े ही जरूरत है। उनका कहना भी ठीक है। अब यह बताने की क्या बात है! नग्न हो, यह पहचान लिया; अब कपड़े उतार कर बाजार में खड़े होना, यह तो जरा प्रदर्शन मालूम पड़ता है! गुरु प्रदर्शन थोड़े ही करता है।

उसका कहना भी ठीक है। उनको महावीर गुरु न जँचे। हिंदुओं को दोनों गुरु न जँचे––न महावीर, न बुद्ध। महावीर की तो हिन्दुओं ने बात ही न की। महावीर की चर्चा ही न उठाई। चर्चा न उठाने का कारण था––कि महावीर बिलकुल समझ में ही न आए। चर्चा भी उठाओ तभी, विरोध भी करो तभी, जब कुछ समझ में आता हो।

यह आदमी बिलकुल अतर्क्य मालूम पड़ा। बारह साल तो मौन रहा। नग्न घूमने लगा; महीनों उपवास करने लगा। इसका ढंग, इसकी शैली कुछ समझ में न आई। महावीर उकड़ूँ बैठे थे, जब उनको समाधि हुई। उकड़ूँ––जैसे कोई गौ को दोहता है, तब बैठता है––गौ दोहासन में कभी किसी की हुई थी ऐसी समाधि! लोग पालथी लगाकर समाधि के वक्त बैठते हैं। ये उकड़ूँ काहे के लिए बैठे थे? कोई गौ का दूध लगा रहे थे! वह भी नहीं था। उकड़ूँ बैठे थे। बड़ी हैरानी की बात है।

लेकिन अगर मनसविद् से पूछो, शरीर शास्त्री से पूछो, तो इसमें थोड़ा राज मालूम पड़ता है। क्योंकि बच्चा माँ के पेट में उकड़ूँ होता है; उसके घुटने उसकी छाती से लगे होते हैं। वह गर्भ की अवस्था है। महावीर इतने सरल हो गये, नग्न होकर ऐसे निर्दोष हो गये कि बचपन तो दूर छूट गया, गर्भ की अवस्था आ गई। जैसे छोटा बच्चा सिकुड़ा हुआ पड़ा हो, ऐसे वे उकड़ूँ बैठे थे; जैसे सारा अस्तित्व गर्भ बन गया और महावीर उसमें लीन हो गये।

महावीर की सारी व्यवस्था पकड़ में न आ सकी। महावीर को उपेक्षित कर दिया हिन्दुओं ने, बात ही उठानी ठीक नहीं है। बात में से बात निकलेगी और यह आदमी

कहीं भी पकड़ में नहीं आता। बुद्ध की बात उठाई, क्योंकि बुद्ध की बात में उपनिषद् के स्वर बिलकुल साफ थे। बुद्ध आधे हिन्दू थे। महावीर बिलकुल हिन्दू नहीं थे—ढंग में, जीवन व्यवस्था में।

बुद्ध की बात उठाई हिन्दुओं ने; लेकिन बुद्ध को भी स्वीकार तो करना मुश्किल था, और अस्वीकार भी करना मुश्किल था, इसलिए हिन्दुओं ने आधा स्वीकार किया, आधा अस्वीकार किया—दसवाँ अवतार स्वीकार किया बुद्ध को कि वे भी परमात्मा के अवतार हैं। लेकिन एक शर्त के साथ कि वे गलत अवतार हैं; ठीक अवतार नहीं हैं। हैं तो अवतार परमात्मा के, लेकिन ठीक नहीं। और एक कथा हिन्दुओं ने गढ़ी कि बनाया परमात्मा ने नरक और स्वर्ग। नरक कोई जाए ही न, क्योंकि कोई पाप ही न करे। लोग सरल थे, सभी स्वर्ग चले जायँ। तो जिनको नरक में बिठाया था प्रधान बनाकर, वे सब हाथ जोड़कर एक दिन खड़े हुए कि यह तो हम बेकार ही बैठे हैं। रजिस्टर खोले बैठे रहते हैं, कोई आता ही नहीं, नरक खाली पड़ा है। यह काहे के लिये खोला है; यह दफ्तर बंद करो; या किसी को भेजो। उन पर दया करके परमात्मा ने बुद्ध अवतार लिया—कि लोगों को भ्रष्ट करो, ताकि लोग नरक जा सकें। ऐसा हिन्दुओं ने कहानी गढ़ी।

तो बुद्ध ने लोगों को भड़का दिया, भरमा दिया। हैं तो वे परमात्मा के अवतार, लेकिन नरक की जगह जो खाली पड़ी है, उसको भरने के लिये पैदा हुए।

जैन कृष्ण को नहीं समझ सकते। कृष्ण को नरक में डाला हुआ है। जैन बुद्ध को नहीं समझ सकते। बुद्ध को जैनों ने भगवान् कभी नहीं कहा; महात्मा कहते हैं—ज्यादा से ज्यादा—अच्छी आत्मा है। लेकिन अभी बहुत दूर—भगवत्ता से बहुत दूर . . .। बुद्ध को वे कभी भगवान् नहीं कह सकते, महात्मा कहते हैं। और 'महात्मा' से तुम आदर मत समझना; वह अनादर का शब्द है। क्योंकि महावीर को वे भगवान् कहते हैं, उनको वे महात्मा नहीं कहते।

तो बुद्ध को जैन नीचे रखते हैं। बड़े होशियार लोग हैं; दुकानदार हैं। महात्मा कहने से कोई झगड़ा भी खड़ा नहीं होता; कोई कह भी नहीं सकता कि तुम अनादर कर रहे हो; लेकिन वे अनादर कर रहे हैं। वे यह कह रहे हैं कि सिर्फ महात्मा ही हो; कोई भगवत्ता को उपलब्ध नहीं हो गये! अभी भगवान् होना बड़ा दूर है।

लोग सीखते हैं—एक गुरु से पाठ, फिर उस गुरु की शैली उनके मन में रम जाती है। फिर उसी शैली के आधार पर वे दूसरे गुरुओं की जाँच करते फिरते हैं; अटकन हो जाती है। प्रत्येक गुरु अनूठा है, अद्वितीय है। उस जैसा न कभी हुआ है, न कभी होगा, इसलिए सद्गुरु को पहचानना बहुत कठिन है। उसको तो वही पहचान सकता है, जो सभी नक्शे, सभी मापदंड नीचे गिरा दे और सीधा आँख खोल कर देखे।





जैसे शास्त्र को वही पहचान सकता है, जो अज्ञानी की तरह निर्दोष हो, वैसे ही सद्गुरु को भी वही पहचान सकता है, जो निर्मल अज्ञानी है—सरल, खाली; सीधा देखता है, बीच में किसी को नहीं लेता—कि महावीर से सोचेंगे—कि बुद्ध से—कि कृष्ण से। किसी को बीच में नहीं लेता; आँख में आँख डालता है; सीधा हाथ में हाथ लेता है।

मगर यह कठिन प्रक्रिया है। इसमें हिम्मत चाहिए, क्योंकि तुम्हें किसी दूसरे का सहारा नहीं मिलेगा। अकेले तुम ही जाओगे; अपनी किताब और गाईड और कुंजियाँ साथ न ले जा सकोगे। सब मापदंड छोड़कर जाओगे, भयभीत होने लगोगे; कई बार संदेह पकड़ेगा, संशय पकड़ेगा। सद्गुरु के पास यह यात्रा तो करनी ही पड़ेगी।

सद्गुरु की उपलब्धि कठिन है; मिल भी जाय, तो पहचान कठिन है। पहचान भी हो जाय, तो बहुत दफा छोड़ने का भाव पैदा होगा; बहुत दफा भाग जाना चाहोगे। लेकिन अगर टिके ही रहे, अगर हिम्मतवर रहे, अगर साहसी रहे, तो एक दिन उपलब्ध हो जाओगे, तब सद्गुरु द्वार बन जाता है।

फिर दूसरे हैं : असद्गुरु। असद्गुरु से इतना ही मतलब है : जो द्वार हैं नहीं, लेकिन द्वार दिखाई पड़ते हैं। ये तुम्हें जल्दी से मिल जाएँगे। इनको तुम पहचान लोगे। क्योंकि ये बिलकुल तुम्हारी भाषा के भीतर आते हैं; ये तुम्हारे तर्क के नीचे पड़ते हैं; अतर्क्य नहीं हैं। ये तुम्हारे हिसाब से चलते हैं। तुम जैसा इनको चाहते हो, ऐसा ही ये व्यवहार करते हैं। वस्तुतः ये तुम्हें अपना अनुयायी नहीं बनाएँगे; क्या बनाएँगे? ये तुम्हारे अनुयायी हैं।

तुम कहते हो : सिर घुटाए हुए होना चाहिए—गुरु, तो ये सिर घुटाए बैठे हैं। तुम कहते हो : दाढ़ी बढ़ाए होना चाहिए; वे दाढ़ी बढ़ाए बैठे हैं। तुम कहते हो : नग्न होना चाहिए; वे नग्न बैठे हैं। बस, जो कहो, वे तुम्हारी आज्ञा पर हाजिर हैं। बस, तुम्हें ख्वाईश प्रकट करनी है।

असद्गुरु जड़ होता है : इस अर्थ में कि वह तुम्हारी आकांक्षा से अपने को ढालता है। वह तुम्हारी तरफ देखता है कि तुम कैसा चाहते हो। उसकी एकमात्र आकांक्षा यह है कि वह गुरु की भाँति पूजा जाय; बस, तुम्हारी जो माँग हो, वह पूरी कर देगा। वह रेडीमेड गुरु है। वह तुम्हारी माँग के अनुसार तैयार हो जाता है।

सद्गुरु तुम्हारी कोई माँग पूरी नहीं करेगा। वह सिर्फ अपने होने की माँग पूरी कर रहा है। तुम्हें जँचे—ठीक, तुम्हें न जँचे—ठीक। तुम प्रसन्न होओ—अच्छा; तुम अप्रसन्न होओ—अच्छा। तुम आओ तो ठीक, तुम चले जाओ तो ठीक। तुम्हारी भीड़ इकट्ठी हो जाए तो ठीक, सन्नाटा छा जाए—कोई भी न रहे, तो भी ठीक। सद्गुरु को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। तुम्हारा होना, न होना अर्थ नहीं रखता।

शिष्य की भीड़ का कोई भी मूल्य नहीं है। लाखों की भीड़ हो तो भी ठीक है, इने-गिने लोग रह जायँ, तो भी ठीक है; सभी लोग चले जायँ, तो भी ठीक है। वह तुम्हारे आधार से नहीं चलता, वह अपनी आत्मा की आवाज से चलता है। उसके साथ जिनकी चलने की हिम्मत हो, वे बहुत थोड़े से लोग चल पाएँगे। सद्‌गुरु के साथ तो चुने हुए लोग होंगे।

जीसस के साथ मुश्किल से बारह आदमी चल सके। अब चल रहे हैं करोड़ों लोग, लेकिन अब उन्होंने अपनी कल्पना का जीसस खड़ा कर लिया है--जो था ही नहीं। अब उन्होंने जो जीसस की धारणा बनाई है, वह झूठी है। जिन्दा जीसस तो तोड़ देता उनकी धारणा, मरा जीसस क्या करे!

इसलिए सभी सद्‌गुरु मरने के बाद धीरे-धीरे असद्‌गुरु में परिणत हो जाते हैं--तुम्हारे कारण, अपने कारण नहीं। क्योंकि वे तो हैं ही नहीं। जिन्दा में तो वे लड़ते रहते हैं तुमसे, तुम्हारी आकांक्षाओं को पूरी नहीं होने देते। लेकिन जब मर जाते हैं, तब तो कुछ भी नहीं कर सकते। तुम उनके सम्बन्ध में किताबें लिखते हो, चित्र बनाते हो; तुम जैसा चाहते हो, उनको बना देते हो। फिर तो वे परवश हैं। इसलिए मरे हुए गुरुओं की बड़ी पूजा चलती है, सदियों तक चलती है। जिन्दा गुरु के साथ बड़ा भय लगता है। जीसस को जिन्होंने सूली दी, उन्होंने ही, मर जाने के बाद पूजा शुरू कर दी।

कृष्ण को सामने देख कर जो डर जाते, वे हजारों साल से उनकी गीता पढ़ रहे हैं और सिर झुका रहे हैं! अभी भी तुम्हें कृष्ण मिल जायँ रास्ते पर, तो तुम भयभीत होओगे। तुम कहोगे: 'गीता भली है। आप कैसे चले आये? गीता के साथ बिलकुल ठीक चल रहा है। जो अर्थ निकालना है, निकाल लेते हैं। जो नहीं निकालना है, नहीं निकालते हैं। तुम्हारी सुनता कौन है! हम अपने को गीता में खोज लेते हैं। आप की कोई जरूरत नहीं है। गीता काफी है। आप विश्राम करें--वैकुण्ठ में; हम गीता पढ़ें; यहाँ संसार में सब बिलकुल ठीक चल रहा है। आप यहाँ न आयें।' तुम थोड़ा सोचो: कृष्ण को घर में ठहरा सकोगे? भरोसे का आदमी नहीं है; पत्नी को भगा कर ले जाय!

अभी कल ही मैं अखबार में पढ़ रहा था कि यू.पी. में एक मुकदमा था अदालत में। जमीन का टुकड़ा है। छः एकड़ जमीन का टुकड़ा है, वह राधाकृष्ण के नाम है। अब एक झंझट खड़ी हो गई--कि इतनी जमीन--छः एकड़--बस्ती के भीतर, एक आदमी के नाम रह सकती है कि नहीं। छः एकड़ बस्ती के भीतर--एक आदमी के नाम नहीं रह सकती।

तो वकीलों ने तरकीब निकाली और तरकीब सफल हो गई। वकीलों ने कहा कि राधा कभी उनकी पत्नी तो थी नहीं; प्रेयसी थी, इसलिये दो व्यक्ति हैं ये। यह कोई परिवार नहीं है--राधाकृष्ण। इसलिए तीन-तीन एकड़ एक-एक के नाम है। तीन-





तीन एकड़ रह सकती है। एक व्यक्ति के नाम पर पाँच एकड़ तक रह सकती है; छः में झंझट थी। बात हल हो गई। अदालत ने फैसला दे दिया कि यह बात बिलकुल ठीक है। यह स्त्री--राधा--कभी इनकी पत्नी तो थी नहीं; पत्नी तो रुक्मिणी थी। यह तो परकीया थी--किसी और की पत्नी रही होगी। भगाई गई थी।

तुम कृष्ण को घर में सुविधा से न ठहरा सकोगे। और अगर कही राधा-कृष्ण दोनों ही आ गये, तब तो बिलकुल न ठहरा सकोगे। तुम कहोगे: यह तो जरा ज्यादा हो गया। घर में बच्चों को भी देखना है; बिगड़ जायँ। आप कही और ठहर जायँ।

मर जाते हैं--सद्‌गुरु, तो लोग अपने अनुकूल उनको बना लेते हैं, साज-सँवार लेते हैं, हाथ-पैर काट देते हैं--छाँट कर उनकी ठीक मूर्ति बना देते हैं, फिर पूजा सुविधा से चलती है। फिर तुम्हारा सम्बन्ध ही नहीं है गुरु से। जब तक तुम सद्‌गुरु को भी असद्‌गुरु की स्थिति में न ले आओ, तब तक तुम पूजा नहीं कर सकते, क्योंकि सद्‌गुरु की स्थिति में जाने के लिये तो बड़ी कठिनाई से तुम्हें गुजरना पड़ेगा। यह ज्यादा आसान है कि सद्‌गुरु को ही अपनी स्थिति में ले आओ; उन्हीं को उतार लेना आसान है, खुद का चढ़ना मुश्किल है।

जिन्दा गुरु तो लड़ता रहेगा, तुम्हें चढ़ाने की कोशिश करता रहेगा।

ये दो तरह के गुरु तो ठीक समझ में आते हैं। एक तीसरे तरह के गुरु हैं, जो गोबर गणेश हैं: जैसे गणेशपुरी के मुक्तानंद, जिनको न तुम सद्‌गुरु कह सकते, न असद्‌गुरु कह सकते। असद्‌गुरु तो बिलकुल नहीं हैं। कुछ बुराई नहीं है। सद्‌गुरु भी बिलकुल नहीं हैं; कुछ पाया भी नहीं है। पर गोबर गणेशों की पूजा सब से आसान है। क्योंकि तुमसे कोई किसी तरह के रूपांतरण की अपेक्षा ही नहीं है।

ऐसा हुआ कि मैं नारगोल शिविर को जाता था। गणेशपुरी के आश्रम के एक भक्त ने निमंत्रण दिया कि मैं एक-आधा घड़ी वहाँ रुक जाऊँ। मैंने भी सोचा कि चलो, मुक्तानंद को देखते चलें। वह देखना बड़ा महंगा पड़ गया। रुका आधा घड़ी को; मेरे साथ मेरी एक शिष्या थी। महँगा इसलिए पड़ गया कि निर्मला श्रीवास्तव मेरे साथ थी। मुक्तानंद से तो ज्यादा समझदार है। क्योंकि मुक्तानंद को देखकर उसने जो बात मुझे कही, वह यह कि 'यह आदमी तो बिलकुल गोबर-गणेश है। आप यहाँ उतरे ही क्यों?' लेकिन उसी दिन मैंने देखा कि उसके मन में एक बीज आ गया, कि जब मुक्तानंद गुरु हो सकते हैं, तो मैं क्यों नहीं हो सकती! यह आदमी तो बिलकुल 'गोबर-गणेश' है। उसे उस दिन पता नहीं चला। लेकिन उस दिन मैं साफ-साफ देख सका कि उसके अन्तर्भाव में एक नये अहंकार का जन्म हो गया--कि 'जब मुक्तानंद जैसा आदमी--कुछ भी नहीं है जहाँ, यह जब गुरु हो सकता है, और सैकड़ों लोग इसकी पूजा कर सकते हैं, तो फिर मैं क्यों गुरु नहीं हो सकती!' और यह तो मैं भी स्वीकार

करता हूँ कि अगर मुक्तानंद और निर्मला श्रीवास्तव में चुनना हो, तो निर्मला ज्यादा होशियार है। पर उसकी यात्रा अभी अधूरी थी। अभी शिष्यत्व के कदम ही उसने रखने शुरू किये थे और गुरु का भाव पैदा हो गया--जो कि होता है पैदा।

इसलिये मैं कहता हूँ : वह मुक्तानंद के आश्रम में उस दिन घड़ी भर के लिये जाना महँगा पड़ गया : निर्मला की जिंदगी बिगड़ गई। उसे उस दिन पता भी नहीं चला, उसे आज भी शायद साफ नहीं होगा कि क्या हुआ। लेकिन यह बात देखकर कि जिस आदमी में कुछ भी नहीं है . . . । मैंने उसे कहा भी नहीं कुछ--कि कुछ भी नहीं है मुक्तानंद में। यह तो मैं आज कहता हूँ। मैंने तो उसकी बात सुन ली। क्योंकि मैंने कहा, अगर मैं कुछ कहूँगा, तब तो और भी पक्का हो जाएगा इसको। मैंने कहा कि 'सब ठीक है; सब चलता है; लोगों को सब तरह के गुरुओं की जरूरत है। कुछ हैं, जिनको गोबर गणेशों की जरूरत है, तो उनकी भी तो जरूरत पूरी होनी चाहिए; परमात्मा सभी का खयाल रखता है!'

लेकिन निर्मला का जीवन भ्रष्ट हो गया। जो उसने थोड़ा-सा पाया था, वह भी खो गया अहंकार में।

इस तीसरे गुरु से बचना बहुत जरूरी है। क्योंकि यह तुम्हें कहीं न ले जाएगा। सद्‌गुरु कहीं पहुँचाता है, असद्‌गुरु भटकाता है। और गोबर-गणेश केवल भरमाते हैं। भटकाते भी नहीं, भटकाएँ तो भी चलो, कुछ हुआ--कहीं तो ले गये--नरक भी ले गये तो कुछ अनुभव तो होगा; पाप में उतारा तो भी कुछ तो अनुभव होगा; गलत में ले गये तो भी सही की तरफ आने के लिये कुछ तो रास्ता बनेगा। क्योंकि गलत का अनुभव भी सही की तरफ लाने के लिये कारण बन जाता है।

एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक--एडीसन एक प्रयोग कर रहा था। वह ग्यारह सौ दफा असफल हो गया; तीन साल व्यतीत हो गये। उसके शिष्य तब घबड़ा गये। जो उसके कार्यकर्ता थे--साथी--वे सब थक गये। लेकिन वह रोज सुबह चला आता है--प्रसन्न चित्त; फिर प्रयोगशाला में लग जाता है, फिर आधी रात तक लगा रहता है। आखिर एक दिन उसके सहयोगी ने पूछा कि 'आप थकते ही नहीं; आप उदास भी नहीं होते! और आप यह भी नहीं देखते कि ग्यारह सौ बार आप असफल हो चुके!' एडीसन ने कहा, 'इससे तो मैं प्रसन्न हूँ। कम से कम ग्यारह सौ गलतियाँ अब मैं न दोहराऊँगा। सत्य करीब आ रहा है। ग्यारह सौ रास्ते गलत सिद्ध हो गये; अब चुनने को बहुत थोड़े ही बचे होंगे; किसी भी दिन ठीक रास्ता आ ही जाएगा हाथ में। मैंने खोया नहीं है--इन ग्यारह सौ में कुछ पाया ही है।

मान लो दस रास्ते हैं; और नौ गलत हैं और एक सही है; नौ पर तुम भटके और लौट आए, तो दसवाँ करीब आ रहा है। हाथ में कुछ दिखाई नहीं पड़ता--कि क्या





पाया; लेकिन तुम कुछ पा रहे हो।

तो असद्‌गुरु भी सद्‌गुरु तक पहुँचाने का कारण हो जाए, लेकिन गोबर-गणेश भरमाते हैं। वे न तो भटकाते हैं, न पहुँचाते। तुम कोल्हू के बैल के चक्कर में पड़ जाते हो, घूमते रहते हो। उनमें इतना बुरा भी नहीं कि उससे भी कुछ अनुभव ले लो; उनमें इतना कुछ अच्छा भी नहीं है कि तुम्हें उत्तुंग शिखरों पर ले जाय। उनमें कुछ भी नहीं है। वस्तुतः उनमें तुम जो भी देख रहे हो, वह तुम्हारा प्रोजेक्शन है।

सद्‌गुरु में कुछ है, असद्‌गुरु में भी कुछ है। कृष्णमूर्ति में भी कुछ है और रास्पुतिन में भी कुछ है; ताकत है, शक्ति है। रास्पुतिन भटकाएगा। अगर उसके चक्कर में पड़ गये तो बुरे नरक में डाल देगा। लेकिन वह भी अनुभव होगा; वह भी शायद जरूरी था--जीवन की प्रौढता के लिये। शायद तुम अँधेरे में न गिरो तो प्रकाश की अभीप्सा ही पैदा न हो। शायद आवश्यक था; अनिवार्य था।

लेकिन फिर गोबर गणेश हैं, वे कुछ भी नहीं करते। उन पर तुम प्रोजेक्ट करते हो। तुम जो भी सोचते हो, वे हैं, वह तुम्हारी धारणा है, वह तुम्हारी परिकल्पना है।

ऐसा हुआ : मेरे एक परिचित हैं, सीधे-सादे आदमी हैं; उनसे मैंने एक दिन कहा कि 'तुम्हें अगर गोबर-गणेश-गुरु बनना हो, तो तुम बन सकते हो। तुम बिलकुल सीधे-सादे हो; जीवन में कुछ बुराई भी नहीं है; कुछ भलाई भी नही है। इधर-उधर का कुछ भी नहीं है, कोई अति नहीं है। न मांस खाते, न शराब पीते, न सिगरेट पीते। कुछ भी नहीं--न कोई चोरी की। उतनी भी हिम्मत नहीं है। न झूठ बोले। कभी सच को भी नहीं पा लिया है। झूठ भी नहीं बोले हो। तुम बिलकुल सज्जन आदमी हो; तुम गोबर-गणेश गुरु बन सकते हो।' उन्होंने कहा, 'क्या मतलब?'

मेरे साथ यात्रा पर वे कलकत्ता जा रहे थे, तो मैंने कहा : तुम ऐसा करो, तुम सिर्फ चुप रहना; तुम बोलना भर नहीं कलकत्ते में। क्योंकि तुम बोले कि पकड़े जाओगे। तुम बोलना भर नहीं। तुम चुप रहना। लोग मुझसे पूछेंगे, 'आप कौन हैं?' मैं कहूंगा, बड़े गुरु हैं। बड़े पहुँचे ज्ञानी हैं। बोलते नहीं। मौन हैं।

तीन दिन मेरे साथ रहे। हालत ऐसी आ गई कि लोग मेरे पैर पीछे छुएँ, पहले उनके छुएँ। तीन महीने रह जाते, तो लोग मुझे भूल ही जाते! लौट कर रास्ते में मुझसे कहने लगे, 'आपने ठीक कहा।' और लोगों की कुण्डलिनी जगने लगी उनके स्पर्श से। उनकी खुद की नहीं जगी! मगर लोग मुझसे पूछने लगे कि 'ये बाबा तो बड़े चमत्कारी हैं। इन्होंने सिर पर हाथ रखा, हमारी कुण्डलिनी जग गई।' कल्पना, प्रक्षेपण, प्रोजेक्शन --तुम जो चाहते हो, वह होने लगा। किसी को रोशनी दिखने लगी। आदमी की कल्पना बड़ी प्रगाढ है!

तो पहले तो गोबर-गणेश मे बचना--सर्वाधिक। अपने प्रक्षेपण, अपनी कल्पना,

अपने सपनों को आरोपित करने से बचना।

सद्गुरु कोई अनुभव नहीं देता, सद्गुरु तो अनुभव को छीनता है। वह तो तुम्हें उस जगह ले आता है, जहाँ सब अनुभव गिर जाते हैं। केवल तुम ही रह जाते हो--अत्यंत निर्दोष, अत्यंत निर्विकार। अनुभव भी विकार है।

कुण्डलिनी जग रही है, प्रकाश दिखाई पड़ रहा है; कमल खिल रहे हैं; चक्र खुल रहे हैं--सब विकार हैं, सब रोग हैं। इनको तुम गुण मत समझ लेना; इन्हीं की वजह से गोबर गणेश पुज रहे हैं। तुम पूज रहे हो, तुम ही प्रक्षेपण कर रहे हो; अनुभव भी तुम्हारा है, धारणा भी तुम्हारी है, घटना भी तुम्हें घट रही है। वहाँ कोई है ही नहीं।

और जब एक दफा पता चल जाता है कि ऐसा हो रहा है . . .। निर्मला को पता चल गया, मुक्तानंद के आश्रम में, कि ऐसा हो रहा है; फिर अब उसके द्वारा लोगों की कुंडलिनी जग रही है। वह समझ गई तरकीब--कि यह तो गुरु होना बहुत आसान है। हाथ रख दो किसी के सर पर--कुंडलिनी जग गई। किसी को प्रकाश दिखाई पड़ गया। सौ पर रखो पच्चीस को कुछ न कुछ हरकत होगी। वह जो हरकत हो रही है, वह उसके मन की है। उससे लेने-देने का कोई सम्बन्ध नहीं है--गुरु का।

सद्गुरु तुम्हें सारे अनुभवों से मुक्त करता है। असद्गुरु तुम्हें विकृत अनुभवों में ले जाता है। गोबर-गणेश तुम्हें काल्पनिक अनुभवों में ले जाते हैं।

अगर तुम निर्दोष चित्त हो, तो तुम सद्गुरु को खोज लोगे। लेकिन अगर तुम कल्पनाशील हो और तुम मुफ्त कुछ चाहते हो, तो तुम गोबर गणेशों के चक्कर में फँस जाओगे, क्योंकि वहाँ मुफ्त मिलता है। छूते वे हैं, और कुंडलिनी तुम्हारी जगती है! मुफ्त मिलता है।

और अगर तुम कुछ विकृत आकांक्षाएँ रखते हो--कि हाथ से राख आ जाय, कि ताबीज निकल आए, कि गड़ी सम्पत्ति दिखाई पड़ने लगे, तो फिर तुम किसी असद्गुरु के चक्कर में पड़ जाओगे।

जब मैं ये तीन विभाजन कर रहा हूँ, तो किसी गुरु के विरोध में या पक्ष में कुछ नहीं कह रहा हूँ। मैं तुमसे कह रहा हूँ कि ये तीन तुम्हारे भीतर की संभावनाएँ हैं।

अगर तुम्हारी गलत माँग हो--कि गड़ा हुआ खजाना दिख जाय, छूने से लोहा सोना हो जाय, तो तुम असद्गुरु के चक्कर में पड़ जाओगे। अगर तुम मुफ्त अनुभव चाहते हो--कि बिना कुछ किये कुछ मिल जाय--किसी के आशीर्वाद से, किसी के प्रसाद से, तो तुम गोबर गणेशों के चक्कर में पड़ जाओगे। अगर तुम कुछ भी नहीं चाहते हो--सिवाय सत्य के; कुछ भी नहीं चाहते हो--सिवाय परमात्मा के; कुछ भी नहीं चाहते हो--केवल स्वयं की आत्मा के; स्वयं को जानना चाहते हो, तो ही तुम सद्गुरु को खोज पा सकते हो।





● तीसरा प्रश्न : अर्जुन गीता का ज्ञान सुनते-सुनते परमज्ञान को उपलब्ध हो गया या उसके बाद से उसकी भक्ति-साधना या शिष्य-साधना का प्रारंभ हुआ? उसे भगवत् प्राप्ति कब और कैसे हुई?

अर्जुन सुनते-सुनते ही परमज्ञान को प्राप्त हो गया; उसे कुछ करना नहीं पड़ा। करना भी एक भ्रांति है। कुछ करना पड़ेगा--परमात्मा को पाने के लिये--यह भी अहंकार की ही अवधारणा है। परमात्मा मौजूद है; तुम्हें जागना है--कुछ करना नहीं है। कुछ करना है, तो बस, जागना ही करना है--और कुछ भी नहीं करना है।

आँख खोलनी है; सामने खड़ा है परमात्मा। भीतर देखना है, भीतर मौजूद है। वृक्ष को छूना है; वहीं तुम्हारे हाथ में आ जाएगा। पशुओं की आँखों में झांकना है। हवाओं के गुंजन को सुनना है—वृक्षों से निकलते हुए। उसकी ही गूँज तुम्हें सुनाई पड़ जाएगी।

असली सवाल उसे खोजना नहीं है, वह तो है। खो गये हो तुम। परमात्मा नहीं खो गया है।

मछली पूछती है, 'सागर कहाँ है!' सागर में ही पैदा हुई है, सागर में ही लीन होगी। पूछती है, सागर कहाँ है! मछली सो गई है; होश से रिक्त हो गई है।

करने का सवाल नहीं है। अगर तुम सद्गुरु को सुन लो--जो कि सबसे कठिन करना है, क्योंकि उस सुनने में ही तुम्हें अपने मन की सारी धारणाएँ हटा कर रख देनी होंगी; उस सुनने में ही तुम्हें अपने मन के ऊपर छाये सारे विचारों के पत्ते अलग कर देने होंगे, ताकि नीचे की जल-धार प्रकट हो जाय।

अगर तुम सद्गुरु को सुन सको, तो सुनना ही ध्यान हो जाएगा। अगर तुम अपने को बीच में डाल कर सद्गुरु, जो तुमसे कहे, उसे विकृत न करो, तो उसकी हर चोट तुम्हें जगाने का कारण हो जाएगी।

अर्जुन जाग गया--कृष्ण को सुनते-सुनते। इसलिए तो भारत में गीता के पाठ का इतना माहात्म्य हो गया। वह माहात्म्य इसलिए नहीं हो गया कि गीता में कुछ ऐसी बातें कही हैं, जो उपनिषदों में नहीं कही हैं; या गीता में कुछ ऐसी बातें कही हैं, जो वेद में नहीं कही हैं। नहीं; गीता में कुछ भी नया नहीं कहा है; वह सभी उपनिषदों का निचोड़ है। लेकिन यह खबर फैल गई--भारत के चित्त में कि अर्जुन सुनते-सुनते ज्ञान को उपलब्ध हो गया। ऐसा दावा किसी उपनिषद् का नहीं है।--कि किसी उपनिषद् को सुनते-सुनते कोई ज्ञान को उपलब्ध हो गया हो।

लेकिन अर्जुन कृष्ण को सुनते-सुनते ज्ञान को उपलब्ध हो गया, यह बात फैल गई--देश की चेतना में और तब से गीता का पाठ शुरू हुआ। लोग पाठ कर रहे हैं--कि शायद पाठ करते-करते ज्ञान को उपलब्ध हो जायँ। हो सकते हैं--अगर पाठ हो। लेकिन

पाठ कहाँ होता है ! अगर तुम्हारा मन हट जाय और सिर्फ गीता ही गूँजती रह जाय, तुम्हारे अर्थ विलीन हो जायँ, सिर्फ गीता की ध्वनि ही तुम्हारे अन्तर्तम में बजने लगे, तो घटना घट जाएगी।

सुनते-सुनते ज्ञान घटा है।

महावीर ने कहा है कि मेरे चार घाट हैं : श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी--इन चारों घाटों से मेरा तीर्थ है। इन चारों से लोग मोक्ष को जा सकते हैं।

अब यह बड़े मजे की बात है कि वे कहते हैं : श्रावक श्राविका भी मेरे घाट हैं ! श्रावक अर्थात् वह पुरुष जो सुनने में समर्थ हो गया है, श्रवण में कुशल हो गया है। श्राविका अर्थात् वह स्त्री जो सुनने में योग्य हो गई, जो हृदय से सुनने लगी, जिसका मन बाधा नहीं देता।

मेरे देखे जो श्रावक हो सकता है, उसे साधु होने की जरूरत ही नहीं; वह तो जो श्रावक नहीं हो सकता, उसकी मजबूरी है कि वह साधु हो। साधु का मतलब है : कुछ करना पड़ेगा; साधना पड़ेगा--साधु का मतलब है। श्रावक का मतलब है : सुनना काफी है; सत्य का वचन सुनना काफी है, करने को कुछ भी नहीं है फिर। सब होना वैसे ही हो जाता है।

कृष्णमूर्ति निरंतर इस पर जोर दे रहे हैं; वे यही कह रहे हैं कि न ध्यान की जरूरत है, न साधना की जरूरत। मैं क्या कह रहा हूँ, इसे सुन लो--राईट लिसनिंग--ठीक ठीक सुन लो--सम्यक् श्रवण। पर वे बहुत ज्यादा आग्रह कर रहे हैं। उनके सुननेवाले भी--जो चालीस-चालीस साल से सुनते हैं--वे भी उनसे पूछते हैं : वह तो हम समझ गये; करें क्या ?

कृष्णमूर्ति खीझने तक लगे हैं। चिड़चिड़ा जाते हैं। चालीस साल काफी होता है; पूरी जिंदगी गँवाई—इन्हीं नासमझों के साथ; समझा-समझा के कि—सिर्फ सुन लो। और वे फिर भी कहते हैं कि करें क्या। कृष्णमूर्ति कहते हैं : कुछ न करो; वे पूछते हैं : 'कैसे करें; यह--कुछ न करो—कैसे करें ? यही तो नहीं हो रहा है !'

कृष्णमूर्ति सिर्फ श्रावक के ही घाट से लोगों का तीर्थ बनाना चाहते हैं। महावीर ज्यादा समझदार हैं; उन्होंने कहा : तीर्थ मैं चार बनाता हूँ : श्रावक, श्राविका के दो, साधु साध्वी के दो। जान कर उन्होंने चार घाट बनाये। क्योंकि कुछ लोग हैं, जो बिना किये मानेंगे नहीं। हालाँकि करने में कोई मतलब नहीं है। जब जागेंगे, तब पाएँगे कि न भी किया होता तो भी हो जाता, लेकिन दौड़-धूप करनी भली थी; उछल-कूद करनी जरूरी थी; वह बिना 'किये' उनसे नहीं हो सकता था।

वह ऐसा है कि तुम्हारे सारे संसार का अनुभव 'करने' का अनुभव है। तुमने सब 'किया' है। जब भी किया है, तभी कुछ पाया है। जब नहीं किया है, तब खोया है। कर-





कर के भी खो देते हो, तो बिना किये तो पाने का सवाल ही नहीं है।

संसार का पूरा सार अनुभव यह है कि करके मिल जाय, तो भी बहुत है। न करके तो कैसे मिलेगा ! इसी अनुभव को लेकर तुम मुझे भी सुनने आये हो; कृष्णमूर्ति को सुनने जाओगे; महावीर को सुनोगे; कृष्ण को सुनोगे, तब गड़बड़ होगी।

अर्जुन की भावदशा बड़ी अलग थी। अर्जुन ने कर के देख लिया और करने की आखिरी घड़ी आ गई—इस कुरुक्षेत्र के मैदान में--युद्ध आ गया। करने का आखिरी परिणाम यह महाहिंसा आ गई। सब करके देख लिया, अब यह महामृत्यु हाथ में आ रही है। यह बड़ी प्रतीकात्मक बात है।

तुम कर-कर के एक दिन पाओगे : मृत्यु हाथ में आती है, कुछ हाथ में नहीं आता। न करने से मिलता है जीवन; करने से मिलती है मृत्यु। न करने से मिलती है शांति, करने से मिलता है युद्ध।

यह अर्जुन कर-कर के युद्ध की घड़ी में आ गया। सारा परिवार युद्ध में फँस गया। मित्र, प्रियजन--सब खड़े हैं। मौत सब की गरदन पर बँधी है। ये अर्जुन यह देखकर निष्पत्ति--अपने सारे उपायों की अब तक--भयभीत हो गया। उसने कृष्ण को कहा कि 'मेरे हाथ ढीले हुए जाते हैं, गांडीव शिथिल हो गया है। मैं लड़ न सकूँगा। इसका सार क्या है ? इनको मार कर मैंने अगर राज्य भी पा लिया, तो क्या पा लूंगा ? जीवन भर रोऊँगा, पीड़ित होऊँगा। इतनों को मिटा कर सिंहासन पाया, तो वह सिंहासन ऐसा रक्त-रंजित हो जाएगा, उससे ऐसी दुर्गंध आएगी, कि मैं उस पर बैठ भी न सकूँगा। वह सोने का सिंहासन मरघट मालूम पड़ेगा। नहीं; मुझे इससे बचाओ। यह कर कर के मैं यहाँ आ गया और अब यह करने की आखिरी निष्पत्ति है कि ये गरदनें, ये जीते हुए लोग . . .। यह सब मेरे प्रियजन हैं--उस तरफ, इस तरफ।

यह गृह-युद्ध था; इसमें सब बँट गये थे। एक भाई इस तरफ था, दूसरा भाई उस तरफ था। गुरु उस तरफ खड़े थे--जिनके चरणों में बैठकर अर्जुन ने सब सीखा; उन्हीं की गरदन को काटना पड़ेगा ! उन्हीं से सीखा सब--यह धनुर्विद्या उन्हीं का दान है। और आज उन्ही की छाती वेधनी पड़ेगी ! या जिस शिष्य को उन्होंने बड़ा किया और जिस शिष्य को इतना चाहा, इतना चाहा कि जिस पर सब उंडेल दिया, उसी शिष्य को आज इस बुढ़ापे में गुरु को मारना पड़ेगा; कि अपने बेटे की तरह जिसे बड़ा किया--सब दिया, आज उसकी गरदन अपने हाथ से काटनी पड़ेगी ? यह सब बड़ी बेहूदी बात हो गई है।

भीष्म उस तरफ खड़े हैं। जिनके प्रति अर्जुन के मन में बड़ी अगाध, प्रगाढ़ श्रद्धा है, जो उस कुल का गौरव है। इस भीष्म पितामह को, इस बूढ़े को मारना पड़ेगा ? नहीं; यह बात जँचती नहीं। यह तो करने की बड़ी दुर्गति हो गई। यह कृत्य तो महा विभीषक

हो गया। यह करने की निष्पत्ति है। इसे थोड़ा समझो।

करने के पीछे सदा अहंकार है। अहंकार सदा युद्ध में ले आता है। अहंकार यानी कलह; अहंकार संघर्ष है। और सभी अहंकार अंततः कुरुक्षेत्र में पहुँच जाते हैं। इसलिए अर्जुन के मन में बड़ी विबूचना है, बड़ी विडम्बना है, बड़ी चिंता—ऊहापोह है। उसके हाथ निश्चित कँप गये होंगे। वह श्रेष्ठतम व्यक्ति था वहाँ। किसी और के हाथ न कँपे।

अब यह थोड़ा समझने जैसा है, क्योंकि महाभारत की कथा बड़ी अनूठी है। वहाँ युधिष्ठिर थे, जिन्हें धर्मराज कहा जाता है। उनके कँपने थे हाथ! उनके नहीं कँपे। कोई पूछता नहीं कि यह कैसा अन्याय हो रहा है! युधिष्ठिर धर्मराज थे—उनके हाथ कँपने थे, उनका धनुष गिरना था, उनके गात शिथिल हो जाते। वे कृष्ण के पैर पकड़ लेते और कहते कि मैं छोड़ता हूँ; संन्यास लेता हूँ। लेकिन नहीं; यह नहीं हुआ। कारण है।

महाभारत सूचक है। वह यह कह रहा है कि युधिष्ठिर धर्मराज थे—एक महा-पण्डित की तरह। धर्म उनके जीवन की जिज्ञासा न थी, ऊपर का आचरण था। शास्त्र अनुकूल चलने की परंपरा थी, इसलिए चले थे। लेकिन कोई जीवन की क्रांति न थी। धर्मराज थे, फिर भी जुआँ खेल सकते थे, पत्नी को दाँव पर लगा सकते थे। पण्डित थे, ज्ञानी नहीं थे। धर्म क्या कहता है—यह सब जानते थे, लेकिन यह धर्म की उद्भावना अपने ही प्राणों से न हुई थी। सज्जन थे, धार्मिक न थे। इसलिये उनको कोई अड़चन न हुई।

पण्डित लड़ सकता है। उसको कोई अड़चन नहीं है। पण्डित कभी धर्म को जीवन का हिस्सा नहीं मानता, बुद्धि का हिस्सा मानता है।

अगर किसी को शास्त्र के सम्बन्ध में कोई अड़चन होती, तो युधिष्ठिर हल कर देते। लेकिन जीवन की अड़चन तो वे खुद ही हल नहीं कर सकते थे। वह प्रश्न ही उन्हें न उठा।

प्रश्न उठा अर्जुन को, जिसको धार्मिक कहने का कोई भी कारण नहीं है। न तो वह कोई धर्म-ज्ञाता था, न कोई धर्मराज था; जीवन भर युद्ध ही किया था; एक शुद्ध क्षत्रिय था; अहंकारी था; अहंकार को प्रखर त्वरा में जाना था; वही उसकी जीवन-सिद्धि थी। इसको कठिनाई आ गई।

अहंकार को जिसने जीया है, एक न एक दिन कठिनाई उसे आ जाएगी। एक दिन वह पाएगा कि अहंकार तो बड़ी दुर्गति में ले आया।

तो इसके हाथ शिथिल हो गये हैं। यह कहता है, अब मैं यह करना छोड़ कर भाग जाना चाहता हूँ। इसका करना असफल हो गया है। इसलिए न करने की बात इसको समझ में आ सकी। यह कर-कर के देख लिया, फल कुछ पाया नहीं, फल यह है कि युद्ध





हो रहा है।

बोए थे बीज—आशा में कि मधुर फल लगेंगे। हिंसा लगी, जहरीले फल आ गये। अगर ये ही फल हैं कृत्यों के, तो अर्जुन कहता है: छोड़ता हूँ सब; मैं संन्यस्थ हो जाता हूँ। मैं जाता हूँ, मैं भाग जाता हूँ। इसी से उसकी गूढ़ जिज्ञासा उठी।

इसलिए मैं निरंतर कहता हूँ: जिनके अहंकार परिपक्व नहीं हैं, वे समर्पण नहीं कर सकते। अहंकार चाहिए पहले—पका हुआ, तभी समर्पण हो सकता है। कच्चा, अनपका, अधूरा अहंकार है—कैसे समर्पण करोगे! कर भी दोगे, तो हो न पाएगा; अधूरा रहेगा। अनुभव ही न हुआ था।

यह अर्जुन पक गया था। क्षत्रिय यानी अहंकार। और फिर क्षत्रियों में—अर्जुन—अहंकार का गौरीशंकर। वह कहता है: मुझे जाने दो।

कृष्ण ने इसलिए उसे जो संदेश दिया, वह बड़ा अनूठा है। वह कह रहा है कि मुझे जाने दो, मैं छोड़ दूँ सब। लेकिन कृष्ण जानते हैं: वह इतना गहरा क्षत्रिय है अर्जुन कि यह छोड़ना भी कृत्य ही है, यह भी कर्म है, त्याग भी कर्म है। वह कहता है: मैं छोड़ दूँ। 'मैं' अभी भी बचा है। लड़ूंगा तो मैं, छोड़ूंगा तो मैं। युद्ध बेकार हुआ, इसलिए मैं त्याग करता हूँ। लेकिन मैं त्याग के भीतर भी बचेगा। कृष्ण जानते हैं—यह जंगल भागकर संन्यासी हो जाएगा, तो भी अहंकार से बैठा रहेगा—अड़ा हुआ। यह संन्यासी हो नहीं सकता। यह इतना आसान नहीं है।

संन्यास बड़ी गूढ़ घटना है; आसान नहीं है, बड़ी नाजुक है; तलवार की धार पर चलना है। इतना सरल होता कि भाग गये—संन्यासी हो गये—तब तो संन्यास में और संसार में बस जरा-सी दौड़ का ही नाता है: कि छोड़ दी दुकान, भाग गये; मंदिर में बैठ गये, संन्यासी हो गये। तो यह तो ऐसा हुआ कि संसार बाहर है, भीतर नहीं है।

संसार भीतर है। इसलिए कृष्ण ने कहा कि ऐसे छोड़ने से कुछ न होगा; असली छोड़ना तो वह है कि तू कर भी और जान कि नहीं कर रहा है। ऐसे कर कि कर्ता का भाव पैदा न हो, वही संन्यास है। तू परमात्मा को करने दे, तू बीच मे हट जा। अगर तू सच में ही समझ गया है कि करने का फल दुःखद है, कर्ता का भाव पीड़ा लाता है, हिंसा लाता है—अगर तू ठीक से समझ गया है, तो अब यह संन्यास की बात मत उठा। क्योंकि तब संन्यास भी तेरे लिये 'करना' ही होगा; तब तू संन्यासी हो जा, 'कर' मत। यही फर्क है। कोशिश मत कर; हो जा। चेष्टा मत कर बस, हो जा।

अर्जुन यही पूछता है कि कैसे होगा—यह कैसे होगा! संदेह उठाता है। और कृष्ण समझाए चले जाते हैं। इस समझाने में ही अर्जुन की पर्त-पर्त टूटती चली जाती है। एक-एक पाया कृष्ण खींचते जाते हैं। आखिरी घड़ी आती है, जहाँ अर्जुन कहता है: मेरे सारे संदेह गिर गये; मैं निःसंशय हुआ हूँ। तुमने मुझे जगा दिया। फिर वह युद्ध

करता है; फिर वह भागता नहीं, फिर भागना कहाँ; फिर भागना किससे! फिर वह परमात्मा के चरणों में अपने को छोड़ देता है, वह निमित्त हो जाता है। वह कहता है: अब तुम जो करवाओ। लड़वाओ--लड़ूँगा। भगाओ--भागूँगा। अपनी तरफ से कुछ न करूँगा। अपने को हटा लेता है।

यह जो अकर्ता भाव से किया हुआ कर्म है, यही मुक्ति है। ऐसे कर्म की रेखा किसी पर छूटती नहीं, कोई बंधन नहीं बनता। करते हुए मुक्त हो जाता है व्यक्ति। गुजरो नदी से और पैर पानी को नहीं छूते। बाजार में खड़े रहो और बाजार का धुआँ तुम्हें स्पर्श भी नहीं करता।

अब सूत्र:

'और हे अर्जुन, जो पुरुष अकल्याणकारक कर्म से तो द्वेष नहीं करता है और कल्याणकारक कर्म से आसक्त नहीं होता है, वह शुद्ध सत्त्व गुण से युक्त हुआ पुरुष संशयरहित मेधावी अर्थात् ज्ञानवान् और त्यागी है।'

'जो अकल्याणकारक कर्म से द्वेष नहीं करता और कल्याणकारक कर्म की कामना नहीं करता है।' क्योंकि जब तक तुम कहोगे: यह न हो, और यह हो; ऐसा हो और ऐसा न हो; रात न हो—दिन हो; दुःख न हो—सुख हो; मृत्यु न हो--जीवन हो; जब तक तुम चुनोगे, तब तक अहंकार बना रहेगा। चुनाव अहंकार है। चुनावरहित हो जाना, चोइसलेस हो जाना, निरअहंकारिता है।

तो कृष्ण कहते है: तू इसकी फिक्र ही मत कर कि क्या कल्याणकारक है; छोड़ उसी पर। वही जानता होगा। जो पूरे को जानता है, वही जानता होगा। तू छोड़ दे उसी पर। और न तू कल्याण की कामना कर--कि जो ठीक है, वह मैं करूँ। तू बिलकुल छोड़ दे। तू बीच से हट जा। तू अपने हाथ उसके हाथ बन जाने दे। अपनी आँखें उसकी आँखें बन जाने दे। तेरे हृदय में तू मत धड़क, उसे धड़कने दे। और यह महाभाव घटता है। ऐसा महाभाव जब घटता है, तभी हम कहते हैं: कोई व्यक्ति भगवत्ता को उपलब्ध हो गया। तब वह कोई चुनाव नहीं करता; तब उसका होना सरल है। जैसे नदी बहती है, सागर की तरफ, ऐसा ही वह भी बहता है। उसके होने में फिर कोई कृत्य नहीं रह जाता। कर्म तो बहुत होते हैं, कर्ता नहीं रह जाता; करने का भाव नहीं रह जाता।

'जो कल्याणकारक कर्म में आसक्त नहीं, अकल्याणकारक कर्म से द्वेष नहीं करता, वही संशयरहित होकर मेधा को, त्याग को उपलब्ध होता है।

त्याग--कर्ता का त्याग है; त्याग--अहंकार का त्याग है। तुमने अगर त्याग भी किया और अहंकार बच गया तो त्याग झूठा हो गया, व्यर्थ हो गया। इस ढंग से करना त्याग--कि अहंकार न बच पाए।

बस, यही कला है; सारे धर्म की कला इतनी है: इस भाँति छोड़ना कि छोड़ने





वाला निर्मित न हो जाय। छोड़ना जरूर--छोड़ने वाले को मत बनने देना। यह कैसे करोगे? इसका एक ही उपाय है कि तुम अपने को परमात्मा के हाथ में छोड़ दो। वह बुरा कराए तो बुरा, वह भला कराए तो भला। वह नाटक में तुम्हें रावण बना दे, तो रावण; वह राम बना दे तो राम। तुम यह मत कहना कि रावण का पाठ न करेंगे। तुम तो कहना कि तुम डायरेक्टर हो, तुम जो पाठ दे दोगे, हम वही करेंगे। हमारा कुल काम इतना है कि हमें तुम जो दे दोगे, उसे हम पूरी तरह करेंगे। वह रावण बना दे, तो रावण; वह राम बना दे, तो राम। वह राजा बना दे, तो राजा; वह रंक बना दे, दे, तो रंक। जो उसकी मरजी।

उसकी मरजी से भिन्न जरा भी न सोचने का नाम संन्यास है।

'क्योंकि देहधारी पुरुष के द्वारा सम्पूर्णता से सब कर्म त्यागे जाने को शक्य भी नहीं हैं। इससे जो पुरुष कर्मों के फल का त्यागी है, वह ही त्यागी है--ऐसा कहा जाता है।'

तुम सारे कर्म तो छोड़ ही नहीं सकते। 'छोड़ना' भी कर्म है; आँख बंद करोगे, वह भी कर्म है। भोजन करोगे, वह भी कर्म है। श्वास लोगे, वह भी कर्म है। जंगल जाओगे, वह भी कर्म है। सोओगे, सुबह उठोगे, भूख लगेगी, भिक्षा माँगोगे--वह भी कर्म है।

कर्म से भागोगे कैसे? राजा का कर्म अलग है, भिखारी का कर्म अलग है। लेकिन दोनों के कर्म हैं। अलग कितने ही हों, उनका कर्म होना तो समान ही है।

तो कृष्ण कहते हैं, यह शक्य भी नहीं है कि कोई सारे कर्मों को छोड़ दे। फिर शक्य क्या है? शक्य इतना ही है कि फलाकांक्षा छोड़ दे; आकांक्षा न रखे। जब तुमने सारे कर्म उस पर छोड़ दिये, तो फल की आकांक्षा अपने आप छूट जाती है। इस कीमिया को ठीक से समझ लेना।

जब तक तुमने अपने हाथ में कर्मों का चुनाव रखा है, तब तक फल की आकांक्षा नहीं छूटेगी। जब तक तुम सफल होना चाहोगे, तब तक असफल न हो जाओ, यह भय पकड़ेगा। लेकिन जब तुमने सभी उस पर छोड़ दिया, तो वही असफल होता है, वही सफल होता है। उसको असफल होने का मजा लेना हो--ले; उसको सफल होने का मजा लेना हो--ले। तुम सिर्फ निमित्त हो जाते हो।

निमित्त शब्द बड़ा प्यारा है। इसे तुम कुंजी की तरह याद रखो--निमित्त। जैसे खूँटी है; तुम आये, कोट टाँग दिया, तो खूँटी यह नहीं कहती कि कोट न टँगने देंगे। तुम आये, कमीज टाँग दी, तो खूँटी यह नहीं कहती कि कमीज न टँगने देंगे। कल कोट टाँगा था, आज भी कोट टाँगो। तुमने कोट टाँगा, आज रुपये हैं कल रुपये नहीं हैं। खूँटी यह नहीं कहती कि देखो, बिना रुपये के कोट मत टाँगो, इससे मन में बड़ा विषाद होता है। और इससे चित्त में बड़ी ग्लानि और पराजय का भाव पैदा होता है। और

एक दिन तुम खूँटी पर कुछ भी नहीं टाँगते, तो खूँटी यह नहीं कहती कि बिलकुल नंगा, भिखमंगा छोड़ दिया; कुछ तो टाँगो।

खूँटी निमित्त मात्र है; जो भी टाँगो, टँग जाता है। ऐसे तुम खूँटी की तरह हो जाओ। परमात्मा जो टाँगे, टँग जाने दो, तब फिर कल की कोई आकांक्षा नहीं है। किसी दिन न भी टाँगे, तो भी मौज है।

'तथा सकामी पुरुषों के कर्म का ही अच्छा, बुरा और मिश्रित—ऐसे तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात भी होता है।' और वह जो व्यक्ति आकांक्षा नहीं छोड़ता फल की, वह जो भी करता है, इतनी कामना से भर कर करता है, इतने द्वेष और लोभ से भरकर करता है कि लोभ और द्वेष की लकीरें उसके चित्त पर छूटती हैं, गहरी होती हैं, बनती हैं, सघन होती हैं। और इस जीवन के बाद भी उसके साथ जाती हैं।

जो व्यक्ति कामना से भरकर कर्म करता है, अहंकार से भर कर कृत्य करता है, कर्ता को बचाता है, उसके ऊपर लकीरें ऐसे खिच जाती हैं कर्म की, जैसे किसी ने पत्थर पर खीच दी हों। वह फिर उसका जीवन उन लकीरों से घिरा हुआ चलता है। इसको ही हमने कर्म का सिद्धांत कहा है।

जो व्यक्ति सब कुछ उस पर छोड़ देता है, सब कुछ अस्तित्व पर छोड़ देता है, उस पर भी लकीरें खिचती हैं, लेकिन वे ऐसे खिचती हैं, जैसे पानी पर खिंची लकीरें—खिच भी नहीं पातीं कि मिट जाती हैं। करता बहुत है वह, लेकिन कुछ पीछे लकीर नहीं छूटती। वह निर्मल विदा होता है।

कबीर ने कहा है, 'ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं चदरिया, खूब जतन से ओढ़ी कबीरा।' बड़ी जतन से, बड़े होशपूर्वक ओढ़ी कि कोई दाग न लग जाय। और जैसी की तैसी उसे वापस लौटा दी। ऐसा व्यक्ति फल की आकांक्षा छोड़ देता है, कर्ता का भाव छोड़ देता है, बस, यही जतन है।

और मैं तो तुम से कहता हूँ कि फिर तो जतन की भी जरूरत नहीं है; फिर तो दिल खोल कर ओढ़ो। और जैसी भी तुम लौटाओगे, वह चादर निर्मल ही होगी। तो मैं फिर से दोहरा दूं, शायद तुम्हें समझ में न आए। क्योंकि खूब जतन से ओढ़ने में भी थोड़ी साधना आ जाती है। जतन क्या? अगर तुम सब उस पर छोड़ दो, तो जतन की भी जरूरत नहीं; फिर दिल खोल कर ओढ़ो। और जितनी करवटें लेनी हों चदरिया में—लो। जब तुम लौटाओगे—चदरिया निर्मल ही होगी। क्योंकि चदरिया कृत्यों से मैली नहीं होती, कर्ता से मैली होती है। इसलिए जतन एक ही रखना कि कर्ता न बने। फिर चदरिया दिल खोल कर ओढ़ो, संसार में जियो, जैसे जीना हो।

संसार एक बड़ा अभिनय का मंच है। उसको तुम सच मत समझो, सपना समझो। एक अभिनय है—पूरा करो। बस, अभिनेता की तरह दूर-दूर रहो, पार-पार रहो,





अतिक्रमण करते रहो। करते हुए भी तुम्हारे भीतर कोई अकर्ता बना रहे। चलते हुए भी तुम्हारे भीतर कोई चले न। भोजन करते हुए भी तुम्हारे भीतर कोई उपवासा रहे। भोग करते हुए भी तुम्हारे भीतर कोई संन्यस्थ रहे। इसलिये कृष्ण ने जगत् को जो संन्यास दिया है, वह सबसे ज्यादा बारीक और महीन है।

'ऐसे पुरुष को किसी भी काल में कर्मों का कोई भी बंधन नहीं होता।' फिर परमात्मा ही बँधे और वही मुक्त हो। तुम तो हट ही गये।

इससे ज्यादा सरल कोई साधना नहीं है। इससे ज्यादा कठिन भी कोई साधना नहीं है। सरल इसलिए है कि इसमें कुछ भी करना नहीं है, सिर्फ करने का भाव छोड़ देना है। कठिन इसलिए—कि इसमें कुछ भी करने को नहीं है; तुम्हारा मन बड़ी मुश्किल पाएगा। कुछ करने को होता तो कर लेते। अब इसमें कुछ करने का ही नहीं है, तो तुम अपने को एकदम अधर में पाओगे; शून्य में लटके पाओगे। लेकिन अगर सुनो—गौर से सुनो, तो सुनने से ही सत्य उपलब्ध हो जाता है।

मैं तुमसे कहता हूँ कि अगर तुम मुझे सुन रहे हो—ठीक से सुन रहे हो, सम्यक्‌रूपेण सुन रहे हो, तो तुम्हें कुछ भी करने की जरूरत न रह जाएगी। अगर करने की जरूरत रह जाए तो समझना कि ठीक से सुना नहीं, सुनना चूक गया। फिर से गौर से सुनना। इसलिए मैं रोज बोले चला जाता हूँ। कभी तो सुनोगे!

## साधना में सावधानी • निमित्त और कर्ता • भोग और योग
## महासूत्र साक्षी

**पाँचवाँ प्रवचन**

प्रातःकाल, दिनांक २५ जुलाई, १९७५, श्री रजनीश आश्रम पूना

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध में।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

शरीरवाक्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

तत्रैव सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥



और हे महाबाहो, सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिए ये पाँच हेतु सांख्य सिद्धान्त में कहे गए हैं, उनको तू मेरे से भली प्रकार जान।

इस विषय में आधार और कर्ता तथा न्यारे-न्यारे करण और नाना प्रकार की न्यारी-न्यारी चेष्टा एवं वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव कहा गया है।

क्योंकि मनुष्य मन, वाणी और शरीर से शास्त्र के अनुसार अथवा विपरीत भी जो कुछ कर्म आरम्भ करता है, उसके यह पाँचों ही कारण हैं।

परन्तु ऐसा होने पर ही जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि होने के कारण उस विषय में केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा को कर्ता देखता है, वह दुर्मति यथार्थ नहीं देखता है।

और हे अर्जुन, जिस पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोगों को मारकर भी वास्तव में न तो मारता है और न पाप से बंधता है।

**पहले कुछ प्रश्न।**

● पहला प्रश्न : आप को वर्षों से रोज-रोज सुनते रहने से निर्विचार बढ़ा है, मौन गहन हुआ है, प्रेम अंकुरित हुआ है, अहोभाव की भी कुछ बूँदा-बाँदी होती है। परंतु अनेक अवसरों पर लगता है कि बुद्धि और अहंकार की धार भी तेज और सूक्ष्म होती गयी है। उपरोक्त दोनों बातों के साथ-साथ घटने से आश्चर्य भी होता है और चिंता भी। इस स्थिति पर प्रकाश डालें। क्या साधक को ऐसा हो सकता है?

जीवन के प्रत्येक आयाम में विपरीत साथ-साथ ही बढ़ते हैं। जन्म के साथ चलती है मृत्यु। हर जन्म दिन, मृत्यु का भी नया चरण है। श्रम के साथ-साथ चलती है थकान--विश्राम की आकांक्षा। प्रेम के साथ-साथ छाया की तरह लगी रहती है घृणा।

विपरीत जुड़े हैं। जितना ऊँचा होगा पर्वत शिखर, उतनी ही गहरी होगी खाई। पर्वत शिखर और ऊँचा होने लगेगा, खाई और गहरी होने लगेगी। पर्वत शिखर की ऊँचाई और खाई की गहराई, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

जितने-जितने तुम समझदार होने लगोगे, उतनी-उतनी तुम्हें अपने भीतर ना-समझी दिखाई पड़ने लगेगी। ज्ञान के साथ-साथ अज्ञान का बोध होता है।

जैसे-जैसे तुम शांत होओगे, वैसे-वैसे तुम्हारे अशांत होने की क्षमता में भी बढ़ती होगी। क्योंकि जितने तुम शांत होओगे, उतने संवेदनशील हो जाओगे, उतने सेन्सिटिव हो जाओगे। उस संवेदना में छोटी-सी घटना भी बड़ा गहरा तहलका मचा देगी।

जितने तुम स्वस्थ होओगे, उतनी तुम्हारी बीमार होने की क्षमता भी बढ़ेगी। मरा हुआ आदमी तो बीमार नहीं हो सकता। जीवित आदमी बीमार होता है। और तुमने एक अनूठी घटना देखी होगी कि अकसर ऐसा होता है कि बहुत स्वस्थ आदमी एक ही बीमारी में मर जाता है। अस्वस्थ आदमी कई तरह की बीमारियां आती रहें, तो भी सह जाता है। जो कभी बीमार नहीं पड़ा, वह पहली ही बीमारी में विदा हो जाता

है। जो सदा खाट से बँधा रहा, उन्हें कोई बीमारी ले जाती नहीं।

जितना स्वस्थ आदमी हो, उतने ही उसके अस्वस्थ होने की क्षमता भी होगी। जितने ऊँचे चढ़ोगे, उतने गिरने का डर भी लगेगा। चढ़ोगे ही नहीं ऊँचे, तो गिरने के भय का कोई सवाल नहीं है।

योग-भ्रष्ट शब्द है हमारे पास; तुमने कभी 'भोग-भ्रष्ट' सुना? भोग में भ्रष्ट होने का उपाय ही नही। सिर्फ योगी भ्रष्ट हो सकता है।

जो ऊँचा जाता है, वह गिर सकता है। जो जमीन पर ही रेंगता है, वह गिरेगा भी तो गिरेगा कहाँ! इसलिए ये दोनों बातें साथ-साथ चलेंगी। और साधक को रोज-रोज ज्यादा सावधानी की जरूरत पड़ेगी।

तुम ऐसा मत सोचना, कि साधना तुम्हारी आगे बढ़ेगी तो सावधानी की जरूरत न रहेगी। सावधानी की जरूरत बढ़ेगी। सिद्ध तो प्रतिपल सावधान है। लाओत्से कहता है, जिस पुरुष को ताओ उपलब्ध हो गया, वह ऐसे चलता है--सावधान, जैसे प्रतिपल शत्रुओं से घिरा है। वह एक-एक कदम ऐसे रखता है, सोच के, विचार के, जैसे कोई सर्दी के दिनों में बर्फीली नदी में उतरता हो।

सिद्ध की सावधानी, परम, आखिरी हो जाती है। सावधानी के लिए उसे प्रयास नहीं करना पड़ता, लेकिन सावधानी तो गहन होती ही है।

तो तुम जितने ऊँचे उठोगे, उतने ही गिरने का डर है। और खाई बड़ी होने लगेगी। और भी ज्यादा सावधानी की जरूरत होगी।

इसमें कुछ आश्चर्य का कारण नहीं है, यह बिलकुल स्वाभाविक है। प्रेम अंकुरित होगा, तो घृणा भी साथ-साथ खड़ी है। अब थोड़े सावधान रहना। पहले तो जब प्रेम अंकुरित न हुआ था, तब तो तुम घृणा को ही प्रेम समझ कर जिये थे। अब जब प्रेम अंकुरित हुआ है, तभी तुम्हें पहली दफे बोध भी आया है कि घृणा क्या है। और अब तुम गिरोगे तो बहुत पीड़ा होगी।

अहोभाव की थोड़ी बूँदा-बाँदी होगी, तो शिकायत भी बढ़ने लगेगी। क्योंकि जब परमात्मा से मिलने लगेगा, तो तुम और भी माँगने की आकांक्षा से भर जाओगे। आज मिलेगा--तो अहोभाव। कल नहीं मिलेगा--तो शिकायत शुरू हो जाएगी। अहो-भाव के साथ-साथ शिकायत की खाई भी जुड़ी है। सावधान रहना। अहोभाव को बढ़ने देना और शिकायत से सावधान रहना। शिकायत तो बढ़ेगी, लेकिन तुम उस खाई में गिरना मत।

खाई के होने का मतलब यह नहीं है कि गिरना जरूरी है। शिखर ऊँचा होता जाता है, खाई गहरी होती जाती है, इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम्हें खाई में गिरना ही पड़ेगा। सिर्फ सावधानी बढ़ानी पड़ेगी।





भिखमंगा निश्चित सोता है। सम्राट् नहीं सो सकता। भिखमंगे के पास कुछ चोरी जाने को नहीं है। सम्राट् के पास बहुत कुछ है। सम्राट् को सावधान हो कर सोना पड़ेगा। थोड़ी सावधानी बरतनी पड़ेगी। तो ही बचा पाएगा जो संपदा है अन्यथा वह खो जाएगी।

जैसे-जैसे तुम गहरे उतरोगे, वैसे-वैसे तुम्हारी संपदा बढ़ती है। उसके खोने का डर भी बढ़ता है; खोने की संभावना बढ़ती है। उसके चोरी जाने का, लुट जाने का अवसर आयेगा। जरूरी नहीं है कि उसे लुट जाने दो। तुम उसे बचाना, तुम सावधान रहना।

अड़चन इसलिए आती है कि तुम तो सोचते हो कि एक दफा ध्यान उपलब्ध हो गया, समाधि उपलब्ध हो गयी, तो यह सावधानी, जागरूकता--ये सब झंझटें मिटीं। फिर निश्चित चादर ओढ़ कर सोयेंगे--इस भूल में मत पड़ना।

निश्चित तो हो जाओगे, लेकिन असावधान होने की सुविधा कभी भी नहीं है। सावधान तो रहना ही पड़ेगा। सावधानी को स्वभाव बना लेना है। वह इतनी तुम्हारी जीवन-दशा हो जाय कि तुम्हें करना भी न पड़े, वह होती रहे।

सावधान होना तुम्हारा स्वभाव--सहज-प्रक्रिया हो जाय। नहीं तो यह अड़चन आयेगी। मुझे सुनोगे, समझ बढ़ेगी, समझ के साथ-साथ अहंकार भी बढ़ेगा कि हम समझने लगे। उससे बचना। उस फंदे में मत पड़ना। पड़े--समझ कम हो जाएगी।

बड़ा सूक्ष्म खेल है, बारीक जगत् है, नाजुक यात्रा है। स्वभावतः जब समझ आती है, तो मन कहता है: समझ गये। तुमने कहा, 'समझ गये'--कि गयी समझ, गिरे खाई में। क्योंकि 'समझ गये'--यह तो अहंकार हो गया। अहंकार नासमझी का हिस्सा है। जान लिया; अकड़ आ गई; अकड़ तो अज्ञान का हिस्सा है। अगर अकड़ आ गयी, तो 'जानना' उसी वक्त खो गया। बस, तुम्हें खयाल रह गया --जानने का। जानना खो गया।

ज्ञान तो निरहंकार है। जहाँ अहंकार है, वहाँ ज्ञान खो जाता है। इसलिए प्रतिपल होश रखना पड़ेगा। जैसे कोई दो खाइयों के बीच खिंची हुई रस्सी पर चलता है कोई नट, ऐसे ही चलना है। प्रतिपल सम्हालना है। कदम-कदम सम्हालना है। एक दिन ऐसी घड़ी आयेगी कि सम्हालना स्वभाव हो जाएगा। सम्हालना न पड़ेगा और सम्हले रहोगे। लेकिन अभी वह घड़ी नहीं है।

न तो आश्चर्य करने की जरूरत है, क्योंकि यह स्वाभाविक है: विपरीत साथ-साथ बढ़ते हैं। और न चिंता में पड़ने की जरूरत है, क्योंकि यह स्वभाविक है: विपरीत साथ-साथ चलते हैं। इस सत्य को समझकर, शिखर को तो बढ़ने दो, अपने पैरों को सम्हालते जाओ; खाई में मत गिरो।

खाई का निमंत्रण भी बड़ा महत्त्वपूर्ण होता जाएगा। खाई का बुलावा भी बड़ा

आकर्षक होने लगेगा। खाई, खाई जैसी न लगेगी; स्वर्ग मालूम होने लगेगी। जितने ऊँचे जाओगे, उतनी ही खाई पुकारेगी कि आ जाओ, यहाँ विश्राम है। उससे सावधान रहना। अगर गिर भी पड़ो, तो जितनी जल्दी हो सके, उठ आना और अपनी यात्रा पर निकल जाना।

गिरना भी होगा। जैसे छोटा बच्चा चलता है; उठता है, गिरता है; फिर उठता है, फिर गिरता है; फिर धीरे-धीरे गिरना बंद हो जाता है। अब तुम नहीं गिरते। कभी तुम भी छोटे बच्चे थे और गिरते थे।

सिद्ध का अर्थ इतना ही है कि अब वह चलने में कुशल हो गया; अब गिरता नहीं। पर कभी वह भी गिरता था। अभी तुम भी गिर रहे हो; कभी वह घड़ी तुम्हारे जीवन में आ जाएगी, जब न गिरोगे। लेकिन अहंकार को बनने मत देना। चिंता को सघन मत होने देना। सावधानी को सदा ही बरकरार रखना। सावधानी को कभी छोड़ना है, यह बात ही विचार में मत लाना। वह जब छूटने को होगी—छूटेगी। वह तभी छूटेगी, जब स्वभाव बन जाएगी। उसके पहले सावधानी नहीं छूटती।

● दूसरा प्रश्न : आप कहते हैं, जो उसकी मरजी, हम निमित्त मात्र हो जायँ; जो भी जीवन में अभिनय मिला है, उसे हम पूरा करें। परन्तु जो होता है, उसे होने देने से अर्थात् शरीर, मन और अहंकार के साथ बहने से दुःख उपजता है। तो क्या हम शरीर, मन और अहंकार के संबंध में भी निमित्त का सूत्र मानते रहें और दुःख पाते रहें! निमित्त के सूत्र और दुःख के सतत यथार्थ की पहेली को हम कैसे सुलझाएँ?

तब तुम समझे ही नहीं—निमित्त का अर्थ। 'निमित्त मात्र हूँ', इस भाव-दशा की तुम्हें पकड़ न आयी। तुम अपनी होशियारी लगा रहे हो। सोच रहे हो कि निमित्त हमें होना है, तो जहाँ-जहाँ सुख होगा, निमित्त हो जाएँगे; और जहाँ-जहाँ दुःख होगा, वहाँ कर्ता हो जाएँगे। क्योंकि दुःख तुम चाहते नहीं।

निमित्त होने का अर्थ है : दुःख देता है, तो तू देता है; तेरा दुःख हमारा सौभाग्य है। कुछ तो दिया। सुख देता है, तो तू देता है। हमारा कोई चुनाव नहीं। हम दुःख भी भोगेंगे, सुख भी भोगेंगे। तू जो देगा—हमारे भिक्षा-पात्र में, हम अहोभाव से स्वीकार करेंगे।

सुख में तो कोई भी निमित्त होना चाहता है; उसके लिए कोई सिद्ध होने की जरूरत पड़ेगी? सुख में तो सभी मानते हैं कि हम निमित्त हैं। जहाँ मजा ही मजा है, वहाँ कर्ता को लाने का सवाल ही क्या है! कर्ता तो वहाँ आना शुरू होता है, जहाँ दुःख शुरू होता है। क्यों? क्योंकि दुःख को तुम्हें हटाना है। दुःख तुम्हें स्वीकार नहीं है। हटाना है, तो हटानेवाले को लाना पड़ेगा। सुख तो स्वीकार है; उसे हटाना नहीं है तो कर्ता को लाने की कोई जरूरत नहीं है।





जिस दिन तुम सुख और दुःख को एक-सा ही स्वीकार कर लोगे, उसी दिन कर्ता विलीन हो जाएगा।

न तो सुख को चाहो, न तो सुख की आसक्ति करो और न दुःख का द्वेष। न दुःख को छोड़ना चाहो, न सुख को पकड़ना चाहो, तो तुम्हारा कर्ता खो जाएगा। फिर, जो हो। फिर तुम बीच में हो नहीं सोचने को।

प्रश्न से तो लगता है कि तुम बीच में खड़े हो, छाँट रहे हो। पूछते हो, 'क्या फिर हम दुःख भोगते रहें?' तुम हो कौन—अगर निमित्त भाव को समझ गये? यह कौन है, जो कहता है : 'फिर हम दुःख भोगते रहें'?

यह कर्ता है, जो कह रहा है कि दुःख तो हम भोगना नहीं चाहते। असल में तुम निमित्त भाव को भी इसीलिए स्वीकार कर रहे हो कि शायद इससे बहुत सुख मिले। गलती में हो। निमित्त भाव को स्वीकार करने से दुःख भी मिलेंगे, सुख भी मिलेंगे, लेकिन धीरे-धीरे न तो दुःख दुःख रह जाएँगे, न सुख सुख रह जाएँगे। क्योंकि जो दुःख को स्वीकार कर लेता है, उसके लिए दुःख दुःख कैसे रह जाएगा!

दुःख का अनिवार्य लक्षण है—उसके प्रति अस्वीकार का भाव। वह त्याज्य है। मन उसे गले नहीं लगाना चाहता। जिस दिन तुम गले लगा लोगे दुःख को, दुःख का तुमने स्वभाव बदल दिया। वह सुख जैसा हो गया।

सुख का स्वभाव है कि उसे तुम गले लगाना चाहते हो, लेकिन जब तुमने सुख को भी ऐसा ही स्वीकार किया, जैसा दुःख को, कोई विशेष आदर न दिया, तो उसका गुण-धर्म भी बदल गया।

ज्ञानी का सुख न तो सुख होता है, न दुःख दुःख होता है। धीरे-धीरे सुख-दुःख का भेद ही खो जाता है। एक ऐसी घड़ी आती है कि सुख दुःख का रूप मालूम होता है, दुःख सुख का रूप मालूम होता है और तुम दोनों के पार होने लगते हो। वह दोनों के पार जो दशा है, वही साक्षी की है।

कर्ता से मुक्त होओगे, तो साक्षी बनोगे।

कृष्ण का सारा संदेश साक्षी का है। अर्जुन की सारी दुविधा यह है कि वह कर्ता होने से छूट नहीं पाता। वह कहता है, ऐसा हो जाएगा, तो वह ठीक न होगा। वह यह कह रहा है कि मैं अपने निर्णय को कायम रखूँगा; मैं निर्णायक रहूँगा। निमित्त भाव का अर्थ है : परमात्मा निर्णायक है। मैं कौन हूँ? मैं किसलिए बीच में आऊँ?

तो यह तो तुम पूछो ही मत कि क्या हम दुःख पाते रहें? दुःख से बचने की तुमने जन्मों-जन्मों कोशिश की है; दुःख उससे मिटा? अब तक तो मिटा नहीं है, दुःख पाते ही रहे हो। सुख को पाने की भी तुमने जन्मों-जन्मों से कोशिश की है; सुख मिला? अब तक तो मिला नहीं है। सिर्फ आशा में कहीं—इंद्रधनुष की भाँति—दिखाई पड़ता

है। अब बदलो जीवन की व्यवस्था को।

अब तक कर्ता हो कर देख लिया : न तो दुःख मिटा, न सुख मिला। अब अकर्ता हो कर भी देख लो। क्योंकि जो जानते हैं, वे कहते हैं कि अकर्ता हो कर दुःख भी मिट गया, सुख भी मिट गया और फिर जिसका उदय होता है, उसे ही हमने सच्चिदानंद कहा है; उसे ही हमने परम आनंद कहा है।

वह परम आनंद सुख दुःख दोनों के पार है। वह न तो रात जैसा है, न दिन जैसा है। वह तो संध्याकाल है। सूरज जा चुका, रात अभी आई नहीं; रोशनी कायम है—बड़ी धीमी, मधुर, अनाक्रमक—वह संध्याकाल है। सुबह हुई, अभी सूरज आया नहीं—ऐसा संध्याकाल है। उस संध्याकाल में जो ठहर गया, उसी को हम प्रार्थना करना कहते हैं। इसलिए हिन्दू अपनी प्रार्थना को संध्या कहते हैं।

संध्या का अर्थ है : द्वंद्व के बीच में जो ठहर गया; बीच में जिसने संधि खोज ली। सुख-दुःख, प्रेम-घृणा, जीत-हार, रात-दिन, जीवन-मृत्यु—सब दो के बीच जिसने संधि खोज ली, और जो संधि में खड़ा हो गया। उस संधिकाल को खोजो। कृष्ण कहते हैं, सरल है खोज लेना। अगर तुम कर्ता न रह जाओ, तत्क्षण मिल जाएगा। तुम्हारे कर्ता होने से ही तुम चूकते चले जाते हो।

तो यह तो पूछो ही मत, कि दुःख उपजेगा, तो फिर हम क्या करेंगे। तुम तो रहे ही नहीं। जो होगा—होगा। क्या करोगे? तुम मर गये। तुम्हारी लाश पड़ी है। सुबह होगी; लाश क्या करेगी? दिन होगा; लाश क्या करेगी? रात आयेगी; लाश क्या करेगी? घर खाली है, कोई है नहीं। सन्नाटा होगा, तो ठीक। गीत बजेगा, शोरगुल होगा, तो ठीक। घर खाली है; कोई है नहीं।

तुम खाली घर हो रहो। इसको बुद्ध ने शून्य होना कहा है; जिसको कृष्ण निमित्त मात्र होना कहते हैं, उसको ही बुद्ध ने शून्य होना कहा है। अगर ईश्वर पर तुम्हारी श्रद्धा हो, तो निमित्त मात्र हो जाओ; अगर ईश्वर पर श्रद्धा न हो, तो शून्य मात्र हो जाओ। बात दोनों एक ही है।

निमित्त मात्र होने के लिए तो, ईश्वर की धारणा चाहिए। निमित्त मात्र का अर्थ है : 'करने वाला तू है। मैं सिर्फ उपकरण हूँ।' मगर अगर तुम्हारी श्रद्धा ईश्वर पर न हो, तो कुछ घबड़ाने की जरूरत नहीं है। तुम शून्य मात्र हो जाओ। तुम कहो, 'मैं हूँ ही नहीं।' बस, वही घट जाएगा।

जो भक्त को भगवान् के माध्यम से घटता है, वही ध्यानी को शून्य के माध्यम से घटता है। ध्यानी के लिए शून्य भगवान् है : भक्त के लिए भगवान् ही शून्यता है। पर शून्य या निमित्त मात्र, एक ही अर्थ रखते हैं। कुल प्रयोजन इतना है कि मैं बीच में नहीं हूँ।





● तीसरा प्रश्न : आप हमेशा कहते हैं : ध्यान है कुछ न करना, मात्र होना, और समर्पण है द्वार। फिर आप अनेक योग और साधनाएँ करने को भी कहते हैं। मेरी मुसीबत यह है कि कुछ न करने और समर्पण भाव से जीने से तमोगुण बढ़ता नजर आता है और साधनाएँ करने से अहंकार के तीक्ष्ण होने का खतरा आने लगता है। ऐसी दशा में क्या मार्ग है?

न तो समर्पण करते हो, न साधना करते हो। जब मैं समर्पण की बात करता हूँ, तब तुम साधना की बात सोचते हो। और जब मैं साधना की बात करता हूँ, तब तुम समर्पण की बात सोचते हो। बेईमान चित्त की दशा है।

पश्चिम के बहुत बड़े विचारक पैस्कल ने कहा है कि एक सदी में तीन ईमानदार आदमी भी मिल जायँ, तो बहुत है—सौ वर्षों में! क्योंकि बेईमानी जन्मजात है। बेईमानी खून में छिपी है।

मेरे पास रोज यही प्रश्न खड़ा रहता है। अगर मैं किसी को कहता हूँ कि कुछ न करो, तो वह कहता है, 'यह कैसे होगा? कुछ तो करना ही पड़ेगा!' मैं कहता हूँ, 'चलो, कुछ करो।' वह कहता है, 'कुछ करेंगे, तो अहंकार बढ़ जाएगा।' ये बहाने हैं। ये जीवन को जैसा है, वैसा चलाये रखने के बहाने हैं।

कुछ भी चुन लो; दोनों से एक जगह पहुँचना हो जाता है। फिर दूसरे की बात ही मत करो। दोनों रास्ते वहीं पहुँचाते हैं। तुम एक रास्ते पर चार कदम चलते हो, फिर दूसरे रास्ते पर चार कदम चलते हो, फिर पहले रास्ते पर चार कदम चलते हो। तुम वहीं के वहीं बने रहोगे। तुम कभी पहुँचोगे नहीं।

तुम कोई भी एक रास्ता चुन लो, फिर फिक्र छोड़ो। हर रास्ते की सुविधाएँ हैं और हर रास्ते की कठिनाइयाँ हैं।

तुम्हारी बेईमानी इसलिए पैदा होती है कि तुम चाहते हो : हर रास्ते की सुविधा भी तुम्हें मिल जाय, दोनों की सुविधाएँ मिल जायँ। और तुम चाहते हो कि दोनों की असुविधाओं से भी बचना हो जाय। तब तुम्हारे मन में एक दुविधा पैदा होती है। तब तुम त्रिशंकु हो जाते हो।

एक रास्ता चुन लो। अगर समर्पण ठीक लगता है—चुन लो। लेकिन समर्पण तुम वहीं तक चुनते हो, जहाँ तक तुम्हें आलस्य के लिए सुविधा मिले।

मैं चकित होता हूँ, कभी कभी सोच कर कि लोग जिन शब्दों का उपयोग करते हैं, कभी उन पर विचार भी करते हैं या नहीं! समर्पण तुम चुनते हो, सिर्फ इसलिए, ताकि कुछ न करना पड़े। समर्पण नहीं चुनते, 'कुछ न करना' चुनते हो। खाली बैठे रहो।

तुम आलस्य चुनना चाहते हो—समर्पण में बहाना खोजते हो। फिर आलस्य से

तो कोई परमात्मा मिलता नहीं, कोई सत्य मिलता नहीं। तो जल्दी ही तुम्हारे भीतर यह लगने लगता है : 'समर्पण से कुछ नहीं मिल रहा है।' समर्पण तुमने कभी किया नहीं। तुमने आलस्य के लिए समर्पण शब्द का बहाना खोज लिया। फिर आलस्य से तो परमात्मा मिलता नहीं, तो तुम्हारे मन में विचार उठना शुरू होता है कि अब इस से तो मिल नहीं रहा है।

समर्पण किया ही नहीं, मिलने की आकांक्षा रखे बैठे हो। तो फिर सोचते हो : कुछ करें। तो कुछ करना शुरू करते हो। वह करना भी संकल्प नहीं है, वह करना भी साधना नहीं है; वह करना भी इसलिए है, क्योंकि आलस्य से अहंकार को चोट लगती है। क्योंकि आलसी को कोई आदर तो मिलता नहीं—कहीं नहीं मिलता। संसार तो करने वालों का है।

आलसी को आदर नहीं मिलता। आलसी सोचता है : हम समर्पण किये हैं! आदर उसे मिलता नहीं, वह चाहता है दुनिया भर खबर हो जाय कि हमारा समर्पण हो गया; देखो। आलसी चाहता है—सम्मान मिले। सम्मान दुनिया आलस्य को नहीं देती। और समर्पण हो जाय तो सम्मान की इच्छा नहीं होती।

तो धीरे-धीरे बेचैनी पैदा होती कि यह तो जिन्दगी ऐसे ही जा रही है; कुछ पा भी नहीं रहे, कुछ मिल भी नहीं रहा, सिर्फ मक्खियाँ उड़ रही हैं चारों तरफ आलस्य की। तो आदमी करने में लगता है। करता है, तो अहंकार खड़ा होता है। तब तुम्हारे मन में चिंता खड़ी हो जाती है कि अब क्या करें।

कुछ भी चुन लो एक। अगर तुम समर्पण चुनते हो, तो आलस्य से बचना वहाँ जरूरी है।

अब यह बड़े मजे की बात है : आलसी समर्पण चुनते हैं और समर्पण के मार्ग पर आलस्य से बचना अनिवार्य है। क्योंकि वही खाई है वहाँ, वही खतरा है। अगर तुम संकल्प चुनते हो, तो अहंकार से बचना वहाँ जरूरी है, क्योंकि वही वहाँ खतरा है।

समर्पण में अहंकार का खतरा नहीं है और संकल्प में आलस्य का खतरा नहीं है। खतरे को देख लो। इसलिए अगर समर्पण करना है, तो समर्पण को अकर्मण्यता मत बना लेना। कर्म तो करना, कर्ता भाव परमात्मा पर छोड़ देना।

लेकिन तुम कर्ता भाव तो छोड़ते नहीं हो, कर्म छोड़ते हो परमात्मा पर। कर्ता भाव बचाते हो और चाहते हो कि दुनिया तुम्हें सम्मान दे ऐसा, जैसे कि तुम बड़े साधक हो, बड़े कर्ता हो, बड़ी साधना की है, बड़े सिद्ध पुरुष हो! वह नहीं होगा।

चीजें बिलकुल साफ हैं, और अगर धुंधला-धुंधला तुम्हें लगता है, तो तुम धुंधलापन पैदा कर रहे हो। तुम चीजों को साफ नहीं देखना चाहते।

कल ही एक युवक मेरे पास आया। वह कहता है कि 'सब आपको समर्पण। जो





आप कहेंगे, वह मैं करूँगा।' मैंने उससे पूछा, 'तू करता क्या है अभी?' उसने कहा कि 'मैं फार्मेसी में पढ़ता हूँ। मगर फेल हो गया हूँ।' तो मैंने उसको कहा कि 'तू जा फार्मेसी की पढ़ाई पूरी कर ले।' वह कहता है, 'वह तो मुझसे हो ही नहीं सकता।' अभी एक क्षण पहले मुझसे कहता है : 'जो आप कहेंगे, वह मैं करूँगा। फार्मेसी—? वह तो मुझसे हो ही नहीं सकता। वह तो मैं कभी जीवन में उत्तीर्ण हो ही नहीं सकता।' आप जो भी कहेंगे, वह मैं करूँगा—यह भी वह कहे चला जा रहा है।

हम अपने चित्त की दशा को भी देख नहीं पाते। अब फार्मेसी पूरी नहीं होती, परमात्मा को पूरा करने का इरादा हो रहा है! वह फार्मेसी से भाग कर परमात्मा में शरण ले रहा है। और जिसकी इतनी भी हिम्मत नहीं है कि एक छोटे से काम को पूरा कर ले, वह और क्या पूरा कर पाएगा?

तो मैंने उसे कहा, 'पहले फार्मेसी पूरी कर, फिर त्याग देना।'

सफल आदमी त्याग कर सकता है; असफल आदमी त्याग नहीं कर सकता। कभी किसी चीज को असफल हो कर मत त्यागना, नहीं तो वह तुम्हारे जीवन की शैली हो जाएगी। फिर तुम कभी सफल न हो पाओगे।

जो भी छोड़ना हो, सफल हो कर छोड़ना। अगर संसार छोड़ना हो, तो सफल हो कर छोड़ना। पद छोड़ना हो, सफल हो कर छोड़ना। धन छोड़ना हो, तो पा कर छोड़ना।

धन में तो कोई मूल्य नहीं है, लेकिन 'तुम पा सकते हो' वह जो भाव की बुनियाद बनती है, उसका मूल्य है। वह काम आयेगी; तुम जहाँ भी जाओगे, जिस दिशा में भी जाओगे, वहाँ काम आयेगी।

अपना मार्ग साफ कर लेना चाहिए। अगर तुम अहंकारी हो, तो समर्पण तुम्हारे लिए मार्ग है। अगर तुम आलसी हो, तो संकल्प तुम्हारे लिए मार्ग है।

तुम कहोगे, यह तो मैं उलटी बात बता रहा हूँ! आलसी को तो बताना चाहिए : समर्पण। और अहंकारी को बताना चाहिए : संकल्प। नहीं। तब तो तुम अपनी बीमारी को औषधि समझ रहे हो।

अपने को ठीक से समझ लो। और तुम्हारी जो बीमारी हो, उसको समझ लो।

संकल्प के मार्ग पर अहंकार बढ़ता है। अगर अहंकार तुम्हारी बीमारी है, तो उस मार्ग पर तुम मत जाओ अन्यथा वह भयंकर हो जाएगा। समर्पण के मार्ग पर आलस्य के बढ़ने की संभावना है; अगर आलस्य तुम्हारी बीमारी है, तो कृपा करके उस तरफ मत जाओ।

आलस्य वाला संकल्प की तरफ जाय, तो संकल्प आलस्य को काटता है। अहंकारी समर्पण की तरफ जाय, तो समर्पण अहंकार को काटता है।

गणित बिलकुल सीधा-साफ है। कहीं भी कोई धुंधलका, अँधेरा, उलझन नहीं है। लेकिन तुम बीमारी को औषधि समझ लो, फिर अड़चन आती है। और फिर तुम बदलते जाओ; दो-चार कदम चले नहीं कि फिर बदल लिया, फिर दो-चार कदम चले नहीं कि फिर बदल लिया, फिर तुम कभी भी न पहुँच पाओगे। लगेगा चल बहुत रहे हो, लेकिन पहुँच कहीं भी नहीं रहे हो। यात्रा व्यर्थ हो जाएगी और तुम धीरे-धीरे ज्यादा से ज्यादा भ्रम में भर जाओगे। तुम्हारे नीचे की बुनियाद कंपने लगेगी। तुम्हारा चित्त कंपित, भयभीत, डरा हुआ हो जाएगा। तुम अपने ऊपर आस्था खो दोगे और इस जगत् में सबसे बड़ी दुर्घटना है : स्वयं पर आस्था खो देना। जिसकी स्वयं पर आस्था नहीं है, वह किसी दूसरे पर आस्था कर ही नहीं सकता।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि 'हम दूसरे पर आस्था नहीं करना चाहते। हमारी तो अपने पर ही आस्था है।' मैं उनसे कहता हूँ : 'जिसकी अपने पर आस्था है, वह किसी पर भी आस्था कर सकता है। और जिसकी अपने पर आस्था नहीं, वह किसी पर आस्था नहीं कर सकता। जो भीतर ही नहीं है, उसे तुम बाहर कैसे फैलाओगे?'

गुलाब के फूल में जो गंध आती है, वह गुलाब के भीतर से आती है। गंध दूर-दूर फैल जाती है हवाओं में। तुम्हारे कपड़ों पर छा जाती है, तुम्हारे नासापुटों पर भर जाती है। गुलाब के पास से गुजरो, तो घंटों तक तुम्हें गुलाब की मनक मालूम पड़ती रहती है। लेकिन सुगंध भीतर से आती है।

आस्था अगर तुम्हारी स्वयं पर है, तो तुम गुरु पर आस्था कर सकोगे; तो तुम परमात्मा पर आस्था कर सकोगे।

स्वयं की आस्था में और दूसरे पर आस्था में विरोध नहीं है। वह एक ही सुगंध की दो तरंगें हैं। लेकिन जिसकी स्वयं पर आस्था नहीं है, वह किसी पर आस्था नहीं कर सकेगा। और जो किसी पर आस्था नहीं करता है, उसे सम्हल जाना चाहिए, संभावना है कि उसकी स्वयं पर भी आस्था नहीं होगी।

मनुष्य के जीवन में जितनी अड़चनें दिखाई पड़ती हैं, उतनी अड़चनें हैं नहीं। बहुत-सी तो बनाई हुई हैं। तुम बना लेते हो, फिर अपने ही जाल में उलझ जाते हो। और फिर उस जाल से निकलना भी नहीं चाहते। और निकलना भी चाहते हो। क्योंकि जाल कष्ट देता है, तो निकलना चाहते हो। और जाल थोड़ा-सा सुख भी दे रहा है, इसलिए निकलना भी नहीं चाहते। एक हाथ से पकड़े रहते हो, एक हाथ से छोड़ना चाहते हो।

● चौथा प्रश्न : आप कहते हैं : गुरु पृथ्वी पर परमात्मा की खबर है और यह भी कि मिलन के लिए प्रेम और श्रद्धा ही सेतु है। लेकिन जिसका मस्तिष्क संदेहशील हो और हृदय कुंठित, वह धर्म की यात्रा पर निकलने के पूर्व क्या करे?





क्या करे! निकले ही क्यों? यह तो ऐसा मामला है कि तुम मुझसे पूछो कि जो बीमार नहीं है, वह डॉक्टर के घर कैसे जाय! जाय ही क्यों? तुम मुझसे पूछते हो कि जो भूखा नहीं है, वह भोजन की तरफ कैसे बढ़े! लेकिन बढ़े ही क्यों?

अगर भूख नहीं है परमात्मा की, तो बात ही छोड़ो। ऐसी आवश्यकता क्या है? भूख के पहले तो कोई भी कुछ नहीं कर सकता। कोई एपिटाइजर है नहीं, जो तुम्हें दिया जा सके, जिससे तुम्हारी भूख बढ़ जाय। एपिटाइजर भी काम करता है, क्योंकि भूख होती है, नहीं तो वह भी काम नहीं करेगा। अगर भूख न हो, तो वह और पेट को भर देगा। भूख और मर जाएगी।

अगर नहीं है परमात्मा की प्यास, तो छोड़ो परमात्मा को। वह अपने घर भला, तुम अपने घर भले। नाहक की झंझट क्यों खड़ी करते हो? जब प्यास जगेगी, तब जाना। और जल्दी क्या है? काल अनंत है। कोई जल्दी नहीं है। और परमात्मा किसी जल्दबाजी में, अधैर्य में नहीं है। तुम जब भी आओगे, उसे तुम पाओगे : वह सदा वहाँ है। कुछ देर से पहुँचोगे, तो ऐसा नहीं है कि तुम नहीं पाओगे।

कठिनाई क्या है? कठिनाई यह है कि परमात्मा को तुम पाना भी चाहते हो, क्योंकि सुन-सुन कर लोभ पैदा हो गया है। सुन रहे हो सदियों से कि परमात्मा को पाने पर आनंद मिलता है। आनंद से मतलब तुम लेते हो सुख, जो कि गलत है।

सुख की आकांक्षा है और लोग कहते हैं परमात्मा को पाने से मिलता है और परमात्मा की कोई प्यास नहीं है। सुख तुम भी पाना चाहते हो। संसार में सुख दिखाई पड़ता है, पैर उस तरफ जा रहे हैं। और ये ऋषि-मुनि कहे चले जाते हैं कि वहाँ सुख नहीं है। तुम्हें वहीं दिखाई पड़ता है। यह दूसरे कहते हैं कि वहाँ नहीं है। इन पर तुम्हें भरोसा भी नहीं आता, क्योंकि इन पर भरोसा कैसा आयेगा! जो तुम्हारी प्रतीति नहीं है, उस पर तुम्हें भरोसा कैसे आयेगा?

तुम्हारी तो प्रतीति यह है कि सुख वहाँ लुट रहा है—बाजार में और ये नासमझ समझा रहे हैं कि चलो हिमालय। बैठ जाओ शांत हो कर, आँख बंद करके। सुख तो रूप में है और ये कहते हैं : आँख बंद कर लो! सुख है स्वाद में और ये नासमझ कहते हैं कि स्वाद त्याग कर दो! सुख है संसार में और ये संन्यास सिखाते हैं।

इसलिए तुम इनकी बात भी नहीं सुनते। पैर तुम्हारे संसार की तरफ बढ़ जाते हैं। लेकिन संसार में दुःख भी तुम्हें बहुत मिलता है, सुख की तो सिर्फ आशा ही रहती है, मिलता कभी नहीं। दिखाई पड़ता है : अब मिला, अब मिला—मिलता कभी नहीं। मिलता दुःख है। जब दुःख मिलता है, तब इन ऋषि-मुनियों की बात याद आती है कि पता नहीं, ये पागल ठीक ही कहते हों। शायद हम ही गलती में हैं। लेकिन वह जो दूर खड़ा सुख है, वह कहता है : तुम गलती में नहीं हो। जरा और चेष्टा करने की जरूरत है

और मंजिल पास है। और इतने पास आ कर लौट रहे हो ? कहाँ की बातों में पड़ते हो !

सुख बुलाता है संसार की तरफ। तुम्हारी आशा भी, तुम्हारी श्रद्धा भी सुख की है; मिलता है दुःख। दुःख मिलने के कारण तुम भयभीत भी हो जाते हो। ऋषि-मुनियों की बात सुनाई पड़ने लगती है। इसलिए तो सुख में कोई स्मरण नहीं करता, दुःख में स्मरण करता है। दुःख में लगता है कि शायद ये लोग ठीक ही कहते हों। जँचती तो बात नहीं—कि ठीक कहते हों। इनकी संख्या भी थोड़ी है। तुम करोड़ हो, तो ये कभी एक। करोड़ की मानें कि एक की ? और इसको भी मिला है, इसका भी क्या पक्का ! पता नहीं, कहता ही हो।

तुम्हारे अनुभव में तो कोई ऐसी बात है नहीं, जिससे तुममें श्रद्धा बढ़े। तुम तो जहाँ-जहाँ गये, धोखा ही पाया। संसार में जहाँ तलाशा, वहीं धोखा पाया। जहाँ खोदा, वहीं पानी न मिला। पता नहीं ये ऋषि-मुनि एक धोखा ही हों। इस संसार के बड़े धोखे में यह भी एक धोखा !

बस, भरोसा नहीं आता, संदेह है। और आशा भी नहीं छूटती, क्योंकि जीवन के अनुभव से तुम कुछ सीखते भी नहीं।

तो मैं तुमसे क्या कहूँ ? मैं तुमसे इतना ही कहता हूँ कि अगर परमात्मा की तरफ प्यास नहीं है, तो परमात्मा की बात ही अभी छोड़ दो। यह बात तुम बेसमय उठा रहे हो। अभी मौसम नहीं आया। अभी ऋतु नहीं पकी। यह बात ही छोड़ दो। क्योंकि यह बेमौसम की बात खतरनाक है। इससे तुम संसार को भी न भोग पाओगे और परमात्मा की तरफ तो तुम जा ही नहीं सकते। इससे तुम बिलकुल ही अधर में लटके हुए हो जाओगे।

तुम संसार की तरफ पूरी तरह दौड़ लो। मेरी समझ यह है कि तुम अगर परमात्मा को भूल जाओ कुछ समय के लिए और संसार की तरफ पूरी तरह दौड़ लो, तो परमात्मा की प्यास पैदा हो जाएगी।

तुम संसार को ठीक से जान ही लो। अगर सुख मिल गया, तब तो कोई परमात्मा की जरूरत ही न रहेगी। बात ही खतम हो गयी। अगर सुख न मिला, तो प्यास पैदा हो जाएगी।

अब तक किसी को सुख मिला नहीं है। इसलिए प्यास पैदा होना निश्चित है। अगर नहीं पैदा हो रही, तो तुम संसार में ठीक से गये नहीं। तुम अधकचरे हो।

मैंने सुना है : एक यहूदी युवक अमेरिका जा रहा था। बाप-परिवार पुराने ढंग का था। वे बड़े चिंतित थे कि अमेरिका में लड़का बिगड़ न जाय। तो उन्होंने अपने धर्म-गुरु को बुलाया और कहा कि इसे कुछ समझाओ। तो उस धर्म-गुरु ने उसे बड़ा भयभीत किया। बड़े डर दिखाये कि अगर स्त्रियों के प्रति तूने रस लिया, तो नरक





में कैसे-कैसे कढ़ाइयों में सड़ाया जाएगा। अगर तूने शराब पी, तो कैसे कष्ट तुझे भोगने पड़ेंगे। कीड़े-मकोड़े तेरे शरीर में छेद करके निकलेंगे और सारे शरीर को गूँथ डालेंगे। ऐसे सारे भय उसे दिखाये।

वह कंपने लगा। वह युवक बिलकुल कंपने लगा। उसको पसीना आ गया। उस युवक ने कहा कि 'आप जो कह रहे हैं, इनसे, क्या मेरे मन में काम-वासना उठनी बंद हो जाएगी ? इनसे क्या प्रलोभन बंद हो जाएगा ? इनसे क्या जो उत्तेजना चारों तरफ से मुझे मिलेगी अमेरिका में, वह नहीं मिलेगी ?' उस धर्मगुरु ने कहा, 'नहीं कह सकता। लेकिन तू कुछ भी भोगेगा—ठीक से न भोग पायेगा, इतना पक्का है। अगर स्त्री के प्रेम में पड़ेगा, तो नरक बीच में खड़ा रहेगा। कड़ाही जलती रहेगी। इतना भर मैं कह सकता हूँ कि तू कुछ भी ठीक से भोग न पायेगा।'

यही तुम्हारी दशा है। तुम भोग ही नहीं पा रहे हो। भोगने जाते हो, तो नरक बीच में खड़ा है। शराब पीने जाते हो, तो पाप बीच में खड़ा है। धन कमाने जाते हो, तो स्वर्ग का प्रलोभन, नरक का भय बीच में खड़ा है। कहीं भी जाते हो संसार में, परमात्मा साथ चल रहा है। वह देख रहा है। तुम्हें छुट्टी नहीं है—कुछ भी पूरा करने की। ये तुम्हारी धारणाएँ हैं, जो तुमने पुरोहितों से सीख लीं। तुम कृपा करके इन्हें छोड़ दो।

तुम एक बार पूरी तरह सांसारिक हो जाओ और मैं तुम्हें भरोसा दिलाता हूँ कि अगर तुम पूरी तरह सांसारिक हो जाओ, तो सिवाय परमात्मा के और कोई प्यास बचेगी नहीं। क्योंकि संसार सिर्फ मरुस्थल है। लेकिन उसे खोजना पड़ेगा, सारे कोने-कोने खोज लेने पड़ेंगे।

तुम्हारा भ्रम मिट जाना चाहिए कि हो सकता है, कहीं कोई मरुद्यान छिपा हो। विराट् संसार है, कहीं कोई सुख छिपा ही हो, पता नहीं। तुम रत्ती-रत्ती नाप डालो। तुम एक-एक लहर को खोज लो। तुम एक-एक वासना का पीछा कर लो। उस पीड़ा से ही उठेगी प्यास। और कोई उपाय नहीं है।

संसार जब व्यर्थ होता है, तभी संन्यास सार्थक होता है। भोग जब दो कौड़ी का हो जाता है, तभी योग का मूल्य समझ में आता है।

तुम्हारी अवस्था है 'न घर के, न घाट के'। संसार में जाते हो, ऋषि-मुनि पीछा कर रहे हैं। वे कमीज पकड़ के पीछे खींच रहे हैं। ऋषि-मुनियों के पीछे जाते हो, संसार पीछा करता है। वह कमीज पकड़ कर पीछे खींचता है। तुम कहीं भी जा नहीं पाते। तुम एक तरफ जाओ। एक साधे, सब सधै।

मैं तुमसे कहता हूँ, तुम संसार ही साध लो। कृपा करके परमात्मा को बीच में मत लाओ। और इतना पक्का है कि अगर तुमने संसार ही साधा—एक साधा—सब सध जाएगा। क्योंकि संसार में सिवाय असफलता के और कुछ उपलब्ध हो नही सकता।

वहाँ से आनंद पाने की आशा ऐसे ही है, जैसे कोई रेत से तेल निकालता हो। वह हारेगा ही। उस हार से ही, कुछ संभव है।

परिपूर्ण पराजय से ही रूपांतरण संभव है। तुम अभी हारे नहीं हो। आशा लगी है। वही आशा तुम्हें भटकाये है।

नहीं; प्यास पैदा करने का और कोई उपाय नही है। यही भूल तुमने जन्मों-जन्मों की है, इसलिए प्यास अब तक पैदा नहीं हो पायी है। अब मत करो इस भूल को।

और मैं नहीं उत्सुक हूँ कि तुम धार्मिक हो जाओ। क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि जिन लोगों ने तुम्हें धार्मिक बनाने में उत्सुकता ली है, उन्होंने तुम्हें बरबाद किया है। मेरी उत्सुकता तुम्हें सच्चा बनाना है, धार्मिक बनाने से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। संसार में हो, सच्चाई से संसार में हो जाओ।

जब मैं कह रहा हूँ : 'सचाई से संसार में हो जाओ', तो मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि सत्य बोलो संसार में। मैं यह कह रहा हूँ कि पूरे संसारी हो जाओ। प्रामाणिक रूप से संसारी हो जाओ। जो भोगना है, भोग ही लो। सब भोग दुःख पर ले आते हैं। सब भोगों के बाद अंधकार छा जाता है। उस गहन अंधकार से ही सुबह पैदा होती है।

अब सूत्र।

'और हे महाबाहो, संपूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिए ये पाँच हेतु सांख्य सिद्धान्त में कहे गये हैं, उनको तू मेरे से भली प्रकार जान। इस विषय में आधार और कर्ता तथा न्यारे-न्यारे करण, नाना प्रकार की न्यारी-न्यारी चेष्टा, वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव्य कहा गया है।'

कृष्ण कहते हैं, पाँच कारण हैं, हेतु हैं, सभी घटनाओं के। कोई आधार होता है घटना का, निराधार तो कुछ भी घट नहीं सकता। कोई करनेवाला होता है घटना का; बिना कर्ता के घटना घट नहीं सकती। उपकरण होते हैं, उनके सहारे के बिना घट नहीं सकती। चेष्टा होती है, यत्न होता है, प्रयास होता है, उसके बिना भी घटना नहीं घट सकती। और फिर जन्मों-जन्मों के संचित कर्म होते हैं, जिनको दैव्य कहा है। वे भी उस घटना को घटाने में सहयोगी होते हैं। ये पाँच आधार हैं कर्म के।

'मनुष्य मन, वाणी और शरीर से शास्त्र के अनुसार अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है, उसके ये पाँचों ही कारण हैं। परंतु ऐसा होने पर ही जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि होने के कारण उस विषय में केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा को कर्ता देखता है, वह दुर्मति यथार्थ नहीं देखता।'

कारण तो हैं, पाँच हैं, लेकिन फिर भी तुम उनके बाहर हो। घटना घटती है तो अकारण नहीं घट सकती। घटना घटती है तो कर्ता भी होगा। घटना घटती है, तो घटाने की चेष्टा भी होगी। पूर्व संस्कार पीछे खड़े होंगे। किसी भी घटना के लिये ये





पाँच सहारे चाहिए। लेकिन फिर भी तुम इन पाँचों के बाहर हो। तुम साक्षी हो, तुम देखनेवाले हो।

भूख लगी, तो शरीर ने आधार बनाया। भूख उठी। इसको तुम भूख की तरह समझ लेते हो। क्योंकि पहले भी तुमने भूख को भूख की तरह जाना है। अगर यह पहली ही दफे लगती, तो तुम पहचान भी न पाते कि यह भूख है। शायद तुम समझते : पेट में दर्द हो रहा है। तुम कुछ भी समझते, लेकिन भूख नहीं समझ सकते थे।

पहले दिन का बच्चा भी पहली ही घड़ी, पैदा होते ही जो भूख पैदा होती है, तो अनुभव कर लेता है कि भूख लगी है और माँ के स्तन को खोजने निकल जाता है। यह खबर है इस बात की कि यह स्तन बहुत बार पहले भी खोजा गया है। अन्यथा कैसे खोजोगे! पूर्व संस्कार चाहिए। तो यह बच्चा कैसे जानता है कि भूख लगी? इसको यह भूख की तरह कैसे पहचानता है? यह कैसे जानता है कि स्तन उसकी भूख की पूर्ति कर देंगे? इसका हाथ स्तन की तरफ क्यों बढ़ने लगता है? यह कैसे स्तन से दूध को पीता है? इसने कभी पहले पिया नहीं। तो दैव्य।

सारा अतीत पीछे से काम कर रहा है। भूख लगी, शरीर ने आधार दिया, संस्कार ने पहचाना, फिर तुमने चेष्टा की। क्योंकि भूख लगी, तो चेष्टा करनी पड़ेगी। भीख भी माँगने गये, तो भी चेष्टा होगी; दुकान गये तो भी चेष्टा होगी; चोरी करने गये तो भी चेष्टा होगी। धर्म के अनुकूल या प्रतिकूल--कुछ भी करो, चेष्टा होगी।

जब तुम चेष्टा करोगे, तो तुम्हारा मन कर्ता भी होगा। बिना करनेवाले के चेष्टा कैसे होगी? तो मन करेगा। मन विचार करेगा : क्या करूँ, क्या न करूँ; कैसे रोटी पाऊँ आज--चोरी से, भिक्षा से, किसी के घर मेहमान बन के, कमा के? क्या करूँ? तो मन कर्ता बनेगा। और तुम जो भी उपकरण, जिन-जिन साधनों से भोजन जुटाओगे, वे करण हैं। ये पाँच हैं, तुम छठवें हो।

कृष्ण कहते हैं : इन पाँचों में जिसने अपने को डूबा हुआ समझ लिया, वह दुर्मति। तुम पाँचों के बाहर हो; तुम इन पाँचों के देखनेवाले हो।

भूख लगती है, वह तुम्हें नहीं लगती। तुम देखते हो, तुम पहचानते हो कि भूख लगी है। भूख तुमसे बाहर है, तुमसे दूर है। भूख--तुम्हारे आस-पास घटती है--तुममें नहीं घटती।

भूख लगते ही मन चेष्टा में लग जाता है। मन भी तुमसे बाहर है। उसकी भी जरूरत है। बिना मन के भूख लगी रहेगी और तुम्हें पता ही नहीं चलेगा। क्या करोगे? मर जाओगे। मन चेष्टा में लग जाता है, उपाय खोजने लगता है, हाथ-पैर चलने लगते हैं, उपकरण जुटाए जाने लगते हैं : आटा लाओ, पानी लाओ, आग जलाओ, व्यवस्था करो--भोजन बनाने की। लेकिन इस सब घटने में तुम बाहर हो।

तुम्हारा होना साक्षी का होना है। तुम सिर्फ देखने वाले हो, द्रष्टा हो।

ऐसा होने पर 'जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि होने के कारण उस विषय में केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा को कर्ता देखता है, वह दुर्मति यथार्थ नहीं देखता।' अगर इन सब पाँचों के कारण तुमने यह समझा कि तुम कर्ता हो, तो तुम यथार्थ नहीं देखते। तुम अज्ञान में पड़े हो।

'और हे अर्जुन, जिस पुरुष के अंतःकरण में 'मैं कर्ता हूँ', ऐसा भाव नहीं, तथा जिसकी बुद्धि लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोगों को मार कर भी वास्तव में न तो मारता है और न पाप से बंधता है।'

कृष्ण कहते हैं : अगर इन पाँच के बाहर तू अपने को जान ले—जो कि तेरा होना है ही, सिर्फ प्रत्यभिज्ञा, होश चाहिए—अगर तू इन पाँचों के बाहर अपने को मान ले, जान ले, पहचान ले, तो फिर तू जो भी करता है, उसका कोई पाप-बंध तेरे ऊपर नहीं है। फिर तू भोजन करते हुए उपवासा रहेगा, बोलते हुए—मौन; चलते हुए—अनचला; करते हुए—अकर्ता; संसार में होते हुए भी संसार के बाहर। क्योंकि साक्षी सदा बाहर है। वह लिपायमान नहीं होता।

साक्षी का गुण-धर्म क्या है? वह लिपायमान नहीं होता; वह किसी चीज में डूबता नहीं। तुम उसे डुबा नहीं सकते। वह सदा बाहर ही रहता है। वह बाजार में दुकान करेगा और डूबेगा नहीं। वह कर्मों में लीन होगा, फिर भी भीतर एक तत्त्व शेष रहेगा, जो लीन नहीं होगा।

यह जो लिपायमान न होने की कला है, यही धर्म है। इसलिए कृष्ण कहते हैं : हे अर्जुन, ऐसी अगर तेरी दशा हो जाय, अगर तू पहचान ले कि सारा कर्म इन पाँच का है, और तू अकर्ता है, तो फिर ये जो सारे लोग खड़े हैं—अगर तू इनको मार भी डाल, तो भी पाप से नहीं बंधता है, क्योंकि तूने कोई कृत्य किया ही नहीं; हुआ—किया नहीं। घटना जरूर घटी, उसके कारण थे, उपकरण थे, आधार थे, हेतु थे। लेकिन तू बाहर रहा।

'वह पुरुष इन सब लोगों को मार कर भी वास्तव में न तो मारता है . . .।' क्योंकि जब मारनेवाला ही भीतर भाव नहीं है, तो कैसे हम कहें कि वास्तव में मारता है! सिर्फ अभिनय करता है मारने का।

'और न पाप से बँधता है।' यह भारत की गहनतम खोज है। साक्षी तक विश्व का कोई धर्म इस भाँति नहीं पहुँचा। बड़े से बड़े धर्म दुनिया में पैदा हुए हैं, लेकिन वे भी कर्ता तक ही पहुँच कर रुक जाते हैं। वे भी कहते हैं : अच्छा करो, बुरा मत करो।

यहूदियों की दस आज्ञाएँ हैं—या ईसाइयों की, वे सब 'करने' पर आधारित हैं। चोरी मत करो, हिंसा मत करो; करुणा करो, दया करो। महावीर के वचन हैं, उनका भी सारा सूत्र 'करने' से बँधा हुआ है। हिंसा मत करो, परिग्रह मत करो। सब अच्छी





बातें हैं, लेकिन एक सीढ़ी नीचे रह जाती है। 'करने' पर खड़ी है। कर्ता समाप्त नहीं होता।

कृष्ण आखिरी बात कह रहे हैं। इसके पार फिर कोई जाना नहीं है। इसके पार अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। यह आखिरी घड़ी है। साक्षी से पीछे नहीं जा सकते। साक्षी यानी बस, आ गये—आखिरी से आखिरी मंजिल तक।

तुम साक्षी के साक्षी नहीं हो सकते। तुम सब चीजों को देख सकते हो दुनिया में; स्वयं को नहीं देख सकते। स्वयं तो देखनेवाला है—वह सदा ही देखनेवाला है; उसे तुम कभी देखा-जाने-वाला नहीं बना सकते। वह द्रष्टा है, उसे तुम कभी दृष्य नहीं बना सकते।

कृष्ण यह कह रहे हैं कि फिर ये सारे लोग भी तेरे द्वारा मारे जायँ, तो न तो वास्तव में ये मारे जाते हैं, क्योंकि जिसने अपने साक्षी को जान लिया, उसने यह भी जान लिया कि भीतर का तत्त्व अमृत है। इन बाहर के लोगों को भी काटते समय वह जानेगा कि शरीर ही काट रहा हूँ, इनको मार नहीं रहा हूँ। मरता तो कोई है ही नहीं।

कृष्ण के हिसाब से हिंसा तो असंभव है। मरना तो होता ही नहीं, तो हिंसा कैसे संभव है? हिंसा इसलिए थोड़े ही होती है कि तुमने किसी को मार डाला। हिंसा सिर्फ इसलिए होती है कि तुमने समझा कि तुमने मार डाला।

तुम्हारे मारने से कोई मरता है? ऐसे ही जैसे कोई किसी के कपड़े छीन ले, इससे कोई मरता है? आदमी दूसरे कपड़े खरीद लेगा। तुमने किसी को मारा, देह छीन ली, देह दूसरी देह खोज लेगी। नयी देह मिल जाएगी। शायद पुरानी जरा-जीर्ण हो गयी थी, तुमने बड़ी कृपा की। नयी देह मिल जाएगी। जैसे कोई घर को बदल ले, ऐसे देहों को बदल लिया जाएगा।

तुम्हारे मारने से भी कोई मरता नहीं, इसलिए वस्तुतः तो हिंसा होती ही नहीं; हो नहीं सकती।

और मारते समय तुम कर्ता नहीं हो। कृत्य हो रहा है। कारण सब मौजूद हैं। तुम बाहर खड़े हो। इसलिए मैं कहता हूँ : कृष्ण का यह सूत्र जीवन को अभिनय बना देता है।

तुम एक अभिनेता हो, कर्ता नहीं। एक बड़ा मंच है जीवन का, उस पर तुम बहुत तरह के काम कर रहे हो। जो तुम्हें दिया गया है, जो तुमने पाया है कि तुम्हें दिया गया है, तुम उसे पूरा कर रहे हो—बिना लिपायमान हुए।

इसे थोड़ा सोचो। इसे थोड़ा साधो और तुम्हारे जीवन में संन्यास की सुगंध उतरनी शुरू हो जाएगी।

इसलिए मैं तुमसे नहीं कहता कि तुम छोड़ो—घर को, गृहस्थी को, बच्चों को,

परिवार को। उसके छोड़ने से कुछ अर्थ नहीं है। क्योंकि अगर 'छोड़ने वाला' न छूटा तो कुछ भी नहीं छूटा।

तुम रहो वहीं—जहाँ हो। सभी जगहें एक-सी हैं। रहो वहीं, रहने के ढंग को बदल दो। और तुम बड़े हैरान होओगे। जरा से ढंग को बदलने की बात है। और उस ढंग की बदलहट का बाहर पता भी चलना जरूरी नहीं है। किसी को भी पता न चलेगा; कानो-कान खबर न होगी। लेकिन तुम्हारा जीवन आमूल बदल जाएगा।

तुम पति हो, इसको अभिनय समझो। पत्नी को छोड़कर भागने की कोई भी जरूरत नहीं है। सिर्फ अभिनय समझो। और पति का काम जितनी कुशलता से कर सको, कर दो। तुम पत्नी हो, पत्नी का काम कुशलता से कर दो। अभिनय है, कुशलता से करना है।

लिपायमान मत हो। किसी को कहने की भी जरूरत नहीं है। किसी को पता चलने की भी जरूरत नहीं है। तुम भीतर सरक जाओ। सब काम वैसा ही चलता रहे। हाथ उठेंगे, बुहारी लगेगी; पति आयेगा, चरण धोये जायेंगे; पति आयेगा, बाजार से फूल ले आयेगा; सब काम वैसे ही चलेगा। कहीं कोई भेद न होगा। कहीं रत्ती-भर भेद की जरूरत नहीं है। भीतर कुछ सरक जाएगा। भीतर से कोई हट जाएगा। भीतर घर खाली हो जाएगा, कर्ता वहाँ नहीं रहा।

और कर्ता जब भीतर नहीं रह जाता, तो ऐसा सन्नाटा छा जाता है, जीवन में, कि कोई भी चीज़ उस सन्नाटे को तोड़ती नहीं। ऐसी गहन शांति उतर आती है कि सारा संसार कोलाहाल करता रहे, कोई फर्क नहीं पड़ता। तूफान और आंधी के बीच भी तुम्हारे भीतर सब शांत बना रहता है। सफलता हो, असफलता; सुख हो, दुःख; हार हो, जीत; जीवन हो, मृत्यु—कुछ अंतर नहीं पड़ता।

एक बात के साध लेने से कि तुम पीछे हटना सीख गये, कोई अंतर नहीं पड़ता। इसे तुम थोड़ा—जीवन में इसकी कोशिश करो। यह बड़ी अनूठी कोशिश है और बड़ी रसपूर्ण। और इससे ऐसे आनन्द का झरना फूटने लगता है, जिसका हिसाब रखना मुश्किल है। और तुम खुद मुसकराओगे कि यह क्या हो रहा है! इतनी सरल थी बात!

घर आये हो, बेटे की पीठ थपथपा रहे हो; मत थपथपाओ बाप की तरह। बस, थपथपाओ—नाटक के बाप की तरह। और मजा यह है कि पीठ ज्यादा अच्छी तरह थपथपायी जाएगी। बेटा ज्यादा प्रसन्न होगा। कहीं कुछ अड़चन न आयेगी, कहीं कुछ तुम्हारे कारण बाधा पैदा न होगी और तुम्हारे जीवन का सार सधने लगेगा।

अगर तुम इस जीवन के मंच से ऐसे आओ और ऐसे गुजर जाओ, जैसे अभिनेता आता है; मरते वक्त तुम्हारी मृत्यु ऐसे ही होगी, जैसे परदा गिरा; उसमें कोई पीड़ा न होगी। एक कृत्य को ठीक से पूरा कर लेने का अहोभाव होगा। विश्राम की तरफ





जाने की भावना होगी। काम पूरा हो गया, परमात्मा का आह्वान आ गया, वापस लौटे चलें। परदा गिर गया।

गेटे जर्मनी का एक बहुत बड़ा नाटककार—कवि हुआ। जीवन भर नाटकों का ही अनुभव था। और गेटे धीरे-धीरे नाटक के अनुभव से ही उस गहनता को अनुभव करने लगा, जिसको हम साक्षी-भाव कहते हैं। नाटक—और नाटक—और नाटक। धीरे-धीरे पूरा जीवन उसे नाटक जैसा दिखाई पड़ने लगा। जब गेटे मरा, तो उसके आखिरी शब्द महत्त्वपूर्ण थे। उसने आँख खोली और उसने कहा कि 'देखो, अब परदा गिरता है।' नाटककार की भाषा थी, पर चेहरे पर बड़ी प्रसन्नता थी, बड़ा आनन्द का अहोभाव था। 'एक काम कुशलता से पूरा हो गया; परदा गिरता है!' मौत तब परदे का गिरना है और जीवन तब खेल है, लीला है।

कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि बस, इतना तू समझ ले; भागने की जरूरत नहीं है इस महायुद्ध से। और भागकर कोई कहीं जा नहीं सकता, क्योंकि जहाँ भी जाओगे, वहीं युद्ध है। जीवन महासंघर्ष है। वहाँ छोटी मछली बड़ी मछली के द्वारा खायी जा रही है। इसका कोई उपाय नहीं है। शायद यही परमात्मा का नियोजित खेल है। इस युद्ध में तुम जागो। इस युद्ध के भी तुम पार हो जाओ।

रहो निमित्त मात्र, करने दो उसे—जो उसकी मरजी है। बहें उसकी हवाएँ, तुम सिर्फ उन्हें गुजर जाने दो। तुम बाधा मत डालो, तुम बीच में मत आओ। और सब सध जाता है। बिना कहीं गये, सब मिल जाता है। एक बिना कदम उठाये मंजिल घर आ जाती है।

साक्षी-भाव कुंजी है। इसे थोड़ा प्रयोग करना शुरू करो। यह परम ध्यान है। भूल-भूल जाओ, फिर-फिर याद कर लो। भोजन कर रहे हो, ऐसे ही करो जैसे कि बस, एक नाटक में कर रहे हैं। नाटक बड़ा है—माना, बड़ा लम्बा है। सत्तर साल चलता है, अस्सी साल चलता है, लेकिन है नाटक।

और तुम्हें भी कई दफे खयाल आ जाता है कि क्या नाटक हो रहा है। लेकिन बार-बार भूल जाते हो। स्मरण को सम्हाल नहीं पाते, सुरति को बाँध नहीं पाते। छूट-छूट जाती है हाथ से। बस, छूटे न। इतना-सा अगर तुम साध पाओ . . .। एक छोटा-सा शब्द साक्षी . . .। और उसमें सारे शास्त्र समाये हैं।

यह जो विराट् जीवन फैला दिखाई पड़ता है, जहाँ भी जाओ रास्ते पर खड़े हो कर देखो—ऐसे ही—जैसे नाटक देख रहे हो।

मुल्ला नसरुद्दीन एक नाटक देखने गया था। एक अभिनेता बड़ा कुशल अभिनय कर रहा था। वह नाटक में कई बार अपनी पत्नी को आलिंगन करता है; उसका चुंबन लेता है। मुल्ला की पत्नी भी पास बैठी थी, उसने मुल्ला का हाथ हाथ में ले लिया और

कहा, 'मुल्ला, तुम इस भाँति मुझे कभी प्रेम नहीं करते!' मुल्ला ने कहा, 'वह तो अभिनय है देवी; उस पर ज्यादा ध्यान मत दे।' पत्नी ने कहा, 'अभिनय नहीं है। वे वास्तविक जीवन में भी पति-पत्नी हैं—वे जो अभिनय कर रहे हैं पति-पत्नी का।' मुल्ला ने कहा, 'तब तो यह अभिनेता गजब का है। अपनी ही पत्नी को इतने मुग्ध भाव से चूमता है!'

अपनी ही पत्नी को मुग्ध-भाव से चूमना बड़ा कठिन हो जाता है। उसके लिए बड़ा कुशल अभिनय चाहिए। और सभी चीजें लाभ की हैं।

पूरब में हमने सब चीजें स्थिर कर ली थीं। ज्यादा हमने स्वतंत्रता न दी थी जीवन को। क्योंकि स्वतंत्रता से समय नष्ट होता है और मूल्यवान अनुभव करीब नहीं आ पाता। अगर तुम हर दो-चार महीने में पत्नी बदलते जाओ, तो यह खेल, यह अभिनय कभी भी न हो पायेगा। क्योंकि तुम हमेशा ही उत्तेजित रहोगे। लेकिन एक ही पत्नी चालीस साल, पचास साल; सब चीजें थिर हो जाती हैं। उत्तेजना खो जाती है। उस अनुत्तेजित अवस्था में चीजें अभिनय जैसी हो जाती हैं। तुम चीजों के आर-पार ज्यादा कुशलता से देख पाते हो।

हमने चीजें थिर कर ली थीं, सिर्फ इसीलिए, ताकि आँख ठीक से आर-पार जा सके। दृष्य अगर बदलते रहें दिन-रात, तो तुम किसी भी दृष्य में गहराई से नहीं उतर पाते।

पूरब ने एक बड़ी थिर जीवन व्यवस्था बनाई थी, जिसमें कुछ बहुत बदलता नहीं था। तुम ऐसा समझो, कि अगर राम-लीला भी हर साल बदलने लगे, कहानी बदल जाय, तो वह राम-लीला जैसी न लगेगी। हर बार तुम उत्तेजित हो कर वहाँ पहुँच जाओगे। तुम ऐसा समझो कि एक ही फिल्म तुम्हें पच्चीस बार देखनी है। आज देखकर आये, कल देखी, परसों देखी। आज जो उत्तेजना होगी, कल न रह जाएगी। कल तुम्हें घटना मालूम ही है कि क्या होनेवाला है। परसों तो बात बिलकुल ही फीकी हो जाएगी। तुम थोड़ी-थोड़ी झपकी भी बीच में लेने लगोगे। चौथे दिन तो तुम मजे से सोने लगोगे कि अब क्या—जानने को क्या है; सब जान लिया। अगर पच्चीस दिन तुम्हें एक ही फिल्म देखनी पड़े, तो तुम मुक्त हो जाओगे—उस फिल्म से—बिलकुल मुक्त हो जाओगे। लेकिन रोज नयी फिल्म हो तो उत्तेजना बनी रहेगी। नये को जानने के लिए मन आतुर होता है।

पश्चिम ने एक बदलता हुआ समाज बनाया है, जो रोज बदल रहा है। इसलिए पश्चिम में आखिरी क्षण तक बेचैनी बनी रहती है। मरते दिन तक आदमी ऐसा व्यवहार करता है, जैसे अभी जवान है। सुनकर ही हैरानी होती है कभी हमें।

एक संन्यासी से मैं बात कर रहा था। उसने कहा कि 'मेरे पिता की तबीयत खराब है। वे बड़ी चिंता में पड़े हैं। आप कुछ सहायता करें।' मैंने कहा, 'उनकी चिंता क्या है?' काफी पैसेवाले हैं। पचासी साल की उम्र है। चिंता यह है कि पत्नी भी है और





एक गर्ल फ्रेंड (प्रेमिका) भी है। पचासी साल की उम्र में—गर्लफ्रेंड! उससे झगड़ा-झाँसा है। क्योंकि पत्नी बरदाश्त नहीं करती। वे पचासी साल के हैं, गर्ल फ्रेंड पच्चीस साल की है!

अब यह जो पचासी साल का आदमी है, पचासी वाल का हो ही नहीं पाया। यह पच्चीस साल का हो, तो समझ में आती है बात। लेकिन पचासी साल की उम्र में समझ में नहीं आती। लेकिन पश्चिम में समझ में आती है; कोई अड़चन नहीं है। जीवन कँपता हुआ है, कुछ थिर नहीं है। जैसे कि नदी डाँवाडोल हो, तो उथली नदी की भी गहराई में देखना मुश्किल है। नदी थिर हो, लहर न उठती हो, तो गहरी से गहरी नदी की भी तलहटी में देखना संभव हो जाता है।

हमने एक थिर जीवन बनाया था। उसके पीछे राज था। हम हर आदमी को साक्षी बनाने की चेष्टा में संलग्न थे। हमारी कोशिश यह थी कि तुम जीवन को देखते-देखते ही यह समझ जाओ कि यह तो सिर्फ खेल है। इसके पीछे तुम्हें दिखाई पड़ने लगे।

हर दृष्य के पीछे तुम्हें द्रष्टा दिखाई पड़ने लगे; हर शरीर के पीछे तुम्हें आत्मा दिखाई पड़ने लगे; हर घटना के पीछे तुम्हें परमात्मा का हाथ दिखाई पड़ने लगे। इसलिए हमने सब चीजों को थिर कर दिया था, ताकि लहरों के कंपन के कारण दृष्टि में बाधा न पड़े। सब चीजें साफ हो जायँ।

साक्षी सूत्र है, महासूत्र है। छोड़ दो वेद, छोड़ दो उपनिषद्, भूल जाओ गीता, अगर यह एक छोटा-सा शब्द: 'साक्षी'—दो अक्षरों का—याद रह जाय, तो तुम सारे शास्त्रों को अपने भीतर जन्म दे सकते हो। क्योंकि सभी शास्त्रों की बस, इतनी ही शिक्षा है, कि तुम कर्ता न रहो, द्रष्टा हो जाओ।

इसे थोड़ा शुरू करो। मेरे समझाने से यह समझ में न आयेगा। यह बात ही समझने की नहीं है। 'लिखा-लिखी की है नहीं, देखा-देखी बात'।

## आत्म-पूजा • कुछ न करना • उसकी जो मरजी
## गुणातीत जागरण

छठवाँ प्रवचन

प्रातःकाल, दिनांक २६ जुलाई, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥



ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—ये तीनों तो कर्म के प्रेरक हैं अर्थात् इन तीनों के संयोग से तो कर्म में प्रवृत्त होने की इच्छा उत्पन्न होती है। और कर्ता, करण और क्रिया—ये तीनों कर्म के संग्रह हैं अर्थात् इन तीनों के संयोग से कर्म बनता है।

उन सब में ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुणों के भेद से सांख्यशास्त्र में तीन-तीन प्रकार से कहे गए हैं, उनको भी तू मेरे से भली प्रकार सुन।

हे अर्जुन, जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परमात्म-भाव को विभागरहित, समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान।

और जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में अनेक भावों को न्यारा-न्यारा करके जानता है, उस ज्ञान को राजस जान।

और जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीर में ही सम्पूर्णता के सदृश्य आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला, तत्त्वअर्थ से रहित और तुच्छ है, वह ज्ञान तामस कहा गया है।

**पहले कुछ प्रश्न।**

● पहला प्रश्न : आपकी ओर देखने से निष्काम कर्म का चमत्कार नजर आता है, लेकिन अपनी ओर देखने से वह एक असंभावना जैसा दीखता है, ऐसा क्यों?

जिस प्रेम से मेरी तरफ देखते हो, उसी प्रेम से अपनी तरफ देखो। जिस श्रद्धा से मेरी तरफ देखते हो, उसी श्रद्धा से अपनी तरफ देखो, फिर जरा भी फासला न रह जाएगा। फिर तुम्हें अपने भीतर भी वही दिखाई पड़ेगा, जो मेरे भीतर दिखाई पड़ता है।

प्रेम की आँख चाहिए। असली बात श्रद्धापूर्ण हृदय और प्रेम से भरी आँख है। लेकिन इस संसार में सबसे कठिन बात यही है : अपने को ही प्रेम से देखना। दूसरे के प्रति प्रेम से देखना कठिन है, पर इतना कठिन नहीं। दूसरे के प्रति श्रद्धा रखना बहुत कठिन है, पर फिर भी असंभव नहीं है। सध जाता है—सधते-सधते सध जाता है। लेकिन अपनी तरफ श्रद्धा के भाव से देखना बड़ी असंभव-सी बात लगती है। लेकिन जिस दिन वह असंभव घटता है, उसी दिन जीवन में कुछ घटा, ऐसा जानना।

आँखें दूसरे को तो देख पाती हैं, क्योंकि दूसरा बाहर है; स्वयं को नहीं देख पातीं, क्योंकि स्वयं तो आँखों के भीतर छिपा है। वहाँ जाने के लिए तो आँख बंद करनी होगी।

दूसरे की तरफ जाने के लिए तो यात्रा करनी पड़ती है—जीवन ऊर्जा को। अपने तक आने को सब यात्रा छोड़नी पड़ेगी; शांत और थिर होकर बैठ जाना पड़ेगा। उस थिरता के क्षण में ही स्वयं से मिलन होगा।

बहुत कठिन है स्वयं पर श्रद्धा, लेकिन असंभव नहीं है; घटता है। और यह मैं तुमसे कहूँगा : जब तक वह तुम्हारे भीतर न घट जाय, तब तक तुम कितनी ही श्रद्धा करो किसी पर, उससे सहारा भला मिले, उससे मंजिल पूरी न होगी।

अपने पर श्रद्धा लानी होगी।

कठिनाई और भी बढ़ गयी है, क्योंकि तुम्हारे तथाकथित धर्मगुरुओं ने, तुम्हारे

महात्माओं ने, तुम्हें स्वयं की निंदा सिखाई है; तुम्हें स्वयं का अपमान सिखाया है; तुम्हें स्वयं को ही तिरस्कृत करने की भावना सिखायी है। उन्होंने तुमसे कहा है कि तुम महापापी हो, चोर हो, बेईमान हो, झूठे हो, अँधेरे में हो, हिंसक हो। तुम्हारे भीतर उन्होंने नरक को चित्रित किया है। अग्नि की लपटें ही लपटें बतायी हैं। तुम्हारे भीतर स्वर्ग के राज्य की तरफ तो उन्होंने इशारा नहीं किया। कभी कोई जीसस, कभी कोई बुद्ध——महावीर इशारा करता है, लेकिन वह आवाज खो जाती है——लाखों महात्माओं के शोरगुल में।

महात्मा का सारा धंधा इस बात पर निर्भर है कि तुम्हें निंदित करे। तुम जितने निंदित हो जाते हो, जितने भयभीत हो जाते हो, जितने घबड़ा जाते हो, उतने ही तुम महात्मा की शरण में चले जाते हो।

तुम जितने अपराध-भाव से भर जाते हो, उतना ही तुम्हारा शोषण किया जा सकता है। मंदिर-मसजिदों में, गुरुद्वारों में झुके हुए लोग बड़ी गहन अपराध की भावना से झुके हैं। प्रार्थनाएँ कर रहे हैं कि हम पतित हैं, तुम पतित-पावन हो!

ध्यान रखना: अगर तुम पतित हो तो पतित-पावन से कभी तुम्हारा मिलन न होगा, क्योंकि समान से ही समान मिलता है। तुम अगर पतित ही हो, तो मिलन संभव नहीं है। तुम्हें भी पतित-पावन होना पड़ेगा।

परमात्मा से मिलना हो, तो परमात्मा की उद्भावना तुम्हें अपने भीतर भी करनी होगी। वही तुम्हारी पात्रता बनेगी। जिस दिन तुम भी इस उद्घोष से भरोगे कि मैं भी परमात्मा हूँ...।

यह कोई अहंकार नहीं है। यह सीधा सत्य है। तुम भी परमात्मा हो, उसी के अंश हो। छोड़ो निंदा, छोड़ो अपने प्रति दूषित——कलुषित भाव। भूलो नरक को।

जैसे-जैसे तुम अपने प्रति सद्भाव से भरोगे, अपने को स्वीकार करोगे वैसे-वैसे तुम पाओगे के स्वर्ग के राज्य के द्वार खुलने लगे। और बड़ा चमत्कार तो यह है कि जितना तुम अपने को पतित समझोगे, उतने पतित होते जाओगे, क्योंकि तुम्हारे विचार ही तो तुम्हारे जीवन को निर्मित करते हैं। तुम जितना अपने को बुरा समझोगे, उतना अपने आचरण में अपने को बुरा तुम्हें सिद्ध भी करना पड़ेगा, नहीं तो खुद की ही समझ गलत होने लगेगी।

तुम अपने को बेईमान समझते हो, इससे और बेईमानी पैदा होती है। और बेईमानी पैदा होती है, तो तुम अपने को और बेईमान समझते हो। उससे और बेईमानी पैदा होती है।

मनस्विद् कहते हैं कि अगर पापी व्यक्ति को भी, बुरे व्यक्ति को भी सारे लोग यही याद दिलायें कि तू पापी नहीं है; उसके चारों तरफ की हवा उसे एक ही बात कहे





कि तू परमात्मा है, पुण्यात्मा है...। अगर पाप हो भी गया है, तो वह कृत्य है एक, वह तेरा स्वभाव नहीं है। वह भूल है; वह तेरा कोई स्वरूप नहीं है।

हज़ार काम आदमी कर रहा है, एक भूल हो जाती है, इससे कोई पापी नहीं हो जाता! कभी कोई आदमी बीमार हो जाता है, इसलिए बीमारी तुम्हारा स्वभाव नहीं हो जाती; कि कभी बुखार आ गया था, तो तुम्हारा बुखार स्वभाव हो गया! कि अब तुम जब भी मंदिर में जाओ तो भगवान् को कहो कि मैं बुखार हूँ और तुम महा-चिकित्सक हो!

यह बकवास बंद करो। कभी आदमी बुखार से भर जाता है, कभी क्रोध से भी भर जाता है, पर ये दुर्घटनाएँ हैं, ये तुम्हारा स्वभाव नहीं हैं। ये भूल-चूक हैं——ज्यादा से ज्यादा। अपराध इसमें कुछ भी नहीं है। कमजोरियाँ होंगी, पाप कुछ भी नहीं है। इन्हें गौण करो, इन पर ज्यादा ध्यान मत दो। अगर तुमने इन्हीं पर ध्यान दिया तो इन्हीं को पोषण मिलेगा। तुम ध्यान तो अपने स्वभाव पर दो, अपने निर्विकार पर दो, अपने निर्दोष पर दो। धीरे-धीरे तुम पाओगे कि अपने ही प्रेम में गिरने लगे। अपने में ही रस आने लगा, अपने ही जीवन का अंतर्गीत उठने लगा; अपने भीतर ही सुवास अनुभव होने लगी। और जैसे ही भीतर सुवास अनुभव होगी, फिर बढ़ती चली जाती है। फिर तुम्हारे जीवन चेतना की धारा बदल जाती है।

ज्ञानी तो एक ही बात दोहराते हैं: 'तत्त्वमसि श्वेतकेतु——तू भी वही है, श्वेतकेतु।' जो वहाँ आकाश में है, वही तेरे अंतर्-आकाश में है। उसको हीन मत कर, उसको छोटा मत मान, उसकी निंदा मत कर।

क्या फर्क पड़ता है कि तुम्हारे भीतर के परमात्मा ने एक दिन पान खा लिया; कोई पाप नहीं हो गया! कि एक सुंदर स्त्री को राह से निकलते देखकर तुम्हारे भीतर के परमात्मा पर थोड़ी-सी बदली छा गयी; कुछ पाप नहीं हो गया। सूरज पर इतनी बदलियाँ छाती रही हैं, इससे कोई सूरज का प्रकाश नष्ट नहीं हो जाता है! इसमे सूरज कोई चिल्ला-चिल्ला कर रो-रो कर छाती नहीं पीटता है कि मेरे चारों तरफ बदलियाँ छा गयी हैं, मैं महापापी हो गया। सूरज के सूरजपन में कोई फर्क नहीं आता। बदलियाँ आती हैं, चली जाती हैं; सूरज का सूरजपन शाश्वत है।

तुम्हारा परमात्म-भाव शाश्वत है।

जिस प्रेम से तुमने मेरी तरफ देखा है, उसी प्रेम से तुम अपनी तरफ देखो। मेरे पास तुम अगर प्रेम करना ही सीख लो, बस, काफी है——अपने को प्रेम करना।

यह बात उलटी लगेगी, क्योंकि तुम्हें तो महात्मा समझाते हैं: दूसरों को प्रेम करो। मैं तुम्हें समझाता हूँ: अपने को प्रेम करो। क्योंकि जिसने अपने को प्रेम नहीं किया, वह दूसरे को करेगा कैसे! उस करने में कहीं न कहीं धोखा होगा। जब घर में

ही रोशनी नहीं है, तो तुम उसे दूसरे पर कैसे डालोगे ? भीतर का दिया जलता हो, तो किसी दूसरे की आँख में भी उस ज्योति की झलक आ सकती है। भीतर का दिया ही न जलता हो, तो तुम दूसरों पर कैसे रोशनी डालोगे ?

मैं तुमसे नहीं कहता : 'दूसरों को प्रेम करो।' उससे ही तुम भटके हो। मैं तुमसे कहता हूँ : 'तुम अपने को प्रेम करो।' तुम जिस दिन अपने को प्रेम करोगे, तुम पाओगे : दूसरे को प्रेम करने के अतिरिक्त अब कोई उपाय न बचा। तुम्हारे भीतर प्रेम की लहरें उठेंगी। उसके अतिरिक्त तुम्हारे पास कुछ बचा नहीं—जो तुम दूसरे को दे सको।

मैं तुमसे कहता हूँ : स्वार्थी बनो। तुम्हें परार्थी बनानेवालों ने तुम्हें बिलकुल बिगाड़ दिया है। मैं तुमसे कहता हूँ : स्वार्थी बनो, क्योंकि स्व का अर्थ जान लेना ही धर्म है और कुछ भी नहीं।

स्वार्थ धर्म है, लेकिन तुम घबड़ाते हो—स्वार्थ शब्द सुन कर ही। यह तो बात ही पाप की हो गयी। परार्थ . . .। और जिसने जीवन में स्वार्थ न साधा, उसके जीवन में परार्थ कैसे आयेगा ? जो अपना ही न हो पाया, वह किसका हो पायेगा ! जो अपने को भी गरिमा और गौरव से न भर पाया, वह किसके गौरव के गीत गा सकेगा ! उसके तो जीवन में बीज ही नहीं है, वृक्ष की तो बात ही छोड़ दो। भूमि पर आधार ही न रख रहे हो, भवन कहाँ खड़ा होगा !

गुरु के पास अगर कोई एक घटना घटनी चाहिए, तो वह यह है कि तुम गुरु के प्रेम से धीरे-धीरे समझो : अपना प्रेम। गुरु को बाहर देखो, और गुरु वही है, जो तुम्हें धीरे-धीरे तुम्हारे प्रेम में डाल दे। और एक दिन तुम्हारे पैरों में वह गति आ जाय और तुम्हारी आँखों में वह रोशनी आ जाय और तुम्हारा हृदय एक नये अहोभाव से धड़कने लगे। तब तुम पाओगे कि जीवन की पूरी प्रक्रिया और हो गयी।

कल तक तुम भूलों पर ध्यान देते थे, अब तुम स्वभाव पर ध्यान देते हो।

जिसको तुम ध्यान देते हो, वह परिपुष्ट होता है। जहाँ ध्यान जाता है, वहीं तुम्हारी जीवन-धारा पोषण करती है। भूल पर ध्यान दोगे, भूलें बढ़ती जाएँगी; भूल परिपुष्ट होंगे। ध्यान भोजन है। भूल को गौण करो। ध्यान स्वयं पर दो, अस्तित्व पर दो। कृत्य पर नहीं—स्वभाव पर।

कृत्य में भूल हो सकती है, तुम्हारे स्वभाव में तो अहर्निश परमात्मा वास कर रहा है। वहाँ कभी कोई भूल नहीं हुई। तुम्हारे 'होने' में तो कोई भूल नहीं है, तुम्हारे 'करने' में भूल हो सकती है।

'करने' की भूल सपने से ज्यादा नहीं है। जैसे रात तुमने सपना देखा कि किसी की हत्या कर दी। अब सुबह तुम छाती पीट कर रोते नहीं। न ही तुम चिल्लाते फिरते हो कि मैं महापापी हूँ। सपना सपना था।





कृत्य सपने से ज्यादा नहीं है, यही माया का सिद्धांत है। जो तुम करते हो, वह सपने से ज्यादा नहीं है; जो तुम हो, वह सत्य है। जो तुम करते हो, वह तो सपना है, वह तो विचार की तरंगें हैं। आयेंगी, चली जायेंगी। तुम उनके पार अछूते रह जाओगे।

यह ठीक ही लगता है : मेरी ओर देखने से तुम्हें अगर निष्काम कर्म का चमत्कार नजर आता है और अपनी तरफ देखने पर असंभावना दिखाई पड़ती है, तो उसका कुल कारण सीधा-साफ है। तुम जिस भाव और प्रेम से मेरी तरफ देखते हो, उसी भाव और प्रेम से तुमने अपनी तरफ नहीं देखा। जिस भाव से तुमने मेरे चरण छुए हैं, उसी भाव से तुमने अपने चरण नहीं छुए।

जिस भाव से तुम मेरे सामने झुके हो, उसी भाव से तुम अपने सामने भी झुक जाओ। क्योंकि मैं जो तुम्हारे बाहर हूँ, वही तुम्हारे भीतर भी है।

कभी तुम खयाल करो : अगर तुम अपने ही चरण छूने को झुक जाओ, तो तुम्हारे जीवन में कैसी क्रांति न घट जाएगी। तब तुम अपने भीतर परमात्मा को सम्हाल कर चलोगे, जैसे गर्भवती स्त्री चलती है। एक नये जीवन का भीतर आविर्भाव हुआ है; वह एक-एक कदम सम्हाल कर रखती है, होश से रखती है। उसकी सारी जीवन धारा नये आनेवाले शिशु के आसपास घूमने लगती है, परिक्रमा करने लगती है। वह नया आनेवाला जन्म, मंदिर जैसा हो जाता है। उसके चारों तरफ परिक्रमा चलने लगती है।

तुम अपना ही पैर छूकर किसी दिन देखो; कभी अपने ही सामने सिर झुकाओ, और तुम बड़े हैरान होओगे कि भीतर विराजमान है सम्राटों का सम्राट्। तुम व्यर्थ ही भिखारी बने थे।

लेकिन तुम्हें भिखारी बनाया भी गया है; क्योंकि जब तक तुम भिखारी न बन जाओ, तब तक पुरोहित का व्यवसाय नहीं चल सकता। तुम भिखारी बनो, तो ही मंदिर में जाओगे। अगर तुम सम्राट् हुए, तो तुम स्वयं मंदिर हो गये। अगर तुम भिखारी बनो, तो ही तुम गुरुओं को खोजोगे। अगर तुम स्वयं सम्राट् हो गये, तो गुरु को खोजने की क्या जरूरत रह जाएगी !

इतना विराट् जाल चलता है धर्म का, वह तुम्हारे भिखमंगेपन से चलता है। इसलिए धर्म तुम्हें समझाये जाता है—तथाकथित धर्म—कि तुम पापी हो, महापापी हो, तुम जमीन पर बोझ हो। तुमने उसकी बात को स्वीकार कर लिया है। बचपन से ही तुम्हें यही बात समझायी गयी है।

बच्चा पैदा होता है और दुनिया में एक बड़ी से बड़ी दुर्घटना घटनी शुरू हो जाती है। जैसे ही बच्चा पैदा होता है, माँ-बाप उसके होने पर जोर नहीं देते, उसके कृत्य पर जोर देते हैं। जैसे अगर बच्चा कुछ करता है, तो वे कहते हैं : 'गलत किया।' कुछ और

करता है; तो कहते हैं : 'ठीक किया।' जब बच्चा ठीक करता है, तो वे उसे प्रशंसा देते हैं, मिठाई देते हैं, खिलौने देते हैं। जब बच्चा गलत करता है, तो पीटते हैं, मारते हैं। बच्चे को पहले तो समझ में नहीं आता, क्योंकि बच्चे की भाषा अस्तित्व की होती है, 'करने' की नहीं होती। वह समझ ही नहीं पाता कि मामला क्या है ! कभी पीटते हैं, कभी मिठाइयाँ देते हैं। मैं तो वही हूँ। लेकिन कभी पीटने लगते हैं, कभी चिल्लाने लगते हैं, कभी बड़े प्रसन्न होकर गले लगा लेते हैं !

बच्चा बड़ी विडम्बना में पड़ जाता है। उसका मन समझ ही नहीं पाता कि यह राज़ क्या है। कौन-सी तरकीब है, जिससे ये सदा प्रसन्न रहें ! क्योंकि इनके ऊपर वह निर्भर है। तो वह धीरे-धीरे वही काम करने शुरू कर देता है, जिसमें प्रशंसा पाता है और वे काम बंद करने लगता है, जिनमें अप्रशंसा मिलती है। न केवल बंद करने लगता है, बल्कि दबाने लगता है, क्योंकि उनको भी करने की भावना मन में उठती है। उनका भी कोई नैसर्गिक अर्थ है। करना चाहता है, लेकिन करता नहीं। फिर एकांत में, अकेले में करने लगता है—उन्हीं कर्मों को, उन्ही कृत्यों को—तब ग्लानि पैदा होती है कि 'मैं अपराध कर रहा हूँ। मैं बहुत बड़ा पाप कर रहा हूँ।'

फिर एक बात सूत्र की तरह साफ हो जाती है—हर बच्चे को और जिस दिन यह बात साफ हो जाती है, समझो उसी दिन बच्चा मर जाता है; उसी दिन से बचपन की सरलता, निर्दोषता मर गयी; उसी दिन से बच्चे में विकार पैदा हो गया। वह क्या है धारणा ?

वह धारणा यह है कि मैं जैसा हूँ, वह स्वीकृत नहीं। स्वीकार होने के लिए मुझे कुछ करना पड़ेगा, तब मैं स्वीकार हो सकता हूँ। मैं जैसा हूँ, वैसा प्रेम के योग्य नहीं हूँ। प्रेम के योग्य होने के लिए कुछ शर्तें मुझे पूरी करनी पड़ेंगी, अन्यथा मैं घृणा के योग्य हो जाऊँगा। बस, यहीं भूल शुरू हो गयी। फिर भूल तुम्हारा पीछा करती है। पहले माँ-बाप उसे पैदा करते हैं, फिर पंडित-पुरोहित उसे बढ़ाते हैं, फिर स्कूल के शिक्षक हैं, राजनीतिज्ञ हैं, महात्मा हैं। फिर पूरा तुम्हारा जीवन का जाल एक ही बात के इर्द-गिर्द घूमता रहता है कि तुम जैसे हो, वैसे स्वीकृत नहीं हो; तुम्हें कुछ करना होगा। होना काफी नहीं है; कृत्य का मूल्य है और कृत्यों में भी भेद हैं। कुछ कृत्य पाप हैं और कृत्य पुण्य हैं। और कभी-कभी तो बिलकुल साधारण से कृत्य भी . . .।

कल एक युवक मुझसे पूछ रहा था। वापस लौटता है, डेन्मार्क। वह मुझसे पूछने लगा कि 'यहाँ भारत में तो मैं अँगुलियाँ चटकाना सीख गया हूँ। और मुझे अच्छा भी लगता है अँगुलियाँ चटकाने से। और भारत में इसका कोई विरोध भी नहीं करता, लेकिन पश्चिम में अँगुलियाँ चटकाना बहुत बुरा समझा जाता है। तो जब मैं वापस जाऊँगा, तब मैं झंझट में पड़ने वाला हूँ—अगर मैंने अँगुलियाँ चटकायीं तो।' लोग





इसको बुरा समझते हैं। यह अपशगुन है। पूरब में तो इसका कोई विरोध नहीं है, बल्कि उपयोग है इसका।

जब भी तुम थके होते हो, अँगुलियाँ चटका लेते हो, हाथ फिर से ऊर्जा से भर जाते हैं; हाथ फिर ताजे हो जाते हैं। लेकिन पश्चिम में इसका विरोध है। वह विरोध भी इसी कारण है। कारण वही है कि तुम जब किसी के सामने हाथ चटकाते हो, तो इसका मतलब यह है कि वह तुम्हें थका रहा है। तुम ऊब जाहिर कर रहे हो। कोई तुमसे बात कर रहा है और तुम अँगुलियाँ चटका रहे हो, इसका मतलब यह है कि तुम जम्हाई ले रहे हो—उसके मुँह के सामने, जो कि अपशगुन है, सुसंस्कार नहीं है। दोनों के पीछे कारण तो वही है, लेकिन एक तरफ उसे स्वीकार कर लिया गया है, एक तरफ उसे अस्वीकार कर लिया गया है।

'तो पश्चिम में अगर अँगुली चटकानी है' तो वह युवक मुझसे बोला, 'तो फिर मुझे एकांत में ही चटकानी पड़ेगी। वह मैं सीधे सबके सामने नहीं चटका सकता।' साधारण-सा कृत्य—निर्विकार—जिसका कोई . . .। न किसी को नुकसान हो रहा है, न किसी को हानि हो रही है। वह भी स्वीकार-अस्वीकार की दुनिया में तुलता है।

तुम ऐसी-ऐसी बातों को स्वीकार-अस्वीकार करते हो, जिनका कोई भी नियत मूल्य नहीं है। पर इसका परिणाम यह होता है कि बच्चे के भीतर एक दरार पड़ गयी, वह आधा अस्वीकृत हो गया, आधा स्वीकृत हो गया। फिर वह यह जान कर भी हैरान होता है कि कभी-कभी वही कृत्य दूसरों के सामने अस्वीकार किये जाते हैं, घर के ही लोगों के सामने अस्वीकार नहीं किये जाते।

एक बच्चा खेल रहा है, दौड़ रहा है, उधम कर रहा है। परिवार के लोग कोई फिक्र नहीं करते, लेकिन घर में मेहमान आ रहे हैं, कि उसे डाँट-डपट शुरू हुई। उसकी समझ के बाहर होता है कि जो अभी क्षण भर पहले बिलकुल ठीक था, वह क्षण भर बाद अचानक गड़बड़ क्यों हो गया ! मेहमान के आने से क्या फर्क पड़ रहा है ! इसका मतलब यह हुआ, कि तुम एक और धारणा उसके भीतर पैदा कर रहे हो कि तुम एकांत में एक तरह से हो सकते हो, दूसरों के सामने दूसरी तरह से होना है। तुम एक झूठा आदमी पैदा कर रहे हो, जिसमें एक झूठा चेहरा लगा कर जाना पड़ेगा।

संसार में जाना है, बाजार में जाना है, समाज में जाना है, तो तुम्हें बहुत से मुखौटे उपयोग करने पड़ेंगे। इन्हीं मुखौटों में तुम्हारी आत्मा खो गयी है।

और एक बहुत बहुमूल्य बात तुम्हें विस्मृत हो गयी है कि तुम जैसे हो, परमात्मा को वैसे ही स्वीकृत हो अन्यथा तुम होते ही नहीं। उपनिषदों का यह वचन : 'तत्त्वमसि श्वेतकेतु'—इसी बात की उद्घोषणा है। इस वचन पर पूरा का पूरा शिक्षा-शास्त्र रूपांतरित हो सकता है। इस एक वचन पर पूरी दूसरी तरह की संस्कृति निर्मित हो

सकती है।

इस वचन का मतलब यह है कि 'हे श्वेतकेतु, तू जैसा है, वैसा ही परमात्मा है। तुझे परमात्मा होने के लिए कुछ करना नहीं है। और जो तू करता है, उसका तेरे परमात्मा होने से कोई संगति-असंगति नहीं है।'

क्या मैं यह कह रहा हूँ कि बच्चों को हम कहें कि तुम्हें जो करना है करो? नहीं। वह तो संभव न होगा, व्यावहारिक भी न होगा। बच्चे को हमें यह धारणा देनी चाहिए कि तुम तो स्वीकृत हो, तुम्हारे प्रति हमारा प्रेम तो बेशर्त है। तुम्हारे करने, न करने से हमारे प्रेम में कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन हम तो तुम्हें प्रेम करते हैं। यह सारी दुनिया तुम्हें प्रेम नहीं करती। इस दुनिया से अगर तुम्हें प्रेम पाना हो, तो तुम्हें कृत्य और अकृत्य का खयाल रखना होगा। लेकिन हमारी तरफ से तुम पूरे स्वीकृत हो। तुम अगर पाप भी करोगे—महापाप भी करोगे, तो भी हमारे प्रेम की धारा में क्षण-भर भी कमी न होगी। हम तुम्हें वैसे ही प्रेम किये चले जाएँगे। तुम चाहे मंदिर में विराजमान हो जाओ, सिंहासन पर, और चाहे कारागृह में बंद रहो, हमारा प्रेम तुम्हारे प्रति एक-सा रहेगा।

प्रेम से तुम्हारे कृत्यों का कुछ लेना-देना नहीं है, लेकिन दुनिया को तुमसे कोई प्रेम नहीं है। दुनिया को तुम्हारे कृत्यों से मतलब है। सारी दुनिया के लोग तुम्हारे माता-पिता नहीं हैं, न तुम्हारे मित्र है, न तुम्हारे प्रेमी हैं। वहाँ तो तुम जाओ, तो उनसे तुम्हारा सम्बन्ध कृत्य का है। हमसे तुम्हारा सम्बन्ध होने का है।

एक बार बच्चे को यह पता चल जाय कि उसका होना पूरा का पूरा स्वीकार करने वाला भी कोई है, तुमने उसके जीवन से निंदा हटा दी। तब उसके जीवन में कभी भी आत्म-निंदा न होगी।

मैं सद्गुरु उसी को कहता हूँ कि जो माँ-बाप से नहीं हो पाया, वह कर दे। तुम उसके पास आओ, और वह तुम्हारी निंदा न करे।

रोज घटना घटती है। परसों एक युवक ने आकर कहा कि 'मुझे शराब पीने की आदत पड़ी है।' वह बहुत घबड़ाया हुआ था। उसने कहा, 'शराब छूटती नहीं है।' तो मैंने कहा, 'इसकी तू फिक्र मत कर, ऐसी छोटी-सी आदत के लिए इतनी क्या फिक्र, इतनी क्या चिंता लेनी! शराब ही पीता है न, कोई किसी का खून तो नहीं पी रहा?'

उसका सिर जो नीचे झुका था, ऊपर उठ गया। उसने कहा कि 'इसमें किसी की हानि नहीं कर रहा हूँ; अपनी ही हानि कर रहा हूँ। लेकिन छूटती नहीं।' मैंने कहा, 'तू उस पर ध्यान ही मत दे। तू ध्यान पर ताकत लगा।

'यह शराब को छोड़ने का खयाल ही गलत है। दुनिया में छोड़ने की बात ही गलत है। दुनिया में पाने की बात करनी चाहिए। और जब भी विराट को पा लोगे, क्षुद्र छूट





जाएगा। श्रेष्ठ को पा लोगे, निकृष्ट छूट जाएगा। तू शराब इसीलिए पी रहा है कि तेरे भीतर कोई समाधि की गहरी आकांक्षा है। तू जानता नहीं कैसे समाधि लगे, इसलिए गलत ढंग से उसको लगाने की कोशिश कर रहा है।'

शराब का मतलब ही केवल इतना है कि आदमी डूबना चाहता है। इसलिए तो फकीरों ने, संतों ने परमात्मा तक को शराब कहा है। कबीर ने कहा है, 'सकल कलारी भई मतवारी, मधुवा पी गयी बिन तौले—मधुशाला पूरी की पूरी पागल हो उठी—कि बिना तौले लोग शराब पी गये।' अब परमात्मा की शराब भी कोई तौल-तौल कर पीनी पड़ती है! वह भी कोई तौलने की बात है? वह तो जब पी गये, तो पी गये; पूरी पी गये।

संतों ने परमात्मा को शराब कहा है, समाधि को शराब कहा है। कारण है। शराब में कुछ बात है।

मेरे देखने में यही आया है कि जो लोग भी शराब की तरफ उत्सुक होते हैं, वे जरा-सी चूक कर रहे हैं; बिलकुल जरा-सी चूक। उन्हें ध्यान की तरफ उत्सुक होना था। उनकी गहरी आकांक्षा ध्यान की है। इसलिए मेरे अनुभव में ऐसा आया है कि जिसने कभी शराब नहीं पी है, वह शायद ध्यान कर भी न पाये। उसके भीतर आकांक्षा नहीं है। वह शराब तक नहीं पीया है, ध्यान क्या खाक करेगा! उसे बेहोश होने की, मस्त होने की धारणा ही नहीं है। डूबने का उसने मजा ही नहीं जाना है, उसको रस ही नहीं आया है, स्वाद ही नहीं पकड़ा है।

तो मेरे पास उस तरह के लोग भी आ जाते हैं। वे कहते हैं, 'हम शराब भी नहीं पीते, सिगरेट भी नहीं पीते, पान भी नहीं खाते; शाकाहारी हैं; समय पर सोते हैं, समय पर उठते हैं, लेकिन जीवन में कोई आनंद नहीं है।'

क्या तुम सोचते हो—इन सब बातों से जीवन में आनंद होने का कोई भी संबंध है! तुम सिगरेट न पीयो, इससे क्या कोई आनंद के होने का संबंध है? सिगरेट न पीने से आनंद के होने का कौन-सा संबंध है? किस मूढ़ ने तुम्हें समझाया कि सुबह तुम ठीक रोज समय पर उठ आते हो, इससे तुम्हारे जीवन में कोई आनंद हो जाएगा! नहीं, तुम्हें पता ही नहीं है।

शराबी मुझे स्वीकृत है, क्योंकि मैं जानता हूँ कि उसके शराब पीने के कृत्य में भूल हो सकती है, लेकिन शराब की आकांक्षा में भूल नहीं है। उसने गलत शराब चुन ली है, इतनी भर भूल है। उसे ठीक शराब चुननी थी, वह हम चुना देंगे; वह हम उसे पकड़ा देंगे। वह ठीक मधुशाला में आ गया, अब भाग न पायेगा।

वह शराबी युवक मुझसे कहने लगा कि 'यही मुसीबत है। आपसे बचने का उपाय नहीं है। कई दफे सोचता हूँ, छोड़ दूँ संन्यास; शराब नहीं छूटती, संन्यास छोड़ दें, लेकिन

कैसे छोड़ें ?'

मैं शराब छोड़ने को कहता भी नहीं। मैं कहता हूँ, हम बड़ी शराब बनाने की कला सिखाते हैं; घर-घर भट्टी खोलने की कला सिखाते हैं। अपनी ही बना लो और पी लो और बिना तौले पी जाओ। छूट जाएगी शराब।

मेरे देखे गलत कृत्य सिर्फ इसीलिए जीवन में हैं, क्योंकि उनके द्वारा तुम कुछ पाना चाहते हो; सिर्फ तुम्हें होश नहीं है कि वह उनसे मिलेगा नहीं।

शराब से कहीं समाधि मिली है ? थोड़ी देर के लिए विस्मरण मिलेगा और बड़ा महँगा। शरीर को नुकसान होगा, मन को नुकसान होगा और यह भी संभावना है कि अगर यह बहुत ज्यादा शराब चलती रही, चलती रही, तो तुम्हारा होश इतना खो जाय कि तुम्हें समाधि की तरफ जाने में पैर ही डगमगाने लगें। उस तरफ तुम कभी जा ही न सको।

कृत्य का कोई बहुत मूल्य नहीं है : तुम्हारे होने का मूल्य है। तुम्हारा होना इतना मूल्यवान है, इतना परम मूल्य है उसका, कि तुम क्या करते हो, इसका हम कहाँ हिसाब रखें ! ध्यान देते हैं भीतर, तो परमात्मा खड़ा दिखाई पड़ता है, हाथ में भला हो कि तुम सिगरेट पी रहे हो। अब सिगरेट पर ध्यान दें कि भीतर के परमात्मा पर ध्यान दें !

पंडित-पुरोहित का जोर हाथ की सिगरेट पर है। ज्ञानियों का जोर भीतर के परमात्मा पर है।

हम तो भीतर के परमात्मा को पुकारेंगे। अगर वह पुकार सुन ली गयी, तो सिगरेट हाथ से छूट जाएगी। वह छूट जानी चाहिए। छोड़ने की जरूरत नहीं आनी चाहिए, छूट जानी चाहिए।

हम तो भीतर की शराब पिलाएँगे, बाहर की छूट जाएगी। छोड़ने के लिए हमारी कोई जल्दी भी नहीं है, कोई आग्रह भी नहीं है। लेकिन छूटनी जरूर चाहिए। यह सहज ही फलित होगा। यह तुम्हारा कृत्य नहीं होगा।

जिस आँख से तुमने मेरी तरफ देखा है, उसी आँख से अपनी तरफ देखो। और जिन हाथों से और जिस श्रद्धा से तुमने मेरे पैर छुए हैं, उसी श्रद्धा और उन्हीं हाथों से अपने पैर छुओ। मैं तुम्हारे भीतर भी हूँ। बस, उसी दिन रूपांतरण शुरू हो जाता है।

● दूसरा प्रश्न : जिसके जीवन में सुबह घट जाय, क्या उसके जीवन में फिर साँझ नहीं आती ?

जिसके जीवन में सुबह घट जाय, उसके जीवन में साँझ तो आती है, लेकिन साँझ जैसी मालूम नहीं पड़ती। जिसके जीवन में आनंद घट जाय, उसके जीवन में भी दुःख आता है, लेकिन दुःख जैसा मालूम नहीं पड़ता।

बुद्ध के पैर में भी काँटा चुभे तो पीड़ा होगी, शायद तुमसे थोड़ी ज्यादा ही हो,





क्योंकि तुम्हारी संवेदना बुद्ध जैसी नहीं हो सकती। बुद्ध की संवेदनशीलता तो बिलकुल शुद्ध है; तुम्हारी संवेदनशीलता तो कठोर है। बुद्ध के पैर में काँटे का चुभना तो कमल की पखुड़ी में काँटे का चुभना है। तुम्हारा पैर तो जड़ है।

बुद्ध को पीड़ा तो होगी—और पीड़ा नहीं होगी। इस विरोधाभास को ठीक समझ लेना चाहिए।

बुद्ध पीड़ा को तो जानेंगे, लेकिन बुद्ध को पीड़ा नहीं होगी। साँझ तो आयेगी, लेकिन सुबह बनी रहेगी। साँझ सुबह के चारों तरफ आ जाएगी। लेकिन सुबह को स्थानांतरित न कर पायेगी। सुबह की जगह न आयेगी साँझ। सुबह तो जलती ही रहेगी भीतर। बुद्ध का आनंद तो वैसा का वैसा बना रहेगा। इस पीड़ा की बदली से कोई भी फर्क न पड़ेगा।

पीड़ा आयेगी, पीड़ा का पता भी चलेगा। काँटा चुभ रहा है, दर्द दे रहा है, यह सब होश होगा। बुद्ध को न होगा, तो यह होश किसको होगा ! थोड़ा ज्यादा ही होगा, क्योंकि होश पूरा है।

जैसे सन्नाटा गहन हो, तो सुई भी गिर जाय तो आवाज सुनाई पड़ेगी।

तुम तो एक बाजार हो। वहाँ कोई बैन्ड-बाजा बजाये, तब कहीं मुश्किल से तुम्हें सुनायी पड़ता है—कि अच्छा, कुछ हो रहा है। तुम तो एक भीड़ हो। तुम्हारे भीतर छोटी-छोटी घटनाओं का तो पता भी नहीं चल सकता। सुई के गिरने का क्या खाक पता चलेगा। उसका कोई तुम्हें पता न चलेगा। लेकिन बुद्ध को पता चलेगा। पर 'पता' चलेगा। बुद्ध उसके पार ही रहेंगे।

'सुबह' होने का अर्थ है : पार होने की कला। सुबह होने का अर्थ है : अतिक्रमण—ट्रान्सेन्डेन्स। घट रही है पीड़ा, काँटा चुभ रहा है, लेकिन बुद्ध को नहीं चुभेगा; शरीर को ही चुभेगा। पीड़ा शरीर में ही घटेगी। बुद्ध दर्शक की तरह ही होंगे।

बुद्ध को ऐसी पीड़ा होगी, जैसी किसी और को होती हो। निश्चित ही बुद्ध उपेक्षा न करेंगे, क्योंकि बुद्धत्व का अर्थ ही परम करुणा है। जिनकी करुणा दूसरे की पीड़ा पर होती है, क्या उनकी अपने शरीर पर करुणा न होगी ? तुम्हारे पैर में काँटा चुभे, तो बुद्ध निकालने दौड़ आते हैं, तो अपने पैर में चुभेगा तो न दौड़े जाएँगे ? बराबर जाएँगे।

तुम जैसे दूर हो, ऐसे ही अपना शरीर भी दूर है। तुम जैसे पराये हो, ऐसा अपना शरीर भी पराया है। बुद्ध काँटा भी निकालेंगे। पीड़ा भी होगी और बुद्ध बाहर भी रहेंगे।

यह घटना बुद्ध को डुबा न पायेगी। इससे उनका होश न खो जाएगा। ऐसा न होगा कि यह पीड़ा का बादल उनके होश को इस भाँति छा ले कि होश का पता ही न

रहे, पीड़ा ही रह जाय। यह न होगा।

जिसके जीवन में सुबह हो गयी, साँझ तो आती रहेगी, लेकिन साँझ सुबह को मिटा न पायेगी।

और यह बड़े मजे की बात है : जब भीतर सुबह होती हैं और बाहर साँझ होती है, तब भीतर की सुबह इतनी प्रगाढ हो कर प्रकट होती है, जितनी कभी नहीं, क्योंकि अँधेरा और प्रकाश साथ-साथ होते हैं। अँधेरा पृष्ठभूमि बन जाता है। भीतर की ज्योति उस पृष्ठभूमि में बड़ी प्रखर हो कर जलती है।

दिन में दिया जलाओ, कैसा मंदा-मंदा मालूम पड़ता है। फिर आने दो रात, घिरने दो अँधेरा, छा जाने दो सब तरफ गहन अंधकार, और दिये की रोशनी प्रगाढ होने लगती है। दिये में एक रूप-रेखा प्रकट होती है। जितना गहन हो जाता अँधेरा चारों तरफ, दिये की ज्योति में उतना ही स्वर्ण बरसने लगता है।

पीड़ा में क्षणों में बुद्धत्व का दिया भी प्रगाढ हो कर जलता है। जब आती है साँझ, तब सुबह और भी गहरी हो जाती है।

सुबह और साँझ तो चलती ही रहेंगी, जब तक शरीर है। क्योंकि सुबह और साँझ का संबंध शरीर से है। शरीर इस पृथ्वी का हिस्सा है। इस पृथ्वी के हिस्से जब तक हम हैं, तब तक सुख-दुःख आते रहेंगे।

जब शरीर छूट जाता है--किसी बुद्ध-पुरुष का, तब फिर जो होता है, उसे सुबह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जब साँझ ही नहीं आती, तो अब इसे सुबह क्या कहना। फिर न तो सुबह आती है, न साँझ आती है। इसलिए बुद्ध ने निर्वाण के दो चरण कहे हैं। एक, जो उनको चालीस वर्ष की उम्र में हुआ, तब वे निर्वाण को उपलब्ध हुए, समाधि को उपलब्ध हुए, सम्बुद्ध हुए, उन्होंने जाना। फिर चालीस वर्ष तक शरीर की यात्रा और भी जारी रही। इसी पृथ्वी पर रथ चलता रहा। इस पृथ्वी के उबड़-खाबड़ मार्ग पर रथ को नीचा-ऊँचा भी देखना पड़ा। फिर हुआ महापरिनिर्वाण। तब देह भी छूट गयी। देह के छूटते ही सुबह-साँझ दोनों चली गयीं। फिर तो एक ऐसे प्रकाश का आविर्भाव होता है, जिसको प्रकाश भी क्या कहें, क्योंकि उसका अँधेरे से कोई नाता ही नहीं है। फिर तो एक ऐसे जीवन का प्रादुर्भाव होता है, उसको जीवन भी कैसे कहें, क्योंकि उसका मृत्यु से कोई भी संबंध नहीं है। इसलिए बुद्ध उस संबंध में बिलकुल चुप रह जाते हैं, कुछ भी नहीं कहते, क्योंकि जो भी कहेंगे, उसी में भूल हो जाएगी।

हमारे सभी शब्द विरोधियों से बँधे हैं। कहो प्रकाश--अँधेरा याद आता है। कहो प्रेम--घृणा याद आती है। कहो मित्र--शत्रु की स्मृति बन जाती है। हमारे सब शब्द विरोधी से जुड़े हैं। कहो जीवन--मृत्यु खड़ी है। जो भी कहोगे शब्द में, उसका विपरीत शब्द ही उसकी सीमा बनाता है, परिभाषा बनाता है।





अगर तुमसे कोई पूछे, 'प्रकाश क्या है', तो तुम यही कहोगे न कि जो अँधेरा नहीं है। तो अँधेरा परिभाषा है--प्रकाश की! बड़ी बेबूझ दुनिया है! कहो, 'जीवन क्या है', तो तुम यही कहोगे न कि जो मृत्यु नहीं है। जीवन की परिभाषा मृत्यु से करनी पड़ती है।

हमारे सभी शब्द विपरीत से परिभाषा पाते हैं। इसलिए तो हम परमात्मा की परिभाषा नहीं कर सकते, क्योंकि उससे विपरीत कुछ भी नहीं है। वह अपरिभाष्य है। उसे हम भाषा में नहीं बाँध पाते। बाँधते ही भूल हो जाती है। इसलिए ज्ञानी सतत कहते हैं कि जो कहा जा सके, वह फिर सत्य न रहा। जो नहीं कहा जा सकता--नहीं ही कहा जा सकता, किसी काल में नहीं कहा जा सकता, वही सत्य है। फिर भी ज्ञानी बोलते हैं। उनका बोलता तुम्हें जगाने के लिए है, सत्य कहने के लिए नहीं।

जैसे तुम सोये हो, सुबह हुई, पक्षियों ने गीत गाये, सूरज उगने लगा, फूल खिले, गंध उठी, लोक रूपांतरित हुआ, रात का अँधेरा--तमस गया। तुम सोये पड़े हो। इस सोये हुए आदमी को कोई भी उपाय नहीं है समझाने का कि फूल गंध दे रहे हैं, पक्षी गीत गा रहे हैं, सूरज उगा है। इसकी आँखें बंद हैं। इसका होश खोया है। इसको बताने का कोई भी उपाय नहीं है कि सुबह हो गयी है, जागो--और देखो। एक ही उपाय है कि इसे हिलाओ, चौंकाओ, इसकी नींद तोड़ो। नींद तोड़ी तो यह खुद ही देख लेगा।

सत्य कहा नहीं जा सकता। और जो भी कहा जाता है, वह सिर्फ तुम्हारी नींद को तोड़ने का उपाय है। नींद खुल जाने पर सत्य तो तुम देखोगे, वह कभी भी किसी ने कहा नहीं है। सदा से सत्य अनकहा है और सदा अनकहा रहेगा। अच्छा ही है, क्योंकि शब्द तो बासे हो जाते हैं। कितने होंठों पर से गुजरते हैं, कितने गंदे हो जाते हैं!

सत्य कुँआरा है। वह किसी होंठ से कभी नहीं गुजरा। कभी बासा नहीं हुआ। वह सिक्का हाथ-हाथ में चलता नहीं, और बासा नहीं होता। वह चला ही नहीं, वह ढला ही नहीं। वह शुद्ध सोना अपनी खदान में ही छिपा है और उसे हम कभी खोज नहीं पाते। कोई उपाय नहीं शब्दों से खोजने का, जब तक कि हम उसमें छलाँग ही न ले लें।

सत्य तुम हो सकते हो, सत्य को जान नहीं सकते। सत्य की तरफ इशारे किये जा सकते हैं, सत्य कहा नहीं जा सकता।

● तीसरा प्रश्न : आपने कल कहा 'एक साधे सब सधै--कोई भी एक साध लो, सब सध जाता है।' क्या कुछ भी न साधें, तब भी सब सध जाता है?

वह तो बहुत बड़ी साधना है : कुछ भी न साधें . . .। अगर वह सध गया, तो सब सध जाएगा।

लेकिन तुम शब्दों की भ्रांति में मत पड़ जाना। कुछ भी न साधने का मतलब

यह नहीं होता कि खाली बैठे रहना, क्योंकि खाली बैठने में तुम खाली कहाँ होते हो। हजार विचार चलते हैं। चुप बैठे होते हो, तो चुप कहाँ होते हो ? मन तो गूँथता ही चला जाता है। न मालूम कितनी कहानियाँ, न मालूम कितनी वासनाएँ, न मालूम कितने जाल !

कुछ न करते वक्त भी तुम कुछ नहीं करते हो ? कितने कृत्य, कितनी बेचैनियाँ भीतर उबलती हैं !

कुछ न करना तुम्हारा अगर सच में ही 'कुछ न करना' हो, तो यह परम दशा है। उससे ऊपर फिर कुछ भी नहीं।

अगर तुम साध सको—न करने को साध सको, तो उससे ऊपर कोई भी साधना नहीं है। वह तो परम योग है। उस एक को साध लो; कुछ तो साधो; कुछ न करना ही साधो।

यह मत समझना कि जब कुछ नहीं करना है, तो हम जैसे थे, वैसे ही रहेंगे। तब तुम धोखा दे रहे हो, तब तुम शब्द की आड़ में बचाव कर रहे हो।

एक जर्मन विचारक हेरीगेल एक झेन फकीर के पास तीर चलाना सीखता था, धनुर्विद्या सीखता था। उसके गुरु का कहना था कि तीर ऐसे चलाओ कि तुम चलाने-वाले न होओ। तीर को चलने दो, तुम मत चलाओ। अब हेरीगेल जर्मन विचारक ! उसके लिए सीधी बात है कि यह पागलपन की बात कर रहा है। तो हेरीगेल उससे कहता है, 'अगर मैं न चलाऊँ, तो यह चलता नहीं। अगर मैं चलाऊँ, तो तुम्हारी तृप्ति नहीं होती ! तो करना क्या है ? तुम कोई उपाय नहीं छोड़ते। अगर तुम कहते हो कि न चलाऊँ, तो मैं बैठ जाता हूँ; फिर तीर चलता ही नहीं। तब तुम कहते हो, बैठे-बैठे क्या कर रहे हो; उठो; साधो तीर को। अगर निशाना लगाता हूँ और निशाना भी ठीक लग जाता है, तब भी तुम्हारी तृप्ति नहीं है, क्योंकि तुम कहते हो, तीर को चलने दो। चलाओ मत।'

तीन साल मेहनत की गुरु के पास, थक गया। तीन साल लम्बा वक्त है, और कोई परिणाम हाथ न आया। सौ प्रतिशत निशाने ठीक लगने लगे, लेकिन गुरु रोज इनकार किये चला जाता है कि नहीं, यह भी नहीं। गुरु कहता, 'हमें निशाने से प्रयोजन नहीं है। तुम हो हमारा निशाना। हम तुम्हारी तरफ देख रहे हैं। तुम वहाँ देख रहे हो, वह जो निशाना लगा है—उसकी तरफ। तुम सोचते हो : निशाना मार लिया तो बात हो गयी। तीर चलाना तो तुम सीख गये, लेकिन ध्यान नहीं सीखे। ध्यान सीखने तुम आये हो। और हमारे लिए तो तीर चलाना ध्यान सिखाने का बहाना है। वह नहीं सीखा तुमने।'

अब हेरीगेल निश्चित ही मुश्किल में पड़ गया होगा कि इस आदमी के साथ क्या





करना।

पश्चिम की एक सोचने की प्रक्रिया है। हेरीगेल को सर्टिफिकेट मिलना चाहिए, क्योंकि वह सौ प्रतिशत निशाने ठीक मारने लगा। अब और क्या जानने को बाकी रहा ! और गुरु सर्टिफिकेट तो दूर, अभी यह भी नहीं मानता कि तुमने पहला कदम भी उठाया है।

तीन साल बाद वह थक गया। उसने कहा, 'मैं जाता हूँ।' वह आखिरी दिन विदा लेने गया। चूँकि अब जा ही रहा था, इसलिए चिंता भी नहीं थी मन पर, जा कर बैठ गया, कुर्सी पर, जहाँ गुरु दूसरे लोगों को तीर चलाना सिखा रहा था। बैठ कर देखता रहा कि गुरु निपट जायँ तो उनसे विदा ले लूँ।

पहली दफा उसने गौर से देखा, क्योंकि अब अपनी कोई चिंता न थी। वह जो भीतर की दौड़ थी, वह तो बंद थी। अब जा ही रहे हैं, बात खतम हो गयी। अब कुछ नाता न था। पहली दफे बिना लिपायमान हुए उसने देखा कि यह आदमी कैसे तीर चला रहा है। 'यह तो मैंने कभी खयाल ही न किया। यह तो कुछ और ही ढंग से चला रहा है !' उसे पहली दफे अनुभव हुआ कि तीर चल रहा है, गुरु चला नहीं रहा है। रखता है; हाथ खींचता है, लेकिन गुरु वहाँ नहीं है। जैसे कोई दूसरी ही ऊर्जा चला रही है।

वह उठा, कहना ठीक नहीं है कि उठा, क्योंकि उसे पता ही नहीं है कि वह कब उठ गया। गुरु के पास पहुँच गया। उसने गुरु से प्रत्यंचा अपने हाथ में ले ली, तीर चढ़ाया। तीर छूटा भी न था और गुरु ने कहा, 'शाबास। बस, पर्याप्त है। निशाना लगे या न लगे। समझ गये तुम। इसी दिन की प्रतीक्षा थी।'

तीर अभी चला भी न था और गुरु तृप्त हो गया। तीन वर्ष में जो न हुआ, वह क्षण में हो गया।

पर हेरीगेल ने कहा, 'अब मैं कह सकता हूँ कि वह बात ही अलग थी, अनुभव ही अलग था। इसके पहले तो मैं भी न मान सकता था कि यह हो सकता है, कि ऐसी आविष्ट दशा आ जाय, जब कि तुम नहीं करते—और होता है !'

मैं एक अमेरिकी साधक का जीवन पढ़ रहा था। वह एक सद्गुरु को मिलने गया। अकारण पहुँच गया। कई बार अकारण घटना घट जाती हैं। क्योंकि जब तुम कारण से जाते हो, तो तुम तने होते हो। जब तुम अकारण जाते हो, तो कोई तनाव नहीं होता।

वह ऐसे ही रास्ते से घूमने निकला था। एक जगह द्वार पर तख्ती लगी देखी कि कोई ध्यान केन्द्र है। कभी उसकी ध्यान में उत्सुकता न रही थी। अचानक उस दिन उसे लगा कि आज घूमना छोड़कर भीतर जाकर देखा जाय कि यहाँ क्या हो रहा है। ऐसे कुतूहलवश भीतर पहुँच गया।

वहाँ कोई दस-बारह लोग बैठे ध्यान करते थे। वह भी जाकर उनके पास बैठ गया। देखने लगा : क्या हो रहा है। वह किसी बड़े प्रयोजन से आया ही न था। गुरु ने उसकी तरफ देखा। उसकी आँखों में आँखें डाली। उसे कुछ पता ही न था कि यह क्या हो रहा है, तो उसने भी गौर से गुरु की आँखों में आँखें डाल कर देखा कि यह आदमी क्या देख रहा है। लेकिन उस क्षण कुछ हो गया। और एक धक्का उसको पेट पर लगा; आनंद भी बहुत मालूम हुआ। लेकिन उस दिन से उसको पेट में एक पीड़ा शुरू हो गयी। पाँच-सात दिन तो वह परेशान रहा। डॉक्टरों को दिखाया। उन्होंने-कहा, 'हम तो दर्द का कोई कारण नहीं पकड़ सकते। जहाँ से हुआ है, वहीं जाओ।' उसने कहा, 'यह तो झंझट हो गयी। मैं तो ऐसे अकारण ही, ऐसे ही राह चलते कुछ उत्सुकतावश पहुँच गया था!'

गुरु से मिलने गया। कहा कि 'पीड़ा हो रही है और मिटती नहीं।' गुरु ने कहा, जैसी आई है, चली जाएगी; तुम फिक्र न करो।' यह बात उसे कुछ जँची नहीं। यह तो उपेक्षा हुई। और यह तो कोई रस ही न लिया इस आदमी ने। लेकिन अब कोई उपाय भी नहीं है। वह पीड़ा बढ़ती ही चली गयी।

वह संगीत की साधना करता था; तबला सीखता था। कोई दो साल पीड़ा रही, क्योंकि चिकित्सक कुछ पकड़ न सके और गुरु के पास दो-चार बार गया; उसने ऐसी उपेक्षा की कि 'ठीक हो जाएगा। जैसे आया है, वैसे चला जाएगा। न तुमने अपनी तरफ से बनाया है, न तुम मिटा सकते हो। साक्षी-भाव रखो।'

यह तो ऐसा लगा, जैसे टालना है। लेकिन एक दिन, दो साल बाद तबला बजा रहा था, अचानक उसने देखा कि कुछ घटना घटी। हाथ उसके अपने से चलने लगे, जैसे वह खुद नहीं चला रहा। आविष्ट हो गया। उसने पहली दफे तबले को बजते देखा अपने से; वह बजा नहीं रहा है! कोई आधा घंटे तक वह सुर-धुन बंधी रही। बड़ा आनंद अनुभव हुआ। सुना था उसने कि ऐसा कभी घटता है संगीतज्ञ को, और तभी संगीत का जन्म होता है। जब संगीतज्ञ तो मिट जाता है, कोई विराट् ऊर्जा पकड़ लेती है और वह आविष्ट हो जाता है। तब वह खुद नहीं बजाता, कोई बजवाता है। तब तबले पर उसके हाथ नहीं पड़ते, किसी और के हाथ उसके हाथ से पड़ते हैं। ऐसा सुना था, भरोसा इसका था नहीं। लेकिन यह घटा। आधे घंटे के बाद वह थक कर लेट गया, क्योंकि बड़ा अनूठा अनुभव था। अचानक उसने पाया कि वह जो दर्द था पेट में, वह जा चुका है। वह जो दो साल तक पीछा नहीं छोड़ा, वह जैसे आया था, वैसे चला गया। और उस दर्द के साथ जीवन में से बहुत कुछ चला गया; जैसे उस दर्द में सभी कुछ जीवन का रोग इकट्ठा हो गया था।

न कुछ साधने का अर्थ होता है, तुम परमात्मा को द्वार दो। उसे आविष्ट होने दो। तुम जगह खाली करो। वह तुम्हारे सिंहासन पर विराजमान हो जाय।





अगर तुम न-करना साध लो, तो जगत् की सबसे बड़ी चीज साध ली। उससे बड़ी कोई भी साधना नहीं। उसको ही ज्ञानियों ने सहजयोग कहा है। कबीर कहते हैं, 'साधो, सहज समाधि भली।' यह है सहज समाधि।

तुम खाली हो। तुम सिर्फ परमात्मा को जगह देने के लिए आतुर हो; प्रतीक्षा करते हो। चलते हो, तो सोचते हो—वही चले मेरे भीतर। भोजन करते हो, तो सोचते हो—वही भोजन करे मेरे भीतर। सोते हो, तो सोचते हो—उसी के लिए सेज लगाऊँ—वही सोये मेरे भीतर। ऐसे धीरे-धीरे तुम परमात्मा के मंदिर बनते जाते हो। तुम कुछ नहीं करते। तुम अपने करने को उस पर छोड़ते जाते हो। एक ऐसी घड़ी आती है—महाघड़ी, जब तुम्हारा सब कृत्य उसका कृत्य हो जाता है। उस घड़ी ही समझना कि न करना सधा। उसके पहले न करना नहीं सधा।

जब तक तुम्हारा कर्ता भीतर है, न करना कैसे सधेगा? कर्ता तो करवाता ही रहेगा।

कृष्ण की पूरी शिक्षा अर्जुन से यही है कि तू कर्ता मत बन। तू न करने में हो जा। उसी को साधने दे तेरे हाथ में प्रत्यंचा को, उसी को उठाने दे गाण्डीव को, उसी को चलाने दे तीर, उसी को लड़ने दे युद्ध, उसी को जीतने दे, उसी को हारने दे: तू बीच में मत आ। तू निमित्त मात्र हो जा।

● **चौथा प्रश्न** : आप कहते हैं : जो व्यक्ति साक्षित्व को उपलब्ध होता है, उसकी समस्त वासनाएँ और विकार मिट जाते हैं। तब यह क्या संभव है कि ऐसा मुक्त पुरुष भी हत्या जैसे वासनाजन्य और विकारग्रस्त कृत्य में उतर सके?

उतर तो नहीं सकता; स्वयं तो नहीं उतर सकता, लेकिन अगर परमात्मा की मरजी हो, तो रोक भी नहीं सकता। क्योंकि जब तुम मिट ही गये, तो करने वाला भी न बचा, रोकने वाला भी न बचा। फिर जो हो—हो। फिर वह व्यक्ति तो ऐसा हो जाता है, जैसे बादल। हवाएँ जहाँ ले जायँ।

तुम यह नहीं कह सकते कि वह क्या नहीं कर सकता और क्या करेगा। वह बचा ही नहीं। उसके सारे विकार शून्य हो गये। वह तो खाली शून्य गृह हो गया। अब उसमें परमात्मा की हवाएँ, जिस भाँति बहें—बहें। न तो करनेवाला कोई बचा, न रोकने वाला कोई बचा। रोकने वाला भी करने वाला ही है।

तो जरूरी नहीं है कि उससे ऐसे कृत्य हों, लेकिन अगर परमात्मा की मरजी हो, तो होंगे। लेकिन तब वह यह नहीं कहेगा कि मैंने किये हैं। न तो वह अपने कृत्यो मे कोई गुणगौरव लेगा और न अपने कृत्यों से कोई निंदा लेगा। न तो वह दान करते समय सोचेगा कि मैं कोई महान कार्य कर रहा हूँ और न हिंसा करते वक्त सोचेगा कि मैं कोई महापातक कर रहा हूँ। वह है ही नहीं। वह बीच से हट ही गया। अब परमात्मा की

जो मरजी, वह जो करवा ले।

संभव है कि परमात्मा को जरूरत हो। 'परमात्मा' जब भी मैं कहता हूँ, तो मेरा मतलब होता है--समष्टि। यदि सारे अस्तित्व को जरूरत हो--जरूरत हो कि कोई मिटाया जाय, जरूरत हो कि कोई हटाया जाय, तो वह काम में आ जाएगा। लेकिन इससे एक रेखा भी न खिंचेगी उसके भीतर--कि मैंने कुछ किया।

वही तो--कृष्ण की इतनी-सी बात है अर्जुन के लिए कि तू बीच में मत आ। तू यह मत सोच कि तू मारेगा। तू यह मत सोच कि फल क्या होगा। तू छोड़ ही दे; सारी बात ही छोड़ दे।

अगर उस घड़ी में छोड़ने के बाद--जब अर्जुन ने कहा, 'मेरे सब संशय जाते रहे, हे महाबाहो, मेरे सब संदेह क्षीण हो गये'--अगर उस क्षण में समष्टि की यही आकांक्षा होती कि वह संन्यस्थ हो जाय, तो वह उठा होता, रथ से उतरा होता और जंगल चला गया होता। वह नहीं थी समष्टि की इच्छा।

जो अर्जुन सोच रहा था कि मैं करूँ, वह समष्टि की इच्छा न थी। इसलिए कृष्ण उसको कहे चले गये।

मैं निरंतर सोचता हूँ कि अगर महावीर जैसा व्यक्ति होता अर्जुन की जगह, तो क्या कृष्ण इतनी बातें कहते! बिलकुल नहीं कह सकते थे। क्योंकि महावीर को देख कर वे समझ लेते कि यही अस्तित्व की घटना घट रही है; अस्तित्व यही चाहता है कि महावीर नग्न हो जायँ, जंगलों में भटकें। युद्ध महावीर के लिए नहीं है। वह उनका स्वधर्म नहीं है।

कृष्ण ने अर्जुन को देख कर गीता कही। महावीर को देख कर तो चुप ही रह गये होते। क्योंकि महावीर का जाना, महावीर का अपना जाना न था।

महावीर के जीवन में बड़ा मीठा प्रसंग है। वे संन्यस्थ होना चाहते थे। उनकी माँ ने कहा कि मेरे जीते नहीं। वे चुप हो गये। बात ही छोड़ दी संन्यास की। जैसे कोई आग्रह ही न था संन्यास का। आग्रह तो अहंकार का होता है। संन्यास का भी क्या आग्रह! छोड़ने का भी क्या आग्रह! पकड़ने के आग्रह से जब छूट गये, तो छोड़ने का आग्रह भी छोड़ देना चाहिए। अगर कोई दूसरा होता तो ज़िद पकड़ जाता। माँ जितना रोकती, उतनी जिद बढ़ती। घर के लोग जितने परेशान होते, उतनी ही अकड़ आती कि मैं तो संन्यासी हो कर रहूँगा।

दुनिया में सौ में से निन्यानबे संन्यासी, दूसरों की वजह से हो जाते हैं--रोकने वालों की वजह से। क्योंकि जब भी कोई रोकता है, तब बड़ा अहंकार को मजा आता है कि हम कोई महान कार्य करने जा रहे हैं।

लेकिन महावीर चुप ही हो गये। माँ भी शायद सोची होगी कि यह भी कैसा संन्यास।





एक बार कहा नहीं, कि चुप हो गया! सभी माताएँ ऐसा ही कहती हैं। यह कोई नयी बात न थी कि महावीर की माँ ने कहा कि मत लो संन्यास, मेरे जीते-जी। मैं मर जाऊँगी। ऐसा सभी माताएँ कहती हैं। कोई माँ मरी है कभी--किसी के संन्यास लेने से? यह तो माँ-बाप के कहने के ढंग हैं। इनका कोई मूल्य नहीं है।

माँ भी थोड़ी चिंतित हुई होगी कि यह भी संन्यास कैसा संन्यास था! फिर माँ मरी। मरघट से लौटते थे। रास्ते में अपने बड़े भाई को कहा कि 'अब तो ले सकता हूँ?' रास्ते ही में! अभी विदा ही करके लौटते थे। बड़े भाई ने कहा, 'यह भी कोई बात हुई? इधर माँ मर गयी है, इधर हम परेशान हो रहे है और तुम्हें संन्यास की पड़ी है! एक दुःख काफी है, अब तुम और यह दुःख मेरे ऊपर मत लाओ। चुप रहो, यह बात ही मत उठाना।'

अब जब बड़े भाई ने कहा, चुप रहो, तो वे चुप हो गये। हमें भी लगेगा, यह भी कैसा संन्यासी है। यह तो होगा ही नहीं कभी--ऐसा अगर चला तो। क्योंकि कोई न कोई मिल ही जाएगा।

बड़ा घर रहा होगा, बड़ा परिवार था। राज परिवार था, सम्बन्धी रहे होंगे। ऐसे अगर हर एक के कहने से रुके, तब तो जन्म जन्म बीत जायँ, महावीर का संन्यास होनेवाला नहीं। भाई ने भी सोचा होगा कि यह भी कैसा संन्यास है! एक दफा कहो, 'नहीं' कि यह चुप हो जाता है। यह जैसे रास्ता ही देखता है कि तुम रोक दो, बस, हम रुक जायँ! मगर नहीं। बात कुछ और थी।

महावीर आग्रही नहीं थे। संन्यास का भी क्या आग्रह करना। छोड़ने का भी क्या आग्रह करना। नहीं; वह पकड़ने जैसा ही हो गया।

संन्यास को भी क्या पकड़ना। जब संसार ही छोड़ दिया, तो संन्यास को क्या पकड़ना। तो जो है--ठीक है।

लेकिन धीरे-धीरे घर के लोगों को लगा कि वे घर में हैं ही नहीं। रहते घर में हैं। भोजन करते, उठते, बैठते, लेकिन ऐसे शून्यवत हो रहे कि उनके होने का किसी को पता ही न चलता। आखिर भाई और घर के लोग मिले। उन्होंने कहा, 'अब इसे रोकना व्यर्थ है। यह तो जा ही चुका। सिर्फ शरीर है घर में। शरीर को भी रोकने के लिए हम क्यों पापी बनें। नहीं तो कहने को होगा कि हमारी वजह से यह संन्यस्थ न हुआ। और यह हो ही गया। यह यहाँ है नहीं। इसकी मौजूदगी यहाँ मालूम नहीं पड़ती। महीनों बीत जाते हैं, किसी को पता ही नहीं चलता कि महावीर कहाँ हैं! वे अपने में ही समाये हैं।

तो घर के लोगों ने ही हाथ जोड़कर कहा कि अब जब तुम जा ही चुके हो, तो अब तुम हमको नाहक अपराधी मत बनाओ। अब तुम जाओ ही। अब तुम यहाँ हो ही नहीं,

अब हम रोकें किसको; रोकना किसको है। जब उन्होंने ऐसा कहा, तो महावीर उठ कर चल दिये।

ऐसे संन्यास को कृष्ण न रोक सकते थे। अर्जुन का संन्यास ऊपर-ऊपर था। वह घबड़ा कर भाग रहा था—जान कर नहीं। वह खुद भाग रहा था, परमात्मा उसे भगा नहीं रहा था। इसलिए जब उसके सब संशय गिर गये थे, और जब उसने सब छोड़ दिया था, तब फिर जो घटित हुआ—हुआ। फिर वह न जा सका जंगल की तरफ, क्योंकि वह परमात्मा की मरजी न थी।

कृष्ण का जो संघर्ष है अर्जुन से, वह अर्जुन की मरजी के खिलाफ है, परमात्मा की मरजी के पक्ष में है। वे इतना ही कह रहे हैं। कृष्ण ने भी न रोका होता—अगर सब संशय गिर जाने पर, अहंकार को अलग रख देने पर, अर्जुन उतरता, चरण छूता और कहता कि 'अब जाता हूँ; सब संशय समाप्त हुए, बात खतम हो गयी'; तो मैं जानता हूँ कि कृष्ण रोक न पाते। न रोकने की कोई जरूरत रह जाती।

रोक हम उसी को सकते हैं, जो अपने से जा रहा हो। रोकने की जरूरत उसी को है, जो अस्तित्व के विपरीत जा रहा हो।

गीता को लोग समझ नहीं पाये। गीता को लोगों ने समझा कि यह युद्ध में जाने का संदेश है। गलत। गीता को लोगों ने समझा, यह संसार में अड़े रहने का संदेश है। गलत।

एक तरफ यह गीता को माननेवालों की भूल है। दूसरी तरफ जैनों ने समझा कि यह गीता संन्यास के विरोध में है। गलत। कि गीता त्याग से बचाती है, यह भी गलत। गीता कुल इतना कहती है कि परम की जो आकांक्षा है, तुम उसके साथ बहो, विपरीत मत बहो। फिर वह जो भी हो आकांक्षा। कभी संन्यास की होगी; महावीर के लिए संन्यास की थी; अर्जुन के लिए संन्यास की नहीं थी। जो परम की आकांक्षा हो।

नदी की धार के विपरीत मत बहो। उस नदी की धार के साथ हो रहो। फिर नदी पूरब जा रही हो, तो पूरब; और नदी पश्चिम जा रही हो तो पश्चिम। अब कुछ नदियाँ पश्चिम जाती हैं, कुछ पूरब जाती हैं। गंगा पूरब की तरफ भागी जा रही है, नर्मदा पश्चिम की तरफ भागी जा रही है। विपरीत नहीं हैं वे। जो आदमी गंगा में बह रहा है, वह पूरब की तरफ बहेगा; जो आदमी नर्मदा में बह रहा है, वह पश्चिम की तरफ बहेगा। लेकिन दोनों नदी के साथ बह रहे हैं। दोनों एक हैं।

गीता को जो ठीक से समझेगा, तो पायेगा कि गीता का और कुछ भी संदेश नहीं है; इतना ही संदेश है कि परमात्मा की धारा के विपरीत मत बहना; स्वभाव के अनुकूल बहना। इसलिए कृष्ण बार-बार कहते हैं: 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'। वह जो स्वयं का, भीतर का आत्यंतिक धर्म है, उसमें मर जाना भी बेहतर। 'परधर्मो भयावह'—और





दूसरे का धर्म है—वह चाहे सफलता ले आए, जीवन दे, तो भी भयपूर्ण है। उसमें मत जाना।

स्वभाव में बहने का अर्थ परमात्मा में समर्पित होकर बहना है। स्वभाव यानी परमात्मा—जिसको लाओत्से 'ताओ' कहता है।

● आखिरी प्रश्न: आप कहते हैं: साक्षी भाव से निमित्त मात्र होकर यदि कोई हत्या भी करे, तो उसे न कर्म-बंध होगा और न कोई पाप लगेगा। लेकिन किसी भी प्राणी को पीड़ा तो होगी ही, तो उसके दुःख की तरंगों का कार्यकारण के नियमानुसार क्या परिणाम होगा?

यह थोड़ा-सा सूक्ष्म है, लेकिन समझने योग्य और अत्यंत जरूरी सवाल है। बात बिलकुल ठीक है। तुम ज्ञान को उपलब्ध हो गये। परम की मरजी यही थी कि तुम युद्ध में जाओ; तुम गये। तुमने अर्जुन की तरह महाभारत का युद्ध किया। उसमें लोग मरे। तुमने काटे। उनको पीड़ा हुई। तुम्हारे ज्ञान से उनकी पीड़ा तो न रुकेगी। तुम साक्षी भाव से कर रहे हो, इससे उन्हें मरने में कोई मजा तो न आयेगा। मरने में तो पीड़ा उतनी ही होगी। तुम चाहे साक्षी भाव से करो, चाहे तमस भाव से करो; तुम चाहे परमात्मा पर छोड़ कर करो, चाहे खुद करो; मरने वाले को तो इससे कोई फर्क न पड़ेगा। वह तो दोनों हालत में पीड़ित होगा। तो सवाल यह है कि उसे जो पीड़ा हो रही है, उसका क्या परिणाम होगा? उसका परिणाम होगा, उसी को होगा। पीड़ा उसको हो रही है, वही जिम्मेवार है। अब इसे तुम थोड़ा समझो।

ऐसा समझो कि अर्जुन मारनेवाला है, बुद्ध मरनेवाले हैं। तो क्या बुद्ध को पीड़ा होगी? अर्जुन मारेगा—परम की मरजी के अनुसार; बुद्ध मरेंगे—परम की मरजी के अनुसार; पीड़ा की घटना ही न घटेगी।

तो अगर तुम मारे जा रहे हो अर्जुन से और तुम्हें पीड़ा हो रही है, तो जिम्मेवार तुम हो, अर्जुन नहीं। अर्जुन तो तब जिम्मेवार हो, जब वह मार रहा हो—जब वह स्वयं मार रहा हो, अपनी आकांक्षा से मार रहा हो, तब जिम्मेवार है; तब कर्म का बंध उसे होगा। और ध्यान रखना, अगर अर्जुन बुद्ध को मार रहा हो—अपनी इच्छा से मार रहा हो, और बुद्ध को पीड़ा भी न हो, तो भी उस पीड़ा का, जो कभी नहीं हुई, उसका पाप-बंध अर्जुन को होगा।

अहंकार ने मारा; तो मारने की जो धारणा है अर्जुन की—कि मैं मार रहा हूँ—वही उसके पाप-बंध का कारण होगी। बुद्ध को पीड़ा हुई या नहीं हुई, या सवाल ही नहीं उठता। तुमने मारने की आकांक्षा की, तुमने मारा, तुमने परमात्मा के हाथ में अपने को न छोड़ा; तुम कर्ता रहे, तो तुम्हें कर्म का बंध होगा।

फिर तुम्हारे मारने से जो आदमी मर रहा है, उसकी पीड़ा के लिए वही जिम्मेवार

है। क्योंकि यह भी हो सकता है कि अगर वह साक्षी-रूप हो, तो पीड़ा न हो। तो वह देखे कि मरना घट रहा है, लेकिन पीड़ा से लिप्त न हो। अगर वह लिप्त हो रहा है, तो स्वयं ही जिम्मेवार है।

तुम्हारे मारने से.... अगर तुमने परमात्मा पर छोड़कर किसी को मारा, इसे ध्यान रखना, और तुम ऐसा सोच मत लेना कि जिसको भी तुम मार रहे हो, परमात्मा पर छोड़कर मार रहे हो। इतना आसान नहीं है। धोखा देना आसान है। तुम बिलकुल ठीक भीतर पहचान सकते हो कि तुम मार रहे हो या कि परमात्मा के द्वारा यह कृत्य किया जा रहा है।

अगर मारने के द्वारा कोई भी पिछला प्रतिशोध लिया जा रहा है, तो तुम मार रहे हो; परमात्मा का क्या प्रतिशोध। अगर मारने के द्वारा भविष्य की कोई फलाकांक्षा की जा रही है, तो तुम मार रहे हो; परमात्मा को भविष्य से क्या लेना-देना। अगर यह आदमी मर जाएगा तो तुम प्रसन्न होओगे, न मरेगा तो अप्रसन्न होओगे, तो तुम मार रहे हो; परमात्मा को प्रसन्नता-अप्रसन्नता क्या!

अगर तुम्हें न कोई अतीत की आकांक्षा हो—कि कोई प्रतिशोध ले रहे हो; न भविष्य का कोई सवाल हो—कि किसी फल की कोई आकांक्षा है; न हार जाओ, जीत जाओ—कोई फर्क पड़े; तो समझना कि परमात्मा की मरजी तुम पूरी कर रहे हो; तुम निमित्त मात्र हो। वैसी दशा में अगर यह आदमी मरते वक्त दुःख पाता है, पीड़ा पाता है, तो यह इसका अज्ञान है। यह अपने शरीर को समझ रहा है कि मैं हूँ। इसलिए शरीर के मरने को समझता है कि मैं मर रहा हूँ। यह इस अज्ञान के कारण दुःख पा रहा है और इस दुःख के कारण भविष्य में और दुःख अर्जन करेगा, और अज्ञान घनीभूत करेगा और पीड़ित होगा; तुम इसके बिलकुल बाहर हो गये; तुम्हारा इससे कुछ लेना-देना नहीं है।

अब सूत्र :

'तथा हे भारत, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—ये तीनों तो कर्म के प्रेरक हैं अर्थात् इनके संयोग से तो कर्म में प्रवृत्त होने की इच्छा उत्पन्न होती है। और कर्ता, करण और क्रिया, यह तीनों कर्म के संग्रह हैं अर्थात् इनके संयोग से कर्म बनता है। उन सब में ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुणों के भेद से सांख्य ने तीन प्रकार से कहे हैं, उनको भी तू मेरे से भली प्रकार सुन।'

दो वर्तुल हैं तुम्हारे जीवन के। भीतर का वर्तुल है : ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। वह विचार का वर्तुल है, जहाँ तुम जानने वाले हो, जहाँ कुछ जाना जाता है और जहाँ दोनों के बीच में ज्ञान घटता है। जब तुम कुछ भी नहीं कर रहे हो, तब भी ज्ञाता होते हो, ज्ञान घटता है, ज्ञेय होता है। तुम्हारे अकृत्य में भी विचार का कृत्य तो जारी रहता





है। इसलिए विचार तुम्हारे भीतर का कृत्य है।

ज्ञाता का अर्थ है—कर्ता, विचार का कर्ता, विचारक। ज्ञेय का अर्थ है : जिस पर तुम अपने ज्ञाता को आरोपित करते हो—ऑब्जेक्ट, विषय। और दोनों के बीच जो घटना घटती है—वह ज्ञान है। यह तुम्हारे मन की प्रक्रिया है।

तो पहली परिधि तुम्हारे आत्मा के आस-पास मन की है; यह एक वर्तुल। फिर दूसरा वर्तुल तुम्हारे शरीर का है। शरीर में दूसरा वर्तुल है : कर्ता, करण और क्रिया का। जब विचार कृत्य बनता है, तब तुम कर्ता हो जाते हो। कोई उपकरण—हाथ, आँख—करण बन जाते हैं। और बाहर के जगत में कृत्य घटित होता है।

कर्ता, करण और क्रिया—यह तुम्हारा दूसरा वर्तुल है। ऐसा समझो कि मध्य का बिन्दु, केन्द्र, तुम्हारी चेतना है। उसके बाद पहला धुआँ इकट्ठा होता है—विचार का—ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान का। फिर जब धुआँ और भी सघन हो जाता है, ठोस हो जाता है, तो कृत्य का जन्म होता है—तब कर्ता, करण और क्रिया।

संसार में तुम्हारा संबंध कर्म का है। इसलिए जब तक तुम कुछ कर्म न करो, तब तक अदालत तुम्हें नहीं पकड़ सकती। अगर तुम बैठ कर रोज हजारों लोगों की हत्या करते हो विचार में, तो कोई अदालत तुम पर मुकदमा नहीं चला सकती। वह यह नहीं कह सकती कि यह आदमी रोज बैठ कर बिना हजार की हत्या किये नाश्ता नहीं करता! मजे से करो, कोई मनाई नहीं है। और तुम अदालत के सामने वक्तव्य भी दे सकते हो कि मैं रोज एक हजार की हत्या करके और फिर नाश्ता करता हूँ—लेकिन विचार में।

समाज का विचार से कोई लेना-देना नहीं है। तुम समाज की परिधि में उतरते ही तब हो, जब विचार कृत्य बनता है। जब विचार कृत्य बन जाता है, तब तुम्हारा संबंध दूसरे से जुड़ा। शरीर हमें दूसरे से जोड़ता है। इसे तुम ठीक से समझो।

मन तुम्हारी आत्मा को शरीर से जोड़ता है। इसलिए जब तक तुम ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के बीच उलझे हो, तुम्हारा संबंध शरीर से बना रहेगा; वह सेतु है। फिर कर्म तुम्हारे अपने शरीर को दूसरों के शरीरों से जोड़ता है, संसार से जोड़ता है।

संसार और समाज तुम्हारे कर्म की चिंता करते हैं। इसलिए अदालत उस बात को पाप कहती है, जो कृत्य हो जाय। अदालत विचार में घटे पाप को पाप नहीं कहती, अपराध नहीं कहती। लेकिन धर्म? धर्म तो उसको भी पाप कहता है, जो तुम्हारे भीतर विचार में घटे। यही अपराध और पाप का भेद है।

अपराध ऐसा पाप है, जो कृत्य बन गया; और पाप ऐसा अपराध है, जो केवल विचार रह गया। जहाँ तक तुम्हारा संबंध है, विचार करने से ही कृत्य हो गया। तुम उतने ही पाप के भागीदार हो गये विचार करके भी, जितना तुम कर के होते, यद्यपि

दूसरा तुमसे अप्रभावित रहा। दूसरे पर प्रभाव तो तब पड़ेगा, जब तुम विचार को कृत्य बनाओगे।

तो समाज तुम्हारे कृत्य पर रोक लगाता है, धर्म तुम्हारे विचार पर। समाज की नीति सिर्फ इसी बात पर निर्भर है कि तुम शुभ कर्म करो, अशुभ कर्म मत करो। धर्म की चितना इस पर है कि तुम शुभ विचार करो, अशुभ विचार मत करो। धर्म ज्यादा गहरे जाता है। क्योंकि अंततः अशुभ विचार ही अशुभ कर्म बन जाएगा किसी दिन। वह बीज है; अभी दिखायी नही पड़ता, सूक्ष्म है। फिर वह प्रकट होगा। फिर वह वृक्ष बनेगा। फिर उसमें शाखाओं पर शाखाएँ निकलेंगी और वह फैल जाएगा। और उसका जहर अनेकों लोगों के जीवन को प्रभावित करेगा।

इसलिए इसके पहले कि कोई विचार कृत्य बने, उसे विचार के जगत् में ही शून्य कर दो। वही आसान भी है। बीज को मिटाना बहुत आसान है, वृक्ष को मिटाना मुश्किल हो जाएगा। वृक्ष बड़ी शक्ति बन जाता है। विचार को लौटा लेना आसान है, कृत्य को लौटाना मुश्किल हो जाएगा। वह छूटा हुआ तीर है। वह फिर वापस कैसे लौटेगा?

ये दो वर्तुल हैं। और इन दोनों वर्तुलों से जो मुक्त हो जाता है, वही साक्षी है—जब तुम कृत्य के भी देखने वाले हो जाते हो और कर्ता नही रह जाते और तुम विचार के भी देखनेवाले हो जाते हो और ज्ञाता नहीं रह जाते, तुम मात्र साक्षी हो जाते हो। इसे थोड़ा समझना।

बहुत से लोग साक्षी और ज्ञाता का अर्थ एक-सा ही कर लेते हैं। वे उसे पर्यायवाची समझते हैं। वे मूल में हैं। ज्ञाता तो कर्ता हो गया। तुमने कहा, 'मैंने जाना और मैंने किया' तो कर्ता हो गये। 'मैंने जाना' कहा—तो भी कर्ता हो गये—सूक्ष्म में 'मैंने सोचा' कहा—तो मैं आ गया। ज्ञाता भी कर्ता का सूक्ष्म रूप है। साक्षी सबसे पार है।

साक्षी में कोई मैं-भाव नही है। न तो जाना, न किया; सिर्फ देखते रहे। साक्षी में द्रष्टा तक भी नहीं है, क्योंकि द्रष्टा जैसे कहा, फिर कर्ता बना।

साक्षी बड़ा अनूठा शब्द है। उसमें कर्ता का भाव बिलकुल नहीं है। द्रष्टा में देखने का भाव आ गया—कि देखा। तत्काल तीन हो गये। देखा—द्रष्टा बने—तो दर्शन और दृश्य भी आ गया।

साक्षी सबका अतिक्रमण कर जाता है। तुम सिर्फ हो; न तुम करते, न तुम देखते, न तुम सोचते। सारी क्रियाएँ शून्य हो गईं। जो साक्षी में जीता है, वही कर्म करते हुए अकर्म में जीता है। देखते हुए देखता नहीं, जानते हुए जानता नहीं। सिर्फ होता है। यह शुद्धतम अस्तित्व है। यह आत्यंतिक परिशुद्धि की धारणा है।

कृष्ण कहते हैं, 'सांख्य ने ज्ञान, कर्म और कर्ता को भी तीन गुणों के अनुसार विभाजित किया है। तू उन्हें भी मुझसे भली प्रकार सुन।





'जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परमात्मा को विभाग रहित, समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान।'

सांख्य का एक सुनिश्चित सिद्धांत है कि प्रत्येक चीज तीन-रूपी होगी, क्योंकि सारे अस्तित्व की सभी चीजें त्रिगुण से बनी हैं। तो कृष्ण विभाजन हर जगह करते हैं और वह विभाजन कीमती है। उससे साधक को साफ सीढ़ियाँ हो जाती हैं कि कैसे आगे बढ़ना।

सत्त्व कहते हैं—उस ज्ञान को, जब सब जगह अनेक रूपों में एक ही दिखाई पड़ने लगे। रूप हों अनेक, नाम हों अनेक, सभी नामों में एक ही अनाम की प्रतीति होने लगे और सभी रूपों में एक अरूप झलकने लगे, सभी आकार एक ही निराकार की तरंगें मालूम होने लगें, तब ज्ञान सात्त्विक।

जब अनेक में एक दिखाई पड़े, तो ज्ञान सात्त्विक। 'और जब मनुष्य संपूर्ण भूतों में अनेक-अनेक भावों को न्यारा-न्यारा कर के जानता है, उस ज्ञान को राजस जान।

और जब अनेक अनेक की भाँति दिखाई पड़े . . .। अनेक एक की भाँति दिखाई पड़े—तो सत्त्व; अनेक अनेक की भाँति दिखाई पड़े—तो राजस। भेद दिखाई पड़े, द्वन्द्व दिखाई पड़े, विरोध दिखाई पड़े, सीमाएँ दिखाई पड़ें, तो राजस।

क्षत्रिय की सारी जीवन धारा सीमा से बँधी है। वह लड़ता है—सीमा के लिए। सीमा को बड़ा करने की चेष्टा में लगा रहता है। पर सीमा है। ब्राह्मण का सारा जीवन असीम से बंधा है। लड़ने का कोई उपाय नहीं है। सीमा बनाने की कोई सुविधा नहीं है। परिभाषा करना गलत है।

फिर तीसरा है—तमस से भरा हुआ व्यक्ति। तीसरे व्यक्ति को हम ऐसा समझें कि उसे न तो एक दिखाई पड़ता, न अनेक दिखाई पड़ते; उसे दिखाई ही नहीं पड़ता। वह अन्धा है। जैसे दिया बुझा है। दिया तो रखा है, पर ज्योति नहीं है। तो नाम मात्र का दिया है—उसको क्या दिया कहना!

मिट्टी का दिया रखा है, तेल भरा है, बाती लगी है, पर ज्योति नहीं है। फिर ज्योति जलती है। थोड़ा-सा प्रकाश होता है। अँधेरे में चीजें नही दिखाई पड़ती थीं, अब अनेक चीजें दिखाई पड़ती हैं; थोड़ा-सा प्रकाश है। इस थोड़े-से प्रकाश में अनेक का अनुभव होता है। फिर महाप्रकाश का जन्म है। जहाँ दिये की बाती, दिया, तेल—सब खो जाते हैं। बिन बाती बिन तेल; तब सिर्फ प्रकाश रह जाता है। उस प्रकाश में सभी रूप लीन हो जाते हैं।

तमस यानी अंधकार। इस शब्द का अर्थ भी अंधकार है। सत्त्व का अर्थ : प्रकाश। सत्त्व का अर्थ है : जहाँ परम प्रकाश हो गया। तमस का अर्थ है : जहाँ परम अंधकार है। अंधकार में कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता। न एक, न अनेक। सत्त्व में सब कुछ दिखाई

पड़ता है और इतनी गहराई से दिखाई पड़ता है कि परिधियों में जो अनेकता है, वह खो जाती है और केन्द्र की एकता अनुभव होने लगती है। और दोनों के मध्य में है राजस। कुछ दिखाई भी पड़ता है, कुछ नहीं भी दिखाई पड़ता। कुछ अँधेरा है, कुछ प्रकाश है। प्रकाश और अँधेरे का तालमेल है; तो सीमाएँ दिखाई पड़ती हैं, अनेक दिखाई पड़ता है।

ये तीन चित्त की दशाएँ हैं। तुम कहाँ हो, अपने को ठीक से पहचान लेना चाहिए, क्योंकि वहीं से तुम्हारी यात्रा हो सकेगी।

अगर तुम तमस में हो, तो घबड़ाना मत। अगर यह भी तुम्हें समझ में आ जाय कि मैं तमस में हूँ, तो राजस शुरू हो गया। क्योंकि इतना बोध भी दिये में थोड़ी रोशनी आने से शुरू होता है।

अगर तुम्हें ऐसा लगे कि मैं तमस में हूँ, तो घबड़ाना मत। जो भी सत्त्व को उपलब्ध हुए हैं, सभी तमस से गये हैं। तमस में होने का अर्थ है कि तुम अभी गर्भ में हो। बस, कुछ घबड़ाने की बात नहीं। जन्म होगा। थोड़ा जागो। थोड़े होश को सम्हालो। तमस से उठो। ऊर्जा को उठाओ, तो राजस का जन्म शुरू हुआ।

रजस यानी ऊर्जा, शक्ति। थोड़ा हिलो-डुलो। थोड़ा जीवन में गति लाओ। अगति में मत पड़े रहो। थोड़ा घूमो आसपास; देखो। अनेक का जन्म होगा।

जैसे ही अनेक का जन्म हो जाय, फिर एक-एक में थोड़ा गहरा देखना शुरू करो—कि वस्तुतः अनेक हैं या सिर्फ 'दिखाई' पड़ते हैं। जैसे सागर के पास खड़े रहो, कितनी लहरें दिखाई पड़ती हैं। फिर हर लहर में गौर से देखो तो वही सागर है; एक ही सागर है। ऊपर से जो अनेक दिखाई पड़ता है, वह भीतर से एक है। फिर सत्त्व का जन्म होता है।

और इन तीनों के पार है साक्षी। इसलिए हमने उसको तुरीय कहा है—चौथा।

सत्त्व को भी मंजिल मत समझ लेना। क्योंकि तुम कहते हो कि हमें लहरों में सागर दिखाई पड़ता है, पर अभी लहरें भी दिखाई पड़ती हैं। अभी ऐसा नहीं हुआ कि सागर ही सागर हो गया हो। लहरों में सागर दिखाई पड़ता है। नामों में अनाम दिखाई पड़ता है, रूप में अरूप दिखाई पड़ता है, पर रूप भी दिखाई पड़ता है। फिर इन तीनों के पार तुम हो—वह जो साक्षी है।

जैसे कभी अँधेरा दिखाई पड़ा, फिर अँधेरा चला गया। फिर थोड़ी रोशनी आयी, जिससे अनेक का जगत् फैला—संसार। संसार का फैलाव हुआ, दुकान खुली, पसारा फैला, बहुत कुछ दिखाई पड़ा। जन्मों-जन्मों उसमें यात्रा की। फिर अनुभव गहरा हुआ। सत्त्व की प्रतीति हुई, प्रकाश सघन हुआ; अनेक में एक की झलक आने लगी। वह भी दिखाई पड़ा।





लेकिन जिसको ये तीनों दिखाई पड़े, जो इन तीनों से गुजरा, वह चौथा है। इसलिए हम उस चौथी अवस्था को गुणातीत कहते हैं।

ये तीन तो गुण की अवस्थाएँ हैं, चौथी गुणातीत है। इन तीन से गुजरना है और चौथे को पाना है। और जब तक चौथी न आ जाय, तब तक रुकना मत। तब तक कहीं ठहरना पड़े, तो ठहर जाना; रात भर का विश्राम कर लेना। सराय समझना।

तमस को तो समझना ही सराय, सत्त्व को भी सराय ही समझना। असाधु को तो छोड़ना ही है, साधु को भी छोड़ना है। झूठ को तो छोड़ना ही है, सत्य को भी छोड़ना है। क्योंकि अंततः पकड़ ही छोड़नी है। और एक ऐसी चैतन्य की अंतिम अवस्था में आ जाना है, जहाँ न तो पकड़नेवाला है, न तो पकड़ने को कुछ है। सिर्फ बोध मात्र है। उसको महावीर ने कैवल्य कहा; उसको बुद्ध ने शून्य कहा; उसको पतंजलि तुरीय कहते हैं; उसको कृष्ण गुणातीत अवस्था कहते हैं।

## व्यक्तिगत संवाद • निष्प्रश्न मौन • साधनागत बीमारियाँ कर्म भी तीन प्रकार के

सातवाँ प्रवचन

प्रातःकाल, दिनांक २६ जुलाई, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारम्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥



तथा हे अर्जुन, जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ और कर्तापन के अभिमान से रहित, फल को न चाहनेवाले पुरुष द्वारा बिना राग-द्वेष से किया हुआ है, वह कर्म तो सात्त्विक कहा जाता है।

और जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त है तथा फल को चाहनेवाले और अहंकारयुक्त पुरुष द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है।

तथा जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचार कर केवल अज्ञान से आरम्भ किया जाता है, वह कर्म तामस कहा जाता है।
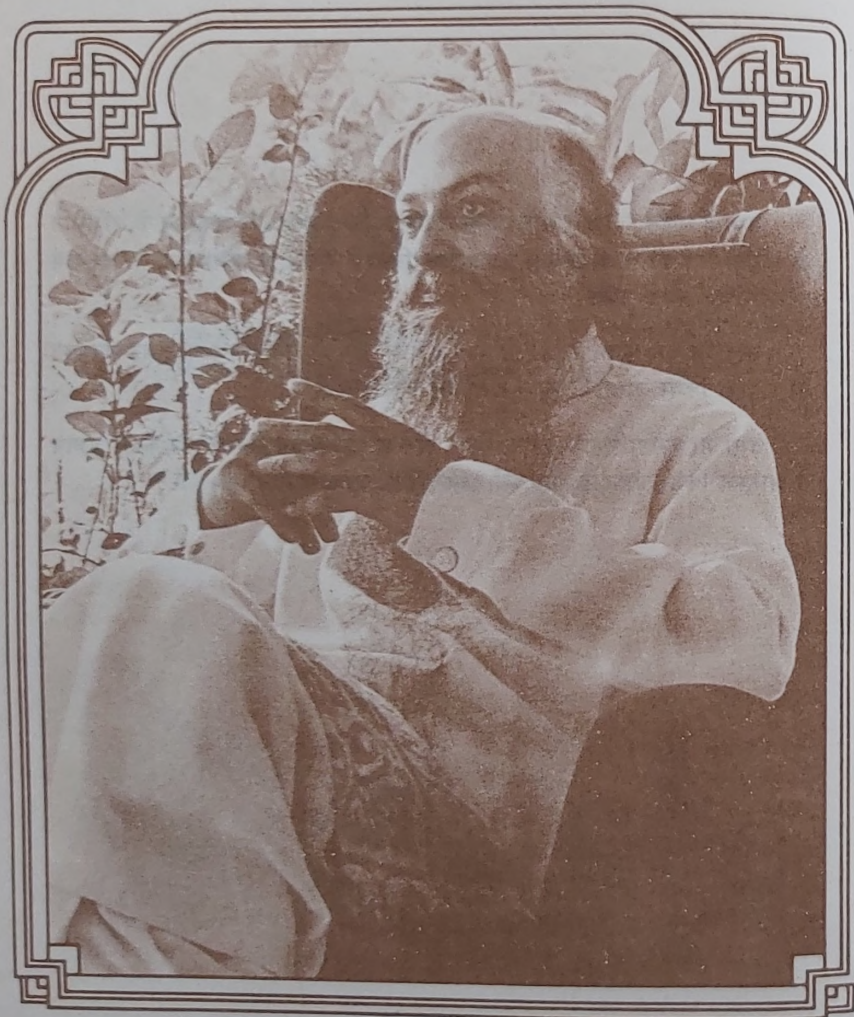
**पहले कुछ प्रश्न।**

● पहला प्रश्न : गीता कृष्ण और अर्जुन के बीच व्यक्तिगत संवाद है। लेकिन अपने गीता प्रवचनों में आप समूह को संबोधित कर रहे हैं। कृपया समझाएँ कि भगवद्-गीता क्या समूह को संबोधित की जा सकती है?

किसने कहा तुम्हें कि मैं समूह को संबोधित कर रहा हूँ! समूह के पास कोई प्राण होते हैं समझने के या कि सुनने के लिए कोई कान होते हैं? समूह के पास कोई हृदय होता है धड़कने को, कोई प्रज्ञा होती है—जिसे जगाया जा सके? समूह तो मात्र शब्द है। समूह कोई व्यक्ति थोड़े ही है।

जब भी संवाद घटित होता है तो व्यक्ति-व्यक्ति के बीच ही घटित होता है। समूह और व्यक्ति का तो कोई मिलना कभी होता नहीं। तुम कभी समूह से मिले हो? जहाँ भी पाओगे, व्यक्ति को पाओगे। यहाँ भी तुम मौजूद हो, और भी लोग तुम्हारे साथ मौजूद हैं, लेकिन वह सिर्फ साथ होना है। समूह थोड़े ही मौजूद है। व्यक्तिगत रूप से तुम अलग-अलग मौजूद हो। और अगर एक-एक व्यक्ति यहाँ से बिदा हो जाय, तो क्या पीछे समूह छूट जाएगा? व्यक्तियों के विदा होते ही समूह भी विदा हो जाएगा।

मैं तुम्हारी भीड़ से नहीं बोल रहा हूँ, मैं तुम्हारे व्यक्ति से बोल रहा हूँ। एक-एक से यह बात हो रही है। यह बात सीधी है।

और यह भी तुम खयाल रखना कि तुम जो समझ रहे हो, वह तुम्हीं समझ रहे हो, तुम्हारे पड़ोस में बैठा व्यक्ति हो सकता है बिलकुल भिन्न समझ रहा हो।

तुमने जो मेरी बात का अर्थ किया है, वह तुमने किया है। तुम्हारे पड़ोस में बैठे व्यक्ति ने कुछ और किया होगा। वह तुम्हारे पास बैठा है, इसलिए यह मत सोचना कि वह भी तुम्हारे जैसा ही सुन रहा है या तुम जो सुन रहे हो, वही सुन रहा है।

सुनते हम वही हैं, जो हम सुन सकते हैं। अर्थ हमारे भीतर वही उद्‌भूत होता है, जो हमारे भीतर छिपा होता है। अगर मैं ऐसे फूलों की चर्चा कर रहा हूँ जो तुमने नहीं देखे, तो शब्द तो कानों पर पड़ेंगे, हृदय में कोई झंकार न होगी। लेकिन जिसने उन फूलों

को देखा है, उसके कानों में सिर्फ शब्द नहीं पड़ रहे हैं। उसके हृदय में अर्थ का भी आविर्भाव हो रहा है। उसने स्वाद लिया है, उसने अनुभव किया है। और जब मैं फूलों की चर्चा में लीन हूँ, तब वह भी फूलों के अनुभव में लीन हो जाएगा। उसके और मेरे बीच संवाद घटेगा।

तुम मुझे सुनोगे, शब्द ही सुनोगे। वह मुझे सुनेगा तो उसे शब्द के पार---अर्थ की प्रतीति होगी।

तो यह तुमसे कहा किसने कि मैं समूह से बोल रहा हूँ! कृष्ण भी अर्जुन से बोले, मैं भी अर्जुन से ही बोल रहा हूँ।

यह अर्जुन शब्द बड़ा मधुर है। इस शब्द का अर्थ होता है कुछ। रिजु शब्द तुमने सुना है। रिजु का अर्थ होता है: सीधा। रिजुता का अर्थ होता है: सरलता। अरिजु का अर्थ होता है: तिरछा, आड़ा, उलझा---सुलझा हुआ नहीं; सरल नहीं---जटिल।

कृष्ण अर्जुन से बोल रहे हैं, क्योंकि वहाँ एक चित्त है जो उलझा हुआ है, जटिल है, सुलझा हुआ नहीं है, जिसमें गाँठें पड़ी हैं। बड़ी समस्याएँ हैं, समाधान नहीं है। अगर समाधान ही हो, तो दोनों तरफ कृष्ण हो जाएँगे; अर्जुन कोई बचेगा नहीं।

गुरु शिष्य से बोलता है; समाधान समस्या से बोलता है। तुम्हारे पास अगर समस्या है, तो तुम आ गये हो। तुम्हारी समस्या से मैं बोल रहा हूँ, तुम्हारे अर्जुन से बोल रहा हूँ। मन अर्जुन है, क्योंकि वह समस्याएँ पैदा करता है, उलझाता है। मन के पार जो छिपा है---तुम्हारे भीतर परमात्मा---वही कृष्ण है।

मेरे बोलने का या कृष्ण के बोलने का प्रयोजन कुछ कहना कम है, कुछ जगाना ज्यादा है। तुम्हारे भीतर मन तो जागा हुआ है, तुम सोये हुए हो। सारी चेष्टा यही है कि तुम जाग जाओ। तुम्हारे जागते ही मन तिरोहित हो जाता है। जैसे सुबह के सूरज के उगते ही रात का अँधेरा विदा हो जाता है, ऐसे ही तुम जागे---कि मन गया, कृष्ण उठे---कि अर्जुन गया।

कृष्ण कुछ बोल रहे हैं---इस भूल में भी मत पड़ना। बोलना तो केवल उपाय है। बोलने के लिए नहीं बोला जा रहा है। बोलने के द्वारा कुछ करने का आयोजन किया जा रहा है, कोई कीमिया का इन्तजाम किया जा रहा है। कोई एक महाप्रयोग उसके आसपास घटे, इसकी चेष्टा की जा रही है।

मेरे पास भी अगर तुम सुनने ही चले आये हो, तो सुन कर ही लौट जाओगे; हाथ कुछ भी न लगेगा। अगर तुम वस्तुतः समस्या को लेकर आये हो; सुनने का कुतूहल कम, समस्या को हल करने का सवाल है...। धर्म अगर तुम्हारे जीवन-मरण का प्रश्न बन गया है, सिर्फ एक बौद्धिक खुजलाहट नहीं, तो तुम मेरे पास से कुछ जागृति लेकर जाओगे।





लेकिन बोल मैं व्यक्तिगत रहा हूँ। तुममें से एक एक से अलग अलग बोल रहा हूँ। समूह से तो कुछ बोला ही नहीं जा सकता। जहाँ तक समूह जाता है, वहाँ तक तो धर्म का कोई सवाल ही नहीं है। धर्म की यात्रा तो निजी है, वैयक्तिक है, अत्यंत वैयक्तिक है। प्रेम से भी ज्यादा वैयक्तिक है। कम से कम प्रेम में तो दूसरा भी रहता है, धर्म में वह भी खो जाता है।

संसार में तीन यात्राएँ हैं। एक पद की यात्रा है, धन की यात्रा है---महत्त्वाकांक्षा की। उस सब को, संसार की यात्रा को मैं पद की यात्रा कहता हूँ। उसमें समूह के साथ संबंध है। उसमें व्यक्तियों से कुछ लेना-देना नहीं।

एक राजनेता तुमसे वोट माँगने आता है, वह तुमसे वोट माँगने नहीं आता। तुम्हारी जगह कोई भी काम देगा। तुम सिर्फ एक आँकड़े हो। तुम्हारी जगह---अ की जगह ब होता, ब की जगह स होता, कोई फर्क न पड़ता था। प्रयोजन वोट से है। तुम्हारे होने का, न होने का कोई लेना-देना नहीं है। तुम हो ही नहीं। तुम एक नम्बर हो, एक आँकड़े हो। जैसा कि मिलिटरी में नम्बर होते हैं। तो तख्तियों पर लग जाता है कि आज दस नम्बर गिर गये, दस नम्बर मर गये। नम्बर भी कहीं मरते हैं! लेकिन मिलिटरी में आदमी तो होता ही नहीं, नम्बर होते हैं। बारह नम्बर का सिपाही मर गया, बारह नम्बर की तख्ती दूसरे सिपाही पर लग जाएगी। बारह नम्बर नहीं मरेगा, वह जीता रहेगा।

व्यक्तियों से कुछ लेना-देना नहीं है। समूह की दुनिया में व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है। राज्य है, वह समूह से चलता है; बाजार है, वह समूह से चलता है। पद की यात्रा समूह की यात्रा है। वहाँ भीड़-भड़ाके का सवाल है; वहाँ तुम्हारे सत्य होने का सवाल नहीं है; कितने लोग तुम्हारे साथ हैं---इसका सवाल है।

तुम अगर सत्य भी हो और अकेले हो---तो हारोगे। तुम अगर असत्य हो और भीड़ तुम्हारे साथ है---तुम जीतोगे। वहाँ जीत संख्या की है। वहाँ भीतर की प्रतिभा नहीं आँकी जाती, खोपड़ियाँ गिनी जाती हैं, हाथ गिने जाते हैं। वह दुनिया व्यक्ति की नहीं है। वहाँ व्यक्ति की गरिमा और व्यक्ति के काव्य का कोई मूल्य नहीं है।

फिर दूसरी यात्रा प्रेम की यात्रा है; वह दो के बीच की यात्रा है। इसलिए तो प्रेमी अलग हट जाना चाहते हैं---भीड़ से---बाजार में खड़े होकर प्रेम का वार्तालाप करना असंगत मालूम होता है। बीच सड़क पर खड़े हो कर प्रेयसी को मिलना अर्थहीन मालूम पड़ता है। प्रेमी एकांत चाहते हैं, अकेलापन चाहते हैं। कोई न हो, क्योंकि तीसरा मौजूद हो जाय, तो समूह शुरू हो जाता है। जब तक दो हैं, तब तक समूह नहीं है। जैसे ही तीसरा आया कि समूह शुरू हुआ।

दो तक यात्रा प्रेम की है। तीन से यात्रा पद की हो जाती है। फिर एक और यात्रा

है, जिसको मैं परमात्मा की, प्रार्थना की यात्रा कहता हूँ। वहाँ दूसरा भी छूट जाता है। वहाँ बिलकुल निजता रह जाती है। अगर प्रेमी और प्रेयसी भी दोनों बैठकर ध्यान करें, तो दोनों अकेले रह जाएँगे, साथ नहीं रह जाएँगे। अगर दोनों समाधि में प्रवेश करेंगे, तो साथ-साथ प्रवेश न करेंगे। तुम हाथ फैला कर अपनी प्रेयसी को अपने साथ न ले जा सकोगे। वहाँ तो अकेले ही जाना होगा। वह तो कैवल्य है, नितांत अकेलापन है। वहाँ दूसरे की मौजूदगी उपद्रव है। वहाँ दूसरे का होना भी बाधा है।

तो ये तीन हैं, पद—भीड़ का संसार। प्रेम—दो का संसार। प्रार्थना, परमात्मा—एक का संसार। पद : अनेक। प्रेम : दो। प्रभु : एक।

जब हम परमात्मा की चर्चा करते हैं, तब तक भी प्रेम की दुनिया रहती है। क्योंकि चर्चा करनेवाला है, और चर्चा सुननेवाला है। जब मैं तुमसे बोल रहा हूँ, तो बोलना तो एक ढंग का प्रेम है। इस बोलने के द्वारा मैं तुम्हें स्पर्श कर रहा हूँ। इस बोलने के द्वारा मैं तुम्हारे भीतर प्रवेश कर रहा हूँ। इस बोलने के द्वारा मैंने तुम्हें निकट बुलाया है। इस बोलने के द्वारा मैं तुम्हारी निजता में आ रहा हूँ, तुम मेरी निजता में प्रवेश कर रहे हो। बोलने का जगत् प्रेम से आगे नहीं जाता। इसे थोड़ा समझो।

भीड़ में तो बोलना भी नहीं होता। बात बहुत चलती है भीड़ में, बोलना बिलकुल नहीं होता। लोग अपनी-अपनी बोले जाते हैं, कोई किसी की सुनता है! किसी को किसी से प्रयोजन है! दूसरे का उपयोग करते हैं लोग, दूसरे से बोलते नहीं। संवाद थोड़े ही होता है, कम्युनिकेशन थोड़े ही होता है; विवाद चलता है।

तुम्हें भी कई बार—अगर तुम थोड़ी-सी समझ के हो—तो लगेगा कि जब तुम किसी से बात कर रहे हो, तो तुम उसे सुनते नहीं। तुम अपनी कहते हो, वह अपनी कहता है। पर तुम पागल नहीं हो, इसलिए थोड़ी व्यवस्था से चलते हो। जब वह कहता रहता है, तब तुम चुप बैठे रहते हो, तब भी तुम सोच रहे हो। तुम्हारा भीतरी सिलसिला जारी है। तब भी तुम चुप हो कर सुन नहीं रहे हो। बिना चुप हुए कोई सुनेगा कैसे! सुनने के लिए तुम्हारा भीतर का अंतर-संवाद तो बंद हो जाना चाहिए।

भीतर की चर्चा तो बंद होनी चाहिए अन्यथा तुम सुनोगे कैसे। बाहर की चर्चा तो दूर पड़ जाएगी, भीतर का वर्तुल—तुम्हारी चर्चा का, तुम्हें घेरे रहेगा; वह दीवाल बन जाएगा। जब तुम दूसरे से बात कर रहे हो, तब तुम अपनी सोचे जा रहे हो। तुम सिर्फ प्रतीक्षा कर रहे हो कि कब आप रुकें और मैं शुरू करूँ। यह बात सच है कि तुम वहीं से शुरू करोगे, जहाँ दूसरा रुकेगा, लेकिन वह सिर्फ बहाना है। असली शुरुआत, अगर तुम गौर करोगे, तो तुम्हारे भीतर से जुड़ी है। बाहर के आदमी से असली शुरुआत नहीं जुड़ी है।

यह भीड़ की दुनिया है। वहाँ कोई किसी से बोल नहीं रहा है। वहाँ संवाद नहीं





है, विवाद है।

फिर प्रेम की दुनिया है; वहाँ संवाद है। एक बोलता है, दूसरा सुनता है। एक शब्द का उपयोग करता है, तो दूसरा शून्य होकर उसे पीता है। लेकिन दो मौजूद हैं। इसलिए तो हम कहते हैं : परमात्मा तक शब्द भी न जाएगा; वहाँ तो सिर्फ निःशब्द जाएगा; वहाँ तो मौन ले जाएगा, शून्य ले जाएगा। शब्द भी वहाँ बाधा हो जाएगा। लेकिन शब्द से कम से कम हम भीड़ के बाहर आते हैं।

गुरु के साथ शिष्य का जुड़ जाना, संसार के साथ टूट जाना है। इसलिए जब भी तुम गुरु के पास आओगे, संसार तुम्हारे विरोध में खड़ा होने लगेगा, क्योंकि अनजाने रूप से तुम संसार से टूटने लगे। तुमने एक नया यात्रा-पथ चुन लिया, जहाँ दो काफी हैं; तीसरे की जरूरत नहीं है। और तीसरे के साथ ही संसार है।

गुरु को चुनते ही तुमने संसार की उपेक्षा शुरू कर दी। संसार सब तरह की बाधा खड़ी करेगा। खीचेंगा, समझायेगा कि यह आदमी गलत है, कहाँ पागलपन में पड़े हो? किस सम्मोहन में उलझ गये हो! लौटो; सब अस्त-व्यस्त हो जाएगा, सब ठीक चलता था। काम-धंधा करते थे, दुकानदार थे, व्यवस्था थी। यह सब क्या कर रहे हो? यह तुम्हारे जीवन में कौन-सी नयी धारा आ रही है! तुम पछताओगे।' ऐसा लोग तुम्हें समझायेंगे।

जैसे ही तुम्हारा गुरु से संबंध हुआ कि तुम पाओगे कि सारा संसार तुम्हें खींचने की कोशिश करेगा। स्वाभाविक है। जब तुम दो को चुनना शुरू करते हो, तो वह अनेक का जगत् तुम्हें खींचता है।

यह बड़े मजे की बात है कि संसार प्रेम के भी पक्ष में नहीं है। अगर तुम्हारा बेटा किसी युवती के प्रेम में पड़ गया, तो तुम्हारी पूरी चेष्टा यह होगी कि उसे रोको। हालाँकि तुम विवाह के लिए राजी हो, लेकिन प्रेम के लिए राजी नहीं हो।

बाप विवाह करने के लिए उत्सुक है। वह कहता है : मैं अच्छी लड़की खोजे देता हूँ। और बड़े मजे की बात है कि जिस लड़की से भी लड़के का प्रेम हो जाता है, वह अच्छी लड़की कभी होती ही नहीं। और जिसको भी बाप खोजता है, वह सदा अच्छी लड़की होती है!

अच्छी लड़की का मतलब क्या है? अच्छे लड़के का मतलब क्या है? अच्छी लड़की और अच्छे लड़के का मतलब है कि हम तुम्हें अनेक के बाहर न जाने देंगे।

प्रेम का मतलब है कि अब तुम दो अपने को काफी समझोगे; तुम दुनिया छोड़ने की बात करोगे। तुम अपने भीतर अपनी दुनिया बसा लोगे। तुम अपने भीतर एक दुनिया बन जाना चाहते हो, तुम दुनिया के प्रतियोगी हो जाओगे।

नहीं, प्रेम के लिए संसार विरोध में है। न बाप पक्ष में है, न माँ पक्ष में है। कहते

वे सब हैं कि हम तुम्हारे हित के लिए हैं, कि लड़की ठीक नहीं है; यह लड़का ठीक नहीं है। हम तुम्हारे हित का सोचते हैं। तुम नासमझ हो; तुम अनुभवी नहीं हो; हम अनुभव से सोचते हैं।

हर कोई समझाने लगेगा प्रेमी को कि तू पागल हुआ जा रहा है। कुछ मामला है प्रेम में। समाज विरोध में है। समाज कभी भी प्रेम के पक्ष में नहीं रहा।

फिर प्रेम की दुनिया है; वहाँ संवाद है। एक बोलता है, दूसरा सुनता है। एक शब्द का उपयोग करता है, तो दूसरा शून्य होकर उसे पीता है। लेकिन दो मौजूद हैं।

मामला यह है कि प्रेमी की वृत्ति होती है, कि वह दो में समझता है, पूरा हो गया, पर्याप्त हो गया। वह एक दुनिया बन जाता है अपने भीतर। तो फिर इस दुनिया की तरफ उपेक्षा होती है, वह पीठ कर लेता है। अगर तुम दो प्रेमियों के घर मिलने जाओ, तो वे उत्सुकता न लेंगे तुमसे मिलने में। हाँ पति-पत्नी के पास जाओ, तो बड़ा स्वागत करते हैं, क्योंकि प्रतीक्षा ही करते हैं: कोई तीसरा आ जाय। क्योंकि दो के बीच तो सिर्फ कलह होती है, कुछ और होता नहीं।

पति-पत्नी हमेशा राह देखते हैं कि कोई तीसरा बीच में खड़ा रहे। तीसरे की वजह से थोड़ी सुविधा होती है।

मेरे एक मित्र हैं, बड़े कुशल आदमी हैं। खूब पैसा कमाया। तो मैंने उनसे कहा कि 'तुमने अब इतना पैसा कमा लिया है कि अब कोई जरूरत नहीं है। अब तुम इस दौड़ को बंद करो। अब तुम पचास के हो गये। अब यह तुम छोड़ दो।' उन्होंने कहा, 'आप कहते हैं तो इनकार नहीं करता। छोड़ दिया।' और इतना कहते ही उन्होंने सब छोड़ दिया उसी दिन। सब बंद कर दिया काम-धंधा; कहा कि 'काफी है। अब शांति से रहेंगे।' पर उन्होंने कहा, 'अब उलझन खड़ी है, आप समझा दें, सुलझा दें। अब हम—मैं और मेरी पत्नी ही बचे। बच्चे सब बड़े हो गये; वे गये। लड़कियाँ थीं। उन सबका विवाह हो गया। तीन लड़कियाँ थीं। अब हम दोनों बचे। अब हमें तीसरा सतत चाहिए। आप रुकेंगे? अगर तीसरा न हो, तो बस, सिवाय कलह के कुछ होता नहीं। तीसरा हो तो थोड़ा हम एक दूसरे की तरफ मुसकराते हैं—औपचारिक ही सही, तीसरे को देख कर सही। अच्छी-अच्छी बातें करते हैं। दोनों रह जाते हैं तो भारी होने लगता है।'

विवाह में समाज की जरूरत बनी रहती है। प्रेमी कहता है: तुम्हारी अब कोई जरूरत नहीं, हम काफी हैं। इसलिए समाज कभी प्रेम के पक्ष में होगा नहीं और जिस दिन होगा, उसी दिन समाज नष्ट होने लगेगा।

पश्चिम में समाज टूट रहा है। उसका कारण है कि प्रेम मुक्त हो गया है। पश्चिम में समाज ज्यादा दिन टिक नहीं सकता और अगर समाज को टिकना होगा तो प्रेम





को मिटाना पड़ेगा। क्योंकि वह यात्रा-पथ अलग है।

और साधारण प्रेम—एक स्त्री-पुरुष का प्रेम तो बहुत खतरनाक नहीं है, क्योंकि वह नशा जल्दी उतर जाता है। प्रेयसी भी कुछ दिनों बाद बोझिल हो जाती है। प्रेमी भी कुछ दिनों बाद उबानेवाला हो जाता है। क्योंकि जब एक दूसरे के भूगोल से ठीक से परिचित हो गये और एक दूसरे की जीवन दिशा को ठीक से पहचान लिया, तो अजनबीपन मिट गया, आकर्षण खो गया।

प्रेमी जल्दी ही परिचित हो जाते हैं और समाप्त हो जाते हैं। इसलिए प्रेम अंततः विवाह में गिर ही जाता है। इसलिए साल-दो साल भी अगर समाज प्रतीक्षा रखे, तो प्रेमी खुद विवाहित हो जाते हैं; कोई चिंता की बात नहीं है। इतनी ज्यादा परेशान होने की जरूरत नहीं है। लेकिन अगर कोई व्यक्ति किसी गुरु के प्रेम में पड़ गया, तो खतरा भारी है। क्योंकि यह यात्रा पूरी होती नहीं। यह यात्रा बड़ी है। और सच में ही कोई गुरु मिल गया, जो अनंत की यात्रा पर ले जा सके, तो इसका तो फिर कोई अन्त आनेवाला नहीं है। फिर तो जो पीठ समाज की तरफ हो गयी, वह हो गयी।

अब यह बड़े मजे की बात है: समाज प्रेम के विपरीत है; प्रेमी भी गुरुओं के विपरीत होते हैं!

इधर मेरे पास रोज लोग आते हैं। अगर पत्नी आ जाती है, तो पति दुश्मनी में खड़ा है। अगर पति आ जाता है, तो पत्नी दुश्मनी में खड़ी है। ऐसा कभी-कभी घटता है कि दोनों साथ आ जाते हैं। कभी-कभी घटता है। और जब ऐसा घटता है, तब एक संवाद है। अन्यथा एक आता है तो दूसरा उसकी टाँग खींच रहा है, क्योंकि अगर पति गुरु की तरफ चला, तो पत्नी घबड़ायी, कि इसका मतलब यह हुआ कि हमसे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण कोई आदमी जीवन में प्रवेश कर रहा है, जिसके लिए हमारी भी उपेक्षा की जा सकती है! कि मैं घर में बीमार पड़ी हूँ, कि मेरे सिर में दर्द हो रहा है और तुम ज्ञान-चर्चा को चले! मेरे सिरदर्द से भी ज्यादा मूल्यवान कोई चीज हो सकती है? नहीं, प्रतिस्पर्धा शुरू हो गयी।

पत्नी सोचती है कि गुरु तो भारी प्रतिस्पर्धी हो गया। पति भी यही सोचता है।

एक महिला मेरे पास आती है। पूना की है। पति सख्त खिलाफ हैं कि मेरी किताबें भी बाहर फेंक देते हैं, चित्र फाड़ डालते हैं। मैंने उनकी पत्नी को कहा कि 'आखिर उनका विरोध क्या है!' पत्नी ने कहा कि विरोध कुछ भी नहीं है। वे कहते हैं कि 'ऐसा कौन-सा सवाल है, जो मैं हल नहीं कर सकता? तुझे कहीं जाने की जरूरत क्या है?' वे यह कहते हैं। और मैं उनको जानती हूँ कि इनसे ज्यादा मूढ़ आदमी दुनिया में दूसरा नहीं है। मगर वे पति हैं और अपने को परमात्मा समझे बैठे हैं। अगर मैं उनको सत्य कहूँ—कि तुम अपना तो हल कर लो, तो लड़ाई झगड़ा बढ़ता है।

झगड़ा यह है कि मुझसे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण कोई व्यक्ति है। इसका मतलब हुआ कि पति अपने स्थान से हटाया जा रहा है जैसे। पत्नी उसके स्थान से हटायी जा रही है जैसे।

संसार प्रेम के विपरीत में है, प्रेम धर्म के विपरीत में है। तीसरी यात्रा है परमात्मा की। समाज भी बाधा डालेगा, परिवार भी बाधा डालेगा, प्रेम भी बाधा डालेगा।

गुरु जो बोल रहा है, उसकी शुरुआत तो प्रेम से होगी, अंत परमात्मा पर होगा। शुरुआत तो दो से होगी, अंत एक पर होगा। सभी संवाद दो के बीच है, वैयक्तिक है।

तो एक तो विवाद है, अनेक के यात्री का। फिर संवाद है; एक प्रेमपूर्ण, सहानुभूतिपूर्ण, श्रद्धापूर्ण भावदशा है—जहाँ दो व्यक्ति मिलते हैं और एक दूसरे को समझने के लिए आतुर होते हैं। और फिर एक तीसरी दशा है, जहाँ दो बिलकुल खो जाते हैं, एक शून्य होता है, सन्नाटा होता है।

पहली अवस्था विवाद की, दूसरी अवस्था संवाद की, तीसरी अवस्था सत्य की, सम्मिलन की। वहाँ इतनी भी दुई नहीं रह जाती कि कुछ बोला जाय। बिना बोले समझा जाता है।

भारत के मनीषियों ने कहा है: 'नायं आत्मा प्रवचनेन लभ्य, न मेधया, न बहुधा श्रुतेन।' यह आत्मा, न तो प्रवचन से मिल सकती है, न बड़ी मेधा से, बुद्धि से, न बहुत सुनने से—न मेधया, न बहुधा श्रुतेन। बहुत सुनो तो भी नहीं मिल सकती; बहुत समझो तो भी नहीं मिल सकती; बहुत पढ़ो तो भी नहीं मिल सकती, क्योंकि दुई तो बनी रहेगी। मिटो, तो ही मिलती है। न हो जाओ, तो ही मिलती है। शब्द खो जायँ, शून्य ही रह जाय। उस शून्य के मंदिर में ही परमात्मा से मिलन है।

गुरु शुरू करता दो से, चेष्टा है एक पर पहुँचाने की।

जो संसार से ऊब गया, वही गुरु के पास आ सकेगा। जो प्रेम से भी ऊब गया, वही गुरु के साथ जा सकेगा। इसे ठीक से समझ लो।

जो संसार से ऊब गया, वह गुरु के पास आ सकेगा, लेकिन अगर प्रेम से न ऊबा हो, तो गुरु के पास ही रुक जाएगा, आगे न जा सकेगा। जो प्रेम से भी ऊब गया है, वह फिर गुरु के साथ आगे जा सकेगा—जहाँ गुरु शिष्य दोनों उस महासागर में खो जाते हैं, जो परमात्मा है।

सदा ही कृष्ण अर्जुन से ही बोले हैं और कोई बोलने का उपाय नहीं है। मैं भी अर्जुन से ही बोल रहा हूँ। यह तुमसे कहा किसने कि मैं समूह से बोल रहा हूँ! समूह से बोलने का कोई उपाय ही नहीं है, मार्ग ही नहीं है।

● दूसरा प्रश्न: हम अभी जैसे हैं, उसमें तो निमित्त-भाव का मात्र अभिनय सध सकता है। क्या निमित्त-भाव का अभिनय करते-करते किसी दिन कृष्ण के कहे निमित्त-





भाव को उपलब्ध हो जाएँगे?

कहीं से तो शुरू करो—अभिनय ही सही। लेकिन यह अभिनय अनूठा है। इसे तुम ऐसा समझो कि असली राम संसार में खो गये और भूल गये कि राम हैं। बहुत दिन संसार में भटकते-भटकते भूल गये कि राम हैं। फिर संसार में एक दिन राम-लीला होने लगी और किसी ने असली राम को कहा कि 'तुम राम-लीला में राम का पाठ क्यों नहीं कर लेते? बिलकुल राम जैसे दिखाई पड़ते हो! शकल-सूरत, नाक-नक्श, शरीर का ढंग, ये लम्बी भुजाएँ, ये वक्ष। तुम राम का पाठ कर लो।' तो राम राजी हो गये, (जो कि भूल गये हैं कि राम हैं) राम का अभिनय करने को। लेकिन अभिनय करते-करते भीतर की परतें टूटने लगीं—मूर्च्छा की और कुछ याद आने लगी कि जो हम कह रहे हैं, जो हम हैं, वह तो ऐसा लगता है जैसे किया हुआ हो, कहा हुआ हो। वह तो ऐसे लगता है, जैसे कभी देखा हुआ हो। वह तो ऐसे लगता है, जैसे अभिनय नहीं कर रहे हैं, कोई पुरानी स्मृति पुनरुज्जीवित हो गयी है। और अभिनय करते करते राम को स्मरण आ गया कि मैं तो राम हूँ। ऐसी दशा है।

जब हम तुमसे कहते हैं: निमित्त मात्र हो रहो, तुम कहते हो: अभी शुरू करेंगे तो अभिनय ही होगा। चलो, अभिनय से ही सही। न शुरू करने से तो अभिनय में शुरू करना भी बेहतर है। लेकिन असलियत यही है कि तुम निमित्त हो।

परमात्मा तुम्हें पैदा करता है, तुम पैदा नहीं हुए हो—अपने हाथ से। अस्तित्व तुम्हें उपजाता है, अस्तित्व तुम्हें बढ़ाता है, बड़ा करता है। अस्तित्व की कामनाएँ ही तुम्हारे अंतस् हृदय में जीवित हैं। अस्तित्व की वासनाएँ ही तुम्हें धकाती हैं, चलाती हैं। अस्तित्व ही तुम्हें दौड़ाता है, तुम्हारे भीतर श्वास लेता है। फिर एक दिन अस्तित्व तुम्हें वापस घर बुला लेता है। तुम गिर पड़े, मौत आ गयी, वापस अस्तित्व में खो गये। तुम थे ही नहीं। तुम निमित्त मात्र थे। तुम्हारे बहाने कोई अदृश्य हाथ काम करते थे, कोई अदृश्य तुम्हारे पैरों से चलता था।

दादू ने कहा है: 'हाथ नहीं हैं, और धनुष सधा हुआ है। धनुष नहीं है और तीर चढ़ा हुआ है; तीर नहीं है, चोट लग रही है गहरे। निशाना ठीक बैठ रहा है।' यह परमात्मा के लिए कहा है।

उसके हाथ नहीं हैं, वह तुम्हारे हाथों से चलता है। उसके पैर नहीं हैं, वह तुम्हारे पैरों से रास्ता खोजता है। उसके पास आँख नहीं है, वह तुम्हारी हजार-हजार आँखों से देखता है।

तुम निमित्त हो, लेकिन तुम यह भूल गये हो। चलो, अभिनय सही। राम-लीला में राम बन जाओ। कौन ज़ाने अभिनय करते-करते याद आ जाय। आ ही जाएगी, क्योंकि जो अस्तित्व है तुम्हारा भीतर, उसे तुम कितना ही भूल जाओ, मिटा थोड़े ही

सकोगे ? ऐसा हुआ।

मैंने सुना : एक आदमी ने हत्या की। राज्य उसके पीछे पड़ गया। सम्राट् के सिपाही उस पर घेरा डालने लगे। वह बहुत घबड़ा गया। कोई उपाय न देखा। एक नदी के किनारे पहुँचा। नाव नहीं थी। पुल नहीं था। बरसात की बाढ़ थी। उस पार जाना खतरनाक था। उससे तो पुलिस के हाथ में पड़ जाना बेहतर था। साल दो साल की सजा थी, किसी तरह बचने का उपाय था; वकील भी हैं ही सदा मौजूद। कुछ रास्ता बन सकता था। यह नदी तो प्राण ले ही लेगी। भयंकर बाढ़ है। कुछ न सूझा।

अचानक उसे खयाल आया कि यह मैं क्यों न करूँ। देखा कि नदी के किनारे एक आदमी भभूत रमाये साधु बना बैठा है। उसने भी जल्दी से डुबकी मारी, राख लपेट कर वह भी आँख बंद करके एक वृक्ष के नीचे बैठ गया।

जब पुलिस के घुड़सवार पहुँचे, तो उन्होंने इस साधु को बैठे देखा। यह बिलकुल बन के ही बैठा था। चोर था, हत्यारा था, सब तरह के जुर्म उसके ऊपर थे। मगर जब कोई बुद्ध की मुद्रा में बैठता है, तो कोई याद आनी शुरू हो जाती है; वह मुद्रा ऐसी है। वह तुम्हारे भीतर की मुद्रा है। वह शरीर पर दिखाई पड़ती है, शरीर की है नहीं। वह तुम्हारे भीतर की शांत चित्त दशा का उसके साथ जोड़ है।

तुमने कभी कोशिश की अगर, कि तुम क्रोध का अभिनय करो—थोड़ी ही देर में पाओगे : क्रोध आ गया। गाली देना शुरू करो, जोर से पैर पटको, दीवाल पीटने लगो। थोड़ी देर में तुम पाओगे : क्रोध सवार हो गया। ठीक ऐसी ही घटना विपरीत भी घटती है।

वह आदमी साधु होने का धोखा ही कर रहा था, अभिनय ही कर रहा था, लेकिन साधुता तो स्वभाव है। वह जब शांत हो कर बैठा, तो उसे बड़ा रस मालूम होने लगा। ऐसा रस तो उसने कभी न जाना था। और यह भी वह जान रहा है कि यह तो बस, अभिनय है; मगर यह रस कहाँ से आ रहा है !

तभी घुड़सवार आये; वे रुके। उन्होंने इस दिव्य प्रतिमा को बैठे देखा। वे झुके। इसके चरणों पर सिर रख दिये। उनके सिर चरणों पर रखे हैं—और इस आदमी के भीतर कोई जागने लगा। यह बड़ा हैरान हुआ कि सिर्फ धोखे का साधु हूँ। ऐसे झूठा ही साधु बन कर बैठा हूँ; अभी घड़ी भर पहले ही बना हूँ। किसी ने बनाया भी नहीं, अपने हाथ बन गया हूँ। राख भर लगा ली है, कुछ किया भी नहीं है। इस झूठ में इनको क्या दिखाई पड़ रहा है कि ये मेरे पैर छू रहे हैं ! और अगर झूठ इतना कारगर है, तो सत्य का क्या पता, कितना कारगर हो सकता हो !

सिपाही तो पैर छूकर चल गये, वह आदमी बदल गया, वह आदमी रूपांतरित हो गया। उसके जीवन में क्रांति घट गयी, क्योंकि उसने देखा कि जब झूठी साधुता





को इतना सम्मान मिल गया, तो सच्ची साधुता का क्या अर्थ होगा। एक झलक आ गयी। बंद द्वार थे, बहुत दिन से, वातायन न खुले थे, जरा-सी संध मिल गयी। बाहर की खुली हवा आ गयी। वह ताजी हवा प्राणों को पुलकित कर गयी। आँखें बंद थीं जन्मों से; जरा-सी खुल गयीं, झटके में खुल गयीं, सूरज की रोशनी की किरण से पहचान हो गयी। बुलावा आ गया। यात्रा बदल गयी। सब बदल गया।

तुमसे मैं कहता हूँ : तुम निमित्त मात्र का अभिनय ही करो। अभी अभिनय ही ही कर सकोगे। एकदम से सत्य कैसे होगा ? और बहुत अभिनय किये हैं, यह भी करो। यह अभिनय कुछ विशिष्ट है, क्योंकि तुम्हारे भीतर के सत्य से इसका तालमेल है।

और तुमने जो अभिनय किये हैं, वे सिर्फ अभिनय ही रह जाएँगे, क्योंकि उनका तुम्हारे भीतर के सत्य से कोई तालमेल नहीं है। वे ऊपर ही ऊपर रह जाएँगे। वे कभी तुम्हारा प्राण न बनेंगे। उनका स्पंदन कभी गहरे न जाएगा।

तुम निमित्त भाव का जरा अभिनय करके देखो। एक महीने अभिनय ही सही। एक महीने ऐसे ही जीयो, जैसे वह तुम्हारे भीतर से जी रहा है। उठो तो वह उठाये; बैठो तो वह बैठाये; भूख लगे तो उसे ही लगे; भोजन दो तो उसे ही दो। जो भी जीवन का सामान्य कृत्य है, उसको वैसा ही रखना। सिर्फ भीतर की एक दृष्टि बदल जाय—कि करनेवाला वह है, मैं केवल उपकरण हूँ। मेरी रस्सियाँ उसके हाथ में हैं, मैं केवल पुतली हूँ, कठपुतली हूँ, नाचती हूँ।

शायद इस बाहर के अभिनय का और भीतर की सचाई का अगर स्वभाव एक है, तो तालमेल किसी दिन बैठ जाएगा। किसी दिन अचानक ही घटना घटती है। अचानक ही भीतर का सुर बजने लगता है। सब बदल जाता है। एक क्षण में कुछ का कुछ हो जाता है। अँधेरे की जगह प्रकाश; अंधेपन की जगह आँखें; मूर्च्छा की जगह होश।

चलो, अभिनय से ही शुरू करो।

● तीसरा प्रश्न : महावीर अनाग्रही थे, पर जैन धर्म आग्रह का धर्म हो गया। आप भी अनाग्रही हैं, क्या आप का धर्म भी भविष्य में आग्रह का धर्म न हो जाएगा ?

भविष्य की चिंता क्यों तुम्हें पकड़ती है ! भविष्य का ठेका तुम्हें किसने दिया ? भविष्य भी तुम्हारे अनुकूल हो, इसकी आकांक्षा क्यों जन्मती है ? भविष्य को भविष्य पर छोड़ो।

मैं कुछ कह रहा हूँ, अगर वह सार्थक है, तो तुम उपयोग कर लो। वह कभी व्यर्थ हो जाएगा, इस डर से क्या तुम उपयोग न करोगे ! जब तुम मकान बनाते हो, तब तुम यह नहीं पूछते कि बड़े-बड़े महल खंडहर हो गये, यह मकान खंडहर न हो जाएगा ? अगर खंडहर हो जाएगा, तो इसमें कैसे रहें ? नहीं, तुम यह नहीं पूछते, क्योंकि तुम

जानते हो कि खंडहर तो होगा ही। लेकिन तुम्हारे रहने लायक काफी है। तुम्हें कोई सदा थोड़े ही रहना है। जो बना है, वह मिटेगा। लेकिन तुम्हारे रहने के लिए तो पर्याप्त है। तुम्हें सत्तर-अस्सी साल रहना है, खंडहर होने में इसको हजारों साल लगेंगे; तुम क्यों चिंता करते हो। और फिर पुराने महल खंडहर न हों, तो नये महल खड़े कहाँ होंगे? अगर पुराने महल सब बने रहते, तो दुनिया में बड़ी मुसीबत हो जाती।

अगर पुराने सारे लोग जिंदा होते तो तुम्हें पता है कैसी हालत हो जाती? इस समय कोई चार अरब है जन-संख्या दुनिया की। अगर जितने आदमी अब तक पैदा हुए हैं, वे सब जिंदा होते, तो एक सौ बीस अरब संख्या होती दुनिया की इस समय। तब हाथ हिलाने की भी जगह न होती। सोने का तो सवाल ही न होता, बैठना ही मुश्किल होता। बैठे कि मारे गये! सब तरफ भीड़! वे जो मर गये हैं, उनकी तुम पर बड़ी कृपा है। तुम उन्हें धन्यवाद दो।

और ध्यान रखना, तुम न मरोगे, तो तुम्हारी भविष्य पर कृपा नहीं है। फिर भविष्य के बच्चे कैसे पैदा होंगे? इधर बूढ़ा जाता है, उधर बच्चा आता है। इधर बड़े वृक्ष गिरते हैं, छोटे अंकुर फूटते हैं। और हर अंकुर कल बड़ा होगा, वृक्ष बनेगा और गिरेगा। यह नियति है। इसमें परेशान क्या होना।

महावीर ने जो कहा, जो समझदार थे, उन्होंने उपयोग कर लिया। जो नासमझ रहे होंगे, उन्होंने यही सवाल उनसे भी पूछा होगा—कि ये जो आप कह रहे हैं, होगा ठीक, लेकिन भविष्य में क्या होगा? धर्म संप्रदाय बन जाएगा, शब्द शास्त्र हो जाएँगे, लोग अंधविश्वासी हो जाएँगे। लोग जन्म से ही अपने को जैन समझ लेंगे, बिना किसी आंतरिक प्रक्रिया और रूपांतरण के! तुम जैसे पागल जरूर रहे होंगे, उन्होंने यह भी पूछा होगा। जो समझदार थे, उन्होंने महावीर की कुंजी से ताले खोल लिए। जो नासमझ थे, वे सोचते रहे : कहीं भविष्य में जंग तो न लग जाएगी। सभी कुंजियों पर लग जाती है। और उचित है कि लग जाय, क्योंकि ताले बदल जाते हैं, तो कुंजियाँ भी बदल जाती हैं।

जैसे आज पुराने धर्म जराजीर्ण हो गये, मैं जो कह रहा हूँ, किसी दिन वह भी जराजीर्ण हो जाएगा। लेकिन जब होगा, तब होगा। और हो जाना चाहिए, नहीं तो नये धर्म कैसे पैदा होंगे, नयी उद्‌भावना कैसे होगी! पुराने गीत ही गूँजते रहें, तो नये गीत को गाने की जगह ही न बचेगी, अवकाश ही न बचेगा।

जैसे आज कोई आदमी जैन घर में पैदा हो कर जैन हो जाता है—बिना जिन हुए। जिन होना तो बड़ा कठिन है। जिन होने का मतलब तो परिपूर्ण विजेता होना है—स्वयं का। वह तो बड़ा शिखर है, गौरीशंकर है। उस तक कोई कभी पहुँचता है। लेकिन जैन घर में पैदा हो गये, बचपन से थोड़ा जिन-वाणी के शब्द सीख लिए—कि





जैन हो गये। हिन्दू घर में पैदा हो गये, गीता पढ़ ली या सुन ली—हिन्दू हो गये। यह होना कोई वास्तविक होना नहीं है। पर यह स्वाभाविक है।

आज जो मैं कह रहा हूँ, कल पुराना हो जाएगा; हो ही जाएगा। कहा हुआ सदा ताजा कैसे रह सकता है? और कहा हुआ सदा मौजूद भी नहीं रह सकता, क्योंकि समय बदलेगा, परिस्थिति बदलेगी, तो कहा हुआ है, वह बेमौजू हो जाएगा। फिर यह उचित भी है अन्यथा नये बुद्धों के लिए जगह न रह जाएगी। नये सदगुरुओं का अवतरण कैसे होगा! पुराने कृष्ण अगर विदा न होंगे, तो नये कृष्ण पैदा कैसे होंगे!

जो समझता है, वह जानता है कि कहा हुआ धर्म तो बनेगा, मिटेगा। अनकहा हुआ धर्म शाश्वत है। वह जो महावीर ने नहीं कहा, वह नहीं बदलेगा। जो महावीर ने कहा है, वह तो बदलेगा। उस पर तो धूल जम जाएगी। जो मैं कह रहा हूँ, उस पर तो धूल जम जाएगी; जो मैं नहीं कह रहा हूँ, वह नहीं बदलेगा। जो मैं नहीं कह रहा हूँ, वह वही है—जो महावीर ने नहीं कहा, कृष्ण ने नहीं कहा, बुद्ध ने नहीं कहा। लेकिन तुम जब न कहने को सुन पाओगे, तब तुम्हें शाश्वत की पहचान होगी। जब तक तुम कहने को ही सुन पाते हो—वह भी मुश्किल है। उसको भी ठीक से नहीं सुन पाते—जब तक तुम कहने को ही सुन पाते हो, जब तक तुम कथन को ही सुन पाते हो, तब तक तो सभी चीजें बासी हो जाएँगी। स्वाभाविक है। इसमें कुछ रोने और परेशान होने की जरूरत नहीं है; और न ही इसके विपरीत कोई इन्तजाम करने की जरूरत है, क्योंकि कोई इन्तजाम काम न करेगा। सब इन्तजाम व्यर्थ हो जाएँगे। प्रकृति किसी को मानती नहीं और अपवाद नहीं स्वीकार करती।

कृष्ण; महावीर, बुद्ध, जरथुस्त्र, मुहम्मद, मूसा—सब बासे पड़ गये। तो यह कैसे संभव है कि जो मैं कह रहा हूँ, वह सदा ताजा रहेगा! वह भी बासा हो जाएगा; हो ही जाना चाहिए। उसके बासे हो जाने में भी अर्थ है। क्योंकि जब वह बासा हो कर गिर जाएगा, तभी जगह खाली होगी कि फिर कोई ताजा पैदा हो।

वह ताजा स्वर मेरा ही स्वर है। वह ताजा स्वर कृष्ण का ही स्वर है, लेकिन उस स्वर का आना होता है शून्य से। उससे तुम्हारी पहचान नहीं है।

धर्म सनातन है, संप्रदाय सभी सामयिक हैं; बनते हैं और मिटते हैं। धर्म न कभी बनता और न मिटता। इसलिए हिन्दू को धर्म नहीं कहना चाहिए, जैन को धर्म नहीं कहना चाहिए, मुसलमान को धर्म नहीं कहना चाहिए। ये सब संप्रदाय हैं। ये धर्म तक पहुँचने के ढंग हैं। ये धर्म तक पहुँचने के मार्ग हैं। ये धर्म नहीं हैं। धर्म तो तुम्हारे गहन निबिड़ शून्य में छिपा है, गहन मौन में छिपा है।

● चौथा प्रश्न : आप के प्रवचन प्रवाह के बीच-बीच में जो क्षणों का रुकना या मौन घटित होता है, वह बोलने से भी अधिक मार्मिक और प्रीतिकर लगता है; ऐसा क्यों?

है ही; लगना ही चाहिए। प्रश्न की जरूरत ही नहीं है। पूछो ही मत। उसका स्वाद लो—पीओ—डूबो। क्योंकि तुमने पूछा कि तुम फिर वापस सुनने की दुनिया में, शब्द की दुनिया में उतरने की चेष्टा में लग गये।

मौन ही सार्थक है। शब्द तो बड़े छोटे हैं; सत्य उनमें समाता नहीं। वे तो तुम्हारे घर के आँगन जैसे हैं। महाआकाश उसमें कहाँ समायेगा! यद्यपि महाआकाश उसमें भी है। छोटा-सा टुकड़ा समाया है।

अगर तुम्हें आँगन से मुक्ति मिलती है किसी क्षण और मौन की प्रतीति होती है, तो 'ऐसा क्यों' यह पूछ कर उसे खराब मत करो। पूछा—कि फिर तुम शब्द की दुनिया में वापस आये।

पूछने की ऐसी बीमारी लग गयी है कि तुम किसी चीज का—चुपचाप—आनंद तो ले ही नहीं सकते!

मैंने सुना है : मुल्ला नसरुद्दीन का एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा कर रहा था। उसे भेजा पहाड़ पर कि थोड़े दिन हवा-पानी बदल कर आओ। बड़े चिंतित, दिन-रात परेशान, दिन-रात बेचैन, रोज नयी बीमारियाँ लेकर हाजिर। भेज दिया पहाड़ पर। तीन दिन बाद नसरुद्दीन का तार आया : 'फीलिंग व्हेरी हेप्पी, व्हाय? बहुत प्रसन्न हूँ—क्यों?' अब प्रसन्नता भी बिना 'क्यों' के नहीं चलती!

यह 'क्यों' की बीमारी छोड़ो। हाँ, अगर बीमार हो, प्रसन्न नहीं हो, दुःखी हो, तो पूछो—कि क्यों। क्योंकि दुःख को मिटाना है, इसलिए पूछना है—क्यों। कारण खोजने हैं उसके—जिसको मिटाना है। जिसको पाना है, उसके कारण क्या खोजने। 'क्यों' क्यों पूछना? मत पूछो।

और अगर मेरे बोलने के प्रवाह में, कहीं ऐसा क्षण आ जाता है, अंतराल आ जाता है, तो जीओ उसे, स्वाद लो उसका। मैं बोल ही इसलिए रहा हूँ, ताकि वह अंतराल तुम्हें दिखाई पड़ने लगे। अगर मैं न बोलूँ, तो तुम्हें दिखाई न पड़ेगा।

दो शब्दों के बीच में जब कभी मैं चुप हो जाता हूँ, तो ऐसा ही हो जाता है, जैसे दो किनारों के बीच में नदी दिखाई पड़ जाय। दो तरफ शब्द हैं, बीच में थोड़ी देर को अन्तराल की धारा है। मौन की नदी बह जाती है। तुम सुनने को उत्सुक थे, तुम शब्द की प्रतीक्षा करते थे और मैं चुप हो गया। एक क्षण को तुम्हारा मन समझ नहीं पाता : अब क्या करें! बस, उसी थोड़े से क्षण में तुम्हें मौन का स्पर्श होता है। 'क्यों' को मत उठाओ, अन्यथा मन उसे भी खराब कर देगा, दूषित कर देगा।

क्यों को उठाया कि तुम्हारा मौन भी कुँआरा नहीं रह जाता। मौन का कुँआरापन भी नष्ट कर दिया तुमने।

कुँआरे मौन को जीओ। धीरे-धीरे प्रश्न उसी चीज के संबंध में उठाओ, जिसे





मिटाना है। निदान बीमारी का किया जाता है, स्वास्थ्य का तो नहीं। डायग्नोसिस बीमारी की होती है, स्वास्थ्य की तो नहीं। अगर तुम स्वस्थ हो, तो डॉक्टर कहेगा : कोई बीमारी नहीं है। सब 'निगेटिव रिजल्ट' आयेंगे। कोई बीमारी नहीं है तो 'निगेटिव रिजल्ट' आते हैं।

बीमारी हो, तो पता चलना शुरू होता है : कौन-सी बीमारी है; फिर बीमारी की खोज शुरू होती है। पूछो क्यों, कारण में जाओ, निदान करो, चिकित्सा खोजो, औषधि खोजो। स्वास्थ्य तो बस स्वास्थ्य है, उसके संबंध में प्रश्न नहीं उठाना है। इसे तुम समझो थोड़ा।

ज्ञानियों ने कहा है कि परमात्मा के संबंध में प्रश्न मत उठाओ, इसलिए नहीं कि उत्तर नहीं है; इसलिए कि परमात्मा यानी परम स्वास्थ्य; बात ही क्या उठाना है। 'क्यों' क्यों पूछना। भोगो—नाचो—डूबो।

परमात्मा के संबंध में जो प्रश्न उठाता है, उसने स्वास्थ्य के संबंध में प्रश्न उठाया। वह मुल्ला नसरुद्दीन जैसा है। वह पूछता है : आनंद में हूँ; क्यों? जैसे आनंद में होने पर भरोसा नहीं आता। वही दशा तुम्हारी हो जाती होगी।

कभी कभी मेरे बोलते-बोलते रुक जाने से तुम्हारी भी अंतर्धारा मेरे साथ चलती-चलती रुक जाती है; तुम्हारे बावजूद रुक जाती है। तुम्हारा चलता तो तुम चलाये जाते। वह तो मेरे साथ सुर तुम्हारा बँध गया—बोलने में, तुम मुझे सुनने में तल्लीन हो गये, जब मैं रुक गया एक क्षण को, तो एक क्षण तुम पटरी पर नहीं आ पाते एकदम से। थोड़ी देर लग जाती है। 'स्टार्ट' करो गाड़ी, फिर गेअर में डालो, तब कहीं फिर विचार शुरू हो पाते हैं। वह जो एक क्षण का तुम्हें मौका मिल जाता है—तुम्हारे बावजूद—उसको खोओ मत—'क्यों' पूछ कर। उसमें कोई नयी बेचैनी और प्रश्न मत लाओ। उसे बिना प्रश्न के स्वीकार कर लो।

मौन के साथ श्रद्धा को जोड़ो। स्वास्थ्य के साथ श्रद्धा को जोड़ो। परमात्मा के साथ श्रद्धा को जोड़ो—बीमारी के साथ संदेह को, क्योंकि बीमारी को मिटाना है। स्वास्थ्य को बढ़ाना है। पूछने से कोई स्वास्थ्य बढ़ता नहीं। पूछने से ही बीमारी शुरू हो जाती है।

अब जब ऐसा घटे, डुबकी लगा लो; सिर डुबा लो—नीचे—उस मौन की धार में। तुम नये होकर बाहर आओगे। और तब धीरे-धीरे ऐसा भी होगा, कि मैं बोलता भी रहूँगा और तुम्हारे भीतर कई बार सन्नाटा आ जाएगा। तुम यहाँ से उठ कर जाओगे, और तुम पाओगे : सन्नाटा तुम्हारे साथ चल रहा है। धीरे-धीरे संगीत बैठने लगता है। और मौन सध जाय, तो सब सध गया। मौन खो गया, तो सब खो गया, क्योंकि उस मौन में ही तुम्हें अंतर्जगत् के दर्शन शुरू होते हैं। उस मौन में ही तुम्हें बाहर भी परमात्मा की छबि दिखाई पड़नी शुरू होती है। मौन द्वार है। मौन मंदिर है।

● पाँचवाँ प्रश्न : आपने बताया है कि एक अमेरिकी दर्शक को सद्‌गुरु से आँखें चार होते ही पेट में दर्द शुरू हो गया। मेरा अनुभव भी कुछ ऐसा ही है। संन्यास दीक्षा के बाद से ही मेरे सिर में अकसर ऊर्जा इकट्ठी होकर दर्द बन जाती है। कभी-कभी तेज सिरदर्द भी महसूस होता है। ध्यान, प्रवचन और दर्शन के समय भी यह प्रक्रिया तीव्र हो उठती है। सिर में तनाव और शरीर में पसीना भी आता है। मैं क्या करूँ?

● और छठवाँ प्रश्न : कल एक अमेरिकी साधक के अनुभव के प्रसंग में आप ने बताया कि ध्यान साधना में ऐसी शरीरिक बीमारियाँ पैदा हो सकती हैं, जिनका इलाज सामान्य चिकित्सा नही कर सकती। मुझे खुद ऐसा पेटदर्द महीनों से है और एक डॉक्टर के नाते, आपके अन्य साधकों में भी ऐसे रोग दिखाई पड़े हैं। कृपापूर्वक बतायें कि उनके निराकरण के लिए सिर्फ साक्षी-भाव रखना है या कि कुछ और विधि भी काम में लायी जा सकती है?

ऐसा घटता है। घटने के कारण समझ लें।

बच्चा पैदा होता है, तब उसकी जीवन-ऊर्जा सारे शरीर पर एक-सी बहती है, धारा अखण्डित होती है। इसलिए तो बच्चे इतने सुंदर मालूम पड़ते हैं। तुमने कोई कुरूप बच्चा देखा? कुरूप से कुरूप बच्चा भी सुंदर मालूम पड़ता है। और सुंदर से सुंदर पुरुष भी कुछ गहरी कुरूपता को लिये हुए चलता लगता है। सभी बच्चे सुंदर पैदा होते हैं, फिर मुश्किल से एकाध प्रतिशत लोग सुंदर रह जाते हैं, बाकी सबका सौंदर्य खो जाता है। क्या मामला है?

बच्चे के सौंदर्य का कारण है : उसकी जीवन की श्रृंखला, उसके भीतर की ऊर्जा-धारा, उसकी जीवन-धारा सभी पूरी एक-सी बह रही है। शरीर में कहीं भी अवरोध नहीं है। ऊर्जा कहीं भी रुकी नहीं है। 'झरने' पर कहीं भी पत्थर नहीं पड़े हैं। लेकिन जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होगा, शिक्षा होगी, दीक्षा होगी, संस्कार डाले जाएँगे—ऊर्जा में बंधन आने शुरू हो जाएँगे।

छोटा बच्चा है; अपनी जननेंद्रिय से खेल रहा है। सारे बच्चे सारी दुनिया में खेलते हैं। कहीं कुछ स्वाभाविक बात है उसमें। लेकिन माँ ने देख लिया। माँ चिल्लायी : 'बंद करो, अलग करो हाथ।' बच्चे ने हाथ तो अलग कर लिया, लेकिन ऊर्जा में खंडन हो गया। पहली बार ऊर्जा भयभीत हुई। डर पैदा हो गया। अपने ही शरीर को दो टुकड़ों में तोड़ना जरूरी हो जाएगा। नीचे का शरीर—लोग धीरे-धीरे समझने लगते हैं—गंदा है।

अब यह बड़े आश्चर्य की बात है। शरीर एक है; उसके भीतर बहती खून की धार एक है; उसके भीतर हड्डी-मांस-मज्जा का समूह एक है; उसके भीतर कहीं भी कोई कम्पार्टमेंट, कहीं कोई विभाजन नहीं है। लेकिन सभी समाजों ने काम-वासना के प्रति





ऐसी अपराध-भावना पैदा कर दी है कि नीचे का शरीर गंदा है; नीचे के शरीर में कहीं कुछ पाप है, कहीं कोई बुराई है।

काम-वासना बुरी है, तो उसके साथ ही शरीर के वे हिस्से जो काम-वासना से जुड़े हैं, गंदे हो गये, त्याज्य हो गये, उनको छिपाना है। उनको स्वीकार नहीं करना है। उनका स्पर्श नहीं करना है। यह जो बचपन से बच्चे के ऊपर थोपी गयी धारणा है, तो ठीक पेट के पास, जहाँ से काम-ऊर्जा शुरू होती है, नाभि के दो इंच नीचे, दरार पड़ जाती है। शरीर दो हिस्से में बँट गया—निम्न और उच्च। तुम्हारी चेतना में भी दरार पड़ गयी। अब तुम धीरे-धीरे अपने को नीचे के शरीर से तादात्म्य नहीं करते हो; तुम ऊपर के शरीर से तादात्म्य करते हो। वस्तुतः धीरे-धीरे ऐसी घड़ी आ जाती है कि तुम समझते हो कि तुम खोपड़ी में ही रहते हो, बाकी शरीर तो बस गौण है। अगर तुम गौर भी करो, विचार भी करो, तो तुमको यही याद आयेगा कि खोपड़ी के भीतर हो। खोपड़ी स्वीकृत मालूम होती है।

सारे शरीर को हमने ढँक दिया है; सिर्फ चेहरे को खुला छोड़ दिया है। अगर तुम्हारा सिर काट लिया जाय तो तुम्हारी माँ, तुम्हारी पत्नी, तुम्हारे पिता भी तुम्हारे बाकी शरीर को न पहचान पायेंगे—कि तुम ही हो। तुम खुद भी न पहचान पाओगे—अगर सिर काट दिया जाय। अगर ऐसा कोई उपाय हो कि सिर को काट कर सिर से ही पूछा जा सके कि यह शरीर तुम्हारा है। तो तुम खुद ही कहोगे : 'पता नहीं—अपना है या नहीं।'

सारा शरीर अस्वीकृत है। अस्वीकार के कारण ऊर्जा का प्रवाह खण्डित हो गया है। और इस प्रवाह के दो-तीन विशेष स्थान हैं—जहाँ खण्डन हुआ है। पहला खण्डन नाभि के नीचे है।

तो जिन लोगों का ध्यान ऊर्जा के प्रवाह को फिर से शुरू कर देगा, जिनका ध्यान गहरा जाएगा, उनकी नाभि पर चोट पड़ेगी। जो प्रवाह रुक गया बचपन में, दमनकारी विचारों के कारण, वह फिर से प्रवाहमान होगा। वर्षों तक बंद पड़ी हुई धारा फिर से बहेगी; दर्द मालूम होगा; पीड़ा मालूम होगी। जैसे किसी का हाथ बहुत दिन तक बांध कर रखा गया हो और अब फिर अचानक उसे स्वतंत्रता दी जा रही है, तो हाथ गति भी न कर सकेगा। लकवा लग गया। बड़ी मुश्किल होगी। स्नायु जड़ हो गये, हड्डी सख्त हो गयी। पीड़ा होगी।

तो एक तो साधक को पेट में पीड़ा शुरू होती है। कभी-कभी दीक्षा के समय ही, संन्यास के समय ही शुरू हो जाती है। अगर साधक की भाव-दशा बहुत गहरी है, तो वह जैसे ही मेरे पास झुकता है, वैसे ही काम शुरू हो जाता है।

बहुत पीड़ा हो सकती है। उस पीड़ा के लिए कुछ भी नहीं करना है। उस पीड़ा को

स्वीकार करना है। उसे अहोभाव की तरह स्वीकार करना है कि यह अच्छा हुआ कि बंद ऊर्जा का द्वार खुल रहा है। उसे धन्यभाव की तरह स्वीकार करना है, और परमात्मा को धन्यवाद देना है कि तूने मेरी जीवन धारा को फिर प्रवाहित कर दिया। जितने धन्यवाद से तुम भरे रहोगे, उतने ही जल्दी काम हो जाएगा। अगर तुमने पीड़ा के विपरीत कुछ भी चेष्टा की तो फिर से तुम द्वार को बंद कर सकते हो। इसलिए अच्छा यही है कि तुम कोई इलाज मत करना, क्योंकि कोई भी इलाज ज्यादा से ज्यादा पीड़ा को भुलाने का इलाज हो सकता है।

और यह पीड़ा शरीरिक नहीं है। यह पीड़ा तुम्हारी अंतर्ऊर्जा की है; और इसको मुक्त करना है; इसको बाहर लाना है, इसको फिर गतिमान करना है। तुम्हें फिर छोटे बच्चे की तरह बनना है। तभी तुम परमात्मा के राज्य में स्वीकृत हो सकोगे।

जीसस ठीक कहते हैं कि 'जो छोटे बच्चों की भाँति न होंगे, वे मेरे प्रभु के राज्य में प्रवेश न कर सकेंगे।' तुम्हें फिर से जीवंत होना है। तुम्हारे जड़ हो गये अंगों में फिर धार बहानी है, जीवन की। फिर से गतिमान करना है तुम्हारे झरने को।

तो एक तो चोट लगती है नाभि के पास और वह वर्षों तक भी रह सकती है, अगर तुम उससे लड़ते रहो, अगर तुम कोशिश करो कि यह न हो, तो अभी भी तुम जो खाई पैदा हो गई है, उसे पूरी नहीं होने दे रहे हो। तुम शिथिल हो जाओ; तुम उसे स्वीकार कर लो। जब भी बहुत पीड़ा होने लगे, लेट जाओ, आँख बंद कर लो और ऐसा भाव करो कि ठीक नाभि पर जहाँ पर पीड़ा हो रही है, वहाँ से ऊर्जा ऊपर की तरफ उठ रही है; और तुम बाधा नहीं डाल रहे हो। तुम्हारी कोई बाधा नहीं है; तुम अंगीकार कर रहे हो; 'तुम्हारा स्वागत है। आओ।' तुम बुलाते हो ऊर्जा को। एक दिन अचानक तुम पाओगे—एक सरसराहट की तरह, जैसे बहुत दिन से दबे हुए स्प्रिंग पर से पत्थर हटा दिया गया हो और स्प्रिंग झटके से उठ कर खड़ा हो गया हो। जैसे बहुत दिन से दबा हुआ झरना; और शिला हटा दी गई हो और एक भयंकर तूफान की तरह झरना फूट पड़ा हो, ऐसा तुम्हारे भीतर से नाभि के पास से ऊर्जा फूटेगी। उस ऊर्जा के फूटने के साथ ही तुम्हारे जीवन में क्रांति घट जाएगी। तुम दूसरे ही व्यक्ति हो जाओगे। तब तुम समाज के द्वारा दमित व्यक्ति नहीं रहे। योग ने तुम्हें मुक्त किया। एक तो यहाँ कठिनाई होती है।

दूसरा कठिनाई का क्षेत्र है हृदय। एक तो काम का दमन किया है समाज ने, तो वहाँ अड़चन है। दूसरा प्रेम का दमन किया है, वहाँ अड़चन है।

प्रेम को कोई भी स्वीकार नहीं करता है। प्रेम खतरनाक मालूम होता है। इसलिए तुम हृदय की बातें करते हो, लेकिन हृदय से तुम्हारी कोई पहचान नहीं है। हृदय के साथ खतरा है। हृदय अंधा है—लोग कहते हैं। प्रेम अंधा है—लोग कहते हैं; जब कि वस्तुतः प्रेम ही एकमात्र आँख है। और जिसके पास हृदय जीवित नहीं है, उसके पास





कुछ भी जीवित नहीं। वह केवल हड्डी-मांस-मज्जा की बनी मुरदा देह है, लाश है। तुम जिसको हृदय की धड़कन समझते हो, वह केवल फुफ्फस की धड़कन है—हृदय की नहीं। वह केवल पंपिंग यंत्र है, जहाँ से खून को पंप किया जाता है। उस हृदय के पीछे छिपा हुआ एक और अनुभूति का बड़ा मार्मिक स्थल है: उसे भी समाज ने रोक दिया है।

समाज ने तुम्हें विचार सिखाया, तर्क सिखाया—प्रेम से बचाया है, क्योंकि प्रेमी आदमी को धोखा दिया जा सकता है और प्रेम करनेवाला व्यक्ति न तो शोषण कर सकता है, न लूट सकता है, और इस समाज में शोषण और लूट का ही रास्ता है। यहाँ तो बड़ी मछली छोटी मछली को खाये, यही नियम है।

तो अगर तुम तर्क और संदेह से न जीये, तो लुट जाओगे, मिट जाओगे—संसार में। बड़ी दुकान न बना पाओगे, बड़े नेता न हो पाओगे। पड़े पद पर न पहुँच पाओगे, महत्वा-कांक्षा क्षीण हो जाएगी, इसलिए हृदय को दबा दिया है।

तो दूसरी पीड़ा हृदय में होती है, वह दूसरा स्थल है। अगर प्रेम जगेगा, तो हृदय में बड़ी गहन पीड़ा होगी—ऐसी ही जैसा कि हार्ट अटेक हुआ हो, जैसे हृदय का दौरा पड़ गया हो। लेकिन वह सौभाग्य है, उससे घबड़ाना मत। उसके इलाज की कोई भी जरूरत नहीं। अगर ध्यान से वह हो तो जरा भी चिंता की कोई बात नहीं है। लेट गये, हृदय पर हाथ रख लिया और सहारा दिया—कि ठीक है, जागो, उठो, फैलो, फिर से गतिमान हो जाओ, फिर से धड़को। परमात्मा को धन्यवाद देना। जल्दी ही वह पीड़ा पार हो जाएगी। उस पीड़ा के पार होते ही तुम पाओगे : नहा गये प्रेम में। उस पीड़ा के जाते ही तुम पाओगे : तुम्हारी आँख के देखने का ढंग बदल गया, तुम्हारे अस्तित्व की गरिमा और गुण बदल गया। तुम कुछ और ही हो गये। जहाँ सूखा तर्क चलता था, वहाँ प्रेम के फूल लगने लगेंगे। जहाँ केवल संदेह के मरुस्थल थे, वहाँ प्रेम के मरुद्यान उठने लगेंगे। हरियाली फैलने लगेगी तुम्हारे जीवन में। तुम हरे होने लगोगे। वह एक पीड़ा की जगह है।

और तीसरी एक पीड़ा की जगह है : कंठ। ये तीन स्थान हैं आमतौर से। कुछ और स्थान भी हैं, वे कभी-कभी अपवाद रूप किन्हीं व्यक्तियों के जीवन में होते हैं अन्यथा तीन सामान्य स्थल हैं।

कंठ भी अवरुद्ध है, क्योंकि जो तुम कहना चाहते थे, कहने नहीं दिया गया। हँसना चाहते थे, हँसने नहीं दिया गया। रोना चाहते थे, रोने नहीं दिया गया। जब रोये तो कहा, चुप हो जाओ। हँसने लगे जोर से तो असभ्यता थी! जो कहने का मन था, वह कहा नहीं; जो नहीं कहने का मन था, वह कहलवाया गया। तो कंठ में भी अवरोध है।

ये तीन क्षेत्र पीड़ा के हैं और इन तीनों में पीड़ा हो—ध्यान के बाद, संन्यास के बाद, तो घबड़ाना मत। कोई चिकित्सा की जरूरत नहीं। यह बीमारी है ही नहीं। यह तो

स्वास्थ्य का लौटना है। लेकिन तुम इतने दिन बीमार रह गये हो कि अब स्वास्थ्य भी तुम्हें बीमारी जैसा लगता है। अब तो स्वास्थ्य के लौटने में भी तुम्हें घबड़ाहट लगती है, क्योंकि तुम खाट से बँध गये हो। खाट से बँधे होने को तुमने जीवन समझ लिया है। अब यह जो जीवन-धारा आती है, तो भयभीत करती है कि यह क्या हो रहा है।

घबड़ाओ मत। इसलिए निरंतर गुरु की जरूरत है, क्योंकि तुम जहाँ-जहाँ घबड़ाओगे, वहीं-वहीं वह सहारा दे सकेगा। जहाँ-जहाँ भय पकड़ेगा, वहीं-वहीं निर्भय कर सकेगा।

और इनके अतिरिक्त भी कई स्थानों पर दर्द हो सकता है। सिर में भी पीड़ा हो सकती है। उसके होने का कारण भी है। सिर में भी बड़े दमन है। सिर के दो हिस्से हैं, मस्तिष्क के दो भाग हैं—बायाँ और दायाँ। दोनों के बीच में छोटा-सा सेतु है, जो दोनों को जोड़े हुए है। और समाज बड़ा अदभुत है। उसने जो-जो चीजें लेफ्ट हैं, बायीं हैं, उनका दमन किया है। तो तुम्हारा दायाँ मस्तिष्क दमन किया गया है। अगर कोई बच्चा बायें हाथ से लिखता है, तो हम उसे लिखने नहीं देते। दस प्रतिशत बच्चों को बायें हाथ से ही लिखना चाहिए, क्योंकि वे वैसे ही पैदा हुए हैं; उनका बायाँ हाथ ही सक्रिय है। लेकिन शिक्षण पीछे पड़े हैं, माताएँ डंडा लिये खड़ी हैं, बाप खड़े हैं—कि लिखो दायें हाथ से। अब जो बच्चा बायें हाथ से ही लिखने को पैदा हुआ है, वह दायें से लिखेगा, लेकिन तुमने उसकी जीवन-ऊर्जा कुंठित कर दी। उसका बायाँ हाथ दमित किया गया। बाये हाथ से दायाँ मस्तिष्क जुड़ा है और दायें हाथ से बायाँ मस्तिष्क जुड़ा है। क्रॉस की तरह जुड़े हैं। अगर तुमने उसको बायें हाथ से न लिखने दिया, तो तुमने उसके दायें मस्तिष्क को दमित कर दिया। वह दायाँ मस्तिष्क तड़फड़ायेगा। वह बंद पड़ा रह जाएगा। और वही उसका असली मस्तिष्क था। यह बच्चा सदा के लिए बुद्धू हो जाएगा और तुम इसी को जिम्मेवार ठहराओगे।

अभी पश्चिम में मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिकों का बड़ा समूह इस पक्ष में हो गया है कि जो बच्चे बायें हाथ से लिखते हैं, उनको बायें से ही लिखने दो। अन्यथा तुम उनको जीवन भर के लिए बुद्धिहीन बना दोगे। उनका असली मस्तिष्क तो रोक दिया जाएगा और जो मस्तिष्क काम करना नहीं चाहता था—कर नहीं सकता था—उसके सहारे उनको चलाया जाएगा। तुमने उन्हें नाहक ही बैसाखियाँ पकड़ा दीं। वे अपने ही पैर से दौड़ सकते थे।

तो जो बायें हाथ वाले दस प्रतिशत लोग हैं (काफी बड़ी संख्या है) उनको बगावत करनी ही चाहिए। ये दायें हाथ वाले लोगों ने, नब्बे प्रतिशत लोगों ने, दस प्रतिशत लोगों की गरदन दबा ली है।

अगर तुम्हारा लिखने का ढंग बायें हाथ से शुरू हुआ हो, और तुम भूल भी गये हो शायद, तो जब जीवन ऊर्जा फिर से बहेगी, तो तुम्हारा दायाँ मस्तिष्क सक्रिय होगा,





वहाँ पीड़ा शुरू हो जाएगी।

जहाँ भी पीड़ा हो ध्यान के बाद, चिकित्सक को दिखा लेना। अगर चिकित्सक कहे कि शरीर में कोई खामी नहीं है, कोई खराबी नहीं है, तो फिक्र मत करना। अगर वह कहे कि शरीर में कोई खराबी है, तो दवा ले लेना। अगर शरीर में कोई खराबी नहीं है, तो ध्यान से जो काम हो रहा है, उसकी कोई चिकित्सा नहीं है। चिकित्सा की जरूरत नहीं है। वह तो स्वास्थ्य का लौटना है।

वह तो ऐसी धार हो गये हो तुम नदी की, जहाँ सिर्फ रेत रह गयी है, पत्थर पड़े रह गये हैं। कहीं-कहीं डबरे भरे रह गये हैं। अब वर्षा हो गयी है—ध्यान की। फिर से जल आया है नदी में। फिर से धार बहने की कोशिश कर रही है। कई जगह पत्थर तोड़ने पड़ेंगे, आवाज होगी—पीड़ा होगी। कई जगह मार्ग बनाना पड़ेगा—पीड़ा होगी। लेकिन सब पीड़ा सौभाग्य है। इसे अगर तुमने धन्यवाद से स्वीकार किया और परमात्मा के प्रति अनुग्रह का भाव रखा, तो तुम पाओगे : जल्दी ही पीड़ा पार हो गयी। साक्षी रहना—और परमात्मा को काम करने देना।

अपने को छोड़ दो उसके हाथ में—निमित्त मात्र हो जाने का यही अर्थ है। वह जो कराये, होने दो। वह जो न कराये, उसकी आकांक्षा न करो।

अब सूत्र :

'तथा हे अर्जुन, जो कर्म शास्त्र-विधि से नियत किया हुआ और कर्तापन के अभिमान से रहित, फल को न चाहनेवाले पुरुष द्वारा बिना राग-द्वेष से किया हुआ है, वह कर्म तो सात्त्विक कहा जाता है। और जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त है तथा फल को चाहने वाले और अहंकार युक्त पुरुष द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है। तथा जो कर्म परिणाम, हानि और हिंसा और सामर्थ्य को न विचार कर केवल अज्ञान से आरंभ किया जाता है, वह कर्म तामस कहा जाता है।'

तामस का अर्थ है : मूर्च्छा की एक दशा, जिसमें तुम सोये-सोये हो। जैसे कोई नींद में चलता हो। कई लोगों को निद्रा में चलने का रोग होता है। रात उठते हैं, फ्रिज के पास पहुँच जाते हैं, खोल लेते हैं फ्रिज, आईसक्रीम खा लेते हैं, कोका-कोला पी लेते हैं, फ्रिज बंद कर देते हैं, वापस लौट जाते हैं; सो जाते हैं। सुबह उससे पूछो; उन्हें कुछ याद नहीं। अगर बहुत चेष्टा करेंगे, तो इतनी ही याद आयेगी कि एक सपना देखा कि फ्रिज के पास खड़े हैं। सपने में फ्रिज खोला, सपने में सपने की ही आईसक्रीम खाई—ऐसी उनको याद ज्यादा से ज्यादा आ सकती है। ऐसे लोगों ने कई बार दुनिया में बड़ी मुश्किलें खड़ी कर दी हैं। क्योंकि खुद ही आदमी रात उठता है, घर में गड़बड़ कर आता है, सो जाता है। सुबह पुलिस में खबर करता है कि रात घर में कोई घुसा था, क्योंकि चीजें अस्त-व्यस्त हैं!

कई स्त्रियाँ पकड़ी गयी हैं, जो खुद ही रात को उठकर अपनी साड़ियों को काट देती हैं और सुबह उपद्रव खड़ा हो जाता है कि 'किसने साड़ियाँ काटीं? कोई भूत-प्रेत घर में घुस गया है।' आग लगा दी है लोगों ने अपने ही सामानों में। धीरे-धीरे मनोविज्ञान एक तथ्य पर पहुँचा कि बहुत से लोगों को यह बीमारी है।

जब इस तरह बीमार आदमी रात में उठकर चलता है, तो उसकी आँख खुली होती है। और नींद नहीं टूटती। इसलिए वह टकराता भी नहीं।

न्यूयॉर्क में एक घटना घटी कुछ वर्षों पहले। एक आदमी रोज रात में उठ कर अपनी साठ मंजिल के मकान से पास की साठ मंजिल के दूसरे मकान पर छलाँग लगाता था। यह रोज का कृत्य था। धीरे-धीरे लोग भी जानने लगे कि रात ठीक दो बजे वे सज्जन आते हैं, दो-चार बार उस तरफ जाते हैं, दो-चार बार इस तरफ। बड़ा खतरनाक मामला था। बड़ी खाई थी—साठ मंजिल की!

धीरे-धीरे खबर फैल गयी। एक रात बहुत लोग इकट्ठे हो गये देखने। जैसे ही उस आदमी ने छलाँग लगाई, कि नीचे खड़े सारे लोगों ने शोरगुल कर दिया। उसकी नींद टूट गयी, वह घबड़ा गया। वह पहुँच गया दूसरे की छत पर, खड़ा हो गया, लेकिन इतना घबड़ा गया कि उसे भरोसा ही नहीं आया कि क्या हो रहा है। घबड़ाहट में उसका पैर फिसल गया और वह गिर गया। मर गया वह आदमी। यही रोज कर रहा था; उसे याद ही न थी। इसको निद्रा में चलने का रोग, सोमनाम्बुलिज्म कहते हैं।

तामस ऐसी ही जीवन दशा है, जिसमें तुम चलते हो, फिर भी क्यों चल रहे हो, पता नहीं। दुकान कर रहे हो, क्यों कर रहे हो, पता नहीं। झगड़ा भी हो जाता है, किसी की हत्या भी कर देते हो, पता ही नहीं। पीछे तुम्हीं कहते हो, कुछ पता नहीं, मेरे बावजूद हो गया! मैं करना नहीं चाहता था और हो गया। मैंने सोचा ही नहीं, और हो गया। क्रोध के क्षण में हो गया। होश ही न था। ऐसी नशे की दशा में जो जीवन व्यवहार चल रहा है, उसे कृष्ण कहते हैं : वह तामस की अवस्था है।

परिणाम का विचार किये बिना, हानि और हिंसा का विचार किये बिना, सामर्थ्य का ध्यान किये बिना, केवल अज्ञान से, केवल अँधेरे से जो उठता है कृत्य, जिसके लिए तुम अपना उत्तरदायित्व भी नहीं मानते, जिसके लिए तुम यह भी नहीं कह सकते कि 'मैंने किया' है, क्योंकि तुमने होशपूर्वक किया ही नहीं है।

बहुत से हत्यारे अदालतों में कहते हैं कि उन्होंने हत्या की ही नहीं। पहले तो समझा जाता था कि वे झूठ बोल रहे हैं। लेकिन अब तो झूठ पकड़ने के लिए लाई-डिटेक्टर की मशीन तैयार हो गई है। ऐसे हत्यारों को लाई-डिटेक्टर पर खड़ा करके भी पूछा गया है। वे तब भी कहते हैं कि 'नहीं, हमने हत्या की ही नहीं।' और मशीन भी कहती है कि वे ठीक कहते हैं और सब गवाह मौजूद हैं कि उन्होंने हत्या की है। रंगे हाथ वे पकड़े गये





हैं। क्या मामला है?

मनस्विदों ने इस पर काफी अध्ययन किया है पिछले तीस वर्षों से और उन्होंने पाया कि, इन्होंने हत्या की है, लेकिन इतने गहन तमस में की है कि इनको पता ही नहीं कि इन्होंने की है। नींद में हो गयी। इसलिए पश्चिम में मनोविज्ञान और कानून के बीच एक बड़ा संघर्ष शुरू हुआ है, क्योंकि मनोविज्ञान कहता है : इस तरह के आदमी को सजा देना गलत है। जब उसने किया ही नहीं, किसी मूर्च्छा के क्षण में हुआ है, तो सजा देने का क्या सार है? उसने किया होता—जानकर किया होता—तो सजा का कोई अर्थ था।

छोटे बच्चे को तो हम सजा नहीं देते, क्योंकि हम कहते हैं कि उनकी समझ नहीं, उत्तरदायित्व नहीं। अगर शराबी कोई पाप कर ले, कोई अपराध कर ले, तो उसको भी हम कम सजा देते हैं, क्योंकि वह शराब पीये था। अगर यह सिद्ध हो जाय कि आदमी पागल है, पागलपन में उसने कुछ किया, तो हम उसे माफ कर देते हैं, क्योंकि पागल को क्या दंड देना! अब मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि तमस में जिन्होंने कुछ किया है, उनको भी क्या दंड देना। उनका भी कोई उत्तरदायित्व थोड़े ही है। लेकिन अगर उन्हें छोड़ दो, तो सभी अपराधी छूट जाएँगे। तब तो बुद्ध जैसा आदमी पाप करे तो ही सजा दे सकते हो, क्योंकि वही केवल बोधपूर्वक कर सकता है, बाकी लोग तो बोधहीनता में करेंगे ही।

मुझे भी लगता है कि सजा देना तो उचित नहीं है, छोड़ना भी उचित नहीं है। चिकित्सा करनी चाहिए। सजा देना उचित नहीं है, क्योंकि सोये हुए आदमी को क्या सजा देनी! और कौन सजा देगा? हत्या करनेवाला सोया है, पकड़ने वाला, पोलिसवाला सोया है, अदालत में निर्णय देनेवाला जज सोया है, जूरी तो घुर्राटे ले रहे हैं। सजा कौन दे रहा है, इसको, किसलिए दे रहा है?

कौन इसको सजा देने का हकदार है? सभी एक से अपराधी हैं। पूरा समाज अपराधी है। इसका इलाज होना चाहिए। इसकी चिकित्सा होनी चाहिए। दुनिया में शीघ्र ही वह घड़ी आ जाएगी, जब अपराधी बीमार समझा जाएगा। वह बीमार ही है, वह अपराधी है नहीं।

एक—पहला कर्म—तामस, दूसरा जिसे हम राजस कहते हैं। 'बहुत परिश्रम से युक्त, फल को चाहनेवाले, अहंकार युक्त पुरुष द्वारा किया जाता वह कर्म राजस कहा जाता है।' राजस ऐसा कर्म है, जो तुम्हारी उत्तेजना के कारण तुम करते हो। तामस, ऐसा : जो तुम मूर्च्छा के कारण करते हो।

लोग हैं, जिनके जीवन में ऐसी रेस्टलेसनेस, ऐसी उत्तेजना है कि वे खाली नहीं बैठ सकते; उन्हें कुछ करने को चाहिए। अगर वे न करें, तो बड़े बेचैन होने लगते हैं। अगर कुछ न हो, तो उसी अखबार तो दुबारा पढ़ेंगे, तीसरी बार पढ़ेंगे; रेडिओ खोल लेंगे; खिड़की खोलेंगे, बंद करेंगे, सामान उठा कर रखने लगेंगे—यहाँ-वहाँ। महिलाएँ

घर में निरंतर करती रहती हैं—इस तरह का काम। फर्नीचर ही जमा रही हैं! घर की सफाई कर रही हैं—सफाई जो कि काफी हो चुकी, उसको किये चली जा रही हैं। कुछ एक भीतरी उत्तेजना है, जो उससे निकल रही है। लोगों को इसीलिए तो ध्यान करना सबसे कठिन मामला है।

मूर्च्छित, तामसी ध्यान करे, सो जाता है। राजसी ध्यान करे, तो हजार तरह के काम उसके शरीर में उठने लगते है। कहीं पैर में चींटी काटती है। देखता है : चींटी है ही नहीं। मगर चींटी काटती है। कहीं खुजलाहट उठती है। पहले कमी न उठी थी, जिंदगी भर न उठी थी। आज कमर खुजला रही है। कहीं पीठ खुजलाती है, कहीं सिर खुजलाता है। ये सब भीतरी उत्तेजनाएँ हैं। इसलिए राजस व्यक्ति शांत नहीं बैठ सकता। राजस के लिए सबसे कठिन बात है : थोड़ी देर शांत बैठ जाना।

राजस तामस से भी खतरनाक लोग हैं, क्योंकि तामसी आदमी तो कभी-कभार कुछ करता है, वह तो आलसी होता है। इतना पक्का है कि तामसी आदमी से अच्छा काम नहीं होता, बुरा काम भी नहीं होता। राजस बहुत उपद्रवी है। चंगेज खाँ और तैमूरलंग और नेपोलियन और स्टेलिन और दुनिया के सब राजनीतिज्ञ—वे सब राजस, उपद्रवी लोग हैं। वे खाली नहीं बैठ सकते। कुछ न कुछ करते ही रहेंगे। कहीं न कहीं क्रांति सुलगाएँगे; कहीं न कहीं परिवर्तन चलवाएँगे; कहीं कुछ न कुछ उपद्रव! शांत बैठना उन्हें असंभव है। ये दुनिया के सबसे ज्यादा खतरनाक लोग हैं।

इतिहास में जिनके तुम नाम पाते हो, वे सब राजस हैं। तामसियों के नाम तुम्हें इतिहास में न मिलेंगे; इतना उपद्रव वे करते नहीं कि इतिहास तक आ पायें; कि अखबार में उनके खबर छपें, ऐसा उपद्रव वे करते नहीं। वे पाप भी करते हैं, तो छोटे-मोटे, क्योंकि बड़ा पाप करने की लिए बड़ा आयोजन चाहिए। इतनी भी नींद तोड़ने की उनकी इच्छा नहीं होती। वे तो कभी-कभार, बेबस ही हो गये तो कुछ थोड़ा उपद्रव कर लेते हैं। उपद्रव उनका सतत रोग नहीं है। इसलिए दुनिया में राजनीतिज्ञ जितने अपराध करते हैं और कोई उतने अपराध नहीं करता।

किसी दिन अगर मनुष्य-जाति समझदार होगी, ती राजनीतिज्ञों से छुटकारा पाने की चेष्टा करेगी। उसमें अच्छे से अच्छा राजनीतिज्ञ भी बुरा ही है। राजनीतिज्ञ—और अच्छा—यह ऐसे ही है, जैसे नीम और मीठी! यह होता ही नहीं। जहर ही होगा भीतर।

सभी राजनीतिज्ञ हारते ही मरने को तैयार हो जाते हैं। जिस दिन भारत चीन के साथ पराजित हुआ, उसी दिन नेहरु बीमार पड़ गये। उसके बाद वे फिर स्वस्थ न हो सके। अगर राजनीतिज्ञ जीतता ही चला जाय, तो वह कभी बीमार ही नहीं पड़ता। तुम उस जैसा स्वस्थ आदमी न पाओगे। अगर वह लगा ही रहे उपद्रव में तो तुम पाओगे





उसके पास बड़ा स्वास्थ्य है। अगर उसकी आशा लगी ही रहे, जैसे मोरारजी हैं, वे बिलकुल स्वस्थ हैं। अस्सी पार हो गये; अभी भी आशा लगी है। स्वस्थ रहेंगे। जब तक आशा है, तब तक तुम उनके स्वास्थ्य को हिला नहीं सकते। लेकिन अगर आशा डूब जाय तो वे इसी दिन डूब जाएँगे।

उत्तेजना का जीवन है। चौबीस घंटे कुछ होता रहे!

जब औरंगजेब ने अपने बाप को बंद कर दिया कैदखाने में, तो उसके बाप ने खबर भेजी कि कुछ तू न कर, इतना तो कर मेरे लिए कि तीस लड़के भेज दे तो मैं एक मदरसा खोल दूँ, एक स्कूल चलाऊँ। औरंगजेब ने अपनी जीवनी में लिखवाया है कि मेरे बाप ने जिंदगी भर कुछ न कुछ किया ही। वह जेलखाने में भी शांत नहीं बैठ सकता। सब सुविधा है। विश्राम करे, कुरान पढ़े, नमाज पढ़े, आराम करे; कोई तकलीफ नहीं है। लेकिन वह बैठ नहीं सकता खाली। उसको उपद्रव चाहिए!

ध्यान रखो : तीस लड़के इतना उपद्रव कर सकते हैं, जितना पूरी राजधानी न कर सके। तो उसको मदरसा खोलना है। तीस लड़के उसे भेज दिये गये। बस, वह फिर कुर्सी पर बैठ गया डंडा लेकर। न हुए सम्राट्, हेडमास्टर ही हुए, क्या हर्जा। मगर हेडमास्टर होने में बड़ा मजा है। तुम जरा हेडमास्टरों को देखो स्कूल में जा कर। उनकी अकड़ देखो! छोटे-छोटे बच्चों के सामने वे ऐसे बैठे हैं, जैसे सिकंदर, नेपोलियन—और परम ज्ञान को उपलब्ध! जो वे कहें, वह कानून है। जो वे कहें, वही नियम है।

मनस्विद कहते हैं कि शिक्षक होने की जिनके मन में उत्सुकता है, उसमें थोड़ी हिंसा है। और दुनिया में तुम बच्चों से ज्यादा हिंसा के लिए योग्य पात्र नहीं पा सकते। उनको सताना जितना आसान है, और जितना सुलभ है, और किसी को सताना आसान नहीं। क्योंकि वे बिलकुल निहत्थे हैं, असहाय हैं। और तुम सताओ, तो बच्चों के माँ-बाप भी तुम्हारे साथ हैं, क्योंकि न सताओगे तो विद्या कैसे आयेगी, ज्ञान कैसे होगा!

स्कूल का अध्यापक एक छोटा-मोटा राजनीतिज्ञ है। वह कुछ भी बकवास करता रहता है, लोग सुनते रहते हैं।

राजनेता कुछ भी बकवास करता रहता है, लोग सुनते रहते हैं। ताकत उनके हाथ में है।

मैंने सुना : एक गांव के एक लॉयन्स क्लब में एक राजनेता व्याख्यान दे रहा था। बड़ा राजनेता था, और वह दिये चला रहा था व्याख्यान। लोग घबड़ा गये। खा रहे हैं, पी रहे हैं, जैसे लॉयन्स क्लब और रोटरी क्लब का रिवाज है। मगर वे बोले जा रहे हैं। उस घबड़ाहट में लोग ज्यादा पीते गये। आखिर एक आदमी इतना पी गया, कि उसने अध्यक्ष से कहा कि 'कृपा करके जिस हथौड़ी से आप घंटी बजाते हैं, इस नेता के सिर पर चोट मारो। मत डरो—इमरजेन्सि है—मारो। फिर देखेंगे, जो होगा।

यह चुप ही नहीं हो रहा है।' लेकिन अध्यक्ष भी काफी पी चुका था। बात तो उसे भी जँची। उसने हथौड़ी उठायी, लेकिन हाथ हिल रहा था। मारा तो उसने, लेकिन नेता को तो न लगा, जो प्रधान अतिथि था, उसकी खोपड़ी पर लगा। वह प्रधान अतिथि अर्ध मूर्च्छा में टेबिल के नीचे सरकने लगा। नीचे से उसकी आवाज आयी: एक बार और मारो, मुझे व्याख्यान अभी भी सुनाई पड़ रहा है!

ताकत के खोजी हैं। फिर वे सता सकते हैं। फिर तुम उन्हें रोक नहीं सकते। फिर वे हजार बहाने खोज लेते हैं—उन्हें जो करना है, बोलना है, उसके लिए। वह सारी राजस की व्यवस्था है। बहुत परिश्रम करते हैं, इसमें कोई शक नहीं। अगर श्रम को ही मूल्य देना हो, तो राजसी लोग बड़ी मेहनत उठाते हैं। परिणाम कुछ नहीं आता, पर मेहनत बड़ी उठाते हैं। दौड़ते बहुत हैं, लेकिन पहुँचते कहीं नहीं। कोल्हू के बैल सिद्ध होते हैं। लेकिन यात्रा काफी करते हैं।

और तीसरा है सत्त्व कर्म, सात्त्विक कर्म। जो शास्त्र-विधि से नियत, शास्ताओं द्वारा कहा हुआ; जिन्होंने जाना है, जो जागे हैं, उसके इशारे के अनुसार जो किया जाय।

तामसी व्यक्ति अपने अज्ञान के इशारे से करता है, राजसी व्यक्ति अपने भीतर अतिशय शक्ति के कारण करता है, उत्तेजना के कारण करता है, ऊर्जा के कारण करता है। सात्त्विक व्यक्ति न तो अपने अज्ञान से करता, न अपनी ऊर्जा के कारण करता, शास्ताओं के वचन के अनुसार करता है। जो जागे, उन बुद्ध पुरुषों से सूत्र लेता है। उन्होंने जो कहा, वही करता है। अपने पर भरोसा नहीं करता, बुद्ध पुरुषों पर भरोसा करता है। अपने को बाद दे देता है, बुद्ध पुरुषों को आगे ले लेता है।

जो कर्म शास्त्र विधि से नियत, कर्तापन के अभिमान से रहित . . .। स्वभावतः जब तुम शास्ताओं का नियम मानकर चलोगे तो तुम्हें कर्तापन का भाव होगा ही नहीं, तुमने किया ही नहीं।

अब अगर तुम राजनीतिज्ञ से कहो कि तू कर्तापन छोड़ दे, तो सारी राजनीति ही छूट जाती है। फिर करेंगे ही क्यों! राजनीतिज्ञ तो दौड़ ही रहा है—ताकि कर्तापन सिद्ध हो जाय कि मैंने करके दिखा दिया।

सात्त्विक व्यक्ति, जो शास्ताओं के वचन मानकर चलता है, जो उनके दिये की ज्योति में चलता है, जो अपने अहंकार से इशारे नहीं लेता और न अपने अज्ञान से इशारे लेता है, जो कहता है: 'तुम दोनों चुप रहो; जिन्होंने जाना है, उनका सूत्र मेरा जीवन सूत्र होगा।' स्वभावतः उसका कर्तापन गिर जाता है। उसको फल की भी कोई चाहना नहीं होती। वह तो जो जानने वालों ने कहा है, उसे करने में ही इतना आनंदित हो जाता है कि अब और फल क्या चाहिए। उसे साधन ही साध्य हो जाता है। उसे इसी





क्षण सब कुछ मिल जाता है; उसे कल की कोई वासना नहीं रह जाती। वैसा कर्म सात्त्विक कहा जाता है।

ये तीन कर्म हैं, मगर तीनों के भीतर तुम्हारी तीन तरह की चेतना की अवस्थाएँ हैं। असली सवाल कर्म का नहीं है, असली सवाल तुम्हारी चेतना अवस्था का है। तमस का अर्थ है: तुम मूर्च्छित, रजस का अर्थ है कि तुम विक्षिप्त हो, सत्त्व का अर्थ है: तुम होशपूर्वक, जागे हुए, ध्यानपूर्वक, सुरति से भरे हो।

मूर्च्छा से खींचो अपने को, अहंकार से भी उठाओ अपने को। न तो अज्ञान के कारण कुछ करो, न करना है—करने में रस आ रहा है, उत्तेजना मिल रही है—इस-लिए करो, बल्कि इसलिए करो—ताकि प्रत्येक कृत्य तुम्हारे भीतर और नये जीवन की, जागरण की सुविधा बन जाय। प्रत्येक कृत्य तुम्हें और जगाये, तुम्हारा प्रत्येक कृत्य तुम्हें और सावधानी से भरे। प्रत्येक कृत्य कदम बन जाय—तुम्हारे अंतर् जागरण का, तो एक दिन तुम्हारे भीतर सोया हुआ बुद्ध उपलब्ध हो सकता है।

पाने को कहीं जाना नहीं है; भीतर ही खोदना है। होने को कहीं जाना नहीं। खजाना तुम लेकर ही आये हो। जो है, उसे तुम लिये ही हुए हो, इस क्षण भी। सिर्फ जागना है, सिर्फ होश से भरना है।

## समाधान और समाधि • क्षुद्र और विराट
## अहंकार की कडुवाहट • सात्त्विक, राजस और तामस कर्ता

आठवाँ प्रवचन

प्रातःकाल, दिनांक २८ जुलाई, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विकउच्चते ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥



हे अर्जुन, जो कर्ता आसक्ति से रहित और अहंकार के वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साह से युक्त एवं कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष-शोकादि विकारों से रहित है, वह कर्ता तो सात्त्विक कहा जाता है।

और जो आसक्ति से युक्त कर्मों के फल को चाहने वाला और लोभी है तथा दूसरों को कष्ट देने के स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोक से लिपायमान है, वह कर्ता राजस कहा गया है।

तथा जो विक्षेपयुक्त चित्तवाला, शिक्षा से रहित घमंडी, धूर्त और दूसरे की आजीविका का नाशक एवं शोक करने के स्वभाव वाला, आलसी और दीर्घसूत्री है, वह कर्ता तामस कहा जाता है।
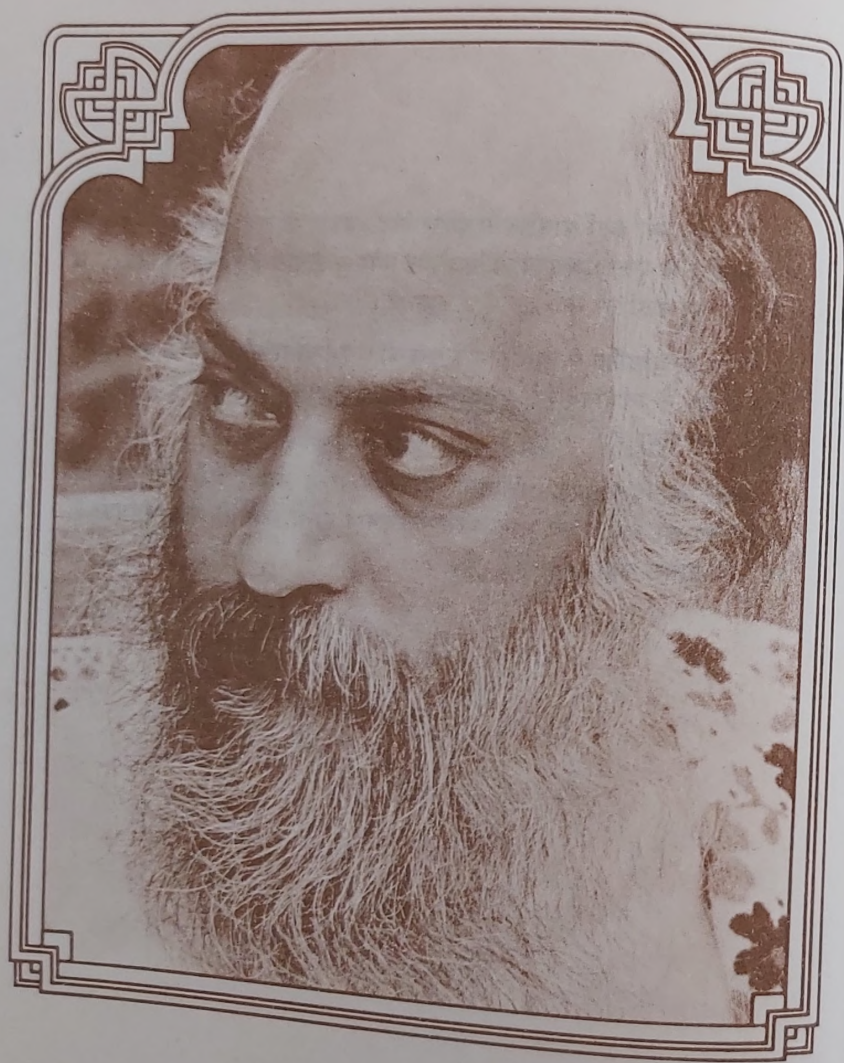
**पहले कुछ प्रश्न।**

● पहला प्रश्न : आप को सुनने से जो समाधान मिलता है, वह स्थायी रहे, इसके लिए जी तड़पता है। इस तड़पन में यदि मृत्यु घटित हो जाय, तो क्या वह समाधि नहीं होगी ? भगवान् महावीर ने तो ऐसी मृत्यु की इजाजत दी है। क्या आप वैसी इजाजत नहीं दे सकते ?

प्रश्न को तीन हिस्सों में समझें। पहला : 'आपको सुनने से जो समाधान मिलता है, वह स्थायी रहे, इसके लिए जी तड़पता है।'

समाधान मिलेगा तो स्थायी होगा ही। उसके लिए जी को तड़पाना व्यर्थ है। समाधान न मिलता हो, तो ही स्थायी करने की आकांक्षा पैदा होती है। जो बात समझ में आ गयी, आ गयी; उसे भूलने का उपाय भी नहीं। उसे तुम चाहोगे भी कि छूट जाय, तो छूटेगी नहीं। जो बात समझ में नहीं आयी, उसे ही पकड़ने की चाहना पैदा होती है, क्योंकि उसके छूटने का डर है। समाधान नहीं मिलता होगा। सांत्वना मिलती होगी— और तुम भूल कर रहे हो।

मुझे सुन कर सांत्वना मिलती होगी, तो छूट जाएगी। जब तक सुनोगे, तब तक मिलेगी। क्योंकि जो सांत्वना मुझे सुन कर मिलती है, वह मेरे शब्दों से मिल रही है। मेरे शब्दों के आसपास तुम्हारे मन का एक अलग रूप प्रकट होने लगता है। थोड़ी देर को तुम भूल जाते हो—संसार को, व्यवसाय को, जीवन की चिंता, आपा-धापी को। थोड़ी देर को मेरे पास शांत होकर बैठ जाते हो; थोड़ी देर तुम मुझे प्रतिध्वनित करने लगते हो, लेकिन वह ध्वनि तुम्हारी नहीं है। ध्वनि मेरी है। वह जो तुम्हें आभास होता है, वह प्रतिफलन है। मुझसे दूर हटोगे, प्रतिफलन छूटने लगेगा। घर पहुँचते-पहुँचते पाओगे वापस संसार में आ गये। वही चिंता है, वही पीड़ा है, वही अशांति है, वही उपद्रव है। तब एक सवाल उठेगा। तुम सोचोगे : समाधान मिला था, लेकिन स्थायी नहीं हुआ।

समाधान तो स्थायी ही होता है। समाधान तो परिवर्तित होता ही नहीं। यह सांत्वना थी। जैसे तुम किसी बड़े वृक्ष की छाया में बैठ गये। वहाँ धूप तुम पर न पड़ी। फिर तुम यात्रा पर निकले। फिर धूप तुम पर पड़ने लगी। मेरे पास तुम एक छाया में बैठ जाते हो। उतनी देर को छाया मिल जाती है। वह छाया तुम्हारी नहीं है। उससे तुम्हें विश्राम तो मिल सकता है, लेकिन वह तुम्हारी जीवन संपदा नही बन सकती।

समाधान का अर्थ है, जो मैं कह रहा हूँ, उसका प्रतिफलन नहीं, बल्कि जो मैं कह रहा हूँ, उसकी समझ तुम्हारे भीतर हो रही है। तुम मुझे सुन रहे हो, सिर्फ बुद्धि से नहीं, तुम्हारी समग्रता से, तुम्हारा रोआँ रोआँ सुन रहा है। तुम्हारी धड़कन-धड़कन सुन रही है। सुनते समय तुम बिलकुल ही मिट गये हो। ऐसा नहीं कि संसार को भूल गये हो, सुनते समय तुम हो ही नहीं, तुम एक रिक्त शून्य हो; तो समझ पैदा होगी। तब मुझसे दूर जाओगे, तो समझ घटेगी नहीं, बल्कि बढ़ेगी। वैसे ही बढ़ेगी जैसा छोटा पौधा बड़े वृक्ष के नीचे नहीं बढ़ पाता है। थोड़ा उसे दूर जाना पड़ता है, थोड़ा हटना पड़ता है। मुझसे दूर जाओगे, समझ बढ़ेगी, क्योंकि संसार में कसौटी मिलेगी। वहाँ परीक्षा होगी —समझ की। वहाँ अवसर होंगे, जब कि समझ खो सकती थी और नहीं खोयेगी; भरोसा बढ़ेगा; पैर जमीन पर थिर हो जाएँगे; आस्था गहन होगी और आस्था मुझ पर गहन नहीं होगी, वह आस्था तुम्हारी अपने पर गहन होगी। और जब तक तुम्हें अपने पर आस्था न आ जाय, तब तक यह डर बना ही रहेगा कि जो समझ है, वह उधार है, वह कहीं खो न जाय।

तो पहली तो बात सांत्वना को कभी भूल कर भी समाधान मत समझना। सांत्वना ऊपर-ऊपर है। वह किसी और के कारण है; तुम्हारे कारण नहीं है। समझ तुम्हारे कारण पैदा होती है, उसका बीजारोपण तुम्हारे भीतर होता है। वह तुम्हारे भीतर बढ़ती है। वह तुम्हारी चेतना का विकास है।

समाधान तुम्हारी अपनी संपदा है, सांत्वना किसी और की संपदा है। ऐसे ही, जैसे किसी के पास बहुत संपदा हो और तुम उस संपदा की गिनती करते रहो और भूल जाओ कि यह तुम्हारी है, या तुम्हारी नहीं है। बुद्ध ने कहा है : एक आदमी राह पर बैठकर दूसरे लोगों की गाय-भैंसों की गिनती करता रहता है। वे निकलती हैं सांझ, घर वापस लौटती हैं, सुबह नदी की तरफ जाती हैं। वह आदमी उनकी गिनती करता रहता है। उस गिनती का क्या मूल्य है! उस गिनती में थोड़ी देर तुम भूल सकते हो कि तुम दरिद्र हो, कि तुम दीन हो। भिखारी भी सम्राट के महल के सामने खड़े होकर थोड़ी देर को भूल जा सकता है, चमत्कृत हो सकता है। लेकिन देर-अबेर यथार्थ प्रकट होगा, भिक्षापात्र दिखाई पड़ेगा। तब सांत्वना खो जाएगी।

सांत्वना किसी बहुत गहरे काम की नहीं है। समाधान की फिक्र करो।





समाधान का अर्थ है : जो मैं कह रहा हूँ, उसके काव्य में नहीं, जो मैं कह रहा हूँ, उसके संगीत में नहीं, बल्कि उसके अर्थ में डूबो। और उसके अर्थ को अपने में गहराओ। जो मैं कह रहा हूँ, उसे जीवन में कसो, उसे उतारो। जब मौका मिले, तभी घड़ी है पहचान की कि सांत्वना है या समाधान है।

क्रोध के संबंध में मैंने तुमसे कहा कि जाग कर क्रोध को देखना। भाषा तो समझ में आ गयी, लेकिन 'जागकर देखना' थोड़े ही समझ में आया। मैंने जो कहा, वह शब्दशः समझ में आ गया, लेकिन अर्थसः थोड़े ही समझ में आ गया। घर जाओगे, पत्नी कुछ कहेगी, क्रोध की अग्नि उठेगी, भपकेगी, तब जागकर देखना। वहाँ असली कसौटी है। सांत्वना तो जल जाएगी, समाधान निखर कर प्रकट होगा। सांत्वना तो राख हो जाएगी —वह कूड़ा-करकट है। समाधान शुद्ध स्वर्ण की तरह बाहर आ जाएगा।

'अग्नि' में ही कसौटी है। इसलिए तो मैं कहता हूँ कि भागो मत—संसार से। समझो बुद्धों से, जिओ संसार में। समझ लो उनसे। ले लो सारसूत्र—पर कसौटी बाजार में है।

ध्यान की परीक्षा हिमालय में नहीं है, बाजार में है। नहीं तो तुम सुनते-सुनते खो भी जा सकते हो। सुनते-सुनते ही तुम्हारे मन में यह एहसास और भ्रम पैदा हो सकता है कि समझ गये। तब तुम एक बड़ी बिडम्बना में पड़ जाओगे। जो नहीं है, तुम्हारे पास, समझोगे तुम्हारे पास है। ऐसे वर्ष खो सकते हैं। जीवन बहुमूल्य है; उसे ऐसे मत खोना —सांत्वना बटोरने में मत खोना। क्योंकि गये क्षण वापस नहीं लौटते।

तो पहली तो बात, सुन के तुम्हें जो मिलता है, वह सांत्वना है—समाधान नहीं है। इसीलिए उसे स्थायी बनाये रखने की कामना पैदा होती है, क्योंकि वह छूट-छूट जाता है। सांत्वना को स्थायी बनाया ही नहीं जा सकता। तब तुम क्या करो? कामना की कोई जरूरत नहीं है, सिर्फ समाधान खोजने की जरूरत है। समाधान खोजने का मार्ग है, जो मैं तुमसे कहता हूँ, उसे जीवन की परिस्थितियों में कसो। उसे मौके दो कि वह टकराये तूफानों से, आँधियों से। कई बार दिया बुझेगा। घबड़ाने की जरूरत भी नहीं है। लेकिन कभी ऐसी घड़ी आयेगी कि तूफान चलता रहेगा और दिया नहीं बुझेगा। बस, उसी दिन समाधान मिला। कभी ऐसी घड़ी आयेगी कि आँधियाँ उठेंगी और भीतर कोई कंपन न आयेगा। उसी दिन समाधान आया। समय लगता है।

समाधान कोई बच्चों का खेल तो नहीं; बड़ी प्रौढता है; बड़ा आंतरिक विकास है। समाधान ही तो अंततः समाधि बनेगा। वह तो समाधि की तैयारी है—तुम्हारे भीतर। समाधान समाधि के भवन की नींव है। सस्ते मिल नहीं सकता। मुझे सुनने से कैसे मिल जाएगा? कितने बुद्ध पुरुष हुए हैं! कितने लोगों ने सुना है! सुन कर अगर कुछ होता, तो दुनिया रूपांतरित हो गयी होती। उस भूल में तुम मत पड़ना।

वह आत्मा न तो प्रवचन से मिलती है, न शास्त्रों से, न बहुत सुनने से—नायं आत्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न बहुधा श्रुतेन। कितना ही सुनो, सुनकर वह नहीं मिलेगा। क्या मैं यह कह रहा हूँ कि सुनना बंद कर दो? नहीं, यह भी मैं नहीं कह रहा हूँ। सुनो, लेकिन सुनने से वह नहीं मिलता। जीओ। सुनने से सूत्र मिलते हैं—जीने से समाधान मिलता है।

सुनने और जीने के बीच जो फासला है, वही सांत्वना और समाधान के बीच दूरी है।

और समय को खोओ मत अन्यथा पीछे पछताओगे। जब मैं हूँ तुम्हारे साथ, तुम्हें कुछ सूत्र दे रहा हूँ, इनका उपयोग कर लो।

एक बहुत पुरानी अरेबियन कथा है कि तीन यात्री तीर्थयात्रा पर जा रहे थे। धूप भयंकर थी। मरुस्थल का सूर्य, दिन को चल नहीं सकते थे। तो दिन भर तो विश्राम करते थे, रात की शीतलता और ठण्डक में यात्रा करते थे। एक अमावस की रात, घनघोर अँधेरा है। कहीं कुछ सूझता नहीं। वे एक ऐसे स्थल से गुजर रहे हैं, जहाँ बड़े कंकड़-पत्थर हैं। कोई सूखी नदी का स्थान है। अचानक अँधेरे से एक आवाज आयी, 'रुको।' घबड़ा कर रुक गये। प्राण कंप गये। कौन होगा इस अँधेरे में! और उस आवाज ने कहा, 'घबड़ाओ मत; झुको।' झुक गये। आज्ञा थी और कोई खतरा लेना अँधेरे में उचित न था। शायद अब गरदन पर उतरी तलवार—अब उतरी। लेकिन आवाज ने कहा कि 'कंकड़-पत्थर बीनो और खीसों में भर लो।' बात जरा बेहूदी-सी लगी। किसी प्रयोजन की न मालूम पड़ी। लेकिन न कहना उचित भी न था। अँधेरे में पता नहीं कौन है, क्या है! कंकड़-पत्थर खीसों में भर लिये। उस आवाज ने कहा, 'अब उठो और अपनी यात्रा पर चलो। और कहीं भी पास पड़ाव मत करना; और सुबह के पहले ठहरना मत।

वे चलने लगे—घबड़ाये हुए—कंपित। चलते-चलते आवाज ने कहा, 'और तुमसे कहे देता हूँ: सुबह तुम सुखी भी होओगे और दुःखी भी।' रात भर चलते रहे और सोचते रहे: मतलब क्या है! प्रयोजन क्या है... 'और सुबह तुम सुखी भी होओगे और दुःखी भी।' यह सुबह कौन-सा उपद्रव ला रहा है!

सुबह हुआ; सूरज उगा। वे रुके। कंकड़-पत्थर निकाल कर देखे। खुश भी हुए, रोये भी। क्योंकि वे कंकड़-पत्थर न थे, हीरे-जवाहरात थे। खुश हुए—कि इतने हीरे जवाहरात मुफ्त मिल गये। रोये—कि और क्यों न भर लिये।

मेरे साथ हो जब तक, जितना समेट सको, समेट लो, अन्यथा एक दिन खुश भी होओगे और दुःखी भी।

सांत्वना काफी नहीं है। उस मोह से ऊपर उठो। समाधान जरूरी है। और समाधान का अर्थ है: जो मैं कहता हूँ, वह तुम्हारे जीवन में उतरे। और मजा यह है कि कठिन





नहीं है—अगर तुम उतारना शुरू करो। एक-एक कदम से हजारों मील की यात्रा पूरी हो जाती है। लेकिन तुम बैठे ही रहो, यही सोचते, कि हजारों मील की यात्रा, मेरी दुर्बल देह, छोटे पैर, कहाँ पूरा करूँगा! तुम पहला कदम ही न उठाओ, तब तो छोटी-सी यात्रा भी पूरी नहीं होती।

दुर्बल देह है—माना। पैर छोटे हैं—माना। एक कदम ही चल सकोगे—एक दफा; लेकिन एक-एक कदम चलकर हजारों मील की यात्रा पूरी हो जाती है।

सांत्वना से उठो, समाधान की तरफ चलो। छोटे-छोटे कदम होंगे, लेकिन मंजिल आ जाती है।

धर्म नष्ट हो जाता है—सांत्वना में ही; तब धर्म एक अफीम का नशा है। मार्क्स ने ठीक ही कहा है कि हजारों लोगों के लिए धर्म अफीम का नशा है। ठीक भी कहा है और इससे गलत बात भी कभी नहीं कही गयी। ठीक कहा है, जहाँ तक नौ सौ निन्यानबे लोगों का संबंध है। उन्होंने धर्म को सांत्वना समझ लिया है। तब वह अफीम है; तब तुम पीयो और मस्त रहो। कुछ फल नहीं होता, सिर्फ जीवन व्यय होता है, व्यर्थ होता है; नाली की धार में बहा जाता है। गँवाते हो—कमाते कुछ भी नहीं।

नौ सौ निन्यानबे आदमियों के संबंध में मार्क्स ने जो कहा है, बिलकुल ठीक कहा है: धर्म अफीम का नशा है। लेकिन हजार में एक ऐसा आदमी भी है, जिसके लिए मार्क्स ने गलत कहा है। और वह एक आदमी काफी है—मार्क्स को गलत करने के लिए। उसके लिए धर्म परम जागरण है; नशा नहीं—होश है। और वही असली आदमी है, जिसके द्वारा धर्म का सार समझा जाना चाहिये। नौ सौ निन्यानबे उपयोग ही नहीं कर रहे हैं; भूल उनकी है। धर्म की कोई भूल नहीं है।

धर्म तो जगाने को है। लेकिन तुम धर्म की चर्चा सुनते-सुनते सिर्फ नींद ही लेते रहो, तो कसूर किसका है!

सांत्वना से सजग—पहली बात; और दूसरी बात: स्थायी करने की बात ही मत उठाओ। वह कामना ही गलत है। उसका मतलब है कि तुम इस क्षण में नहीं हो; तुम आगे जा चुके। तुम कल की सोचने लगे। समझ आज पैदा होगी। तुम कल का विचार करते हो कि स्थायी कैसे हो जाय!

एक मेरे मित्र हैं। वे यहाँ आते हैं। डॉक्टर हैं, सुसंस्कृत हैं। उनको मैं कुछ कहता भी नहीं, क्योंकि वे बड़े संकोची आदमी हैं। कहूँगा, उनको दुःख होगा। वे ऐसा बैठकर, झुक कर नोट लेते रहते हैं। उन्हें पता है कि मैं इसके पक्ष में नहीं हूँ। यह भी पता है कि मुझे पता है, क्योंकि वे मुझसे छिपते हैं और अपनी डायरी छिपाये रहते हैं। उनका इरादा क्या है? वे यह सोच रहे हैं कि 'कहीं भूल न जाऊँ, जो सुन रहा हूँ!' तो उसे नोट कर रहे हैं। मगर मुझे सुनते वक्त समझ में न आया, तो अपनी डायरी को घर

जाकर पढ़ते वक्त क्या खाक समझ में आयेगा ! यहाँ मैं जिंदा बोलता हूँ, वहाँ डायरी मुरदा होगी। मगर यह उनकी ही भूल है, ऐसा नहीं है। करोड़ों की भूल है।

सद्‌गुरु जब जीवित होता है, उसकी तो लोग फिक्र नहीं करते। जब शास्त्र बन जाता है सद्‌गुरु का, जब डायरी लिखी जा चुकी होती है, तब विचार करना शुरू करते हैं।

तुम भी कृष्ण के समय में रहे होगे। अन्यथा होने का उपाय नहीं है, क्योंकि जो भी है, वह सदा से है। तब तुम चूक गये। अब तुम गीता पढ़ रहे हो ! तुम बुद्ध के समय में रहे होओगे, तब तुम चूक गये। अब तुम धम्मपद पढ़ रहे हो ! तुमने मोहम्मद की वाणी से भी कुरान सुना होगा, लेकिन वह तुम्हारे कंठ न उतरा। अब तुम कुरान कंठस्थ कर रहे हो। जान दाँव पर लगाये देते हो !

क्या मामला है ? तुम अभी क्यों नहीं जी पाते ! वही एकमात्र ढंग है—जीने और होने का—और समाधान का।

मैं जो कह रहा हूँ, उसे समझो। स्थायी करने की क्या चिंता है ? एक बात खयाल रखो : अगर समझ गये, तो स्थायी रहेगा, इसलिए विचार करने की जरूरत नहीं। अगर न समझे, तो लाख विचार करो—स्थायी करने का, स्थायी नहीं रह सकता। उतर जाय तुम्हारे मांस-मज्जा में, तुम्हारे प्राणों में; ऐसा गहरा पहुँच जाय कि तुम उससे छुटकारा भी पाना चाहो, तो न पा सको; तुम उसे भुलाना भी चाहो, तो न भूल सको। भूलोगे कैसे ?

मेरा अपना अनुभव यह है कि जो समझ में आ जाता है, फिर भूलता नहीं। और अगर भूलता है, तो उसका मतलब इतना ही है कि समझ में नहीं आया था। तुमने जो भी स्कूल में, कॉलेज में, विश्वविद्यालय में पढ़ा होगा—करीब करीब सब भूल गया—निन्यानबे प्रतिशत भूल गया, क्योंकि वह समझ में तो कभी आया ही न था। और विश्व-विद्यालयों में किसी को चिंता भी न थी कि तुम्हें समझ में आये। उनकी चिंता थी कि परीक्षा में काम आ जाय, बस। इतनी देर समझ रह जाय—काफी है। इतनी देर टिक जाय याददाश्त—पर्याप्त है कि तुम परीक्षा में उत्तर लिख दो; बस। फिर तुम भूल जाना। इससे ज्यादा और मूढ़तापूर्ण क्या दशा हो सकती है—शिक्षा की—कि सिर्फ परीक्षा के लिए सब सिखाया जा रहा है। परीक्षा के बाद, परीक्षार्थी को कोई फिक्र नहीं कि उसमें से कुछ याद रहता है कि नहीं रहता ! कितना समय व्यतीत और व्यर्थ खराब होता है !

थोड़ी ही बातें समझ लो—पर समझ लो—ताकि वे तुम्हारे प्राणों का हिस्सा हो जायँ। तो उनका दिया जलता रहेगा; अँधेरे रास्तों पर रोशनी मिलेगी और जब जीवन की दुर्गंध तुम्हें घेरने लगेगी, तो तुम्हारी भीतर की सुगंध तुम्हें बचायेगी। और जब रास्ते के काँटे तुम्हारे पैरों में चुभेंगे, तो भीतर के फूल तुम्हें सुरक्षा देंगे।





समझ—सूत्र है—संसार से पार होने का। वही नाव है; वही एकमात्र उपाय है।

सांत्वना के झूठे सिक्कों से राजी मत हो जाना। सांत्वना अफीम है। धर्म सांत्वना नहीं है। धर्म समाधि है, जागरण है।

दूसरी बात: 'इस तड़पन में यदि मृत्यु घटित हो जाय, तो क्या वह समाधि नहीं होगी ?' तड़पन में तो समाधि हो ही कैसे सकती है ? समाधान ही न होगा—समाधि तो बहुत दूर। हजारों समाधान मिल कर समाधि बनती है। जैसे हजारों नदियाँ गिर-कर सागर बनता है। जैसे हजार-हजार वृक्ष मिलकर अरण्य बनता है; ऐसा हजारों समाधान मिलकर समाधि बनती है। अनेक-अनेक मार्गों से अनेक-अनेक आयामों से समाधान की नदियाँ गिरती हैं—तुम्हारे प्राणों में और एक ऐसी घड़ी आती है, जहाँ तुम लबालब हो जाते हो, भरपूर हो जाते हो, इतने भर जाते हो कि तुम उलीचने लगते हो, बाँटने लगते हो, तब समाधान समाधि बनता है।

नहीं, तड़पन से काम न होगा। तड़पन तो रुग्ण दशा है, वह तो भिखारी की अवस्था है, जिसके हाथ में कुछ भी नहीं है; जो रो रहा है; माँग रहा है। जब तक माँग है, तब तक समाधि कैसी ? जब तक आँखों में आँसू हैं, तब तक दर्शन कैसा—दृष्टि कैसी ? जब तक हृदय में तड़पन है, तब तक तूफान है, शांति कहाँ—वह संगीत कहाँ,जिससे परम का साक्षात् हो सके !

नहीं, अगर तड़पते हुए मरोगे, तो तड़पते हुए फिर पैदा हो जाओगे, समाधि नहीं पैदा होगी। तड़पते हुए तुम मरते रहे हो—बहुत बार, अब भी होश नहीं आया ! कभी धन के लिए तड़पते मरे, कभी प्रेम के लिए तड़पते मरे, कभी पद के लिए तड़पते मरे। अब तुम कुछ बदलाहट नहीं कर रहे हो; अब परमात्मा के लिए तड़पते मर रहे हो; लेकिन मर रहे हो तड़पते। पुरानी आदत जारी है। विषय बदल जाते हैं, तुम नहीं बदलते।

धन के लिए तड़पो—क्या फर्क पड़ता है; कि धर्म के लिए तड़पो—क्या फर्क पड़ता है ? तड़पता हुआ हृदय . . . । ऐसा समझो : मछली पड़ी है रेत में और तड़प रही है। अब वह पैसिफिक महासागर के लिए तड़प रही है, कि हिन्द महासागर के लिए—इससे क्या फर्क पड़ता है ! तड़प रही है। रेत पर प्राण जल रहे हैं . . . ।

तड़पने का मतलब है—जो है, उससे तुम तृप्त नहीं; जो नहीं है—उसकी माँग है। तड़पने का और क्या अर्थ होता है ? तुम जैसे हो—उससे राजी नहीं और तुम्हें जैसा होना चाहिए—जैसी तुम्हारी कामना है होने की, वह पूरी नहीं होती। तड़पने का मतलब है कि तुम्हारे होने में और तुम्हारे होने के आदर्श में फासला है।

तो मैं तुमसे कहता हूँ कि धन के लिए तड़पने वाले आदमी की तड़पन छोटी ही

होगी, लेकिन जो आदमी समाधि के लिए तड़प रहा है, उसकी तड़पन तो और भी ज्यादा हो जाएगी। क्योंकि धन तो मिल भी जाय, समाधि? धन तो कितनों को मिल जाता है—गधों को मिल जाता है। इसमें कुछ तड़पने का बड़ा भारी मामला भी नहीं है। अगर तुममें थोड़ी बुद्धि हो, तो जिनको धन मिल रहा है, उनको देख के ही अपने हाथ जोड़ लोगे कि अब इस दिशा में जाने की कोई जरूरत नहीं।

पद किसी को भी मिल जाता है। जो भी पागल की तरह लगा रहता है, उसी को मिल जाता है। तो अब कुछ तुम्हारी प्रतिभा के लिए वहाँ कोई चुनौती नहीं है। देखो: अपने पदाधिकारियों को, राजनेताओं को। वहाँ अगर बुद्धि हो, तो अड़चन होती है; बुद्धि न हो, तो बड़ी गति होती है।

मैंने सुना है कि एक मस्तिष्क के सर्जन ने एक आदमी का ऑपरेशन किया—एक राजनेता का। मस्तिष्क में कुछ खराबी थी। उसने पूरा मस्तिष्क बाहर निकाल लिया, लेकिन कई घंटे लगने थे, तो उसने खोपड़ी वगैरह सी कर राजनेता को सुला दिया। वह अपने काम में लग गया; लेकिन राजनेता और एक जगह बैठा रहे! उसने देखा, सर्जन काम में लगा है और बिलकुल ठीक है, तो वह निकल भागा। सर्जन बड़ा हैरान हुआ। जब मस्तिष्क ठीक हो गया, तो वह आदमी नदारद! बहुत खोज-बीन की, उसका पता न चला। पाँच साल बाद पता चला कि वह देश के प्रधानमंत्री हो गये हैं। सर्जन मस्तिष्क को लेकर गया कि 'महाराज, हम खोज-खोज के परेशान हो गये, अब पता चला कि आप प्रधानमंत्री हो गये हैं!' उसने कहा, 'अब तुम यह मस्तिष्क ले ही जाओ। इसी से तो अड़चन हो रही थी। जब से इसको खोया है, तब से ऐसी गति हो रही है!'

मस्तिष्क बाधा है वहाँ। वहाँ तुममें थोड़ी बुद्धि हो, तो अड़चन आयेगी। थोड़ी समझ होगी, तो अड़चन आयेगी। वहाँ तो नासमझों की गति है। वहाँ तो अगर तुम देख लो—शकलें राजनेताओं की, उनकी सुंदर देहें, उनके चेहरे—तुम भाग खड़े होओ। धनपतियों की तरफ गौर से देख लो। नहीं; वह तो शायद पूरी भी हो जाय—धन की, पद की आकांक्षा, वह तड़पन कोई बड़ी तड़पन नहीं है; वह कोई आंधी-तूफान नहीं है। वह तो ऐसी ही छोटी-मोटी हवाओं का बहना है। लेकिन परमात्मा के लिए तड़पोगे, तब तो रोआँ-रोआँ कँप जाएगा। उस कँपती हालत में मरोगे, तो समाधि कैसे होगी? समाधि का तो अर्थ होता है: निष्कंप—जीवन की चेतना; जीवन की ज्योति निष्कंप हो जाय। ज्ञानियों ने कहा है कि जीवन की ज्योति ऐसी जले, जैसे कि किसी घर में द्वार-दरवाजे बंद हों, हवा का कोई झोंका भी भीतर न आता हो; और दिये की लौ अकंप जलती हो, जरा भी न कँपती हो—ऐसी दशा हो चेतना की। तड़पते हुए तो कैसे अकंप रहेगी? सब तड़प जब खो जाती है, तभी वह दशा उपलब्ध होती है।





तो यह मत सोचो कि तड़पते हुए मरोगे, तो समाधि हो जाएगी। नहीं। मरने का विचार भी अभी क्या कर रहे हो? इतने थक गये कि अब जीवन में समाधान की आशा नहीं रही! कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। और ध्यान रखो, जो जीते-जी नहीं घटेगा, वह मृत्यु में भी नहीं घट सकता। मृत्यु तो पूरे जीवन की पूर्णाहुति है, वह तो जीवन का ही निष्कर्ष है। मृत्यु कहीं बाहर से थोड़े ही आती है, तुम्हारे भीतर ही जन्मती है, बड़ी होती है, बढ़ती है। मृत्यु में तुम वही हो पाओगे—अपने पूरे निखार में, तुम्हारे जीवन का सारा सार शिखर पर पहुँच जाएगा। मृत्यु तो वीणा की आखिरी चोट है, आखिरी झंकार है; वह तो स्वरों का आखिरी आरोहण है। उसके पार फिर कुछ नहीं। लेकिन जीवन भर तुम उसी को इकट्ठा करते हो। जैसे कोई लहर उठती है—उठती है; ऊपर जाती है। वह जो आखिरी ऊँचाई है लहर की, वही मृत्यु है। तो जो तुमने जीवन में नहीं साधा, उसे तुम मृत्यु में पाने की कामना मत करो। जो तुमने आज नहीं साधा, वह कल तुम्हारे पास कैसे होगा! जो तुमने इस क्षण नहीं पाया, वह अगले क्षण कहाँ से आयेगा? अगला क्षण इस क्षण से पैदा हो रहा है। कल आज से निकलेगा।

मृत्यु तुम्हारे जीवन के भीतर से आयेगी। उसकी फिक्र छोड़ो। आज के इस क्षण को पूरा जी लो। इसी से कल का क्षण सुधर जाएगा। कल के क्षण से परसों निकलेगा। एक-एक कदम, तुम्हारे भीतर से उठते जाएँगे।

जीवन सम्हलता गया, तो मौत में तुम पाओगे, तुम सम्हल गये। तब मृत्यु शत्रु नहीं मालूम होगी; तब मित्र मालूम होगी। वह जीवन की परम ऊँचाई है। आखिरी उद्घोष है। लेकिन जो तुम्हारे जीवन में नहीं, उसे तुम मृत्यु में पाना चाहो, तो तुम नासमझी में हो।

और तुम पूछते हो कि 'महावीर ने तो मृत्यु की इजाजत दी है, क्या आप वैसी इजाजत नहीं दे सकते?' नहीं; मैं मृत्यु की नहीं—जीवन की इजाजत देता हूँ। मैं चाहता हूँ: जीओ—मैं चाहता हूँ: तुम प्रगाढता से जीओ। मैं चाहता हूँ, तुम इतनी गहराई से जीओ, कि मृत्यु भी रूपांतरित हो जाय। तुम्हारे जीने की शैली ही मृत्यु को भी बदल दे। मृत्यु भी तुम्हारे जीवन में समाविष्ट हो जाय। वह कुछ अलग-थलग चीज न रह जाय। वह भी तुम्हारे इस महोत्सव में सम्मिलित हो जाय।

नहीं; मृत्यु पर मेरा जोर नहीं है। मेरा जोर जीवन पर है—और इतने जीवन पर है—इतने प्रगाढ जीवन पर है—इतने समग्र जीवन पर है—कि मृत्यु उसके बाहर नहीं रह जाती; भीतर समाविष्ट हो जाती है। और जिस दिन तुम मृत्यु में भी जीते हो, उसी दिन मृत्यु समाप्त हो गयी। जिस क्षण मरते समय भी तुम्हारे जीवन की प्रगाढता में कोई अंतर नहीं पड़ता, तुम्हारे जीवन का संगीत अपने आत्यंतिक स्वरों में बजता है और मृत्यु भी उस महासंगीत में स्वर जोड़ती है—उसी दिन जानना कि

अब मृत्यु के पार हो गये। वह जीवन की विजय है—मर के भी न मरना; वही मृत्यु में अमृत को खोज लेना है।

मेरा जोर जीवन पर है और मैं तुम्हें किसी भी तरह के पलायन की शिक्षा नहीं देता। न तो मैं तुमसे कहता हूँ, बाजार को छोड़ कर जंगल जाओ; न तुमसे कहता हूँ : घर को छोड़कर बेघर हो जाओ; न तुमसे कहता हूँ : जीवन को उजाड़ो और मृत्यु को आलिंगन करो। नहीं; मैं तुमसे कहता हूँ : विरोधों के बीच चुनना नहीं है, दोनों विरोधों के बीच एक समन्वय को साधना है।

महावीर ने ऐसी आज्ञा दी होगी, क्योंकि महावीर संसार विरोधी हैं। उनका संन्यास एकांगी है, उनका संन्यास मृत्यु-उन्मुख है। वे कहते हैं : सब बेकार है—छोड़ो। मैं कहता हूँ : सब इतना बेकार है—कि छोड़ना भी क्या ! छोड़ने में भी तो ऐसा लगता है कि कुछ न कुछ सार रहा होगा, तभी तो छोड़ा; नहीं तो छोड़ते क्यों ? छोड़ने योग्य कुछ भी नहीं है।

महावीर कहते हैं : हटो; यहाँ सब व्यर्थ है। मैं कहता हूँ : हट कर भी कहाँ जाओगे ? जहाँ जाओगे, तुम तो तुम ही रहोगे। कोई फर्क न पड़ेगा। मैं कहता हूँ, हटो मत; बदलो। महावीर का आग्रह परिस्थिति के बदलने पर है, मेरा आग्रह तुम्हारी अंतर्स्थिति बदलने पर है। इसलिए महावीर कहते हैं : अगर जीवन से परमात्मा न सधता हो, तो मर ही जाओ; कोई सार नहीं है—जीवन में। मैं तुमसे कहता हूँ : मरके भी कहाँ जाओगे। फिर पैदा हो जाओगे। बहुत बार मर गये, अब तक समझ न आयी ? कितनी बार तुम मर चुके हो, कोई संख्या है, कोई हिसाब है ! लेकिन आदमी को समझ आती ही नहीं। अनुभव से आदमी सीखता नहीं।

मुल्ला नसरुद्दीन ने शादी की। यह कोई सातवीं शादी थी। फिर भी वहीं बैंडबाजे बजवाये। बिलकुल शोभा न देती थी; बुढ़ापे की शादी थी ! और जब रात सुहागरात के दिन पत्नी के पास लेटा, तो पत्नी ने उससे पूछा कि 'नसरुद्दीन, मुझसे पहले कितनी स्त्रियाँ तुम्हारे साथ इस बिस्तर पर लेट चुकी हैं ?' क्षण बीते, मिनट बीतने लगे; आधा घंटा होने को आया। पत्नी ने कहा कि 'मैं अभी भी प्रतीक्षा कर रही हूँ; तुमने उत्तर नहीं दिया !' उसने कहा, 'गिनती तो पूरी कर लेने दो। अभी मैं गिनती कर रहा हूँ।' आधा घंटा बीत गया—अभी गिनती चल रही है !

लेकिन कितनी ही बार, उसी मृत्यु से गुजर जाओ, समझ पैदा नहीं होती मालूम पड़ती। हजार बार प्रेम करो, अनुभव आ जाय, तो प्रेम प्रार्थना बन जाती है। अनुभव न आये, तो प्रेम एक सड़ांध हो जाती है। हजार बार जन्मो पर अनुभव आ जाय, तो जीवन धर्म बन जाता है; अनुभव न आये, तो जीवन एक दुर्गंधयुक्त, सड़ी हुई जीवन-दशा रह जाती है। अनुभव आ जाय तो तुम्हारे भीतर रूपांतरण होने शुरू होते हैं।





मरे तो तुम बहुत बार हो और अब भी जरा सी गड़बड़ होती है कि मरने की तैयारी हो जाती है। मरने को कोई भी तैयार है। मैं तुमसे कहता हूँ : तुम जीओ। मरना कोई बहादुरी नहीं है। वह तो कायरता का ही हिस्सा है; वह भागने का आखरी हिसाब है। जंगल भी भाग गये, वहाँ भी भाग नहीं पाते। मर गये। मरने का मतलब बिलकुल भाग गये। अब कोई भीतर खींच कर नहीं ला सकता, लेकिन तुम खुद ही आ जाओगे।

भागने वाला कहाँ भाग कर जायेगा ! भागना ही बताता है कि वासना मरी नहीं; पाने की आकांक्षा मरी नहीं। फिर लौट आओगे। किसी और द्वार से, किसी और देह में, किन्हीं और वस्त्रों में, किन्हीं और रूपों में—फिर हाजिर हो जाओगे।

ऐसे कोई भाग नहीं सकता है कभी। इसलिए मैं तुम्हें मरने की बात ही नहीं कहता कि मरो। मैं कोई आत्मघात नहीं सिखाता। मैं तुमसे कहता हूँ : जीओ—परिपूर्णता से जीओ। तुम इतनी परिपूर्णता से जीओ कि मृत्यु भी तुम्हारे जीवन को खण्डित न कर पाये। तुम ऐसे जीवन को उपलब्ध हो जाओ कि मृत्यु घटे, तो तुम्हारे बाहर ही घटे, तुम्हारे भीतर उसका कोई प्रभाव न पहुँच पाये। तुम मृत्यु से अछूते मर जाओ। बस, फिर तुम्हारे आने का कोई उपाय नहीं। फिर तुम गये पार। तब तुम्हें महाजीवन मिलेगा।

मरने से नहीं मिलता महाजीवन, इस जीवन को रूपांतरित करने से मिलता है।

● दूसरा प्रश्न : कर्म के सात्त्विक होने के लिए—गीता कहती है कि—उसे कर्तापन के अभिमान से मुक्त और फलाकांक्षा से रहित होने के साथ-साथ शास्त्र विहित भी होना चाहिए। लेकिन क्या कर्तापन और फलाकांक्षा से मुक्त कर्म शास्त्र सम्मत होने के लिए काफी नहीं है ?

मनुष्य बहुत जटिल और जीवन बड़ा सूक्ष्म है। इसलिए बहुत होश से कदम उठाना आवश्यक है। देखने पर तो ऐसा लगता है कि फलाकांक्षा से मुक्त हो गया कर्म—अहंकार से मुक्त हो गया। अब शस्त्र-सम्मत होने की क्या जरूरत है ! इतना काफी होना चाहिए। अब यह शास्त्र की भी शर्त क्यों लगी है इसके पीछे—कि शास्त्र-सम्मत हो ? यह शर्त भी समझने जैसी है। कृष्ण ने लगायी है, तो बड़े गहरे कारण हैं।

तुम अपने को धोखा दे सकते हो—अनंत-अनंत प्रकारों से, इसलिए यह शर्त है। अगर तुम अपने को धोखा न दो, तब तो किसी शास्त्र-सम्मत होने की जरूरत नहीं है। लेकिन तुम्हारे जैसा अपने को ही धोखा देनेवाला खोजना मुश्किल है। तुम अहंकार शून्य हो गये, ऐसा तुम मान ले सकते हो—बिना अहंकार शून्य हुए। वस्तुतः न मालूम कितने लोग मानते हैं कि उनका कोई अहंकार नहीं है। और जब वे यह कह रहे हैं, तब भी तुम उनकी आँखों में देख सकते हो—अहंकार की लपटें जल रही हैं।

कितने ही लोग कहते हैं कि हम कोई फलाकांक्षा से थोड़े ही काम में लगे हैं। यह तो परमात्मा करवा रहा है, इसलिए कर रहे हैं। लेकिन तुम गौर करो। इस परमात्मा

का उन्हें कोई भी पता नहीं है—जिसकी वे बात कर रहे है—जो करवा रहा है। वस्तुतः वे इस परमात्मा का भी अपने ही स्वार्थों के लिए उपयोग कर रहे हैं। जो उन्हें करना है, उसी को वे 'परमात्मा करवा रहा है'—ऐसा कहते हैं। और धोखा अगर कोई अपने को देता ही चला जाय, तो ऐसा उलझ जाता है—अपने ही बनाये जाल में—कि उसे पता ही नहीं चलता कि कहाँ से निकले, कैसे निकले। तुम्हारा मन ही तुमसे कहे चला जाएगा कि यह परमात्मा कर रहा है; किये जाओ।

तुम कैसे पहचानोगे कि यह तुम्हारा मन कह रहा है या परमात्मा करवा रहा है? तुमने परमात्मा की कभी कोई वाणी सुनी है, जिससे तुम परख कर लो, पहचान कर लो कि अपना मन नहीं बोल रहा है, परमात्मा करवा रहा है?

अहंकार इतना कुशल है कि वह निरहंकार के भीतर भी छिप सकता है। वह कह सकता है: मुझ जैसा विनम्र आदमी कौन! लेकिन 'मुझ जैसा विनम्र आदमी कौन', यह अहंकार की घोषणा है। मुझ जैसा कौन—?

लोग आते हैं, वे कहते हैं: 'मैं तो आप के पैरों की धूल हूँ।' वे यह कह रहे हैं कि आप इनकार करो कि नहीं, नहीं; आप—और पैरों की धूल! अगर तुम स्वीकार कर लो कि आप बिलकुल ठीक ही कह रहे हैं, मुझे तो पहले से ही पता है कि आप पैरों की धूल हैं, तो वह आदमी नाराज हो गया। वह जो कह रहा था, उसको ही स्वीकार करने से नाराज हो गया!

मेरे पास लोग आ जाते हैं, वे कहते हैं कि 'हम बिलकुल बेईमान, चोर—हम कैसे समर्पण करे!' अगर मैं उनसे कह दूँ, 'बिलकुल ठीक कह रहे हो,' तो वे चौंक कर देखते हैं कि मैं बिलकुल अ-संस्कारी मालूम होता हूँ। यह भी कोई कहने की बात थी! वे तो शिष्टाचार निभा रहे थे। यह मैंने स्वीकार कर लिया। न; वे यह कह रहे हैं कि मैं उनसे कहूँ, 'आप और बेईमान? कभी नहीं।' तब उनका अहंकार तृप्त होता है। ऐसे जटिल जाल हैं। इसलिए कृष्ण ने एक शर्त लगायी है कि वह शास्त्र-सम्मत हो।

शास्त्र क्या है? शास्त्र उन पुरुषों की वाणी है, जिन्होंने जाना। उनकी वाणी से अगर तुम्हारे जीवन का मेल खा जाय, तो मन धोखा न दे पाएगा। अगर मेल न खाये तो मन धोखा दे सकता है। उन्होंने जो कहा है, अगर तुम्हें लगे कि तुम्हारी जीवन-धारा बिलकुल उसके अनुकूल बह रही है, तो वह कसौटी हो गयी तुम्हारे लिए। शास्त्र तो कसौटी है। मन धोखा न दे पाये, इसलिए एक उपाय है, एक व्यवस्था है।

अगर तुम सोचते हो कि शास्त्र से कोई अड़चन पड़ रही है, तो उसका मतलब साफ है। उसका मतलब साफ है कि मन शास्त्र से डरता है। क्योंकि शास्त्र तो सीधा-सीधी बात कह देगा। और मन डरता है कि धोखा देने के उपाय कम हो जाएँगे, प्रवंचना मुश्किल हो जाएगी; आत्मवंचना की संभावना टूट जाएगी। इसलिए मन कहता है: मुझे मुझ





पर छोड़ दो। जब मैं ही हूँ, तब किसी शास्त्र की कोई जरूरत है? लेकिन अगर तुम ही काफी होते, तब तो निश्चित ही शास्त्र की कोई जरूरत न थी। तुम काफी नहीं हो। तुम्हारे भीतर कोई न कोई कसौटी चाहिए, जिससे तुम कसते रहो और धोखे से बचते रहो।

शास्त्र तो सदियों-सदियों का सार है। हजारों-हजारों वर्षों में सैकड़ों बुद्ध पुरुषों ने जो जाना है, उसका निचोड़ है। वह किसी एक फूल की सुगंध भी नहीं है। वह तो हजारों फूलों से निचोड़ा गया इत्र है। तो करोड़ों-करोड़ों अनुभवों का निचोड़ है और बड़ी ही दूर की यात्रा करके तुम्हारे पास से गुजर रहा है।

शास्त्र की गंगा तुम्हारे पास से बह रही है। तुम्हें जब भी कुछ संदेह हो, जब भी कोई दुविधा हो, तब तुम उस गंगा के पास जा कर निर्णय ले सकते हो। लेकिन आदमी के धोखे का कोई अंत नहीं है। शास्त्र से भी आदमी अपने को धोखा दे सकता है। क्योंकि शास्त्र तो मुरदा हैं। तुम उनमें भी तो व्याख्या अपनी थोप सकते हो। शास्त्र पढ़ते वक्त तुम शास्त्र थोड़े ही पढ़ते हो, तुम अपने को ही शास्त्र में पढ़ लेते हो। तुम जो पढ़ना चाहते हो, वही पढ़ लेते हो। इसलिए शास्त्र से भी ऊपर सद्गुरु को रखा है। यह सब तुम्हारी बेईमानी की वजह से इन्तजाम करने पड़े हैं।

सद्गुरु की तुम व्याख्या न कर सकोगे। वह जीवित बैठा है। तुम अपनी व्याख्या से अपने को धोखा न दे सकोगे। इसलिए सद्गुरु को तो हम श्रेष्ठतम रखते हैं। अगर कृष्ण उपलब्ध हों, तब गीता की फिक्र मत करो। क्योंकि गीता में तो डर है।

एक हजार व्याख्याएँ हैं गीता की। अभी कृष्ण भी आ जायँ तो उनका दिमाग भी विक्षिप्त हो जाय—एक हजार व्याख्याएँ कृष्ण के वचन की! इसका मतलब यह हुआ कि या तो कृष्ण जो बोले हैं, उसके एक हजार अर्थ थे। तो अर्जुन पागल हो गया होता—बजाय समाधि को उपलब्ध होने के। कृष्ण का तो एक ही अर्थ रहा होगा। कृष्ण का तो एक ही स्वर रहा होगा, एक ही सतत चोट रही होगी अर्जुन के ऊपर।

लेकिन ये हजार व्याख्याएँ कैसे पैदा हो गयीं? यह हजार लोगों का अपना-अपना अनुभव गीता के ऊपर आरोपित करना है।

अगर कृष्ण उपलब्ध हों, तो गीता की फिक्र मत करना। पहला तो काम है: कृष्ण को खोजना। इसलिए तो पुराने दिनों में साधक सद्गुरु को खोजता था। अगर सद्गुरु न मिले, अगर सद्गुरु का मिलना असंभव हो, तो फिर शास्त्र। वह नम्बर दो है, दोयम। वह नम्बर एक नहीं है।

अगर शास्त्र भी उपलब्ध न हो, तब फिर स्वयं का विवेक। वह नम्बर तीन है। लेकिन स्वयं के विवेक में डर है। शास्त्र से सहारा ले लेना। उसमें भी थोड़ा-सा डर तो है। सद्गुरु न मिले, तो मजबूरी में शास्त्र, अन्यथा कोई जरूरत नहीं है। तब सद्गुरु ही

शास्त्र है।

अर्जुन ने कृष्ण से कुछ पूछा। तुम क्या सोचते हो—शास्त्र मौजूद न थे, उस दिन। वेद थे, उपनिषद् थे। अर्जुन जाकर वेद और उपनिषदों से पूछ लेता। लेकिन नहीं। जब जीवित शास्त्र मौजूद हो तो क्या वेदों से पूछना! जब वेदों में जिसकी वाणी गूँजी हो, वह खुद मौजूद हो, तो क्या वेद को पूछना! उसने कृष्ण से पूछ लिया। अब तुम गीता से पूछते हो—जब जरूरत पड़ती है। तुम वह भूल कर रहे हो, जो अर्जुन ने नहीं की।

जाओ; खोजो सद्गुरु को। शास्त्र सस्ते में मिल जाता है—यह सच है—बाजार में बिकता है। गुरु को खोजना कठिन होगा, लेकिन जो खोज ले गुरु को, वह सौभाग्यशाली है। क्योंकि फिर खुद का धोखा बंद हो जाता है।

ये सारी शर्तें लगायी गयी हैं—तुम्हारे कारण। अगर तुम अपने को धोखा न दो, तो न तो गुरु की कोई जरूरत है, न शास्त्र की कोई जरूरत है। पर वह बड़ी भारी समस्या है कि तुम अपने को धोखा न दो। यह होना ही मुश्किल दिखता है कि तुम अपने को धोखा न दो। तुम धोखा दोगे ही।

मैं तुमसे जो कह रहा हूँ, तुम वही थोड़े ही सुनते हो। क्योंकि जब मेरे पास लोग आकर मुझे बताते हैं कि आपने ऐसा कहा, तब मैं चौंकता हूँ।

एक युवक ने मुझे आकर, एक दस दिन पहले, कहा, कि 'जब से आपकी किताबें पढ़ीं, जब से आपको सुना, बस तब से एक ही आकांक्षा पैदा हो गयी है कि विल-पावर, संकल्प की शक्ति कैसे पैदा हो।' मैंने कहा कि 'तू मेरे ही सामने कह रहा है! मैं चिल्लाये चला जाता हूँ कि समर्पण कैसे हो और विल-पावर तूने कहाँ पढ़ लिया!' उसने कहा, 'आपकी किताबों में और आपके ही वचनों में।'

वह थोड़ा चौंका, जब मैंने उसे मना किया। लेकिन वह बिलकुल आश्वस्त था, जब उसने पहली दफा कहा कि उसने मेरे ही द्वारा सीखा है। मैंने कहा, 'तू कहीं भूल कर रहा है। तू चाहता होगा : संकल्प शक्ति कैसे बढ़े, क्योंकि तेरे भीतर कहीं न कहीं कोई हीनता की ग्रंथि होगी। तू अपने को इन्फीरिअर समझता है। तू कहीं न कहीं अपने को ओछा समझता है, कमजोर समझता है। तेरे ढंग से दिखता है; तू चलता है तो उसमें कोई बल नहीं है। तेरी आँखों से दिखता है कि अगर कोई तेरी तरफ गौर से देखे, तो तू आँखें बचा लेता है। तू बोल भी रहा है, तो सिर नीचे किये हुए है। तू शंकित है, संशय-ग्रस्त है। तेरा हाथ कंप रहा है। वह जो कागज हाथ में लेकर तू आया है, जिसमें तू लिख के लाया है अपने सब प्रश्न (वह हाथ में कागज रखे बैठा है।), तो तेरा हाथ कंप रहा है। और तू कागज में लिखकर क्यों आया? जब तू मिलने ही आया था, तो सीधी बात हो जाती। वह भी तुझे भरोसा नहीं है—अपने पर—कि तुझे जो पूछना है, तू पूछ सकेगा। तो कागज में लिख लाया है। तेरे भीतर कोई बड़ी हीनता की ग्रंथि है। उसके कारण





तेरे भीतर आकांक्षा है कि संकल्प की शक्ति, विल-पावर कैसे बढ़े। मैंने कभी नहीं कहा है। तू गलत आदमी के पास आ गया।'

अब इस आदमी ने कैसे पढ़ा? पढ़ा-लिखा युवक है, विश्वविद्यालय से शिक्षित युवक है; किसी कॉलेज में लेक्चरर है। इसने यह पढ़ा कैसे—जो मैंने कभी कहा नहीं। अपने ही मन को फैला लिया। अपने ही मन पर रंग लिया—जो मैंने कहा है उसको। तो उसने कहा, 'जाने दें वह, लेकिन यह बतायें कि विल-पावर कैसे बढ़े...। जाने दें; आपने न कहा होगा। उस झंझट में मैं नहीं पड़ता, लेकिन विल-पावर कैसे बढ़े, यह बता दें।'

तो मैंने कहा, 'तू सीधे ही पूछ। मुझे बीच में क्यों लेता है! और मैं तो विल-पावर के विरोध में हूँ, क्योंकि मेरा सारा कहना ही यह है कि सारी संकल्प की शक्ति अहंकार को ही बढ़ाती है। समर्पण चाहिए। कैसे छूटे अहंकार—यह पूछ। बढ़ाने की क्या जरूरत है? मिटाना है, खोना है—अपने को; लीन होना है।'

बस, जैसे संबंध छूट गया। जैसे अब मुझसे उसका कोई नाता नहीं है। बात टूट गयी। जीवित आदमी के पास भी जाकर हम अपने को थोपने की कोशिश करते हैं। तो मरे हुए शास्त्र का तो क्या कहना! तुम उसके साथ क्या-क्या दुर्व्यवहार करते होओगे, कहना मुश्किल है! तुम जो अर्थ निकालना चाहते हो, निकाल लेते हो।

इसलिए मैं तो तुमसे कहता हूँ कि अगर कृष्ण मिलते हों, तो आग में जला दो गीता को; स्वाहा कर दो। न मिलते हों, तब क्या करो। मजबूरी है; शब्द से फिर सहारा खोजो। अगर वह भी उपलब्ध न हो, तो फिर और बड़ी मजबूरी है। तब अपने ही पैर से चलने की कोशिश करो—जितना भी चल सको। शायद कुछ रास्ता बन जाय। लेकिन सद्गुरु सदा उपलब्ध हैं। ऐसा हो भी नहीं सकता—इस परमात्मा के विराट् विस्तार में—कि जो चाहता हो, जिसकी अभीप्सा हो, उसके लिए सद्गुरु किसी क्षणों में अनुपलब्ध हो जाय।

भूख है, तो भोजन है। प्यास है, तो पानी है। अगर अभीप्सा है, तो सद्गुरु भी होगा; कहीं न कहीं होगा। शायद थोड़ा खोजना पड़े। और जितनी बहुमूल्य चीज खोजनी हो, उतनी देर लगती है, मुश्किल लगती है, श्रम उठाना पड़ता है। अड़चन भी है, तो तुम्हारे कारण होगी। अड़चन भी कोई सद्गुरु अपने आसपास खड़ी नहीं किये हुए है। तुम ही अपनी अड़चन अपने चारों तरफ लेकर चल रहे हो।

मैं एक अमेरिकन कवि का संस्मरण पढ़ रहा था। उसने लिखा कि वह एक रात ट्रेन में सवार हुआ, केलिफोर्निया जाने को। डब्बे में एक और युवक था। होगी कोई तीस साल की उम्र। और तो कोई था नहीं। रात तो दोनों सो गये। सुबह एक दूसरे से परिचय हुआ। जिस जगह कवि बैठा था, उस युवक ने कहा, 'क्षमा करें, मुझे उस खिड़की

पर बैठ जाने दें।' तो कवि ने पूछा कि 'क्या कारण है। इतनी खिड़कियाँ हैं, इस पर ही बैठने क्या कारण है!' वे कमरे में केवल दो ही आदमी हैं।

उस युवक ने कहा, 'आप पूछते हैं, तो आपको कहता हूँ। आज से दस साल पहले मैंने एक जघन्य अपराध किया। मैं जेल में डाल दिया गया। दस साल की सजा हुई। छूटकर घर वापस लौट रहा हूँ। शंकित हूँ। दस साल में मेरे परिवार से कोई मुझे मिलने नहीं आया। आशा तो यही करता हूँ कि वे लोग सीधे-सादे हैं, ग्रामीण हैं, इतनी दूर की यात्रा—सैकड़ों मील की—उनके लिए करनी असंभव रही होगी। पर कौन जाने, शायद उन्होंने मुझे त्याग ही दिया! दस वर्षों में एक पत्र भी मेरे परिवार से नहीं आया। आशा तो यही करता हूँ कि वे लोग गैर-पढ़े-लिखे हैं, इसलिए न लिख सके होंगे। लेकिन मन में यह भय भी है कि हो सकता है, उन्होंने जानकर ही न लिखा हो! किसी और से लिखवा तो सकते थे। वे लोग गरीब हैं, गैर-पढ़े-लिखे हैं पर कुलीन हैं और बड़े स्वाभिमानी हैं। मेरे कारण जो उनकी प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचा है, शायद वे मुझे अंगीकार करने को राजी भी न हों। तो मैंने उनको लिखा है कि फलाँ-फलाँ ट्रेन से मैं आ रहा हूँ। सुबह होते ही, सूरज के उगते ही, गाँव में यह ट्रेन प्रवेश करेगी। गाँव के बाहर ही, स्टेशन के पूर्व ही हमारा खेत है। उसमें सेव का एक बड़ा वृक्ष है। वह स्टेशन की लाईन के बिलकुल करीब है। तो मैंने उनको लिखा है कि उस पर तुम एक सफेद झंडी लगा देना, ताकि मुझे पता चल जाय कि मैं लौट सकता हूँ घर। अगर सफेद झंडी लगी मिली, तो मैं स्टेशन पर उतर जाऊँगा और घर आ जाऊँगा। अगर न लगी मिली, तो ट्रेन पर सवार रहूँगा। कहीं भी उतर जाऊँगा फिर—और संसार में खो जाऊँगा। फिर तुम मेरा नाम दुबारा न सुन सकोगे। इसलिए इस जगह मुझे बैठ जाने दें। इस खिड़की से वह वृक्ष ठीक से दिखाई पड़ेगा।' कवि भी अभिभूत हो गया। जगह दे दी। लेकिन जैसे-जैसे गाँव करीब आने को होने लगा, युवक बेचैन हो गया। उसकी आँखों से आँसू बह रहे हैं। उसने कवि से फिर प्रार्थना की कि 'आप कृपा करके वापस यहाँ बैठ जायँ, क्योंकि मेरी आँखों में इतने आँसू भर गये हैं कि मैं देख भी नहीं पा रहा हूँ। आप मेरे लिए देख दें। कहीं ऐसा न हो कि झंडी हो और मुझे दिखाई न पड़े। या ऐसा भी हो सकता है कि झंडी न हो और मेरी कल्पना के कारण मुझे दिखाई पड़ जाय, मैं इतना भावाविष्ट हूँ। आप वापस आ जायँ और मुझे बता दें।'

कवि भी भावाविष्ट हो गया। वह बैठ गया है। वह देख रहा है बाहर—टक-टकी लगाये। उसकी आँख से भी—जैसे ही वृक्ष दिखाई पड़ा—आँसुओं की धार लग गयी। उस युवक ने उसे हिलाया और कहा कि 'क्या झंडी नहीं है!' उसने कहा, 'नहीं, मैं इसलिए नहीं रो रहा हूँ। मैं इसलिए रो रहा हूँ कि पूरे वृक्ष पर झंडियाँ ही झंडियाँ हैं। पत्ते तो दिखाई ही नहीं पड़ते। हजारों झंडियाँ बाँध दी हैं उन्होंने।'





बाधाएँ हैं, तो तुम्हारे कारण हो सकती हैं। परमात्मा तो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है—वृक्ष पर हजारों झंडियाँ बाँधकर। यह बिलकुल स्वाभाविक है। तुम उससे पैदा हुए हो। तुम कितने ही संसार में भटक जाओ और कितने ही जघन्य तुमने कृत्य किये हों, इससे क्या फर्क पड़ता है। वह तुम्हें मिलने भी न आया हो, इससे भी क्या फर्क पड़ता है। कोई चिट्ठी-पाती भी उसने न लिखी हो, इससे भी क्या फर्क पड़ता है। हृदय के द्वार बंद होते ही नहीं।

तुम जरा खोजो। तुम थोड़ा-सा प्रयास करो। तुम अगर अपनी आँखों से न देख सको, तो सद्‌गुरु की आँखों से देख लो। शायद तुम्हारी आँखें बहुत पीड़ा से भरी हैं, बहुत आँसुओं से, भाव से, संभावनाओं से, भय से। सद्‌गुरु का इतना ही मतलब है: उसके पास अब साफ आँख है, जिसमें न आँसू तिरते हैं, न पीड़ा उतरती है, न सुख उत्तेजित करता है, न दुःख विह्वल करता है। उसकी आँख अब कोरी और साफ और निर्दोष है। वह सीधा देख सकता है।

अगर तुम कँप रहे हो, तो उसके द्वारा देख लो, जो नहीं कँप रहा है। वह तुम्हें ठीक-ठीक तुम्हारे घर का पता बता दे।

अगर सद्‌गुरु न उपलब्ध हो सके...। इस कारण नहीं कि सद्‌गुरु होते नहीं। सद्‌गुरु सदा हैं। पृथ्वी कभी उनसे खाली नहीं होती। अगर सद्‌गुरु न मिल सके, तो उसका कारण तुम्हीं होओगे; क्योंकि सद्‌गुरु को पाने का अर्थ है: किसी के चरणों में झुकने की कला। वह तुम्हें मुश्किल पड़ेगी। और अगर यह तुम्हारे लिए मुश्किल है, तो जान लेना कि शास्त्र भी तुम्हारे काम न आयेगा। क्योंकि तुम अगर किसी गुरु के चरण में नहीं झुक सकते, तो तुम शास्त्र के चरण में कैसे झुकोगे! सिर झुका लोगे, मगर झुकोगे नहीं। तुम शास्त्र पर आरोपित हो जाओगे। शास्त्र को स्वयं पर आरोपित न होने दोगे।

इसलिए बड़े मजे की बात है कि जो सद्‌गुरु से लाभ ले सकता है, वह शास्त्र से भी लाभ ले सकता है। जो शास्त्र से लाभ ले सकता है, वह बिना शास्त्र के भी चल सकता है। जो सद्‌गुरु से लाभ नहीं ले सकता, वह शास्त्र का भी लाभ न ले पायेगा। जो शास्त्र का लाभ न ले पायेगा, वह अपने से भी लाभ न ले पायेगा।

मुझे जीसस का वचन बार-बार प्रीतिकर लगता है कि 'जिनके पास है, उन्हें और दिया जाएगा और जिनके पास नहीं है, उनसे वह भी छीन लिया जाएगा—जो उनके पास है। जो सद्‌गुरु से लाभ ले सकता है, वह शास्त्र से भी लाभ ले सकेगा; उसे और दे दिया जाएगा। जो शास्त्र का लाभ ले सकता है, वह अपने से भी लाभ ले सकता है; उसे और दे दिया जाएगा।

तुम खुलो; शर्तों से मत डरो। अपने मन पर थोड़ा नियंत्रण करना होगा। उस नियंत्रण की थोड़े दिन के लिए ही जरूरत है। एक बार तुम मन से अलग होकर जीवन

से जीने लगो, फिर न गुरु की जरूरत है, न शास्त्र की। फिर तुम ही गुरु हो, तुम ही शास्त्र हो।

और सारे गुरुओं की चेष्टा यही है कि तुम्हारे भीतर का गुरु तुम्हें उपलब्ध हो जाय।

● तीसरा प्रश्न : मैंने जीवन में जो बड़ी से बड़ी चीजें अब तक देखी हैं, वे हैं : हिमालय, आकाश और रजनीश। और आपने उस दिन कहा कि मैं तुम्हारे भीतर भी हूँ। मुझे विश्वास नहीं होता कि यह विराट् मुझ क्षुद्र के भीतर कैसे समाया है ?

क्षुद्र कहीं है ही नहीं; विराट् ही विराट् है। क्षुद्र होता, तो विराट् नहीं समाता—यह बात सच है। लेकिन क्षुद्र कहीं है ही नहीं। वह तुम्हारी देखने की भूल है। सीमा यहां कहीं है ही नहीं। सीमा तुम्हारी देखने की भ्रांति है। है तो असीम। ऐसी ही है सीमा, जैसे कोई अपने खिड़की के भीतर से आकाश को देखता है, तो खिड़की की चौखट आकाश पर लगी मालूम पड़ती है। चौखट खिड़की की है, आकाश पर कोई चौखट नहीं है। लेकिन खिड़की की सीमा आकाश की सीमा बन जाती है। आकाश भी ऐसा लगता है, जैसे कि फ्रेम किया हुआ, कोई आकाश का चित्र हो।

पश्चिम के एक बहुत बड़े चित्रकार सलवादोर डाली ने अपने जीवन के अंतिम दिनों में अपने चित्रों पर फ्रेम लगाने बंद कर दिये थे। मित्रों ने पूछा, 'क्या हो गया !' तो डाली ने कहा कि 'जीवन के अनुभव से जाना है कि फ्रेम कहीं भी नहीं है। फ्रेम आदमी की ईजाद है।' आकाश पर कहीं कोई फ्रेम है ? कहाँ शुरू होता है आकाश, कहाँ अंत होता है ? किस चीज पर तुमने अब तक पाया है कि कोई सीमा है ? यह छोटा-सा वृक्ष, जो तुम्हें छोटा-सा दिखाई पड़ता है, छोटा नहीं है। देखने की भूल है। इस वृक्ष की जड़ें जमीन में समायी हैं। यह जमीन का हिस्सा है। जमीन बहुत बड़ी है। इस वृक्ष के पत्ते आकाश में फैले हैं। वृक्ष आकाश में समाया है। यह वृक्ष छोटा नहीं है। इस वृक्ष के प्राण सूरज की किरणों से बँधे हैं। तभी तो सुबह होती है, तो प्रफुल्लित हो जाता है; साँझ होती है, कुम्हला जाता है। सूरज इसका हिस्सा है। सब जुड़ा है। यहाँ अनजुड़ा—वृक्ष भी नहीं है।

तुम सीमित हो ? तुम अपने पिता से जुड़े हो, माँ से जुड़े हो। तुम्हारी माँ अपने माँ और पिता से जुड़ी है; तुम्हारे पिता अपने माँ और पिता से जुड़े हैं। लौटो जरा पीछे, जोड़ की खोज करो, तो तुम पाओगे कि सृष्टि के आदि में—अगर कभी कोई आदि रहा हो, प्रारंभ रहा हो—तो तुम उससे जुड़े हो। तुम्हारे बच्चे तुमसे जुड़े होंगे, उनके बच्चों के बच्चे तुमसे जुड़े होंगे। अगर सृष्टि का कभी कोई अंत होगा, तो तुम्हारा उसमें हाथ होगा; तुम जुड़े रहोगे। एक हाथ इस तरफ, एक हाथ उस तरफ। दोनों तरफ अनंत से जुड़े हो।





तुम छोटे हो ? यह तुम्हारी चमड़ी सूरज से जुड़ी है। तुम्हारा रोआँ-रोआँ श्वास ले रहा है। हवाओं से जुड़ा है। तुम्हारे पैर पृथ्वी से जुड़े हैं। तुम्हारा कण-कण पृथ्वी से आ रहा है। कभी फलों की शकल में, कभी भोजन की शकल में—तुम रोज पृथ्वी को खा रहे हो। तुम कहाँ समाप्त होते हो ? कहाँ तुम्हारा प्रारंभ है ?

नहीं, क्षुद्र यहाँ कुछ भी नहीं है। सब फ्रेम आदमी की ईजाद है। जीवन बिलकुल ही निराकार है। इसलिए जब मैं कहता हूँ कि विराट् तुममें है, तब मैं यह नहीं कहा रहा हूँ कि विराट् क्षुद्र में है। मैं यह कह रहा हूँ : तुम विराट् हो। असल में मैं यह कह रहा हूँ—अगर तुम और भी ठीक से समझ सको तो—कि तुम हो ही नहीं—विराट् है।

● चौथा प्रश्न : अभी आपको मैं कहीं से भी चखूँ, खारा ही खारा पाता हूँ। वह घड़ी भी कभी आयेगी, जब आप मीठे ही मीठे लगने लगें ?

जब तक तुम हो, मुझे तुम खारा ही खारा पाओगे। जब तुम मिटोगे, तब मुझे मीठा ही मीठा पाओगे। यह मेरा स्वाद नहीं है, जो तुम्हें खारा ही खारा लगता है। अगर यह मेरा ही स्वाद है, तब तो सदा ही खारा रहेगा। फिर तो यह कभी मीठा न हो सकेगा।

नहीं, तुम्हारे अहंकार के कारण यह स्वाद है। अहंकार हटते ही तुम पाओगे कि सब मीठा हो गया। मैं ही मीठा हो जाऊँगा—ऐसा नहीं है, सब कुछ मीठा हो जाएगा। सारा अस्तित्व एक माधुर्य से भर जाता है—जब तुम्हारा अहंकार मिट जाता है।

तुम्हारा अहंकार खारा करने वाला तत्त्व है। खारा भी ठीक नहीं है, कड़वा करता है, विषयुक्त कर देता है। उससे छूटो। तब पूरी प्रकृति बड़ी मिठास से भरी है। उसी मिठास में तुम परमात्मा की पहली पग-ध्वनियाँ सुनोगे।

परमात्मा तो मीठा है, तुम्हारी जीभ पर नमक लगा है। तुमने कभी देखा : बुखार के बाद उठते हो, मीठा भी मीठा नहीं लगता; स्वादिष्ट भी स्वादिष्ट नहीं लगता।

अहंकार का एक ज्वर है, जो तुम्हारे स्वाद को बिगाड़ रहा है। उसे जाने दो। जीवन बड़ा स्वादिष्ट है, बड़ा सुस्वादु है। जीवन अमृत है।

● आखिरी सवाल : झेन गुरु अकसर अपने शिष्यों से पूछते हैं : एक हाथ से ताली कैसे बजेगी ? हम नये-नये शिष्य आपसे पूछते हैं : एक हाथ से ताली कैसे बजेगी ?

रोज बजती है और तुम सुनते ही नहीं। जो तुम नहीं चाहते, वह मैं तुम्हें दे रहा हूँ। जो तुमने कभी नहीं माँगा, वह मैं तुम्हें बाँट रहा हूँ। ताली एक हाथ से बज रही है। जिसके लिए तुम तैयार भी नहीं हो, वह मैं तुम में उँडेल रहा हूँ। ताली बिलकुल एक हाथ से बज रही है। इसे थोड़ा समझने की कोशिश करो।

तुम जहाँ नहीं जाना चाहते, या तुमने कभी सपना भी जहाँ जाने का नहीं देखा था, वहाँ मैं तुम्हें ले चल रहा हूँ। तुम्हारी तरफ से जो हाथ होना चाहिए—ताली बजने को, वह तो नहीं है। मेरे अकेले हाथ से ताली बज रही है। और जिस दिन तुम्हारा हाथ वहाँ

मौजूद हो जाएगा, मैं अपने हाथ को खींच लूंगा। फिर भी एक ही हाथ से ताली बजेगी। फिर कोई जरूरत न रहेगी मेरे हाथ की। फिर तुम स्वयं समर्थ हो गये।

एक हाथ से ताली बजना तो प्रतीक है। वह तो बहुत गहरा प्रतीक है—अनाहत नाद का।

दुनिया में सभी चीजें दो हाथों से बजती हैं, परमात्मा में एक हाथ से बजती है। क्योंकि वहाँ दूसरा कोई नहीं। इस संसार में सभी नाद 'आहत नाद' है। तबला बजाओ, तो ठोंकना पड़े; सितार बजाओ, तो तार खींचने पड़ें। दो की चोट चाहिए। बोलो तो कंठ का संघर्षण चाहिए।

परमात्मा तो अकेला है। वहाँ दूसरा कोई है नहीं। वहाँ गायक और गीत एक हैं। वहाँ मूर्तिकार और मूर्ति एक हैं। वहाँ दूसरा तो है ही नहीं। उस एक को ही हम परमात्मा कहते हैं; लेकिन वह बज रहा है, अनंत काल से बज रहा है। सुनो उसका नाद। उसको ही हमने अनाहत नाद कहा है, जो बिना दो चीजों के संघर्षण से, बिना आहत बजता है—अनाहत। उस नाद को हमने ओंकार नाम दिया है।

मैं तुमसे बोल रहा हूँ। जो मैं कह रहा हूँ, वह तो आहत है। लेकिन जो मैं कहना चाहता हूँ, वह अनाहत है। जो तुम सुन रहे हो, वह तो आहत है, जो तुम्हें सुनना चाहिए, वह अनाहत है। जैसे-जैसे तुम राजी होओगे, तरल होओगे, पिघलोगे, वैसे-वैसे तुम्हें सुनायी पड़ने लगेगा—जो कहा नहीं जा सकता; लेकिन फिर भी बज रहा है। जिसे कोई बजा नहीं रहा है, फिर भी अहर्निश उसकी ही गूंज है।

रोज एक हाथ की ताली बज रही है। जल्दी करो; सदा न बजती रहेगी। तैयार हो जाओ।

अब सूत्र।

'हे अर्जुन, जो कर्ता आसक्ति से रहित और अहंकार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त एवं कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष-शोकादि विकारों से रहित है, वह कर्ता तो सात्त्विक कहा जाता है। और जो आसक्ति से युक्त कर्मों के फल को चाहनेवाला, लोभी, दूसरों को कष्ट देने के स्वभाव वाला, अशुद्धाचारी, हर्ष-शोक से लिपायमान है, वह कर्ता राजस कहा गया है। तथा जो विक्षेप-युक्त चित्तवाला, शिक्षा से रहित, घमंडी, धूर्त और दूसरों की आजीविका का नाशक एवं शोक करने के स्वभाववाला, आलसी और दीर्घसूत्री है, वह कर्ता तामस कहा जाता है।'

तामस से समझें। कृष्ण तो सदा सात्त्विक से शुरू करते हैं। पर अच्छा है—तामस से समझें। क्योंकि वहीं कहीं पास में आप खड़े होंगे। प्रथम से ही समझना ठीक है। 'विक्षेप-युक्त चित्त वाला...।' ऐसा चित्त जो करीब-करीब विक्षिप्त है। तुम क्या करते हो, क्यों करते हो, वह भी साफ नहीं है।





कल एक युवक ने मुझे रात आकर कहा कि 'महीने भर पहले एक लड़की से मिलना हो गया। उससे शादी कर ली। क्यों कर ली, यह भी ठीक पता नहीं है! बस, कर ली। फिर आपके वचनों के संपर्क में आ गया। (दूर केलिफोर्निया से आया है।) संन्यास ले लिया। क्यों ले लिया, पक्का साफ नहीं है। बस, हो गया। अब यहाँ आ गया। अब पत्नी जिससे शादी कर ली और उसके दो बच्चे हैं—पिछले पति से, वह वहाँ परेशान है। वह कहती है: वापस आओ, क्योंकि वह दिक्कत में है। जाना नहीं चाहता। क्यों नहीं जाना चाहता? मालूम नहीं! और यहाँ एक दूसरी स्त्री के प्रेम में पड़ गया हूँ; अब क्या करूँ?

यह विक्षिप्त चित्त है। यह तुम्हारा ही चित्त है। ऐसे ही तो तुम करते रहे हो। कर लेते हो, फँस जाते हो, ढोते हो; क्यों किया था—पहले चरण में—यह भी साफ नहीं।

अंत आता है जीवन का, शुरुआत क्यों की थी—इसका कोई पता नहीं। होश नहीं है, तो ऐसा होगा, तब कोई भी तरंगें तुम्हारे जीवन में आती रहेंगी और तुम्हें बहाती रहेंगी। तुम पागल आदमी की तरह दौड़ते रहोगे, कभी उत्तर, कभी दक्षिण। लेकिन क्यों दौड़ते हो, कहाँ जाना चाहते हो—कुछ साफ नहीं।

तामस चित्त का लक्षण है कि होश नहीं होगा, मूर्च्छा होगी। होश होगा, तो करने के पहले तुम सोचोगे। होश होगा, तो उत्तरदायित्व होगा। तुम सोचोगे, इस स्त्री से विवाह कर रहा हूँ, इन बच्चों का पिता हो जाऊँगा, इनकी चिंता करनी होगी। तैयारी है—भविष्य के बोझ को लेने की? कोई ऐसा कारण है, कोई ऐसा गहन प्रेम है, जिसके कारण फिर यह सारा बोझ लेने से बचने की आकांक्षा पैदा न होगी? तो ठीक है। लेकिन पक्का पता ही नहीं है कि प्रेम भी है या नहीं। एक हवा का झोंका आया और बह गये। जैसे पानी पर कोई लकड़ी का टुकड़ा बहता रहता है, किसी घाट को पहुँचता नहीं। हवा जहाँ पहुँचा देती है, थोड़ा पहुँच जाते हैं। कहीं रुक भी जाते हैं, कही बह भी जाते हैं। कहीं भी अंत हो जाएगा आखिर में।

मैंने एक घटना सुनी है। वास्तविक घटना है। सन १९४६ में एक आदमी—जिसका नाम जेक वर्ग है—समुद्र के तट पर अमेरिका में बैठा है। हारा-थका, जुआंरी है, सब हार चुका है। आत्महत्या की सोच रहा है। ऐसा बैठा-बैठा उठा कर कंकड़ पानी में फेंकने लगा। रेत के घरघूले बनाने लगा। बड़ा बेचैन है, कुछ करने को चाहिए। ऐसा रेत में हाथ डाला तो एक बोतल दबी हुई हाथ में आ गयी। उत्सुकतावश बोतल खींच ली। देखा, तो बोतल बंद है और भीतर एक कागज का टुकड़ा है। खोली, तो कागज कागज के टुकड़े को पढ़कर बड़ी हैरानी में पड़ गया। समझा कि किसी ने मजाक किया है। कागज के टुकड़े में लिखा है कि 'मेरी संपदा के तुम आधे अधिकारी नियुक्त किये

जाते हो। मेरा वकील—इसका पता दिया है—उससे मिलो। बारह करोड़ रुपये मैं छोड़कर मर रही हूँ। उसमें आधे मेरे वकील के होंगे, आधे तुम्हारे।' किसी महिला—अलेक्जेन्ड्रा—के दस्तखत हैं। सोचा कि जरूर किसी ने मजाक किया है। ऐसी ही बोतल डाल दी; बैठा रहा। लेकिन फिर यह भी हुआ कि पता नहीं, इस दुनिया में अघट भी घटता है। हर्ज भी क्या है; फोन करके पूछ लिया जाय, क्योंकि वकील तो लन्दन में है।

फोन किया रात। वकील ने कहा, 'ठीक है, मजाक नहीं है। वह महिला—अलेक्जेन्ड्रा—थोड़ी विक्षिप्त स्वभाव की थी। और जीवन भर उसने ऐसे ही जीया। मरते वक्त जब मैंने उससे पूछा कि तू संपत्ति का क्या करने जा रही है, तो उसने कहा कि जिस तरह मैं जीयी हूँ—पानी में, हवा के झोकों में बहती हुई, ऐसी ही मेरी संपत्ति पानी में बहती हुई किसी को मिलेगी। ऐसे मैं किसी का नाम नहीं लिख जाती। यह बोतल उसने बंद की और थेम्स नदी में डाली—लन्दन में।'

बारह साल लग गये, उस बोतल को पहुँचने—अमेरिका के सागर तट पर पहुँच गयी। एक आदमी को मिल भी गयी। वह आदमी छः करोड़ रुपये की संपत्ति का मालिक भी हो गया! ये जो बारह करोड़ रुपये हैं, ये सिंगर मशीन के जो मालिक हैं, उनकी ही वह वसीयतदार थी महिला। वह तो मर चुकी है। उसे कभी पता भी न चलेगा—रुपये किसको मिले। लेकिन उसने एक अच्छा मजाक किया।

वह जीवन भर भी ऐसे ही जीयी। उसने विवाह भी किया, तो ऐसे ही। वह जाकर एक होटल के बाहर खड़ी हो गयी। करोड़पति महिला थी। उसने कहा: 'जो आदमी होटल से बाहर निकलेगा—पहला आदमी, उससे विवाह का निवेदन करूँगी।' और उसने उसी से विवाह किया। वह आदमी राजी हो गया, क्योंकि इतनी बड़ी करोड़पति महिला! वह एक वेटर था होटल का—जो बाहर निकल रहा था। लेकिन तुम कहोगे, 'यह महिला पागल थी।' लेकिन तुम्हारी जिंदगी में कुछ इससे ज्यादा भिन्न घटनाएँ हैं? अगर गौर से देखोगे तो बहुत भिन्न न पाओगे।

पड़ोस में कोई लड़की रहती है; उसके प्रेम में पड़ गये! कुल कारण इतना है कि पड़ोस में थी। पड़ोस में कोई और भी हो सकता था। कोई वजह नहीं है। स्कूल में गये। पचास स्कूल थे गाँव में। एक स्कूल में भर्ती मिली। वहाँ किसी लड़की के प्रेम में पड़ गये, क्योंकि वह क्लास में थी। इसमें और होटल से निकलने वाले पहले आदमी में तुम कोई बुनियादी गणित का भेद देखते हो? कोई भेद नहीं है।

जीवन करीब-करीब विक्षिप्त है। ऐसे ही चल रहा है; इसको कृष्ण कहते हैं: तामस चित्त। 'विक्षिप्त चित्तवाला, घमंडी (...भयंकर अभिमान-ग्रस्त) अहंकार से भरा हुआ...।' ध्यान रखना, राजस व्यक्ति भी अभिमानी होता है। और तामसी





भी। दोनों में क्या फर्क है?

तामसी व्यक्ति अभिमानी होता है—बिना कारण; और राजस व्यक्ति अभिमानी होता है—सकारण। अगर वह अभिमान करता है, तो उसका कारण है। अभिमान तो दोनों करते हैं। तामसी को कोई कारण भी नहीं है—अभिमान करने का। उस घमंड को हम तामसी कहते हैं—जिसमें कोई कारण भी नहीं।

एक आदमी बहुत बुद्धिमान है—और इसलिए अहंकारी है। समझ में आता है। एक आदमी महाबुद्धू है, फिर भी अहंकारी है और सोचता है कि मैं महाबुद्धिमान हूँ। पहले को हम अहंकार कहते हैं, दूसरे को हम घमंड कहते हैं; घमंड—जिसमें कोई आधार भी नहीं है। आधार भी हो तो थोड़ा क्षम्य है।

धूर्त—वह कभी भरोसा न करेगा—किसी का भी। और किसी को कभी जीवन में मौका न देगा कि कोई उस पर भरोसा कर ले। हर जगह चालबाजी करेगा। असल में वह सोचता है कि चालबाजी से ही सब कुछ उपलब्ध होता है। आलसी है, करने से बचता है, चालबाजी से रास्ता निकालता है।

'...दूसरों की आजीविका का नाशक...।' और उसके जीवन की प्रक्रिया विध्वंसक होगी, डिस्ट्रक्टिव होगी। वह कुछ कर तो न सकेगा, क्योंकि करने में श्रम चाहिए, सातत्य चाहिए, लगन चाहिए, पूरे जीवन को समर्पित करने की क्षमता चाहिए। वह तो उसमें नहीं है। उसमें तो एक क्षण में हवा बदल जाती है, उसका मौसम बदल जाता है, तो जीवन भर किसी चीज में संलग्न होकर उसे सफलता की तरफ ले जाने की संभावना उसकी नहीं है। तो वह कभी क्रिएटिव, सृजनात्मक तो नहीं होगा। लेकिन सृजन की कमी वह विध्वंस से पूरी करेगा। वह चीजों को तोड़ने में मजा लेगा। वह लोगों के जीवन को नष्ट करने में मजा लेगा। उसका रस मिटाना होगा—बनाना नहीं। इसलिए तामसी व्यक्ति कभी भी कुछ सृजन न कर पाएगा। न तो उससे एक गीत बनेगा, न वह मूर्ति बनायेगा। वह मूर्ति तोड़ सकता है।

तुमने सुनी होगी एक घटना—कुछ ही महीनों पहले। रोम के वेटिकन में जीसस की सब से सुंदर मूर्ति एक अमेरिकन ने तोड़ दी। बड़ी हैरानी की बात मालूम पड़ती है। वह मूर्ति इस पृथ्वी पर जीसस की सबसे सुंदर मूर्ति थी; माइकलेन्जलो की सबसे महान कृति थी। अरबों रुपयों में भी उसका मूल्य नहीं आँका जा सकता। माईकलेन्जलो ने अपना सारा प्राण उस मूर्ति में समा दिया था। वह एक मूर्ति बचती और माइकलेन्जलो की सारी कृतियाँ खो जायँ, तो भी माइकलेन्जलो अप्रतिम रहेगा। किसी ने कभी सोचा भी न था कि उस मूर्ति के पास पहरा बिठाने की जरूरत है। कौन पागल उसको तोड़ेगा! और एक अमेरिकन एक हथौड़े को छिपा कर भीतर गया—वेटिकन के चर्च में और जाकर जीसस की मूर्ति पर हाथौड़े से चोट की। इसके पहले कि वह पकड़ा जा सके,

उसने हाथ, सिर कई अंग खण्डित कर दिये।

पूछे जाने पर कि तेरा क्या विरोध है—इस मूर्ति से, उसने कहा, 'अगर माइकलेन्जलो इसको बनाकर प्रसिद्ध हो गया, तो मैं इसको तोड़ कर प्रसिद्ध होना चाहता हूँ।' वह प्रसिद्ध हो गया, इसमें कोई शक नहीं। सदियों-सदियों तक जब तक वह खण्डित मूर्ति रहेगी, इस पागल का नाम भी उससे संयुक्त हो गया।

एक माइकलेन्जलो है, जो वर्षों में बना पाता है और एक आदमी है, जो क्षण में तोड़ देता है। तोड़ने में क्षण लगता है। इसलिए तामसी उसे कर सकता है, क्योंकि उसके पास क्षण की मनोदशाएँ होती हैं। बनाने में वर्षों लगते हैं; वह तामसी नहीं कर सकता। वर्षों तक तो कोई भाव टिकता ही नहीं। मिटाना तो क्षण में हो जाता है, बनाना जो जीवन भर की प्रक्रिया है। इसलिए तामसी को, कृष्ण कहते हैं, वह नाशक है।

'शोक करने के स्वभाव वाला . . .।' उसको शोक की स्थितियों की जरूरत नहीं रहती, उसका स्वभाव शोक करने का है। वह दुःखी रहता है। तुम उसके लिए कोई भी कारण नहीं जुटा सकते, जिससे वह सुखी हो जाय। वह हर जगह दुःख के कारण खोज लेगा। कितनी ही सुंदर स्थिति हो, कितनी ही सुखद स्थिति हो, उसमें वह कुछ न कुछ दुःख के कारण खोज लेगा। वह उसका स्वभाव है।

दुःख में रमे रहना, उसके जीवन की चर्या है, उसका ढंग है। वह उदास रहेगा। उदासी उसकी जीवन शैली है। शिकायतें ही उससे उठेंगी; धन्यवाद उससे कभी नहीं उठ सकते। इसलिए तामसी कभी प्रार्थना नहीं कर सकता।

'. . . आलसी—दीर्घ सूत्री . . .।' हमेशा चीजों को पोस्टपोन करने वाला होगा। दीर्घ-सूत्री अर्थात् जो सोचता है : कल कर लूँगा, परसों कर लूँगा। जो अभी हो सकता है, उसे वह कल पर छोड़ेगा; फिर कल आयेगा, फिर कल पर छोड़ेगा। ऐसे उसका जीवन एक लम्बा पोस्टपोनमेन्ट होगा, स्थगन होगा। वह जीयेगा कभी नहीं। वह सिर्फ जीने की सोचेगा—कभी जीऊँगा। ऐसे उसके जीवन का अवसर खो जाता है। उसके हाथ मौत ही लगती है, जीवन नहीं लग पाता।

जीवन तो उसका है, जो अभी जी ले, यहीं जी ले, इसी क्षण जी ले। जिसने कल पर टाला, उसके हाथ में आखिर मौत की राख लगेगी।

फिर दूसरा है : राजस पुरुष, राजस कर्ता। जो 'आसक्ति से युक्त कर्मों के फल को चाहने वाला . . .।' वह आसक्तिपूर्ण है। कर्मों के फल चाहता है, कर्मों में उसे उत्सुकता नहीं है। वह वर्षों तक कर्म कर सकता है, लेकिन उसकी उत्सुकता कर्म में नहीं है। उसकी उत्सुकता फल में है। वह वर्षों तक संलग्न रह सकता है; आलसी नहीं है। वह एक ही काम को कर सकता है—जीवन भर; फल की आशा भर बनी रहे। तो अपनी पूरी जीवन ऊर्जा को उँडेल देगा। लेकिन लक्ष्य भविष्य में है। कृत्य करना पड़ता है, इसलिए





करेगा। असली बात फल है। आसक्ति उसमें गहन होगी।

'लोभी—तथा दूसरों को कष्ट देने के स्वभाव वाला' होगा। जहाँ भी लोभ है, वहाँ दूसरे को कष्ट देना ही पड़ेगा। क्योंकि लोभ छीनेगा, शोषण करेगा। फर्क समझ लेना।

तामसी स्वभाव वाला व्यक्ति भी नाशक होता है। लेकिन वह नाश में रस लेता है। राजस स्वभाव का व्यक्ति नाश में रस नहीं लेता है। लोभ उसका कारण है। लोभ के लिए नाश करना पड़े, तो वह करता है। लेकिन राजस व्यक्ति अकारण नाश नहीं करेगा।

तामस व्यक्ति अकारण नाश कर देगा। उसका रस ही नाश है। राजस व्यक्ति को कोई लोभ होगा, तो करेगा। जैसे कि कोई राजस व्यक्ति जीसस की मूर्ति को नहीं तोड़ सकता था, जब तक की कोई कहता कि हम तुझे एक करोड़ रुपया देंगे; जा, तू तोड़ दे। तो तोड़ देता। लेकिन ऐसे अकारण नहीं तोड़ता; सिर्फ तोड़ने के लिए नहीं तोड़ता। वह कहता है, 'मैं कोई पागल हूँ! मिलेगा क्या?' वह हमेशा लोभ के कारण जीयेगा।

'अशुद्धाचारी . . .।' क्योंकि जहाँ लोभ है, वहाँ आचरण शुद्ध नहीं हो सकता। लोभ ही तो अशुद्धि है।

'हर्ष-शोक से लियापमान . . .।' तामसी व्यक्ति शोक में लिपायमान होता है। उसको हर्ष घटता ही नहीं। राजसी व्यक्ति को कभी कभी हर्ष की घड़ियाँ आती हैं। शोक तो आता है, लेकिन हर्ष भी आता है। तुम उसे कभी हँसते हुए भी पाओगे। तुम उसे कभी रोते हुए भी पाओगे। लेकिन रोना उसकी शैली नहीं है। अगर वह रोता है, तो सिर्फ इसलिए रोता है कि हँसने की जो चेष्टा कर रहा था, वह सफल नहीं हो पायी। हार कर रोता है। चाहता था हँसना, मजबूरी है, इसलिए रोता है। तामसी व्यक्ति रोना ही चाहता था। तुम उसको हँसा न सकोगे। तुम हँसाने की कोशिश करोगे, तो और जोर से वह रोने लगेगा। रोने में उसका रस है। रोना ही उसका सुख है।

'. . . हर्ष-शोक से लिपायमान कर्ता राजस कहा जाता है।' और फिर सबसे ऊपर सात्त्विक कर्ता है—'जो कर्ता आसक्ति से रहित, अहंकार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त, कार्य के सिद्ध होने, न होने में हर्ष, शोकादि विकारों से रहित है, वह कर्ता सात्त्विक कहा जाता है।' उसकी कोई आसक्ति नहीं है। वह करता है, इसलिए नहीं कि कोई लोभ है, या कि कुछ पाना है। वह करता है—कर्तव्यवश। वह करता है, क्योंकि परमात्मा ने भेजा है। वह करता है, क्योंकि पाता है कि मैं जी रहा हूँ और जीवन कृत्य है। वह पाता है कि मैं जीवन के मध्य में खड़ा हूँ और जीवन में कर्म से हट जाने का कोई उपाय नहीं है; तो कर्म करता है। जो भी कर्तव्य है, वह करता है।

जो भी शास्त्र सम्मत है, करता है। जो भी सद्‌गुरु उपदेशित है, करता है; लेकिन करने में कोई आसक्ति नहीं है। ऐसा नहीं है कि अगर आज मृत्यु आ जाय, तो वह कहेगा, मुझे काम पूरा कर लेने दो। वह कहेगा कि मैं राजी हूँ।

'आसक्ति से रहित, अहंकार के वचन न बोलने वाला . . .।' उसकी कोई अपनी अस्मिता नहीं है। परमात्मा के साथ ही उसका ऐक्य है। वह कहता है : वही अकेला 'मैं' कहने का हकदार है। और कोई 'मैं' कहने का हकदार नहीं है। जो सबका केन्द्र है, वही कह सकता है—मैं। हम तो उसकी परिधि हैं, उसकी वल्लरियाँ हैं, तरंगें हैं, लहरें हैं। सागर कहे 'मैं'—ठीक। लहर कैसे कहे!

'धैर्य . . .।' परम धैर्य तुम उसमें पाओगे। राजसी व्यक्ति में तुम धैर्य न पाओगे।

तामसी में तुम धैर्य पाओगे, लेकिन वह धैर्य नहीं है, आलस्य है। वह धैर्य का धोखा है।

राजसी व्यक्ति सदा जल्दी में होगा। क्योंकि फल पाना है। सात्त्विक व्यक्ति प्रतीक्षा कर सकता है। वह प्रतीक्षा के मधुर आनंद को जानता है। कोई जल्दी नहीं है। जब होगा, तब होगा। वह किसी भी घटना को समय के पहले नहीं करवा लेना चाहता। उसे बेमौसम के फल नहीं चाहिए। जब पकेगा मौसम, जब फल आयेंगे, तब तक वह बैठा प्रतीक्षा कर सकता है। उसकी प्रतीक्षा आलस्य नहीं है, क्योंकि वह श्रम पूरा करेगा। उसका श्रम तनाव नहीं है—राजसी व्यक्ति जैसा। क्योंकि उसके श्रम में प्रतीक्षा है, आतुरता नहीं है।

'उत्साह युक्त . . .।' उसे तुम हमेशा हलका-फुलका, नाचता, उत्साह-युक्त पाओगे। तुम कभी उसे हारा-थका न पाओगे। तुम कभी उसे बेमन न पाओगे। तुम कभी उसे ऐसा न पाओगे, जैसा कि आलसी सदा मिलता है और राजसी कभी कभी मिलता है—उदास, पराजित, सर्वहारा, जैसे सब खो गया। तुम उसे सदा खिला हुआ पाओगे—सुबह के फूल की भाँति। तुम सदा उसे ज्योतिर्मय पाओगे, क्योंकि फल की जिसकी कोई आकांक्षा नहीं, कर्म ही उसे फल हो जाता है। वह जो कर रहा है, वही उसका आनन्द हो जाता है। प्रतिपल जीवन है। वह कभी पोस्टपोन नहीं करता, वह कल के लिए छोड़ता नहीं। आज ही कर लेता है।

सात्त्विक व्यक्ति ऐसे जीता है, जैसे यह आखिरी दिन है। और ऐसे भी जीता है, जैसे जीवन का कभी अंत न होगा।

सात्त्विक व्यक्ति एक विरोधाभास है, एक 'पैरॉडॉक्स' है। वह रोज सुबह उठता है और सोचता है : यह आखिरी दिन है, आज की साँझ आखिरी होगी। इसलिए पूरी तरह जी लूँ, कल तो है नहीं।

कल नहीं है, इसलिए आज को पूरी तरह जीता है। लेकिन आतुरता से नहीं जीता,





जल्दी में नहीं जीता—कि जीवन को आज में ही सिकोड़ लूँ पूरा, क्योंकि कल नहीं है। तब वह इस तरह भी जीता है जैसे अनन्त है काल—कभी अंत न होगा। समय की कोई सीमा न आयेगी। तुम उसके पैरों में गति भी पाओगे और धैर्य भी। तुम उसके कृत्य में उत्साह भी पाओगे, गति भी पाओगे—प्रतीक्षा भी।

सात्त्विक व्यक्ति इस जगत में सबसे बड़ा संगीत है। उसके पार जो हो जाता है—जिसको गुणातीत कृष्ण कहते हैं, वह फिर इस जगत् के पार है। सात्त्विक व्यक्ति इस जगत् की आखिरी ऊँचाई है; तामसिक व्यक्ति आखिरी खाई है—सात्त्विक आखिरी गौरीशंकर। उसके पार भी एक व्यक्तित्व है—जो गुणातीत है—कृष्ण का, बुद्ध का। उनको हम सिर्फ सात्त्विक नहीं कह सकते। वे बचे ही नहीं, उनको सात्त्विक कहने का भी उपाय नहीं।

'. . . धैर्य और उत्साह से युक्त, कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष, शोकादि विकारों से रहित . . .।' उसके लिए हर्ष और शोक दोनों विकार हैं, बीमारियाँ हैं। न तो वह सुख चाहता, न वह दुःख चाहता। तब उसके जीवन में महासुख घटता है। महासुख सुख नहीं है। महासुख दुःख का अभाव नहीं है। महासुख सुख-दुःख से मुक्ति है। तब उसके जीवन में बड़ी शांति होती है—बड़ी निगूढ शांति होती है, जिसको खण्डित करने की कोई भी संभावना नहीं है, क्योंकि न उसे दुःख मिटा सकता, न उसे सुख मिटा सकता।

क्या तुमने कभी यह गौर किया कि सुख भी एक तरह का ज्वर है—जब पकड़ता है, तो थकाता है! सुख भी एक तरह की उत्तेजना है—बेचैन कर जाती है। दुःख तो है ही—बेचैनी, लेकिन सुख भी बेचैनी है। और तुमने यह कभी खयाल किया कि दुःख में तुमने किसी को मरते न देखा होगा। सुख में बहुत लोग मर जाते हैं। अति सुख हो जाय, हृदय ठप्प हो जाता है; अति दुःख में नहीं होता।

तो सुख बड़ी गहन उत्तेजना है, शायद दुःख से भी ज्यादा। शायद दुःख तो हमें इतना मिलता है कि हम उसके लिए राजी हो गए हैं। सुख हमें कभी-कभी मिलता है; ऐसा अनजाना अतिथि कि जब आता है, तो हम इतने उत्तेजित हो जाते हैं कि तोड़ जाता है।

दुनिया में जितने भी हृदय के दौरे पड़ते हैं, वे चालीस और पैंतालीस के बीच अधिकतम—चालीस पैंतालीस की उम्र के बीच, क्योंकि ये ही सफलता के दिन हैं। आदमी चालीस और पैंतालीस के बीच सफल होने के करीब आता है—धंधे में, पद में, प्रतिष्ठा में। ये दिन हैं सफलता के। इनमें जो चूक गया, फिर बहुत मुश्किल है। पैंतालीस तक भी जो संसार में कुछ न पा सका फिर वह न पा सकेगा क्योंकि अब शक्ति के दिन गए, खोज के दिन गए, लड़ने के दिन गए। पैंतालीस और चालीस के पहले बहुत

कम लोग पा सकते हैं; वे ही लोग पा सकते हैं, जिनको वंश-परम्परागत सुविधा मिली हो। जिसे अपने ही पैरों से खड़ा होना हो, वह चालीस और पैंतालीस के बीच सफल होता है, वहीं हार्ट अटैक, वहीं हृदय के दौरे, वहीं हार्ट फैल्योर, वहीं हृदय का बंद होना भी घटता है। अमेरिका में ऐसा मजाक है कि जिस आदमी को पैंतालीस साल की उम्र तक हृदय का दौरा न पड़ा, उसका जीवन बेकार ही गया; बेकार ही गया, क्योंकि वह असफल आदमी है। सफलता आती है, तो हृदय का दौरा भी आता है!

तो अब की बार जब तुम्हारे जीवन में सुख आये, तो जरा गौर करना कि सुख भी कैसी बेचैनी की अवस्था है! कैसा चित्त उद्विग्न होता है! सात्त्विक व्यक्ति जान लेता है कि दुःख तो बेचैनी है ही, सुख भी बेचैनी है।

और सात्त्विक व्यक्ति यह भी जान लेता है कि सुख दुःख दो नहीं हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो सुख है, वही दुःख हो जाता है। अगर सुख ज्यादा देर रुक जाय, तो दुःख हो जाता है। अगर दुःख भी ज्यादा देर रुक जाय, तो उसका दुःख मिट जाता है, वह भी सुख जैसा लगता है। वे अलग-अलग नहीं हैं, वे एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। वह दोनों को छोड़ देता है।

न तो उसे कार्य के सिद्ध होने पर हर्ष होता, न शोक होता। हारने पर रोता नहीं, जीतने पर हँसता नहीं। क्योंकि अब न हार अपनी है, न जीत अपनी है। हारे—तो परमात्मा; जीते—तो परमात्मा। जो उसकी मरजी। सात्त्विक व्यक्ति तो सिर्फ निमित्त हो रहता है।



## समझ और सिद्धि • अभीप्सा और शास्त्र • भोग का अतिक्रमण पुनरुक्ति की चोट • अहंकार के खेल तीन प्रकार की बुद्धि

### नौवाँ प्रवचन

प्रातःकाल, दिनांक २६ जुलाई, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥



तथा हे अर्जुन, तू बुद्धि का और धृति अर्थात् धारणाशक्ति का भी गुणों के कारण तीन प्रकार का भेद सम्पूर्णता से विभागपूर्वक मेरे से कहा हुआ सुन।

हे पार्थ, प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को एवं भय और अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को जो बुद्धि तत्त्व से जानती है, वह बुद्धि तो सात्त्विकी है।

और हे पार्थ, जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को भी यथार्थ नहीं जानता है, वह बुद्धि राजसी है।

और हे अर्जुन, जो तमोगुण से आवृत हुई बुद्धि अधर्म को धर्म ऐसा मानती है तथा और भी सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत ही मानती है, वह बुद्धि तामसी है।

**पहले कुछ प्रश्न।**

● पहला प्रश्न : आप निरंतर एक हाथ से ताली बजा रहे हैं और हम नहीं सुन रहे हैं, यह हम समझे। लेकिन हमारी ताली एक हाथ से कैसे बजेगी?

समझे नहीं। क्योंकि मेरी एक हाथ की ताली समझ में आ जाय, तो एक हाथ से ताली बजाने की कला भी समझ में आ गयी। उसे फिर अलग से समझना न होगा। अगर उसे भी अलग से समझने की गुंजाइश बाकी रही, तो यही समझना कि अभी समझे ही नहीं।

आदमी का अहंकार मानने की जल्दी में होता है कि 'हम समझ गये' और वहीं सारी भूलें हो जाती हैं।

समझने के मामले में जल्दी करना ही मत। समझ को तो जितना कस सको, कसना। सौ में से निन्यानबे मौके पर तो तुम अपनी समझ को कच्ची पाओगे। वह ऐसे ही होगी, जैसे कुम्हार ने कच्चा घड़ा बनाया हो। वह घड़े जैसा दिखाई पड़ता है, अभी पका नहीं, अभी घड़ा बना नहीं। इस कच्चे घड़े में पानी मत भर लेना अन्यथा मिट्टी बिखर जाएगी। इसे अग्नि से गुजरना होगा, तब यह पकेगा। तब तुम मजे से पानी भरना। तब यह घड़ा बिखरेगा नहीं, टूटेगा नहीं।

सुनकर ऐसा लगता है : समझ गये। काश, इतना आसान होता। मैं बोलता, तुम समझते और समझ घट जाती।

बौद्धिक समझ, समझ है ही नहीं; समझ का धोखा है।

मेरे शब्द तुम्हारी समझ में आ जाते हैं। मेरी भाषा तुम्हारी समझ में आ जाती है। मेरा तर्क तुम्हारी समझ में आ जाता है। इससे समझ थोड़े ही पैदा हो जाती है। इससे तो समझ की पूर्वभूमिका भी बन जाय तो धन्यभागी हो। इससे तो कच्चा घड़ा भी बन जाय, तो भी धन्यभागी हो, क्योंकि फिर कच्चे घड़े को पकाया जा सकता है अग्नि में। लेकिन कच्चे घड़े का आकार पक्के घड़े जैसा ही होता है। धोखे में मत पड़

जाना। उससे तुम जीवन के अमृत को न भर पाओगे। वह समझ व्यर्थ सिद्ध होगी।

और इसलिए एक बड़े मजे की घटना घटेगी। तुम्हें लगेगा भी कि तुम समझे; और फिर जो तुम सवाल उठाओगे उनसे पता चलेगा कि तुम कुछ भी नहीं समझे। पहली पंक्ति में कहोगे : 'समझ गये', दूसरी पंक्ति में समझ का खण्डन करोगे। तुम्हारे वक्तव्य सूचना दे देंगे।

समझ का धोखा तुम्हें हो भला, तुम्हारी समझ के धोखे से तुम मुझे धोखे में नहीं डाल सकते। अगर समझ हो, तो प्रश्न शांत हो जायें।

अगर तुम्हें यह समझ में आ गया कि मेरी एक हाथ की ताली बज रही है, तो इसी में तो सारी बात समझ में आ गयी। फिर तुम्हें यह भी समझ में आ गया कि कैसे एक हाथ की ताली बजती है। फिर क्या तुम पूछोगे : 'कैसे ?'

मेरी एक हाथ की ताली के बजने में और तुम्हारी एक हाथ की ताली के बजने में क्या कोई वैज्ञानिक भेद होगा, कोई विधि का भेद होगा ? हाथ तो हाथ हैं। अगर समझ में आ गया, तो आ गया; ताली बजने ही लगी। फिर कुछ करने को बाकी न रहा। अगर जरा-सा भी करने को बाकी रह जाय, तो समझना कि समझ पूरी नहीं है। उस समझ की कमी को तुम कुछ करके पूरा करना चाहते हो। इसलिए तत्क्षण 'कैसे करें' यह सवाल उठता है।

'कैसे करें'—हमेशा ना-समझी का सवाल है। समझदार ने यह कभी पूछा ही नहीं है। क्योंकि समझ सब कर देती है, कुछ और करने को बाकी नहीं रह जाता।

आध्यात्मिक जीवन में समझ लेना, हो जाना है। वहाँ समझ सिद्धि है; वहाँ समझ और सिद्धि के बीच कोई रास्ता नहीं है—जिसको पार करना है। कोई विधि नहीं है, जिससे चलना है; कोई सेतु नहीं बनाना है; कहीं जाना नहीं है। समझ के क्षण में तुम पाते हो : तुम वहीं हो, जहाँ तुम जाना चाहते थे।

कुछ होना नहीं है। समझ के क्षण में आविष्कार होता है कि तुम वही हो, जो तुम होना चाहते थे।

कोई मंजिल नहीं है। तुम जहाँ खड़े हो, वहीं मंजिल है। और तुममें कोई कमी नहीं है, तुम अपूर्ण नहीं हो। समझ के क्षण में 'अहं ब्रह्मास्मि' का उद्घोष तुम्हारे भीतर गूँजने लगता है। तुम्हारा रोआँ-रोआँ कहने लगता है : 'अनलहक—मैं वही हूँ। मैं सत्य हूँ।' और इस उद्घोष में 'मैं' नहीं होता; इस उद्घोष में सत्य ही होता है। फिर कहाँ जाना ? क्या खोजना ? क्या पाना ? वह सब नासमझी की ही दौड़ थी। होश आ गया, दौड़ मिट गयी।

समझ लेना ठीक से। मंजिल दौड़ने से नहीं मिलती। दौड़ के मिटने से मिलती है। मंजिल पूछने से नहीं मिलती, पूछने के गिरने से मिलती है।





उत्तर तुम्हारे पास है, तुम उत्तर हो। तो जब तुम पूछते हो कि 'आप निरंतर एक हाथ से ताली बजा रहे है और हम नहीं सुन रहे हैं, यह हम समझे।' यह तुम समझे नहीं। अगर समझ गये, तो सुनो। फिर पूछने को कुछ रह न जाएगा। सुनने में ही घट जाएगी घटना।

इधर मैं बोलूँगा, उधर तुम सुनोगे। इधर बोलनेवाला कोई भी नहीं है, उधर सुननेवाला कोई न होगा, घटना घट जाएगी।

सुनने के क्षण में तुम थोड़े ही रहोगे। अगर तुम रहे तो कैसे सुनोगे ! तुम बिलकुल मिट जाओगे, तुम होओगे ही नहीं। तुम एक खाली, रिक्त मंदिर रह जाओगे, जिसमें मेरी आवाज़ गूँजेगी। उस सुनने में ही एक हाथ की ताली बजने लगेगी। उस सुनने में ही तुम पाओगे : जिसे हम बाहर खोजते थे, वह भीतर मौजूद है।

लेकिन तुम्हारा हर प्रश्न बताता है कि तुम कुछ कच्ची समझ को असली समझ समझ लेते हो। मैं तुम्हारी मजबूरी भी समझता हूँ। तुम बौद्धिक रूप से समझ लेते हो।

इस संसार में सभी चीजें बौद्धिक रूप से समझी जा सकती हैं, सिर्फ स्वयं को नहीं समझा जा सकता। स्वयं को बौद्धिक रूप से समझना तो ऐसा है, जैसे अपनी ही आँख से उसी आँख को देखने की कोशिश; अपने ही हाथ से उसी हाथ को पकड़ने की कोशिश !

इस मेरे हाथ से मैं सब कुछ पकड़ लेता हूँ, दुनिया की हर चीज पकड़ सकता हूँ। दूर के चाँद-तारे भी दूर नहीं हैं, वे भी पकड़े जा सकते हैं। लेकिन इस हाथ से मैं एक चीज कभी नहीं पकड़ सकता, वह यही हाथ है। जो इतने निकट है, जो इसमें ही छिपा है—उसे नहीं पकड़ सकता।

तुम्हारी समझ सब समझ सकती है, स्वयं के होने को नहीं। उसे समझने को तो 'समझ' के भी पार जाना पड़ता है। तभी असली समझ—पक्की समझ पैदा होती है।

तुम्हारे प्रश्न तत्क्षण बता देते हैं कि तुम्हारी अड़चन, तुम्हारी उलझन क्या है। तुम शब्द को समझ लेते हो। शब्द को समझ कर लगता है : बात समाप्त हो गयी। अब और क्या समझने को बचा ! अब कुछ करने को बचा। अब बतायें कि हम क्या करें, विधि बतायें।

विधि कोई भी नहीं है। और विधि से जो पाया जा सके, वह तुम्हारा स्वभाव न होगा। मार्ग से जहाँ तुम पहुँचोगे, वह तुम्हारी आत्मा न होगी। वह तुमसे बाहर होगी—कोई चीज।

तुम्हारी खोज तो तुम्हारे भीतर छिपी है। जिसे तुम खोजते हो, वह तुम्हीं हो। वह खोजनेवाला ही है। इसी हाथ से इसी हाथ को कैसे पकड़ोगे : अगर यह समझ में आ गया, तो क्या तुम रोओगे; पूछोगे कि अब इस हाथ को कैसे पकड़ें ? तब तुम जानोगे कि यह हाथ पकड़ा ही हुआ है, इसे पकड़ने की जरूरत ही नहीं है। यह बिना पकड़े ही

मेरे साथ चलता है। इसे मैं भूल भी जाऊँ, तो भी यह छूट नहीं जाता कहीं। यह कोई छाता थोड़े ही है कि कहीं भूल आये! यह कोई जूता थोड़े ही है कि कहीं भूल आये, तो याद रखना पड़े। याद रखो, न रखो—यह तुम्हारे साथ है। यह पकड़ा ही हुआ है। और हाथ भी कहीं छूट जाय, क्योंकि वह बाहर का हिस्सा है, तुम्हारी आत्मा कहाँ छूटेगी? तुम भटको संसारों में—अनंत काल तक, तुम अपनी आत्मा को कहीं भूल थोड़े ही आओगे। यह कैसे घट सकता है! आत्मा ही भूल जाएगी तो तुम कहाँ बचोगे! आत्मा का सिर्फ विस्मरण हो सकता है। उसे तुम खो नहीं सकते।

मुझसे जब लोग पूछते हैं कि 'हम आत्मा को खोजना चाहते हैं', तो मैं उनसे यह पूछता हूँ कि पहले तुम मुझे एक बात बता दो, ताकि बात पहले से ही उलझे ना। तुमने आत्मा खोई कहाँ? खोया हो तो खोजा जा सकता है। खोया ही न हो, तो यह सारा प्रयास ऐसा है: जैसा उस आदमी को जगाना, जो सोया ही न हो। लाख उपाय करो, तुम जगा न पाओगे। सोये को जगाया जा सकता है। जागे को कैसे जगाओगे? खोया हो तो खोजा जा सकता है, लेकिन तुमने खोया कहाँ है?

स्वभाव का अर्थ होता है, जो खोया न जा सके। सारे पाप, सारे कर्म, तुम्हारे ऊपर से गिरते हैं और गुजर जाते हैं। तुम अछूते, निष्कलुष, निर्दोष पीछे शेष रह जाते हो। वहाँ कोई रेखा भी नहीं खिंचती। आकाश में बादल आते हैं, बिजलियाँ कौंधती हैं, तूफान उठते हैं, चले जाते हैं। आकाश निर्दोष, निर्विकार—जैसा था पहले, वैसा ही रह जाता है। कोई काले बादल काली रेखाएँ नहीं छोड़ जाते, न आकाश को गंदा कर जाते हैं। ऐसे ही तुम हो।

तुम्हें गंदा करने का उपाय नहीं। तुम्हें विकृत करने का उपाय नहीं। तुम पर कोई रेखा खींची नहीं जा सकती। तुम लाख-लाख उपाय कर लिये हो, फिर भी तुम्हारा ब्रह्म वैसा का वैसा है।

पाने को कुछ भी नहीं है, सिर्फ थोड़ा जागना है; आँख खोलनी है।

यह तो पूछो ही मत कि 'कैसे हमारी एक हाथ की ताली बजेगी', वह बज ही रही है। तुम जरा कान बंद किये बैठे हो, कानों को खोलो। तुम्हारे भीतर अनाहत का नाद हो ही रहा है। कोई उस नाद को करना थोड़े ही पड़ेगा। और जो नाद किया जा सके, वह अनाहत न होगा।

अनाहत का अर्थ ही यह है कि जो अपने आप हो रहा है, जिसे करने की जरूरत नहीं। क्योंकि जिसे तुम करोगे, वह फिर सदा नहीं हो सकता। थकोगे; बंद भी करना पड़ेगा।

अगर श्वास 'तुम' ले रहे होते, तो तुम कभी के मर गये होते। भूल जाते; दुकानदारी में उलझ गये और श्वास लेना भूल गये! लाटरी जीत गये और घड़ी भर को होश





खो गया; श्वास लेना भूल गये। रात सो गये और श्वास लेना भूल गये। शराब पी ली और श्वास लेना भूल गये। कभी के मर चुके होते। सच तो यह है कि तुम जिन्दा ही नहीं रह सकते थे। लेकिन श्वास लेना तुम पर निर्भर ही नहीं है। बस, तुम ले रहे हो। तुम कुछ भी करते रहो, श्वास चली जा रही है—अपने-आप चली जा रही है।

पर श्वास भी बाहर है। उससे भी भीतर जो है, वह तुम्हारा स्वभाव है। उसको तो तुम छोड़ ही नहीं सकते, वह तुम ही हो। वह तुम्हारा सारभूत है। वह तुम्हारा तात्त्विक अर्थ है, वह तुम्हारा तात्त्विक अस्तित्व है, वह तुम्हारी सत्ता है। वह बज रहा है। तुम जरा बाहर के शोरगुल से हटा लो अपने को, आँख बंद करो, भीतर के शोरगुल को भी थोड़ा शांत हो जाने दो; अचानक तुम पाओगे: अहर्निश बज रही थी जो धुन, अब तक न सुनी!

कबीर कहते हैं, 'अनहद बाजत बाँसुरी।' सदा से बज रही थी, बिना हद के बज रही थी, बिना किसी सीमा के बज रही थी और सुनी न!

सुनने में कमी हो रही है, बजने में जरा भी कमी नहीं है। इसलिए सत्संग को इतना मूल्य दिया है कि शायद गुरु को सुनते—सुनते—सुनते लौ लग जाय। क्योंकि गुरु वहीं से बोल रहा है, जहाँ अनहद बाँसुरी बज रही है। वहीं से बोल रहा है, जहाँ शाश्वत का स्वर गूँज रहा है। उसके शब्द वहीं से नहाये हुए आ रहे हैं, उसी शून्य से भरे आ रहे हैं, उसी सुगंध के लोक से आ रहे हैं। थोड़ी-सी गंध उनमें भी चिपटी चली आती है। जैसे बगीचे से गुजरो, तो घर जाकर वस्त्रों में भी थोड़ी गंध मालूम पड़ती है। थोड़ी लग गयी।

शब्द ला नहीं सकता सत्य को, लेकिन अगर सत्य के पास से निकल भी जाय, तो सत्य की थोड़ी-सी सुवास ले आता है। अगर उस सुवास में तुम्हारा मन लग गया—अगर तुमने मुझे सुना और समझा, अगर उस समझने में तुम शांत और चुप हो गये, मौन हो गये; धुन बँध गयी, जिसको कबीर कहते हैं, 'तारी' लग गयी; तो तुम मुझे सुनते-सुनते अचानक एक क्रांति घटित होती पाओगे। मुझे सुनते—सुनते—सुनते किसी क्षण अचानक तुम्हें भीतर की बाँसुरी—जो सदा से बज रही है—सुनाई पड़ने लगेगी। उसके लिए कुछ और करना नहीं है।

यह तो पूछो ही मत कि वह एक हाथ से कैसे बजेगी और इस भ्रांति में मत पड़ो कि मैंने जो तुम्हें कहा है, तुम समझ गये। समझ लेते, बज ही जाती। बज ही रही थी, तुम सुन लेते। समझे नहीं, तो पूछते हो: 'कैसे'।

सारी विधियाँ अज्ञान से पैदा होती हैं। ज्ञान की कोई भी विधि नहीं है। ज्ञानी पुरुषों ने विधियाँ बतायीं हैं, तुम पर दया करके। समझौता किया है। अन्यथा कोई विधि नहीं है, कोई मार्ग नहीं है।

●दूसरा प्रश्न : अपने कहा है कि ऐसा हो ही नहीं सकता कि अभीप्सा हो और सद्‌गुरु न हों—कृष्ण न हों। फिर ये शास्त्र, यह गीता किनके लिए है?

जिनके भीतर अभीप्सा है, उनके लिए तो शास्त्र का कोई भी मूल्य नहीं है; वे तो सद्‌गुरु को खोज लेंगे। उनको शास्त्र तृप्त न कर पाएगा।

जिनके पास गहरी प्यास है, जल के ऊपर लिखी गयी किताब उन्हें तृप्त न कर पाएगी; उन्हें सरोवर चाहिए। कोई कितना ही समझाये कि एच-टू-ओ—इसमें सारे पानी का शास्त्र लिखा है। बस, पानी कुछ और नहीं है। उदजन दो भाग, ऑक्सीजन एक भाग, बस, इन दो के मिलन से जल पैदा हो जाता है। तो कागज पर कोई लिख कर भी दे दे : एच-टू-ओ—(इसमें जल की सारी परिभाषा, सारा शास्त्र आ जाता है।) तो भी तुम कहोगे : 'ठीक होगा; लेकिन इसको अगर मैं गले में ले जाऊँगा, तो प्यास न बुझेगी। और हो सकता है, गला रुँध जाय, प्राणों की आ बने, उलझन हो जाय। वैसे ही गला सूख रहा है और यह कागज और अटक जाय गले में!'

जिसकी प्यास सच्ची है, शास्त्र उसे तृप्त न करेगा; वह सद्‌गुरु की खोज में निकल जाएगा। अगर शास्त्र में से गुजरेगा भी, तो शास्त्र इसे सद्‌गुरु की खोज की तरफ ही भेजेगा। सभी शास्त्र भेजते हैं। इसलिए शास्त्र सद्‌गुरु की प्रशंसाओं के गीतों से भरे हैं।

अगर वह शास्त्र को पढ़ेगा भी तो शास्त्र स्वयं उसे अपने से पार जाने का इशारा करता है। सभी शास्त्रों के ऊपर वैसे ही निशान लगे हैं, जैसे मील के पत्थर पर लगे होते हैं। तीर बना होता है : 'और आगे'।

मील का पत्थर सिर्फ आगे भेजता है। शास्त्र सद्‌गुरु की तरफ भेजते हैं। शास्त्र पुराने सद्‌गुरुओं के वचन हैं और पुराने सद्‌गुरुओं ने उन वचनों में वे सारे सूत्र रख दिये हैं, जिनसे तुम पुनः पुनः सद्‌गुरु को खोज लो।

शास्त्र तो नक्शे हैं। उनकी खोज सद्‌गुरु की ही खोज है।

कृष्ण की गीता का इतना ही मूल्य है कि तुम फिर-फिर कृष्ण को खोज लो। लेकिन जिनकी प्यास अधूरी है, वे अटक सकते हैं शास्त्र में या जिनकी प्यास झूठी है, वे अटक सकते हैं शास्त्र में। उन्हें सिद्धांत ही तृप्त करता मालूम हो सकता है। शास्त्र खतरनाक भी हैं।

शास्त्र सार्थक भी हैं, खतरनाक भी हैं। सार्थक उनके लिए हैं, जिनकी प्यास प्रगाढ़ हो। मील का पत्थर उन्हें इशारा देगा, उनके पैरों को बल देगा, कहेगा : घबड़ाओ मत, इतनी यात्रा तो हो गयी, थोड़ी और बाकी है। थोड़ा और चलना है, मंजिल पास है। हर मील का पत्थर करीब ला रहा है मंजिल को, तो यह भरोसा देगा, आश्वासन देगा, बल देगा, चलने की हिम्मत देगा, चुनौती देगा। इतने चल लिये, इतने पहुँच





गये, मंजिल और करीब हुई जा रही है। इससे तुम थकोगे न, हताशा से न भरोगे।

लेकिन मील का पत्थर नासमझों के लिए खतरनाक भी हो सकता है। मील के पत्थर पर लिखा देखकर कि 'दिल्ली' लिखा है, उसको छाती से लगा कर बैठ जायँ—कि आ गयी दिल्ली। उस तीर को देखें ही न, जो आगे की तरफ जा रहा है। तो शास्त्र छाती पर रखे पत्थर हो जाएँगे।

तो सद्‌गुरु की खोज अगर शास्त्र दे दे, तो तुमने उसका उपयोग कर लिया। और अगर शास्त्र ही सद्‌गुरु बन जाय, तो तुम पत्थर के नीचे दब गये। तुम पर निर्भर है।

समझदार विष को भी अमृत बना लेता है; नासमझ अमृत का भी विष कर लेता है। समझदार जहर में से भी औषधि खोज लेता है। नासमझ औषधियों से भी आत्म-हत्या कर लेता है। दोनों तरह के लोग हैं।

शास्त्र का कोई कसूर नहीं है। शास्त्र तो तलवार है; तुम चाहो तो किसी की हत्या कर दो; चाहो, अपनी हत्या कर लो; चाहे किसी की होती हत्या को रोक दो, बचा लो। किसी की सुरक्षा कर लो। तलवार तो तटस्थ शक्ति है। शास्त्र एक शक्ति है।

शास्त्र शब्द बड़ा अच्छा है; वह शस्त्र के बहुत करीब है; शस्त्र की भाँति है। चाहो—सुरक्षा कर लो; चाहो—आत्मघात कर लो। चाहे किसी पर जबरदस्ती कर दो और चाहे किसी पर होती जबरदस्ती को बचा दो, रोक लो।

शस्त्र स्वतंत्रता भी बन सकता है और शस्त्र किसी की परतंत्रता भी बन सकता है। अगर ना-समझ हो, तो अपने ही हाथ का शस्त्र अपने को ही चोट पहुँचा देगा। अगर समझदार हो, तो वही शस्त्र तुम्हारा कवच बन जाएगा। दुनिया का कोई शस्त्र तुम्हें चोट न पहुँचा पायेगा। अंततः तुम्हारी ही समझ काम आती है।

ऐसा निश्चित ही नहीं हो सकता कि अभीप्सा हो और सद्‌गुरु न हों। ऐसा होता ही नहीं। जीवन का गणित ऐसा नहीं है। प्यास है, तो पानी होगा। भूख है, तो भोजन होगा। अन्यथा हो ही नहीं सकता।

यह जगत् एक बहुत संयोजित व्यवस्था है, एक संगीतपूर्ण लयबद्ध व्यवस्था है। इसमें ऐसा नहीं होता कि एक चीज हो और अधर में लटकी हो। तब तो जगत् एक अराजकता हो जाएगा। अगर तुम्हारे हृदय में प्रेम है, तो तुम्हें कोई न कोई प्रेम-पात्र मिल जाएगा। अगर प्रेम पात्र होते ही न, तो प्रेम की आकांक्षा भी न उठती।

वस्तुतः जो जानते हैं, वे कहते हैं : 'इसके पहले परमात्मा प्रेम की आकांक्षा उठाये, उसने प्रेम पात्र बना दिये हैं। इसके पहले कि प्यास उठे, सरोवर तैयार है। इसके पहले कि भूख लगे, वृक्षों में फल लगे हैं।

अराजकता नहीं है अस्तित्व। अस्तित्व एक लयबद्ध काव्य है। उसमें कोई भी चीज अधर में नहीं लटकी है। प्रत्येक चीज की पूर्ति का उपाय है। जरा खोजने की बात

है; जरा गतिमान होने की बात है; और तुम जो भी चाहते हो, वह तुम पा लोगे।

अगर तुम्हारी सौंदर्य की खोज है, तो जगत् में सौंदर्य के खजाने हैं। अगर तुम्हारी सत्य की खोज है, तो हर पत्थर के नीचे सत्य दबा है। अगर तुम सद्गुरु की खोज में निकले हो, तो ज्यादा देर न लगेगी कि तुम उस द्वार पर पहुँच जाओगे—पहुँचा दिये जाओगे।

वस्तुतः इसके पहले कि तुम्हारे भीतर सद्गुरु की प्यास उठे, सद्गुरु मौजूद होता है। नहीं तो जगत् एक बेबूझ उलझन होती। लोग चिल्लाते—और चीखते—और प्यासे होते—और पानी न होता। तो एक बात ध्यान रखना कि जगत् में कमी नहीं है और अगर तुम्हें कमी लग रही है तो तुमने खोजा नहीं। तुम उठे नहीं, तुमने आँख नहीं खोली है।

तुम जिस क्षण तैयार होओगे, जिस क्षण तुम्हारी प्यास पक जाएगी और ठीक मौसम आ जाएगा, घड़ी आ जाएगी, उसी क्षण तुम पाओगे कि सद्गुरु का हाथ तुम्हारे सिर पर है।

और शास्त्रों का एक ही उपयोग है। वे पुराने सद्गुरुओं के छोड़े हुए चिह्न हैं। वे पुराने सद्गुरुओं द्वारा छोड़े गये इशारे हैं, ताकि तुम सदा नये सद्गुरुओं को खोज लो, क्योंकि सद्गुरु तो एक ही है, कृष्ण हों कि क्राइस्ट, मोहम्मद हों कि महावीर, कोई फर्क नहीं पड़ता। सद्गुरु की घटना तो एक ही है। वह जो भीतर का जलता हुआ दीया है, वह महावीर में जले कि मोहम्मद में, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। वह दीया एक है, वह उसी परमात्मा का है। हजार हों दीये, रोशनी एक ही है।

तो सभी पुराने सद्गुरु आनेवाले शिष्यों की खोज के लिए शास्त्र छोड़ गये हैं।

तुम अगर मुझे प्रेम करते हो, तो मैं हटते ही तुम्हारे लिए वह व्यवस्था छोड़ जाऊँगा, कि तुममें अगर थोड़ी-सी भी समझ हो, तो तुम उसके आधार पर नये सद्गुरुओं को, जीवित सद्गुरुओं को खोज लोगे। अगर तुम मूढ़ हुए, तो मुझसे बँधे रह जाओगे। अगर समझदार हुए, तो तुम नये सद्गुरु को खोज लोगे। और तुम उस सद्गुरु में मुझको ही पाओगे।

अगर तुम मुझसे बँधे रहे, तो तुम मुझसे चूक जाओगे। इसलिए जो आज महावीर से बँधा है, वह महावीर से चूक रहा है। जो आज कृष्ण से बँधा है, वह कृष्ण से चूक रहा है। यह बड़ी अजीब-सी अवस्था है। बँधे हुए—चूक जाते हैं!

अगर तुमने सच में ही कृष्ण को प्रेम किया है, तो तुम फिर कृष्ण को खोज लोगे। तुम किताब से कैसे राजी होओगे! जीवन चाहोगे, जीवंतता चाहोगे। फिर तुम्हारे लिए कृष्ण आविर्भूत हो जाएँगे—किसी व्यक्ति में। नाम अलग होगा, रूप अलग होगा, लेकिन अगर तुम्हारे पास आँखें हैं, तो तुम भीतर उस अरूप को, अनाम को खोज ही लोगे।





शास्त्र तुम्हारे लिए इशारे हैं कि तुम नये गुरु को खोज लो। और शास्त्र इस बात के भी इशारे हैं कि तुम पुराने गुरु से कैसे मुक्त हो जाओ। शास्त्र का भी अपना शास्त्र है, अपनी व्यवस्था है। वे पद-चिह्न हैं। उनकी दिशाओं का अगर तुम ठीक उपयोग कर लो, तो तुम बहुत कुछ पा सकते हो। नये को खोज लोगे, पुराने से मुक्त हो जाओगे और यही मार्ग है—पुराने के साथ जुड़े रहने का। यही मार्ग है—सदा-सदा नये में उतर जाने का, ताकि कृष्ण से तुम्हारा संबंध न छूट जाय। अन्यथा लाश से संबंध रह जाएगा, जीवन से संबंध छूट जाएगा। तुम दीये की पूजा करते रहोगे—जिसकी ज्योति जा चुकी और ज्योति दूसरे दीयों में जलेगी और तुम वहाँ पीठ किये रहोगे।

दीये की पूजा थोड़े ही होती है, पूजा तो ज्योति की है। जब तुम्हारा दीया बुझ जाय, तब तुम यह आग्रह मत करना कि मैं तो 'इसी' दीये की पूजा करूँगा। तब तुम भूल ही गये कि तुम ज्योति की पूजा करने आये थे, दीये की पूजा करने नहीं। दीये की भी पूजा हो गयी थी—ज्योति के सहारे, लेकिन जब ज्योति ही जा चुकी तो अब दीया कितना ही बहुमूल्य हो, हीरे-जवाहरात जड़े हों, सोने का हो, क्या करोगे। और अगर दीया होशियार था, (होना ही चाहिए अन्यथा उसमें ज्योति न होगी) तो वह तुम्हारे लिए इशारे छोड़ गया, ताकि तुम पुनः पुनः फिर ज्योति का आविष्कार कर लो। कहीं भी जले, कैसे भी दीये में जले, उसका रूप-रंग अलग होगा, मिट्टी अलग होगी, दीया सोने का होगा, धातु का होगा, कैसा बना होगा, कहा नहीं जा सकता, लेकिन ज्योति तो वही होगी।

शास्त्र ज्योति को पहचानने की तरकीबें हैं। बहुमूल्य हैं। लेकिन अगर प्यास हो, तो ही तुम उनका उपयोग कर पाओगे और अगर प्यास न हो, तो वे छाती के पत्थर हो जाएँगे।

अनेक तो शास्त्रों में दब कर मर जाते हैं। बहुत कम लोग शास्त्रों का उपयोग कर पाते हैं।

लोग मुझको पूछते हैं कि 'आप क्यों गीता की व्याख्या कर रहे हैं।' इसीलिए कर रहा हूँ, ताकि तुम कृष्ण से मुक्त हो जाओ, ताकि तुम नये कृष्ण को खोज लो।

अब यह बड़ी उलटी बात है। पर अगर तुम समझोगे तो बात बिलकुल साफ-साफ है, जरा भी कुछ उलझन नहीं है।

तुम्हें गीता समझा रहा हूँ, ताकि गीता में कृष्ण जो छोड़ गये हैं सूत्र, वे तुम्हारे ख्याल में आ जायँ। और तुम गीता को छाती पर न ढोते रहो। उसका तीर तुम्हें दिख जाय कि आगे जाना है, जीवंत को खोजना है।

जीवंत की ही पूजा करना, मृत को मत पूजना। क्योंकि जीवंत में ही तुम पुनः पुनः उसे खोज लोगे, जिसे तुम मृत में पूजते थे और कभी न पा सकते थे।

● तीसरा प्रश्न : आपने कहा कि सफल होकर त्याग करना ही त्याग है। लेकिन संसार में सफल होने के लिए पाप और बेईमानी से गुजरना जरूरी है। तो क्या पाप और बेईमानी से गुजरना त्याग के लिए अनिवार्य है ?

अँधेरे से गुजरे बिना तुम्हारे मन में प्यास ही पैदा न होगी प्रकाश की। और पाप से गुजरे बिना तुम पुण्य की आकांक्षा न करोगे। महादुःख से गुजर कर ही आनंद की अभीप्सा जगती है। संसार के रास्तों पर—कंटकाकीर्ण रास्तों पर, खाई-खड्डों में गिर-गिर कर लहू-लुहान होकर ही तुम्हारे मन में उस मंजिल की आकांक्षा का सूत्रपात होता है, जहाँ पहुँच कर सभी यात्रा समाप्त हो जाएगी।

जिसने नरक नहीं जाना है, वह स्वर्ग को पाने के लिए पात्र नहीं हो सकता। इसलिए मैं तो तुमसे यही कहता हूँ कि संसार से अधूरे मत भागना, नहीं तो तुम परमात्मा तक कभी भी न पहुँच पाओगे। अगर तुम संसार से अधूरे-अधूरे भाग गये—बिना जाने भाग गये, बिना पाप को जाने तुमने पुण्य की आकांक्षा की, तो तुम्हारी पुण्य की आकांक्षा नपुंसक होगी। तुम्हारे पुण्य का अर्थ ही क्या होगा ? शायद भय के कारण, शायद दूसरों के अनुकरण के कारण, शायदा शिक्षा-दीक्षा के कारण, तुम पुण्य की आकांक्षा करोगे, लेकिन उसमें बल न होगा, भीतरी प्राण न होंगे। तुम्हारी जीवन-धारा उसमें न बहेगी। उधार होगी बात और भीतर-भीतर चुपके-चुपके, छिपे-छिपे तुम संसार की कामना करोगे, पाप में रस लोगे। ऊपर-ऊपर एक व्यक्तित्व होगा, भीतर-भीतर बिलकुल विपरीत होओगे। पाखण्ड का जन्म होगा—पुण्य का नहीं। ऐसा ही तो हुआ है।

जिसने झूठ बोलना नहीं जाना, उसे हमने सच बोलने की शिक्षा दे दी। उसे सत्य की परिभाषा भी समझ में नहीं आती, क्योंकि झूठ ही परिभाषा बनेगा। जो काँटों में चुभा नहीं, काँटों से चुभा नहीं, वह फूल के सौंदर्य को, माधुर्य को नहीं समझ पायेगा। दुःख अनिवार्य है। दुःख से गुजरना अनिवार्य है। दुःख माँजता है, निखारता है, प्रौढ करता है।

दुःख से भागनेवाले भयभीत लोग हैं। इन कायरों के लिए कोई पुण्य नहीं हो सकता। भगोड़ों के लिए परमात्मा नहीं है। जीयो। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि उसी-उसी में बने रहो। मैं यह कह रहा हूँ कि उसे इतनी पूर्णता से जी लो कि तुम उसके पार ही हो जाओ।

ध्यान रखो एक सूत्र, जो बात भी पूर्णता से जी ली जाय, हम उससे मुक्त हो जाते हैं। अगर पाप अब भी मन को बुलाता है, तो उसका अर्थ है : तुम कच्चे-कच्चे लौट आये। अभी पाप का अनुभव भी न हुआ था। अभी पाप का दंश पैदा भी न हुआ था। अभी तुमने पीड़ा भोगी न थी। तुमने खुद न जाना था कि जीवन दुःख है; तुमने बुद्ध का वचन सुन लिया था कि जीवन दुःख है। यह बुद्ध का वचन बुद्ध के लिए अनुभव है।





उन्होंने यही जाना है कि वहाँ सिवाय दुःख के कुछ भी नहीं है : सब झूठ था; सब मन का खेल था, माया थी। लेकिन यह तो जाग कर पता चलता है। सोये-सोये तो माया बड़ी लुभावनी है; बड़ी मधुर है।

कबीर कहते हैं, 'माया महाठगनी हम जानी।' मगर यह कबीर ने जानी है। अभी तुमने नहीं जानी। अभी ठगनी का प्रभाव तुम पर है। अभी ठगनी तुम्हें सम्मोहित करती है।

अभी अगर तुम छोड़ोगे, तो ऐसा होगा, जैसे कि वृक्ष से कच्चे फल को कोई तोड़ ले। तुमने खयाल किया कि अगर तुम कच्चा ही फल तोड़ लो वृक्ष से, तो उसके बीज व्यर्थ हो जाते हैं। जब तक कि फल पक न जाय, तब तक उसके भीतर के बीज भी नहीं पकते। और जब तक बीज पक न जायँ, तब तक उनसे नये अंकुर नहीं निकलते। पके से ही नया अंकुरण होता है।

जो व्यक्ति किन्हीं और कारणों से, बिना जीवन को जाने, भाग गया, वह कच्चा भाग गया। उसके जीवन से परमात्मा के अंकुर न निकलेंगे। वह वापस भेजा जाएगा। बार-बार वापस भेजा जाएगा। ऐसे ही तो तुम बार-बार वापस आये हो।

ऐसा थोड़े ही है कि तुमने महापुरुषों के वचन नहीं सुने। ऐसा थोड़े ही है कि शास्त्र तुम्हारे मार्ग पर नहीं आया। ऐसा थोड़े ही है कि कभी-कभी बुद्ध पुरुष तुम्हें रास्ते पर नहीं मिल गये। मिले हैं। उनकी वाणी तुममें गूँज गयी है। उनके आनंद ने भी तुम्हारे भीतर लोभ को जगाया है कि ऐसा हमारे जीवन में भी हो जाय। कभी-कभी तुम उनके पीछे भी चले हो। थोड़ी दूर साथ भी दिया है। पर तुम्हारे जीवन में सिर्फ पाखण्ड आया।

जो बुद्ध के लिए महासत्य है, वह तुम्हारे लिए पाखण्ड हो गयी, प्रवंचना हो गयी। क्योंकि तुमने थोपा अपने ऊपर।

तुम अपने ही ज्ञान पर भरोसा करो। बुद्ध पुरुषों से सीखो, मगर संसार से भागो मत। बुद्ध पुरुषों से इशारे लो, संसार से अनुभव लो और जिस दिन संसार का अनुभव और बुद्ध पुरुषों के इशारे दोनों एक ही तरफ दिखाने लगें, दोनों की सुईयाँ एक ही तरफ दिखाने लगें, उस दिन जानना—घड़ी आ गयी। अब तुम पक गये। और तब जिसको तुम पाप कहते हो, वह छोड़ना न पड़ेगा। वह गिर जाता है।

मेरे लेखे जब तक पाप छोड़ना पड़े, तब तक छोड़ना मत। छोड़ना पड़े—छोड़ना मत। जिस दिन गिर जाय, उस दिन पकड़ना मत; उस दिन गिर जाने देना। अपने से गिर जाने देना। पका पत्ता गिर जाता है। न वृक्ष को खबर होती, न पके पत्ते को खबर होती। चुपचाप जमीन पर बैठ जाता है, सो जाता है, खो जाता है। कहीं कोई कानों-कान खबर नहीं पड़ती। ऐसा ही महासंन्यास है। ऐसा ही महात्याग है।

उपनिषद् कहते हैं कि जिन्होंने भोगा, उन्होंने ही त्यागा—तेन त्यक्तेन भुंजीथा।

जिन्होंने भोगा, उन्होंने ही त्यागा। यह महासूत्र है। दुनिया के किसी शास्त्र में ऐसा वचन नहीं है। हिम्मतवर हैं उपनिषद् के ऋषि। वे कहते हैं, 'जिन्होंने भोगा, उन्होंने ही त्यागा।' वे यह कह रहे हैं—जल्दी मत करना। अधूरे-अधूरे अधपके मत भाग खड़े होना अन्यथा लौट-लौट कर आना पड़ेगा—संसार की मिट्टी में, क्योंकि बिना पके यहाँ से किसी को भी जाने की आज्ञा नहीं है।

पके हुए को नहीं लौटना पड़ता, कच्चे को वापस लौटना पड़ेगा। उसका सब भागना व्यर्थ है। वह ऐसे ही है, जैसे कोई स्कूल से भाग रहा है। और वापस भेजा जा रहा है—कि शिक्षा पूरी करके लौटो।

तो न तो पाप से डरो, न बेईमानी से डरो। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि बेईमानी करो। मैं कहता हूँ : डरो मत। संसार तो बेईमानी है, हजार हजार तरह की बेईमानी है, पाखण्ड है, प्रवंचना है। गुजरो; और जल्दी करो। अनुभव को पूरी प्रगाढता से ले लो।

अगर तुम समझदार हो, तो बेईमानी का एक ही अनुभव तुम्हें बेईमानी से मुक्त कर जाएगा। अगर तुम्हें जरा भी होश है, तो एक ही झूठ का अनुभव तुम्हें सदा के लिए झूठ के बाहर कर देगा, क्योंकि बार-बार क्या दोहराना। भूल तो वही है। बार-बार तो नासमझ दोहराते हैं। समझदार तो भूल करता है—लेकिन एक बार। समझदार बहुत भूलें करता है, लेकिन हर बार नयी करता है। पुरानी क्या करनी! उसको अगर ठीक से जी लिया, तो बात खतम हो गयी। एक दफे झूठ बोल कर देख लिया, उसकी पीड़ा भोग ली, फिर कितने ही बार करो, वही होगा, पुनरुक्ति होगी। पुनरुक्ति से कुछ ज्ञान नहीं मिलने वाला है। जो मिलना था, वह पहले में ही मिल गया।

पूरी प्रगाढता से संसार को भोग लो। परमात्मा ने तुम्हें संसार में यों ही नहीं भेज दिया है। कोई पीछे गणित है। वह गणित यही है कि संसार से तुम पको, ताकि तुम स्वर्ग के योग्य हो सको। परतंत्रता से पको, ताकि स्वतंत्रता का तुम अनुभव कर सको।

जिन्होंने कारागृह ही नहीं जाने, वे मुक्ति का आकाश कैसे जान सकेंगे! वे पहचान भी न सकेंगे। वह पहचान विपरीत के अनुभव से आती है।

● चौथा प्रश्न : गीता में इतनी पुनरुक्ति क्यों है?

निश्चित ही बहुत पुनरुक्ति है। कृष्ण दोहराये ही चले जाते हैं; वही बात फिर, वही बात फिर! अगर तुम बुद्ध के वचन पढ़ो तो तुम और भी हैरान हो जाओगे। उन्होंने कृष्ण को भी मात कर दिया—दोहराने में। वे दोहराये ही चले जाते हैं—वही बात, वही बात, वही बात। कृष्ण और बुद्ध जैसे लोग जब बात को दोहराते हैं, तो कुछ राज होगा। कुछ राज है।

पुराने दिनों में अलार्म की घड़ियाँ जो होती थीं, वे एक ही बार अलार्म बजाती थीं। अब नयी घड़ियाँ रुक-रुक कर बजाती हैं। क्योंकि मनोवैज्ञानिक इस नतीजे पर पहुँचे





हैं कि अगर नींद लगी हो और घड़ी एक ही बार अलार्म बजाये, चाहे पूरा एक मिनट तक बनाये, दो मिनट तक बजाये, तो भी नींद के टूटने की संभावना कम है। लेकिन अगर दो मिनट ही बजाये और बार-बार रुक-रुक कर फिर वही बजाये, फिर वही बजाये तो नींद पर चोट लगती है।

अगर सतत बजता रहे अलार्म, तो उसके सातत्य के कारण चोट नहीं पड़ती। उसके सातत्य के कारण तुम उसके सुनने के भी आदी हो जाते हो। चोट पड़ती है। जब अलार्म बजती है—रुक-रुक कर—फिर; एक क्षण भर को रुक गया—फिर; फिर क्षण भर को रुका—फिर। हथौड़ी की तरह चोट पड़ती है। तो अब नयी घड़ियों में अलार्म रुक-रुक कर बजता है। ज्यादा संभावना है कि रुकने वाली घड़ी तुम्हें जल्दी जगा देगी।

कृष्ण, बुद्ध, महावीर दोहराते हैं। वह दोहराना रुक-रुक कर चोट करना है। कहना वही है, चोट वही है, अलार्म वही है। आदमी सोया हुआ है। उसके सिर पर चोट करनी है।

चीन में एक पुरानी दण्ड देने की विधि है कि सख्त जघन्य अपराधियों को वे एक कोठरी में खड़ा कर देते हैं और एक-एक बूँद पानी ऊपर से टपकाते हैं। उसके सिर पर एक-एक बूँद पानी टपकता रहता है। तुम कहोगे : यह भी कोई दण्ड हुआ। तुम्हें अंदाज नहीं है। चौबीस घंटे में आदमी पागल होने की हालत में हो जाता है। नींद लग नहीं सकती; कुछ सोच नहीं सकता। बस, वह—टप—टप—टप! उन्होंने यह भी कर के देखा कि अगर धार गिरायी जाय तो कोई हर्जा नहीं होता। अगर सतत धार गिरे पानी की, तो आदमी बल्कि आनंदित होता है, स्नान कर लेता है। उसमें कोई हर्जा नहीं होता। लेकिन वह जो टप-टप है, एक-एक बूँद गिरता है, वह हथौड़ी की तरह पड़ता है।

बुद्ध पुरुषों ने अपनी बातों को बहुत दोहराया है। बातें वही हैं।

कृष्ण की पूरी गीता एक पोस्टकार्ड पर लिखी जा सकती है—जो भी सार की बातें हैं—जिनको उन्होंने फिर-फिर दोहराया है। कारण है।

अर्जुन सोया है। कारण कृष्ण में नहीं है। कारण अर्जुन में है। और सभी बुद्ध पुरुष अलार्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। जगा रहे हैं, उठा रहे हैं। चोट करनी जरूरी है; पहली बात।

दूसरी बात; तुम्हारे जीवन में, तुम खुद भी देख सकते हो, कि चौबीस घंटे एक-सी मनोदशा नहीं होती। सुबह उठे हो, तब तुम जागरण के ज्यादा करीब होते हो। साँझ थके हो, तब तुम नींद के ज्यादा करीब होते हो। सुबह उठे हो, तब एक तरह की शुचिता, एक तरह की पवित्रता, तुम्हें घेरे होती है। साँझ थके-माँदे, संसार से ऊबे, धूल-भरे लौटते हो, तब एक तरह की कठोरता, क्रोध तुम्हें घेरे होता है। भिखमंगे भी सुबह भीख

माँगने इसीलिए आते हैं, क्योंकि उस वक्त तुमसे धार्मिक होने की जरा ज्यादा आशा है। शाम तुम से धार्मिक होने की ज्यादा आशा नहीं है। शाम तुमसे 'हाँ' निकलेगा, इसकी संभावना कम है; 'ना' निकलेगा, इसकी संभावना ज्यादा है। और चौबीस घंटे में बहुत बार तुम्हारे चित्त का मौसम बदलता है। चित्त की भाषा बदलती है।

मुसलमानों में जो उनका महावाक्य है, उनकी गायत्री कहो, उनका नमोकार कहो, जिसे वे सतत दोहराते हैं, वह है : 'और कोई परमात्मा नहीं, सिवाय परमात्मा के।' यह बड़ा प्यारा वचन है—'और कोई परमात्मा नहीं, सिवाय परमात्मा के।' इसको मुसलमान निरंतर दोहराते हैं। लेकिन सूफी फकीर इसको नहीं दोहराते। वे कहते हैं, 'यह बहुत बड़ा है।' समझो।

सूफी फकीर कहते हैं कि हम मर रहे हैं, साँस टूट रही है और हमने कहा 'और कोई परमात्मा नहीं . . .' और मर गये, तो हम नास्तिक की तरह मर गये। 'कोई परमात्मा नहीं' यह कहते हुए मर गये। 'कोई परमात्मा नहीं, सिवाय परमात्मा के।' अब वह 'सिवाय परमात्मा के' अगर न कह पाए, तो आखिरी घड़ी जबान नास्तिक की हो गयी, आखिरी क्षण प्राण नास्तिक के हो गये। यह तो बड़ा दुर्भाग्य हो जाएगा। इसलिए वे कहते हैं : इतना बड़ा सूत्र हम नहीं दोहराते। हम तो सिर्फ परमात्मा, परमात्मा, अल्लाह, अल्लाह कहेंगे; कौन जाने किस घड़ी मरना हो जाय !

और वे यह भी कहते हैं कि कौन जाने किस घड़ी तार मिल जायँ। तो हम इतनी लम्बी लकीर नहीं दोहराते, क्योंकि कहीं तार मिलने का वक्त हो और हम दोहरा रहे हैं कि 'नहीं कोई परमात्मा . . .' और वह घड़ी चूक जाय जब कि संयोग होने के करीब था और जब हम आयें इस शब्द पर—'सिवाय परमात्मा के' तब घड़ी ही न हो।

सूफी दिन-रात दोहराते हैं : अल्लाह, अल्लाह, अल्लाह, क्योंकि कौन जाने किस घड़ी मन शुचिता में हो, किस घड़ी मन पवित्र हो, किस घड़ी मन नाचता हो, मिलन हो जाय, कौन जानता है !

मिलन पहले कभी हुआ नहीं, इसलिए हमें उसका कुछ हिसाब भी नहीं है। अँधेरे में टटोलते हैं, कब द्वार पर हाथ पड़ जाएगा, कौन जानता है ! चौबीस घंटे टटोलते हैं।

कृष्ण और बुद्ध—और महावीर और मोहम्मद अपने शिष्यों के सामने दोहराये चले जाते है—एक ही बात हजार बार। कौन जाने, कब सुनाई पड़ जाय। क्षण होते हैं।

एक बार कह के चुप हो सकते थे, लेकिन उससे कुछ सार होता, न होता।

एक झेन फकीर हुआ। उससे किसी ने जा कर पूछा कि मैं जरा जल्दी में हूँ। तुम सार की बात मुझे कह दो; फिर मिलना हो, न हो। तो वह चुप ही रहा। उसने कहा





कि 'तुम चुप मत रहो, मैं जल्दी में हूँ, जा रहा हूँ, फिर दुबारा तुमसे मिलना हो या न हो। कुछ कह दो।'

उस फकीर ने कहा, 'मैंने कहा। सार की बात तो कह दी—चुप हो जाना। अब तुम जो भी मुझ पर जोर डालोगे, वह पुनरुक्ति होगी।' उस आदमी ने कहा कि 'तुम कुछ कहे ही नहीं, पुनरुक्ति कैसे होगी ! कुछ तो कहो, शब्द में कहो।' तो उसने कहा, 'मौन। पर यह पुनरुक्ति है। तुम नाहक जबरदस्ती कर रहे हो। जो मुझे कहना था, वह मैंने कह दिया।'

उस आदमी ने कहा कि 'थोड़ा और स्पष्ट करो, अकेले मौन से कुछ स्पष्ट नहीं होता !' तो उस फकीर ने कहा, 'मौन, मौन, मौन।'

अब ऐसे लोग सद्‌गुरु नहीं बन सकते। यह झेन फकीर बिलकुल ठीक कर रहा है। इसमें कोई अड़चन नहीं है। यह जो कर रहा है—बिलकुल ठीक है। लेकिन इससे किसी को कोई सहारा नहीं मिल सकता। यह कहता है—बिना बोले, कि अब पुनरुक्ति हो जाएगी, अगर मैंने कुछ कहा। कहने पर—आग्रह करने पर भी मजबूरी में 'मौन' कहता है। फिर मौन ही दोहराये जाता है। इससे तुम कुछ सीख न पाओगे।

दुनिया में सद्‌ज्ञान को तो बहुत लोग उपलब्ध होते हैं, सद्‌गुरु बहुत नहीं होते। सद्‌गुरु वह है, जो करुणावश तुम्हारे लिए बहुत बार दोहराने को राजी है। सद्‌ज्ञान को तो बहुत लोग उपलब्ध होते हैं, लेकिन वे दोहराने को राजी नहीं होते। कौन सिर पचाये !

कृष्ण दोहराये जाते हैं। उनका प्रेम अनूठा है। उनकी करुणा महान है। वे अर्जुन पर बरसते ही चले जाते हैं। अर्जुन बचता है एक तरफ से, तो दूसरी तरफ से बरसते हैं। मेघ तो वही है, जल भी वही है। कृष्ण का ही मेघ है, कृष्ण का ही जल है; उसका स्वाद भी वही है। शब्द बदल देते हैं, थोड़ी विधि बदल देते हैं, फिर बरसते हैं। अर्जुन वहाँ से भी बच जाता है—बिना नहाया। कृष्ण फिर बरसते हैं। ऐसा अठारह अध्यायों में, अठारह हजार बार वही-वही बात दोहराये चले जाते हैं।

पुनरुक्ति का कारण है। कब तुम सुनोगे, कुछ पता नहीं। किस क्षण घट जाएगी बात, वह क्षण अनप्रिडिक्टेबल है। उसकी कोई भविष्यवाणी नहीं हो सकती।

कब ऐसी घड़ी तालमेल पा जाएगी, कब सब ग्रह-नक्षत्र तुम्हारे ठीक होंगे, कब तुम द्वार दे दोगे, पता नहीं। तो कृष्ण दोहराये जा रहे हैं। जो दोहराने योग्य है, उसे दोहराये जा रहे हैं।

दोहराने का भी अपना कारण है। उसको तुम पुनरुक्ति मत समझना। उसे तुम महाकरुणा समझना। वह एक बार कह कर भी चुप हो सकते थे। पर अर्जुन समझ न पाता। अर्जुन के संशय न गिर पाते। फिर अर्जुन उस जगह न पहुँच पाता, जहाँ उसने

कहा कि 'क्षीण हुए मेरे संशय। मैं बोध को उपलब्ध हुआ। तुम ने मुझे जगा दिया।' वे बजाये ही गये अलार्म को। वे दोहराये ही गये अलार्म को। अर्जुन ने बहुत करवटें लीं और बहुत बार दुलाई ओढ़ कर सो-सो गया। लेकिन कृष्ण का 'अलार्म' बजता ही रहा। वह जब तक उठा नहीं, जब तक उसने कहा नहीं कि 'जाग गया हूँ', जब तक हाथ-मुँह ही न धो लिया, चाय का एक कप न पी लिया, जब तक पूरे होश से न भर गया, तब तक वे जगाये ही गये।

अगर अर्जुन न जागता, तो मैं जानता हूँ कि अगर अठारह हजार अध्याय भी कृष्ण को कहने पड़ते, तो वे कहते।

मुझ से लोग पूछते हैं कि 'कृष्ण की गीता तो थोड़े में ही समाप्त हो गयी, आप पाँच साल से बोले चले जा रहे हैं।' क्योंकि आधुनिक अर्जुन और भी गहरी नींद में हैं। क्योंकि तुम और भी बुरी तरह सोये हो। तुम्हें उस घड़ी तक ले आऊँ, जहाँ तुम कहो कि संशय क्षीण हुए, मैं जाग गया; और भी मेहनत करनी पड़ेगी।

कृष्ण हुए—पाँच हजार साल पहले। तब उन्होंने अठारह अध्याय में गीता कह दी। बात उन्होंने पूरी कर दी। फिर बुद्ध हुए ढाई हजार साल पहले। उन्होंने चालीस साल तक वही-वही दोहराया। अब जो बौद्धों ने बुद्ध के वचन छापे हैं, उन में वे छापते भी नहीं पूरे वचन। उन्होंने सिर्फ निशान बना लिया है—डिट्टो। निशान लगाये चले जाते हैं। फिर वही, फिर वही, फिर वही। एक बार छाप देते हैं कि ऐसा कहा, फिर नीचे कहते जाते हैं, फिर वही, फिर वही, फिर वही। फिर जब कोई वचन वे बोलते हैं, तब उसे छाप देते हैं, फिर लिखे जाते हैं—फिर वही, फिर वही, फिर वही।

कोई छापने तक को राजी नहीं है—बुद्ध के पूरे वचन! क्योंकि चालीस साल वे पुनरुक्ति कर रहे हैं। लेकिन वह भी वक्त गया, ढाई हजार साल बीत गये।

तुम्हें मेरी तकलीफ, तुम्हें मेरी अड़चन समझ में आ नहीं सकती। मैं भी दोहराये चला जा रहा हूँ। तुम सोचते हो, मैं कुछ नयी बातें रोज कह रहा हूँ। परमात्मा के संबंध में नया कहने को हो भी क्या सकता है! वही कहता हूँ। थोड़ा रंग-रूप बदल देता हूँ। बायें से बोलता, दायें से बोलता, ऊपर से बोलता, नीचे से बोलता, दिशाएँ थोड़ी बदलता हूँ। कभी कथाओं से बोलता हूँ, प्रतीकों से, संकेतों से, कभी सीधा-सीधा बोलता हूँ। कभी पतंजलि की भाषा में, कभी कृष्ण की भाषा में, कभी बुद्ध, कभी लाओत्से की भाषा में। पर बोलता तो वही हूँ।

बोलता तो उतना ही हूँ, जितना झेन फकीर बोला—चुप रह कर। और फिर कहने लगा, पुनरुक्ति हो जाएगी। पुनरुक्ति ही है। फिर भी तुम नहीं जागते हो। और जब तक तुम न जागो, तब तक नये-नये उपाय खोजने पड़ेंगे, पुनरुक्ति को दोहराना पड़ेगा। और इस भाँति दोहराना पड़ेगा कि तुम्हें पुनरुक्ति भी न मालूम पड़े, क्योंकि





अगर तुम्हें पुनरुक्ति भी मालूम पड़ने लगे, तो भी तुम नींद में सो जाओगे, क्योंकि पुनरुक्ति भी नींद लाती है।

● पाँचवाँ प्रश्न : अभीप्सा है कि मिट जाऊँ, निमित्त मात्र हो जाऊँ और उसकी मरजी के अनुसार ही मेरा जीवन बहे। कुछ छोटी-मोटी झलकें भी इसकी मिली हैं, लेकिन अनेक अवसरों पर मैं द्वन्द्व और दुविधा में पड़ जाता हूँ कि यह उसकी मरजी है या मेरी मरजी!

इस वचन को थोड़ा ठीक से समझो। 'अभीप्सा है कि मिट जाऊँ'; जोर 'मैं' पर ही है, जोर 'उस' पर नहीं है। यह भी 'तुम्हारी' अभीप्सा है कि मिट जाऊँ। यह अभीप्सा भी 'मैं' ही है।

'निमित्त मात्र हो जाऊँ।' गौर से सुनो, तो भीतर तुम्हें मैं सुनाई पड़ेगा : 'मैं' निमित्त मात्र हो जाऊँ। और उसकी मरजी के अनुसार 'मेरा' जीवन बहे। जीवन मेरा होगा, बहे उसकी मरजी के अनुसार, लेकिन 'मेरा' जीवन!

'कुछ छोटी-मोटी इसकी झलकें भी मिली हैं।' वह मैं पीछे खड़ा है। वह कह रहा कि कुछ नहीं मिला है—ऐसा भी नहीं है। काफी मिला भी है, कुछ झलकें भी मिली हैं। 'लेकिन अनेक अवसरों पर मैं द्वन्द्व और दुविधा में पड़ जाता हूँ।' वह मैं खड़ा ही है द्वन्द्व और दुविधा में पड़ने को।

'और यह समझ में नहीं आता कि यह उसकी मरजी है या मेरी मरजी है।'

मैं के खेल को थोड़ा समझो।

अगर अभीप्सा सच में ही मिटने की है, और यह भी 'मैं' का ही एक खेल नहीं है, तो कौन रोक रहा है? कोई परमात्मा तो रुकावट डाल नहीं रहा है—कि मत मिटो!

लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि अभीप्सा सब 'ऐसी' ही है, जैसा एक दिन मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी मेरे पास आयी और उसने कहा, 'चलना होगा आपको। बहुत अड़चन हो गयी है; मुल्ला आत्महत्या कर रहा है।' मैंने कहा, 'तुम घबड़ाओ मत। जिसने कभी कुछ नहीं किया, वह आत्महत्या भी क्या करेगा।' तो वह बोली 'नहीं, यह मामला ही और है। आप मजाक-हँसी मत समझें। वह गम्भीर है। सब इन्तजाम कर लिया है और दरवाजा बंद किये है। कहीं कुछ हो न जाय! आप चलो।'

मैं गया। दरवाजा खटखटाया। मैंने पूछा कि 'सुना है नसरुद्दीन, आत्महत्या कर रहे हो? ऐसा शुभ अवसर हमें भी देख लेने दो। खोलो। रोकेंगे नहीं, क्योंकि रोकने का हम कोई कारण ही नहीं पाते, कि रोकने की कोई जरूरत पड़ेगी। कोई बाधा न डालेंगे। सिर्फ देखना है कि कैसे करते हो!'

दरवाजा खोला। स्टूल पर खड़े थे। छप्पर से रस्सी बाँध रखी थी, और कमर में बाँध रहे थे। मैंने कहा, 'कमर में रस्सी बाँध रहे हो! आत्महत्या करनी है, तो गले

में बाँधो।' बोला कि 'पहले गले में बाँधी, लेकिन बड़ी रुकावट मालूम पड़ती है, गला रुँधता मालूम पड़ता है, तकलीफ मालूम पड़ती है। इसलिए कमर में बाँध रहे हैं।'

कमर में बाँध के तुम झूलते रहो—सदा-सदा के लिए, इससे मरोगे नहीं। इस तरह की धारणा के पीछे उसी तरह की आत्महत्या है। करना भी चाहते हो, लेकिन गले में बाँधने पर गला रुँधता है। तकलीफ मालूम पड़ती है, आँख में आँसू आते हैं। तो फिर कमर में बाँध लेते हो और यह खयाल रखते हो कि हम मरने की तैयारी कर रहे हैं!

'अभीप्सा है कि मिट जाऊँ।' जोर बड़ा मालूम पड़ता है—अभीप्सा का। मिटने की अभीप्सा में ऐसा जोर होना ही नहीं चाहिए। वह तो एक निवेदन होगा।

और फिर रोक कौन रहा है? सिवाय तुम्हारे तुम्हें कोई मिटने से रोक नहीं सकता। कोई दुनिया की शक्ति तुम्हें रोक नहीं सकती मिटने से—सिवाय तुम्हारे। वस्तुतः सारी दुनिया चाहती है कि तुम मिट ही जाओ। एक तुम ही अड़े हो कि नहीं मिटेंगे। सब तुम्हें सहयोग देना चाहते हैं कि चलो एक प्रतियोगी कम हुआ है, यही कुछ कम है। एक से उपद्रव मिटा।

दुनिया तुम्हें रोकना नहीं चाहती, तुम्हीं रुके हो और रुकने का कारण यह है कि तुम्हारी मिटने की अभीप्सा के पीछे भी तुम्हीं खड़े हो। तुम घोषणा करना चाहते हो—दुनिया के सामने कि 'देखो, मैं मिट गया। तुम्हारे जैसा नहीं हूँ; मिट गया। निमित्त मात्र हो गया।' अहंकार बड़े सूक्ष्म रूपों से चलता है—कि 'परमात्मा के हाथ का उपकरण हो गया। परमात्मा मेरा उपयोग कर रहा है।'

मैंने सुना है कि दो ईसाई पादरी एक रास्ते पर मिले; एक कैथोलिक, एक प्रोटेस्टेंट। उनमें कुछ विवाद हो गया। आखिर कैथोलिक पादरी ने कहा कि 'भाई, हम दोनों एक ही के भक्त, एक ही भगवान् के माननेवाले। विवाद उचित नहीं है। और हम दोनों ही उसी परमात्मा के काम में लगे हैं, तुम अपनी मरजी के हिसाब से, मैं उसकी मरजी के हिसाब से। हम दोनों उसी के काम में लगे हैं; तुम अपनी मरजी के हिसाब से, मैं उसकी मरजी के हिसाब से।' वहाँ भी विवाद है।

वह हल करता दिखायी पड़ रहा है कि समझौता करने की तैयारी है कि हम उसी का काम कर रहे हैं, क्या झगड़ा करना! लेकिन झगड़ा तो कायम है। झगड़े में बारीक भेद उसने पीछे कर ही लिया कि 'मैं उसकी मरजी के हिसाब से कर रहा हूँ और तुम अपनी मरजी के हिसाब से!' तो जो परमात्मा के हाथ का उपकरण हो गया, उसकी तो ऊँचाई कहनी ही क्या।

ऊँचाई पाने के लिए उपकरण तो नहीं बनना चाहते हो? श्रेष्ठता पाने के लिए तो निमित्त बनने की चेष्टा नहीं है? इस पर जरा भीतर हिसाब लगाना और अगर





होगी, तो साफ देख लोगे। क्योंकि तुम अपने को कैसे धोखा दे सकते हो?

'और उसकी मरजी के अनुसार ही मेरा जीवन बहे।' अब जब उसकी ही मरजी है, तो 'तुम्हारा' क्या खाक जीवन है! उसको ही बहने दो। उसकी मरजी, उसका ही जीवन, तुम बीच में क्यों आते हो? लेकिन नहीं, तब तो मजा ही चला गया। अगर उसकी मरजी और उसका ही जीवन है, और तुम बीच में बिलकुल न आये, तब तो अहंकार का सारा रस चला गया।

'कुछ छोटी-मोटी झलकें भी मिली हैं।' अहंकार के रहते हुए झलकें भी कल्पना ही होंगी। और अगर झलक मिल जाय—उसकी, तो फिर भी तुम अहंकार को पकड़े रहोगे? हीरे-जवाहरात दिखायी पड़ जायँ, फिर तुम कंकड़-पत्थर हाथ में लिये रहोगे? फिर तुम मुझसे पूछने आओगे, कैसे छोड़ें कंकड़-पत्थर, कैसे झोली खाली करें, ताकि हीरे भर लें? तुम भर ही लोगे, तुम पूछने भी न आओगे, तुम बताने भी न आओगे। तुम हीरे भरकर अपने हीरों के भोग में लग जाओगे।

कबीर ने कहा है: 'हीरा पाया गाँठ गठियाया, फिर वाको बार-बार क्यों खोले।' अब मिल गया हीरा, उसको जल्दी से आदमी गाँठ में लपेट लेता है। फिर खोल कर भी नहीं देखता कि कोई और न देख ले। फिर भागता है वहाँ से कि किसी को पता न चल जाय।

हीरा पाकर तुम चिल्लाते थोड़े ही हो—कि मिल गया। और जब हीरा मिल जाता है, तो तुम हाथ में जगह हमेशा बना ही लेते हो।

'कुछ छोटी-मोटी झलकें मिली हैं।' वे कल्पना रही होंगी। अगर वे कल्पना न थीं, 'तो अनेक अवसरों पर फिर मैं द्वन्द्व और दुविधा में पड़ जाता हूँ, कि यह उसकी मरजी है या मेरी मरजी है।' जब भी द्वन्द्व और दुविधा हो, तो समझना कि यह तुम्हारी ही मरजी है। क्योंकि द्वन्द्व और दुविधा का उसकी मरजी से कोई संबंध ही नहीं है। उसकी मरजी निर्द्वन्द्व है। उसका इशारा दुविधा-मुक्त है। उसके सामने कोई विकल्प ही नहीं है। उसका भाव निर्विकल्प है।

उसके सामने 'यह' या 'वह'—ऐसे कोई विकल्प नहीं हैं। नहीं तो वह इस प्रकृति को बना ही न पाता।

तुम थोड़ा सोचो: इतना विराट् जो चलता है, अगर इसके पीछे भी कोई दुविधा-पूर्ण चित्त हो, जो सोचे कि आज सूरज को उगाना कि नहीं, कि आज तारों को चलाना कि नहीं, कि आज लोगों को साँस लिवाना कि नहीं, कि आज फूल खिलें या नहीं, कि इस बार आम में आम लगे कि नीम चल जाय।

तुम थोड़ा सोचो कि अगर कोई दुविधापूर्ण चित्त इस अस्तित्व के पीछे हो, तो खूब भयंकर मजाक हो जाय! फिर तो कुछ भरोसा ही करना संभव न हो; फिर

तो इस जीवन में रत्ती भर खड़े होने की जगह न रह जाय। यह तो एक महाभयंकर नरक हो जाय।

नहीं, उसके पीछे कोई दुविधा नहीं है। वहाँ कोई विकल्प नहीं है। चीजें सहज हो रही हैं, जैसी हो रही हैं।

अगर तुम्हें द्वन्द्व और दुविधा मालूम पड़े, तो पहचान लेना : यह तुम्हारी ही मरजी है। इसको मैं कसौटी कहता हूँ। जिस दिन 'उसकी' मरजी होगी, उस दिन न कोई द्वन्द्व है, न कोई दुविधा है। जब तक तुम्हारी मरजी है, तब तक द्वन्द्व और दुविधा है।

निर्द्वन्द्व, दुविधामुक्त, निर्विकल्प—कोई विकल्प ही न रह जाय, ऐसा भी न हो कि बायें जाऊँ कि दायें जाऊँ। बस, तुम पाओ कि कोई उपाय ही नहीं है, तुम दायें चले जा रहे हो, बायें है ही नहीं। बायें जैसी कोई चीज ही नहीं है, बस, तुम चले जा रहे हो, बहे जा रहे हो। 'इससे अन्यथा हो ही नहीं सकता'—जिस दिन ऐसी प्रतीति होने लगे, समझना कि उसकी मरजी है।

लेकिन ध्यान रखना : इस अभीप्सा में भी अहंकार न बच जाय। यह भी कहीं अहंकार ही का मजा न हो कि हम उसकी मरजी से चल रहे हैं। उसने हमें इस योग्य माना है कि उसके उपकरण हो जायें।

अहंकार बड़ा सूक्ष्म है। बड़े बारीक उसके रास्ते हैं। उससे थोड़े सावधान रहना। अन्यथा साधक के लिए सब से बड़ी कठिनाई अहंकार से आती है—संसार से नहीं।

संसार भी क्या कठिनाई पैदा करेगा? असली कठिनाई अहंकार से है। और साधना के जगत् में बड़े सूक्ष्म अहंकार की तृप्ति हो सकती है। जो जागकर न चलेगा, वह बुरी तरह भटक जाएगा।

लेकिन सूत्र साफ है। अगर तुम अपने को भटकाना ही चाहो, तो बात अलग अन्यथा सूत्र बिलकुल साफ है। अगर तुम ठीक से खोजोगे, तो तुम्हें हमेशा चीजें साफ दिखायी पड़ जाएँगी।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन एक मित्र के घर आया। मैं भी बैठा था। मित्र शराब ढाल रहे थे। पुराने पियक्कड़ हैं। नसरुद्दीन भी पुराना पीनेवाला है, यह मैं भी भली-भाँति जानता था। मित्र ने कहा कि 'अच्छे आये, बड़े मियाँ। अकेला था और अकेले पीने में कुछ मजा आता नहीं। ठीक मौके पर आ गये।' नसरुद्दीन ने मेरी तरफ देखा और कहा, 'क्या! मैंने कभी जीवन में शराब छुई भी नहीं। मैं पीने से इनकार करता हूँ। तीन कारण हैं न पीने के। पहला : मैंने कभी शराब पी ही नहीं। दूसरा : मैं एक सभा में बोलने जा रहा हूँ, शराब के खिलाफ। सो पी के जाना उचित न होगा। और तीसरा : मैं घर से ही पी के चला हूँ।'

जरा ही तुम भीतर झाँकोगे, तुम खुद ही पकड़ लोगे। परत, परत तुम्हारा अहंकार





है। कोई दूसरा तुम्हें बतायेगा, तो अड़चन भी होगा, इसलिए मैं कभी-कभी ऐसे प्रश्न छोड़ भी देता, नहीं लेता; क्योंकि अगर मैं बताऊँगा, तो वह भी अड़चन होगी। उससे भी चोट लगेगी। उससे तुम अपने अहंकार की रक्षा में लग सकते हो कि 'नहीं, आप गलत कह रहे हैं।' इसलिए मैं ऐसे प्रश्न छोड़ भी देता हूँ, कि इनको न उठाऊँ, क्योंकि सीधे—तुम्हें समझना कहीं इसी कारण मुश्किल न हो जाय। लेकिन अगर तुम सच में ही खोज में निकले हो, तो तुम्हें समझ में बात आ जाएगी।

बात बड़ी सीधी है। अगर तुम छिपाना ही न चाहो, तो छिपने की कोई जगह नहीं है। और छिपाओगे, तो तुम्हारी हानि है, किसी और की हानि नहीं है। धोखा अंततः अपने को ही दिया गया सिद्ध होता है, किसी और को दिया गया सिद्ध नहीं होता।

अब सूत्र।

'तथा हे अर्जुन, तू बुद्धि का और धारणा का भी गुणों के कारण तीन प्रकार का भेद संपूर्णता से विभागपूर्वक मेरे से कहा हुआ सुन। हे पार्थ, प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को, एवं भय और अभय, तथा बंधन और मोक्ष को जो बुद्धि तत्त्व से जानती है, वह बुद्धि तो सात्त्विकी है। और हे पार्थ, जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को, तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को भी यथार्थ नहीं जानता है, वह बुद्धि राजसी है। और हे अर्जुन, जो तमोगुण से आवृत हुई बुद्धि अधर्म को धर्म—ऐसा मानती है तथा और भी संपूर्ण अर्थों को विपरीत ही मानती है, वह बुद्धि तामसी है।'

कृष्ण हर वचन के पहले कहते हैं, 'हे पार्थ, मुझसे कहा हुआ सुन।' सुनने पर बड़ा जोर है। अर्जुन चूकता जाता है, सुन नहीं पाता। कृष्ण कहे जाते हैं और अर्जुन नहीं सुन पाता। कृष्ण कुछ कहते हैं, अर्जुन कुछ सुनता है। वह सुनने से चूकता जा रहा है। सूई बैठती ही नहीं—कृष्ण के हृदय पर उसकी। वह वही नहीं सुन पाता—जो कृष्ण कहना चाहते हैं, कह रहे हैं। इसलिए संवाद लम्बा हुआ जाता है। इसलिए हर वचन के पहले वे कहते हैं, 'हे पार्थ, मेरे से कहा हुआ सुन।'

ये जो तीन गुण हैं सांख्य के, बड़े अनूठे हैं। जीवन के हर पहलू पर लागू हैं। यह कोई दर्शन-शास्त्र नहीं है। यह जीवन का सीधा-सीधा विश्लेषण है। ऐसा है; प्रकृति त्रिगुणमयी है। इसलिए स्वभावतः सभी चीजों के तीन गुण होंगे। और उन तीन के विभाजन से समझ के लिए बड़ी सुविधा मिलती है। उन कोटियों से चीजें साफ दिखायी पड़ने लगती हैं। और जिनके मन अँधेरे में दबे हैं, धुएँ से घिरे हैं, उलझे-उलझे हैं, उनके लिए काफी सहारा हो जाता है।

'तमोगुण से आवृत्त हुई बुद्धि अधर्म को धर्म ऐसा मानती है।' वह जो तमस से दबा हुआ व्यक्ति है, उसका लक्षण है कि वह अधर्म को धर्म जैसा मानता है। उसकी बुद्धि विपरीत होती है। वह प्रकाश को अँधेरा मानता है; अँधेरे को प्रकाश मानता है।

वह जीवन को मृत्यु की तरह जानता है; वह मृत्यु को जीवन की तरह जानता है। उसका सब का सब विपरीत है। वह शीर्षासन कर रहा है। उसे अब उलटा दिखाई पड़ता है। उसकी खोपड़ी उलटी है।

मुल्ला नसरुद्दीन के संबंध में कहानी है कि जब वह लड़का था, छोटा था, तो उसका नाम 'उलटी खोपड़ी' था। क्योंकि अगर तुम्हें चाहिए हो कि वह चुप बैठे, तो तुम्हें कहना चाहिए, 'नसरुद्दीन, शोरगुल कर।' तब वह चुप बैठता था। अगर तुम चाहते हो कि वह शोरगुल करे, तो तुम्हें कहना चाहिए, 'नसरुद्दीन, चुप बैठ।' तब वह शोरगुल करेगा। तुम जो कहोगे, वह उससे विपरीत करेगा।

अहंकार विपरीत करने में जीता है। तमस गहन अहंकार है।

एक दिन बाप नसरुद्दीन के साथ नदी से लौट रहा है। गधे पर रेत के बोरे लादे हुए हैं। पुल पर से दोनों गुजर रहे हैं। बोझ भारी है और गधे की बायीं तरफ बोरा ज्यादा झुका हुआ है। बाप डरा। उसने दूर से अपने गधे को सम्हालते हुए नसरुद्दीन को कहा कि 'देख, दायीं तरफ बोझा ज्यादा झुक रहा है।' कहना तो चाहिए था बाप को—अगर कोई साधारण लड़का होता—कि दायीं तरफ जरा बोझ को झुका। लेकिन यह 'उलटी खोपड़ी' है। अगर इसे कहो : 'दायीं तरफ झुका', तो यह बायीं तरफ झुका देगा और बोरा गिर ही जाएगा।

तो बाप ने कहा कि 'देख बेटा, बायीं तरफ बोरे को जरा झुका, दायीं तरफ ज्यादा झुक रहा है।' और नसरुद्दीन ने पहली दफे जीवन में बायीं तरफ ही झुका दिया। बोरा भी गिरा, गधा भी गिर गया।

बाप ने कहा, 'नसरुद्दीन, आज तूने यह अपने आचरण से विपरीत व्यवहार कैसे किया!' नसरुद्दीन ने कहा, 'मैं अठारह साल का हो गया। अब मैं कोई बच्चा नहीं हूँ। अब मैं भी प्रौढ़ हो गया। अब जरा सोच कर बातें कहा करें।'

तमस विपरीत बुद्धि का नाम है। जो करवाना हो, उसे तमस करने को राजी नहीं होता; वह उससे विपरीत करने को राजी होता है। और इसलिए कई बार तामसी व्यक्ति के साथ तुम्हें बहुत समझ कर व्यवहार करना चाहिए। हो सकता है : तुम्हारे उसे सुधारने के सारे उपाय ही उसे बिगाड़ने के कारण हो जायँ।

एक महिला मेरे पास आती है। पति शराब पीते हैं। वह सुधार रही है जिन्दगी भर से उनको। वे सुधरते ही नहीं; और बिगड़ते जाते हैं। आमतौर से शराबी तामसी प्रवृत्ति के होते हैं। मैं उनकी पत्नी को कह-कहके थक गया कि 'तू कम से कम सुधारना बंद कर दे। बीस साल तू सुधार भी चुकी। बीस साल काफी लम्बा वक्त होता है। कुछ परिणाम नहीं हुआ; सिर्फ जीवन बरबाद हो गया। कलह और कलह! या तो तू उन्हें सुधार रही है या वे शराब पीकर घर में उपद्रव कर रहे हैं। बस, दो ही घटनाएँ





घटती रही हैं बीस साल से। दोनों ही असुखद हैं, दोनों ही दुःखपूर्ण हैं। पति नहीं छोड़ते, कृपा करके तू उनको सुधारना ही छोड़ दे!' वह सुधारना नहीं छोड़ सकती।

मैंने उससे कहा कि 'तीन दिन तू कृपा कर; तीन दिन कुछ भी मत कह।' उसने दूसरे दिन मुझे आकर कहा कि 'यह नहीं हो सकता। मुझसे भी रहा नहीं जाता।' वह भी तामसी प्रवृत्ति है। तो मैंने कहा कि, 'मैं ही कम से कम तुझसे कहना बंद करूँ—कि तू सुधारना बंद कर; क्योंकि यह तो झंझट बड़ी है। मैं सोचता था : पति ही तामसी प्रवृत्ति है; तू भी वही है! अब तू यह भी नहीं समझ सकती कि पति के लिए तो शराब पीना बीस साल की लम्बी आदत है, बड़ी मुश्किल होगी। तुझे तो कोई नशा नहीं छोड़ना है, सिर्फ कहना छोड़ना है। अगर कहने में इतना नशा है, तो शराब में कितना होगा, तू थोड़ा हिसाब तो लगा! बीस साल . . . !' वह कहती है कि 'जो भी हो, मगर मुझसे भी रहा नहीं जाता कि मैं कुछ न कहूँ। देखती हूँ, तो बस, आग लग जाती है। तो मैं कहे बिना नहीं रुक सकती।' और मैं जानता हूँ कि जब तक वह कहे बिना नहीं रह सकती, तब तक पति शराब छोड़ नहीं सकता। वह अहंकार की जिद्द हो गयी। उस पर सारा अटका है अहंकार—कौन जीतता है?

अहंकार को जीत की चिन्ता है। न सुख की चिन्ता है, न शांति की चिन्ता है, न मुक्ति की चिन्ता है, जीत की चिंता है। और जीतना भी किससे है? इस गरीब पत्नी से जीतने के लिए वह अपना जीवन गँवा रहा है। और यह गरीब पत्नी भी उस गरीब पति से जीतने के लिए अपना जीवन गँवा रही है। इन बीस साल में मोक्ष मिल सकता था। इस बीस साल में सिर्फ नरक बढ़ा है।

लेकिन तामसी प्रवृत्ति के व्यक्ति की वह आदत है। उसे बदलना भी बड़ा कठिन मामला है। उससे थोड़ा सोच कर बोलना चाहिए। उससे जो करवाना हो, वही करने को नहीं कहना चाहिए। क्योंकि 'हे अर्जुन, जो तमोगुण से आवृत्त हुई बुद्धि है, वह अधर्म को धर्म ऐसा मानती है। संपूर्ण अर्थों को विपरीत मानती है। वह बुद्धि तामसी है।'

'और हे पार्थ, जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को भी यथार्थ नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है।'

तामसी बुद्धि उलटा करके देखती है, सात्त्विक बुद्धि सीधा-सीधा देखती है। वह शुद्ध प्रत्यक्षीकरण है। जैसा है, वैसा देखती है—पत्थर को पत्थर, फूल को फूल; धर्म को धर्म, अधर्म को अधर्म। जैसा है, उसको वैसा ही देखना सात्त्विक बुद्धि है। जैसा नहीं है, वैसा देखना—उलटा देखना तामसी बुद्धि है। दोनों के मध्य में राजसी बुद्धि है।

राजसी बुद्धि अर्थात् 'जिस बुद्धि के द्वारा धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य-अकर्तव्य को भी यथार्थ नहीं जानता है', ठीक-ठीक समझ में नहीं आता कि क्या क्या है—वह

मध्य में उलझा हुआ है, विबूचन में पड़ा हुआ है। कुछ-कुछ समझ में भी आता है, कुछ-कुछ समझ में नहीं आता। धर्म भी कुछ धर्म मालूम पड़ता है। अधर्म भी कुछ धर्म मालूम पड़ता है। अधर्म भी अधर्म जैसा दिखाई पड़ता है और धर्म में भी कुछ अधर्म दिखायी पड़ता है।

राजसी व्यक्ति मध्य में खड़ा है। वह आधा-आधा बँटा है, वह त्रिशंकु है। इसलिए तुम तामसी व्यक्ति को भी राजसी व्यक्ति से ज्यादा शांत और स्वस्थ पाओगे। यह बड़ी अनूठी घटना है।

तामसी वृत्ति के व्यक्ति आमतौर से ज्यादा सरलता से जीते हुए मिलेंगे, क्योंकि कोई दुविधा नहीं है। साफ ही है उन्हें। जो साफ है, वह बिलकुल गलत है, लेकिन उनकी तरफ से उन्हें साफ है। खाओ—पीओ—मौज करो; यह उनकी परम गति है। इसके पार कुछ है नहीं। चार्वाक ने कहा है, 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत—अगर ऋण ले कर भी घी पीना पड़े—पीयो', क्योंकि मर के कोई लौटता है? चुकाना किसको है? उधारी कहीं होती है इस संसार में? जिसने ले लिया, ले लिया। जिसने न लिया, वह नासमझ है। लूट-खसोट भी करनी पड़े, तो कर लो, क्योंकि चार दिन की जिन्दगी है—गयी तो गयी। भोगना मत छोड़ देना। क्योंकि मर कर फिर कोई वापस नहीं लौटता।

अब यह चार्वाक का जो पूरा जीवन-दर्शन है, वह तमस पर आधारित है। जो तामसी वृत्ति का व्यक्ति है, उसका ही यह जीवन-दर्शन है।

यह चार्वाक शब्द भी बड़ा अच्छा है। चार्वाक का अर्थ है : जिसके वचन बड़े मधुर हैं : चारुवाक़, मधुर वचनों वाला। अब यह बात बड़ी मधुर लगती है कि 'खाओ, पीओ, मौज करो'; उधार भी ले कर करना पड़े, करो। चुकाना किसको है? ये कानून, अदालत, ये सब आदमी के ढोंग-धतूरे हैं। कोई फिक्र नहीं। न कोई पाप है, न कोई पुण्य है; न कोई स्वर्ग है, न कोई परलोक है। ये सब पंडितों, ब्राह्मणों, पुरोहितों की ईजादें हैं। इनके धोखे में मत पड़ो। चार्वाक ने कहा है, 'यह धूर्तों की खोज है—स्वर्ग, मोक्ष, धर्म, पुण्य। यह सब बकवास है। सार इतना है कि भोग लो; पी लो जितना पीना हो, फिर दुबारा आना न होगा। न कोई आत्मा है, न कोई अमरत्व है। क्षणभंगुर जीवन है, बस, यही जीवन है।'

चार्वाक दर्शन को 'चारुवाक' नाम मिल गया। करोड़ों लोगों को उसके वचन बड़े प्रीतिकर लगे होंगे। दूसरा नाम है—चार्वाक का—लोकायत। 'लोकायत' का अर्थ है : जिसे लोक में स्वीकृति है, जिसे अनेक लोग मानते हैं—बहुसंख्या मानती है।

तुम हैरान होओगे, क्योंकि तुम्हें चार्वाकवादी कहीं भी नहीं मिलेगा। लेकिन अगर तुम खोजोगे तो तुम्हें सौ में से निन्यानबे लोग चार्वाकवादी मिलेंगे। कोई हिन्दू बनकर बैठा है, कोई मुसलमान बन कर बैठा है, कोई ईसाई बन कर बैठा है, लेकिन





जरा कपड़े उतार कर भीतर खोजो, तुम पाओगे : चार्वाक।

लोकायत नाम बिलकुल अच्छा है। अधिक लोग चार्वाक को ही मानते हैं। वे भला पूजा महावीर की करते हों, नाम मोहम्मद का लेते हों, अंततः चरण चार्वाक की पकड़े हुए हैं। उनका जीवन बतायेगा, क्योंकि कहते वे कुछ हों, जो वे करते हैं—उससे ही प्रमाण मिलेगा। मगर फिर भी तुम पाओगे कि ये लोग एक तरह से शांत होंगे। इनके जीवन में बहुत दुविधा नहीं है।

अज्ञानी आदमी में भी एक तरह की शांति होती है। जैसा ज्ञानी आदमी के जीवन में एक महाशांति होती है। उसकी थोड़ी-सी झलक अज्ञानी में भी मिलती है। कारण हैं। ज्ञानी भी सुनिश्चित है कि सत्य सत्य है, असत्य असत्य है। अज्ञानी भी सुनिश्चित है कि उसे—जिसे वह सत्य समझता है, वह सत्य है। और जिसे असत्य समझता है, वह असत्य है।

दोनों कम से कम सुनिश्चित हैं। दोनों के मध्य में राजसी व्यक्ति है; वह डाँवाडोल है। वह ऐसे है, जैसे रस्सी पर चल रहा हो; कभी बायें झुकता, कभी दायें झुकता। उसे दोनों बातें ठीक भी लगती हैं और इतनी ठीक भी नहीं लगतीं कि चुन ले। वह हमेशा दुविधा में है।

राजसी व्यक्ति हमेशा उलझन में है। वह निर्णय नहीं कर पाता; आधा-आधा जीता है। इसलिए राजसी व्यक्ति सब से ज्यादा तनावग्रस्त होगा। उसके जीवन में सब से ज्यादा तनाव, अशांति, बेचैनी, उत्तेजना होगी।

'और हे पार्थ, जिस बुद्धि के द्वारा धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को भी यथार्थ नहीं जानता है, वह बुद्धि राजसी है।

'प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को, बंधन और मोक्ष को, जो बुद्धि तत्त्व से जानती है—जैसा है, वैसा जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

अपने भीतर खोजना कि कौन-सी बुद्धि तुम्हारे भीतर सक्रिय है। और जब तक सात्त्विक बुद्धि तक पहुँचना न हो जाय, तब तक समझना कि धर्म से संबंध न हो सकेगा।

अगर तामसी व्यक्ति मंदिर भी जाएगा, तो गलत कारणों से जाएगा। राजसी व्यक्ति मंदिर जाएगा, तो पूरा न जा सकेगा, अधूरा जाएगा—आधा बाजार में छूट जाएगा। सात्त्विक व्यक्ति को मंदिर जाने की जरूरत नहीं, वह जहाँ होता है, वहीं मंदिर आ जाता है।

अपने भीतर ठीक से विश्लेषण कर लेना जरूरी है।

यह अर्जुन तामसी तो नहीं है; दुर्योधन तामसी है। इसलिए गीता दुर्योधन से नहीं कही जा सकी। कहने का कोई उपाय ही न था। प्रश्न ही नहीं है। दुर्योधन तो चार्वाक-

वादी है; तो खाओ-पीओ, मौज करो, यही सब कुछ है। इसके पार कुछ भी नहीं है। जाना कहाँ, पाना क्या, आत्मा क्या, परमात्मा क्या—सब व्यर्थ बकवास है। भोग ही एक मात्र मोक्ष है।

दुर्योधन के लिए कोई सवाल ही नहीं उठा। कोई सवाल है ही नहीं। दुर्योधन एक अर्थ में सीधा-सादा है। उसकी बुद्धि कितनी ही गलत हो, मगर वह सीधा-सादा आदमी है। उसके जीवन में प्रश्न भी नहीं है। अँधेरे से तृप्त है। उसकी जिज्ञासा भी अभी उठी नहीं। अभी बीज टूटा ही नहीं, अंकुर फूटा ही नहीं। कृष्ण से पूछने का सवाल ही नहीं है।

सात्त्विक बुद्धि का वहाँ कोई व्यक्ति नहीं है, नहीं तो वह भी नहीं पूछता। इसलिए मैं कहता हूँ: अगर महावीर वहाँ होते, तो वे रथ से चुप-चाप उतर कर चले गये होते। वे कृष्ण से पूछते भी नहीं कि 'हे महाबाहो, मेरे हाथ शिथिल हुए जाते हैं। मेरा गांडीव गिरा जाता है; मैं कँप रहा हूँ, मैं भयभीत हूँ; मैं जानता नहीं—क्या करने योग्य है, क्या करने योग्य नहीं है। मुझे बोध दें।' महावीर ये बात ही नहीं करते, बुद्ध ये बात ही नहीं करते। वे भी क्षत्रिय थे। वे भी धनुष-बाण ऐसा ही चलाना जानते थे—जैसा अर्जुन जानता था। उनके भी अपने गांडीव थे। अगर युद्ध के स्थल पर वे होते, तो वे चुप-चाप उतर कर चल दिये होते। कृष्ण पूछते, उनके पीछे भी दौड़ते, तो भी वे कहते, नाहक . . .। हमें कुछ पूछना नहीं है।

न दुर्योधन को कुछ पूछना है, न बुद्ध को कुछ पूछना है। पूछना अर्जुन को है, अर्जुन राजसी है। वह मध्य में है। जो मध्य में है, उसे पूछना है, क्योंकि उसे निश्चय करना है। उसे डर है, अगर कृष्ण सहारा न देंगे, तो वह गिर जाएगा, जहाँ दुर्योधन है वहाँ। वह नहीं चाहता—दुर्योधन की तरह युद्ध में उतरना नहीं चाहता। वह तो बिलकुल व्यर्थ मालूम पड़ रहा है। यह तो साफ है कि उसमें सिर्फ हिंसा होगी, हत्या होगी, लाखों लोग मरेंगे, पाप फैलेगा। वीभत्स है, उसमें कुछ रस नहीं मालूम होता। वह महावीर की अवस्था में भी नहीं है कि साफ हो जाय, दृष्टि खुल जाय, रख दे गांडीव और जंगल की तरफ चला जाय। वह सात्त्विक-स्थिति में भी नहीं है। वह राजस है, वह मध्य में खड़ा है—अनिर्णीत, बेचैन, डाँवाडोल, कँपता हुआ। इसलिए कृष्ण से मेल है।

तामसिक व्यक्ति शिष्य बनता ही नहीं। सात्त्विक को बनने की जरूरत नहीं। राजसिक को, अर्जुन को शिष्यत्व की जरूरत पड़ती है। सभी शिष्य अर्जुन हैं। अर्जुन तो शिष्यों का सार प्रतीक है।

अपने भीतर खोजना। लेकिन ध्यान रखना, कई और खतरे भी हैं।

जैसे मैंने कहा: यह महाभारत का युद्ध, यह महाभारत की कथा बड़ी अनूठी है। वहाँ युधिष्ठिर भी है। वह भी प्रश्न नहीं पूछता। वह धर्मराज है। लेकिन वह महावीर





की तरह युद्ध छोड़कर भी नहीं चला जाता। वह सात्त्विक है नहीं। सात्त्विक होने का खयाल है, धारणा है, शब्द हैं। वह पंडित है, उसे प्रज्ञा नहीं हुई है। उसे कोई बोध नहीं हुआ है; वह कोई जाग नहीं गया है। वह वहीं है, जहाँ अर्जुन है, लेकिन पाण्डित्य में दबा है। अर्जुन सीधा-सादा है। वह पाण्डित्य में दबा नहीं है, इसलिए प्रश्न पूछ सकता है। युधिष्ठिर प्रश्न नहीं पूछ सकता है, उत्तर उसे खुद ही मालूम है। उत्तर—जो अपने खुद के जीवन से खोजे नहीं हैं—उधार हैं।

तुम महाभारत में सभी को पा लोगे; वह सारी दुनिया का संक्षिप्त चित्र है। अगर एक-एक पात्र को महाभारत के तुम खोजने जाओगे, तो तुम पाओगे कि वह प्रतीक है और उस पात्र के पीछे उस तरह के लोग सारी दुनिया में हैं, वह 'टाइप' है।

लेकिन अगर तुम्हारे मन में जिज्ञासा उठी है, तो तुम जानना कि तुम मध्य में खड़े हो। अगर जिज्ञासा के सूत्र को पकड़ कर आगे न बढ़े, तो पीछे गिर जाने का डर है। अगर ऊपर न उठे, तो दुर्योधन हो जाने का डर है।

कृष्ण की पूरी चेष्टा यह है कि वे अर्जुन को दुर्योधन होने से बचा लें। और अर्जुन को अर्जुन होने से भी बचा लें। और अगर अर्जुन युद्ध में उतरे, तो ऐसा उतरे जैसा बुद्ध अगर युद्ध में उतरते तो उतरते—इतनी पवित्रता से, इतनी निर्दोषता से, इतने निर्विकार होकर—एक उपकरण मात्र—निमित्त मात्र।

धैर्य और प्रतीक्षा • गुरु पहला स्वाद है • विधेय पर ध्यान दो
जानना और होना • त्रिगुणात्मक धारणा शक्ति

**दसवाँ प्रवचन**

प्रातःकाल, दिनांक ३० जुलाई, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥



और हे पार्थ, ध्यान-योग के द्वारा जिस अव्यभिचारिणी धृति अर्थात् धारणा से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धृति तो सात्त्विकी है।

और हे पृथापुत्र अर्जुन, फल की इच्छावाला मनुष्य अति आसक्ति से जिस धृति के द्वारा धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है, वह धारणा राजसी है।

तथा हे पार्थ, दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धृति अर्थात् धारणा के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःख को एवं उन्मत्तता को भी नहीं छोड़ता है अर्थात् धारण किये रहता है, वह धारणा तामसी है।

**पहले कुछ प्रश्न।**

●पहला प्रश्न : कल आपने कहा है कि संसार के अनुभवों में जल्दी मत करना। लेकिन आप तो अत्यंत जल्दी में हैं, फिर आप मिलेंगे कहाँ, मिलेंगे कैसे?

जल्दी से ज्यादा देर करानेवाला और कोई तत्त्व नहीं है। जितनी जल्दी करोगे, उतनी देर हो जाएगी, क्योंकि जल्दी में कुछ भी गहरा तो हो ही नहीं पाता; सतह पर ही हो सकता है।

अगर संसार से भागने की भी जल्दी की, तो गहरे में संसार से बँधे रह जाओगे। तब तुम्हारी स्वतंत्रता वैसी ही होगी, जैसे घोड़े को खूँटे से बाँध दिया हो, लेकिन काफी लम्बी रस्सी दे दी हो। वह घूमता रहता है—उसी रस्सी से बँधा। सोचता है: स्वतंत्र है। लेकिन स्वतंत्र नहीं है। जल्दी ही अनुभव में आ जाएगा कि बँधा है।

रस्सी लम्बी हो सकती है। संसार से बिना अनुभव के जो भाग गया, उसकी रस्सी लम्बी हो सकती है। वह हिमालय में भी रहे, बाजार की खूँटी से ही बँधा रहेगा; चित्त तो वहीं घूमेगा।

चित्त तो वहीं घूमता है, जहाँ अधूरा अनुभव रह जाता है। फिर तुम चित्त के घूमने से मुक्त होना चाहते हो! वह तुम न कर पाओगे। अड़चन चित्त की नहीं है, अधूरे अनुभव की है।

अब एक आदमी मेरे पास आता है। वह कहता है, 'जब भी ध्यान करने बैठता हूँ, संसार भर की चीजें याद आती हैं! इसका अर्थ क्या है?' इसका अर्थ है: मन वहाँ जाना चाहता है, जहाँ से अतृप्त लौट आया है। अतृप्त तो वह भी लौटेगा, जो पूरा जानकर लौटा है, लेकिन तब अतृप्ति सुनिश्चित हो जाएगी। अभी इसकी अतृप्ति सुनिश्चित भी नहीं है। अभी वह सोचता है कि 'शायद तृप्ति मिल जाती, शायद मैं जल्दी आ गया। मैंने पूरा खोजा नहीं, कहीं कोई खजाना हो ही। किसी और उपाय से सफलता मिल जाती। सारा संसार गलत तो नहीं हो सकता। इतने लोग घूम रहे

हैं, खोज रहे हैं—धन, पद, प्रतिष्ठा। सभी पागल तो नहीं हो सकते!' इसे अपने पर संदेह आता है, क्योंकि अपना अनुभव मजबूत नहीं है।

मैं एक सड़क से गुजर रहा था—एक नगर में और एक चर्च के द्वार पर मैंने एक तख्ती लगी देखी। छपी हुई तख्ती लगी थी। शायद और चर्चों के द्वार पर भी लगायी गयी होगी। तख्ती पर लिखा था, 'इफ टायर्ड ऑफ सिन, कम इन—अगर पाप से थक गये, तो भीतर आ जाओ।' तख्ती बड़ी मौजू मालूम पड़ी। लेकिन तख्ती के नीचे हाथ से घसीटे अक्षरों में जैसे किसी ने लाल लिपस्टिक से लिखा था, 'इफ नॉट, देन फोन: फोर सेवन वन वन—अगर न थके हों, तो फोन नम्बर ४७११ पर खबर करें!' किसी वेश्या का पता था।

बात तो और भी मौजू लगी। थक गये हों पाप से, तो ही मंदिर में जाने का उपाय है। न थके हों, तो वेश्यागृह खोजना ही उचित है। क्योंकि जो थक कर नहीं जाएगा, वह मंदिर में तो चला जाएगा, लेकिन मन वेश्यागृह में छूट जाएगा।

और असली सवाल तुम्हारे मन का है, तुम्हारी देह का नहीं है। तुम अपनी देह को तो पूरा का पूरा साष्टांग मंदिर में ले जा सकते हो, लेकिन मन को कैसे ले जाओगे?

मन तुम्हारी सुनता नहीं। तुम मंदिर में होते हो, मन अपने 'मंदिरों' में भटकता है। तो मंदिर में बीता वह समय व्यर्थ ही गया—जब मन वहाँ न था। इसलिए कहता हूँ: जल्दी मत करना।

और मैं रहूँ या न रहूँ, अगर तुमने जल्दी न की, तो कोई न कोई तुम्हें मिल जाएगा। रूप-रंग बदल जाते हैं, नाम बदल जाते हैं, पर कोई राह पर तुम्हें मिल जाएगा, जो आगे का इशारा कर देगा।

जब भी तुम तैयार हो, इशारा करनेवाला मिल ही जाता है। वह जीवन के गणित का हिस्सा है। उसमें जरा भी संशय का कोई कारण नहीं है। उससे भिन्न कभी हुआ ही नहीं है।

जब शिष्य तैयार है, गुरु उपलब्ध हो जाता है। हाँ, अगर तुमने जिद्द की—मुझसे ही मिलने की, तो तुम वंचित रह जाओगे। अगर तुम्हें गुरु चाहिए, तो गुरु मिल जाएगा। लेकिन अगर गुरु का भी आग्रह है कि वह इसी रूप-रंग में मिले, तो तुम मुश्किल में पड़ जाओगे। तो तुम गुरु खोज ही नहीं रहे हो। तुम कोई मोह, कोई आसक्ति खोज रहे हो। तब तुम्हारा संसार इतना बड़ा है कि उसने गुरु को भी डुबा दिया है। तब तुम्हारा गुरु भी संसार का ही हिस्सा है। अन्यथा तुम्हें क्या प्रयोजन है कि महावीर से राह मिलती है, कि बुद्ध से, कि क्राइस्ट से, कि मोहम्मद से। जो भी मिल जाएगा, तुम उससे पूछ लोगे।

तुम स्टेशन की तरफ भागे जा रहे हो, राह पर कोई आदमी मिल जाता है तो तुम





उससे पहले क्या यह पूछते हो कि आप हिन्दू हैं या मुसलमान! क्योंकि मैं पूछना चाहता हूँ: स्टेशन का रास्ता कहाँ है!

जल्दी में ही तो तुम चूके हो पहले भी। तुम इतनी भाग दौड़ में हो कि तुम सुन ही नहीं पाते: मैं क्या कह रहा हूँ। तुम पहुँचने को इतने उत्सुक हो कि तुम सुन ही नहीं पाते कि मैं तुम्हें कहाँ पहुँचाने के लिए इशारा कर रहा हूँ। तुम देख ही नहीं पाते। तुम्हारी आँखें जल्दी से भरी हैं। तुम्हारे प्राण जल्दी से कँप रहे हैं।

धैर्य हो तो ही बीज रोपित हो सकेगा। धैर्य हो तो ही बीज तुम्हारे हृदय की भूमि में उतर सकेगा, अंकुरित हो सकेगा। बीज को तुम डालते हो जमीन पर और जमीन कंपती रहे और भूकंप आते रहें, तो बीज टिक ही न पायेगा। वह अपनी जड़ें फैला ही न पायेगा। फेंक-फेंक दिया जाएगा। उखड़-उखड़ जाएगा। बार-बार बाहर आ जाएगा।

तुम थोड़े भूकंप से बचो। जल्दी—भूकंप लाती है। वह चित्त की बड़ी ही कंपायमान दशा है।

जल्दी नहीं है; होगा। और जब भी होगा, तुम प्रतीक्षा करने को राजी हो। ऐसी अगर प्रतीक्षा हो, तो अभी भी हो सकता है। यही जटिलता है, जो तुम्हारी समझ में नहीं बैठ रही है।

अगर तुम अनंत तक राजी हो—प्रतीक्षा करने को, तो इसी क्षण हो सकता है, क्योंकि फिर कोई कारण न रहा—देर तक रुकने का। जल्दी खो गयी, धैर्य बैठ गया, बीज रोपित हो गया। बीज रोपित हो जाय, तो रूपांतरित भी हो जाएगा।

भूल कर भी जल्दी मत करना। खोना हो, तो वही रामबाण उपाय है। पाना हो, तो—धैर्य।

● दूसरा प्रश्न: साधक सद्गुरु को खोज ले, तो क्या खोज मिट जाती है?

तभी खोज शुरू होती है। उसके पहले तो खोज के नाम पर ऐसे ही व्यर्थ का चलना-फिरना था। उसके पहले तो टटोलना था—अँधेरे में। न कोई मार्ग था, न कोई दिशा थी, न कोई दृष्टि थी।

सद्गुरु के मिलते ही खोज शुरू होती है। व्यर्थ दौड़-धूप समाप्त हो जाती है। वह खोज थी ही नहीं। असली खोज शुरू होती है। और असली खोज शुरू हो जाय तो आधी तो पूरी ही हो गयी।

बहुत थोड़ा ही बचता है गुरु मिलने के बाद। गुरु को जिसने खोज लिया, उसका अर्थ है, वह झुका, मिटा, अहंकार से थोड़ा हटा; तभी तो गुरु को खोज पाया, नहीं तो गुरु को नहीं खोज पायेगा। और इसी मार्ग पर तो गुरु और आगे ले जाएगा कि बिलकुल मिट जाओ, थोड़े क्या मिटे। जब मिटे तो बिलकुल ही मिट जाओ।

थोड़े से मिटने से गुरु मिलता है, पूरे मिटने से परमात्मा मिल जाता है। अब तो

मार्ग साफ है। थोड़े से हटे, गुरु मिला। बिलकुल ही हट जाओ बीच से, परमात्मा मिल जाता है।

गुरु तो पहला स्वाद है, पहली सुगंध है। बगीचा बहुत करीब है। ठण्डी हवाएँ छूने लगीं, सुवासित हवाएँ छूने लगीं। अब तुम निश्चित हो सकते हो। गुरु को पा कर आश्वासन मिल गया कि जो एक को हो सकता है, वह तुम्हें भी हो सकता है।

गुरु तो एक झरोखा है, एक वातायन; उससे तुम झाँक लोगे—दूर के दृष्यों को। उन्हें पाने के लिए तुम्हें यात्रा करनी पड़ेगी, लेकिन उनका होना सुनिश्चित हो जाय, तो यात्रा कठिन नहीं है।

असली कठिनाई है—आश्वासन की। तुम खोजते हो, तब भी तुम्हें पक्का नहीं है कि तुम जिसे खोज रहे हो, वह है भी। कैसे खोज होगी—जब तुम्हारे पैर ही डगमगा रहे हैं, जब तुम्हारा हृदय ही निश्चित नहीं है? जब भीतर श्रद्धा का उदय ही नहीं हुआ है?

तुम खोज रहे हो किसी चीज को, और पक्का ही नहीं है कि वह है। तुम कैसे पूरे प्राण से इस खोज में उतरोगे? तुम कैसे अपने जीवन को दाँव पर लगाओगे?

गुरु को मिलकर कुछ और थोड़े ही मिलता है, भरोसा मिलता है, आस्था मिलती है। इस व्यक्ति को हो सका, तो तुम्हें भी हो सकता है। इसके माध्यम से एक झलक मिलती है—दूर के पर्वत शिखरों की। पहुँचने में समय लगेगा। यात्रा होगी। लेकिन एक बार दूर का गौरी-शंकर दिखाई पड़ जाय, आँखें उस दृष्य को देख लें, उस शीतलता को थोड़ा-सा पी लें, उस सौंदर्य में थोड़ा डूब जायँ, तो फिर मंजिल बड़ी आसान हो जाती है। फिर तुम दौड़कर चलने लगते हो। मार्ग साफ है, दिशा स्पष्ट है, भीतर आस्था का उदय हुआ है। अब देर कितनी ही लग जाय, लेकिन मंजिल है। फिर देर क्या है, पहुँच ही जाओगे।

गुरु के बिना बड़ी कठिनाई यह है कि तुमने किसी ऐसे आदमी को नहीं जाना, जिसे हो गया हो। इसलिए संदेह बना रहता है। मन में यह बना ही रहता है: निर्वाण होता है? समाधि घटती है? कहीं लोग झूठ ही तो नहीं बोलते रहे! शास्त्रों में लिखा है, कहीं कपोल-कल्पना तो नहीं है? कहीं चालबाजों की चालबाजी तो नहीं है? कहीं धूर्तों की ईजाद तो नहीं है? परमात्मा है? जीवन को देख कर भरोसा नहीं आता। इतनी पीड़ा, इतना दुःख, इतना नरक! अगर परमात्मा है, तो इतना नरक क्यों है, इतना दुःख क्यों है, इतनी पीड़ा क्यों है? अगर परमात्मा है, तो जीवन एक उत्सव क्यों नहीं है? जीवन एक महारोग जैसा क्यों है? मृत्यु क्यों है? हजार-हजार प्रश्न हैं।

परमात्मा कोरा शब्द मालूम पड़ता है। शायद नासमझों ने ईजाद कर लिया—या धूर्तों ने या शायद भयभीत लोगों ने—सांत्वना के लिए, समझाने के लिए। एक कल्पना





मालूम पड़ती है। सुखद हो सकती है, लेकिन भ्रांत है। सपना मालूम होता है। तो तुम बढ़ोगे कैसे? सपने को कोई खोजने निकलता है?

इंद्र-धनुष कितना सुंदर मालूम पड़ता है, लेकिन कोई भी तो खोजने नहीं जाता। तुम जानते हो, वहाँ कुछ भी नहीं है, किरणों का जाल है। पानी की बूँदों से गुजरता हुआ रंग का धोखा है। पास जाओगे, मिलेगा नहीं। लोग—जिन्होंने जाना है, वे संसार को मृगमरीचिका कहते हैं और जिन्होंने नहीं जाना, उन्हें परमात्मा सब से बड़ी मृग-मरीचिका मालूम होता है।

संसार फिर भी यथार्थ है। दीवार से सिर टकराओ तो सिर टूटता है; खून, लहू बहता है। यह परमात्मा कहाँ है? इसको कहीं छूने का उपाय नहीं। और ज्ञानी कहते हैं कि इसे सोचने का उपाय नहीं है, छूने की तो बात दूर! यतो वाचो निवर्तन्ते—वहाँ से वाणी भी गिर जाती है, लौट आती है। अप्राप्य मनसा सः—उसे मन से पाने का कोई उपाय ही नहीं है। न चक्षुः गच्छति—न आँख वहाँ तक जाती। न वाक् गच्छति—न वाणी वहाँ तक जाती; नो मनाः—मन भी वहाँ तक नहीं जाता।

जहाँ न वाणी जाती है, न आँख जाती है, जहाँ न मन जाता, जहाँ से शब्द लौट कर गिर जाते हैं, वह है भी? वहाँ जाने का फिर उपाय क्या है? सारी बात पहेली जैसी मालूम पड़ती है; पागलपन की मालूम पड़ती।

सद्गुरु से मिलने से सिर्फ एक घटना घटती है, वह यह कि जो कल तक बेबूझ मालूम पड़ता था, उसमें सूझ-बूझ आ जाती है। सद्गुरु को देख कर लगता है कि वाणी चाहे वहाँ तक न पहुँचती हो, पर चेतना पहुँच जाती है। आँखें न पहुँचती हों, लेकिन और भी आँखें हैं—भीतर की, जो पहुँच जाती हैं। वाणी न कह पाती हो, मौन कह देता है। मन से न मिलता हो, लेकिन मिलता है।

सद्गुरु को देखकर पता चलता है कि ऐसी भी दशा है—चैतन्य की, जहाँ मन नहीं होता और तुम पूरे-पूरे होते हो—अपनी समग्रता में, अपनी संपूर्ण गरिमा में।

सद्गुरु परमात्मा की एक झलक है—एक झलक, एक वातायन, एक छोटा-सा झरोखा, जिसको तुम खोल लेते हो और दूर के दृष्य—जो कल तक अपरिचित अनजाने थे, भरोसे योग्य न थे, अतर्क्य थे, वे तर्क्य हो जाते हैं। असंभव थे, संभव हो जाते हैं। होने की कोई आशा न थी, अचानक सुनिश्चित हो जाते हैं। इतना ही नहीं, संसार जो यथार्थ मालूम पड़ता था, फीका मालूम पड़ने लगता है। संसार जो सत्य मालूम पड़ता था, स्वप्न हो जाता है। इस बड़े यथार्थ की तुलना में, सापेक्षता में, संसार एकदम माया हो जाता है। फिर यात्रा बड़ी आसान है।

पर यात्रा गुरु से ही शुरू होती है। उसके पहले तो तड़पन थी, टटोलना था, अँधेरे में भटकना था। अंधे आदमी की यात्रा थी। कुछ पता न था; चल रहे थे। शायद कोई

धक्का दे रहा था। धक्के में बहे जाते थे। आँख खुलती है, पैर थमते हैं, होश आता है, आस्था दृढ होती है, तब यात्रा का रंग-रूप बदल जाता है, गुण-धर्म बदल जाता है।

इसलिए ज्ञानी निरंतर कहे जाते हैं कि गुरु के बिना बहुत कठिन है; करीब-करीब असंभव है। जिसने स्वाद ही न जाना हो, वह खोज पर पूरा जीवन दाँव पर कैसे लगायेगा? जिसे एक भी अनुभव न हुआ हो, जिसके स्वप्न में भी छाया न पड़ी हो परमात्मा की वह कैसे अचानक जुआँरी हो जाएगा और सब दाँव पर लगा कर निकल जाएगा? असंभव है।

गुरु पर यात्रा समाप्त नहीं होती, शुरू होती है। लेकिन करीब-करीब पूरी भी हो जाती है। फिर बस, दो-चार कदम चलने की बात है। वह तुम पर निर्भर है। लेकिन फिर तुम ना भी चलो तो भी तुम जानते हो कि जब चाहो, चल सकते हो। फिर तुम न भी चलो, तब भी तुम जानते हो कि बस, यह रहा किनारे पर! जरा हाथ फैलाना है और पा लेंगे।

फिर तुम लाख उपाय करो, जो तुमने गुरु की आँखों से झांक कर देख लिया है, उसकी स्मृति तुम्हें घेरे रहती है। उसकी स्मृति तुम्हें कचोटती रहती है। एक मीठा दर्द तुम्हारे हृदय में भर जाता है। तीर लग गया, वह चुभता रहता है। वह तुम्हें चैन से न बैठने देगा। वह तुम्हें मंजिल तक पहुँचा के रहेगा।

सत्य का स्वाद हो, तो सत्य की पीड़ा पैदा होती है। पीड़ा हो, तो फिर यात्रा से बचा नहीं जा सकता।

● तीसरा प्रश्न: कल आपने कहा: हम कहाँ हैं? सत्त्व, तमस या रजस में, यह हमें ही खोजना होगा। और यह कि साधक के लिए यह जरूरी है। पर मुझे तो कुछ पता नहीं चलता कि मैं कहाँ हूँ!

अगर पता न चले—कहाँ हो—समझना तमस में हो। अगर धुंधला-धुंधला पता चले, कुछ-कुछ पता चले, कुछ-कुछ न चले—समझना रजस में हो। अगर साफ-साफ पता चले, समझना कि सत्त्व में हो।

घबड़ाने की कोई जरूरत नहीं। सौ में निन्यानबे लोग तमस में हैं। यह स्वाभाविक है। तमस में हम पैदा हुए हैं—अंधकार में। तमस में हम बड़े हुए है। अंधकार हमारी स्थिति है। वह हमारी नियति नहीं है। वह हमारी स्थिति है; वह हमारी मंजिल नहीं है, लेकिन हमारा आज का होने का क्षण उसी में है। बड़ी अमावस की रात है। लेकिन इससे कुछ हताश हो जाने की जरूरत नहीं है, क्योंकि जितनी अँधेरी रात हो, उतनी ही सुंदर सुबह होती है।

रात को रात की तरह जानने से ही तुम तमस के बाहर उठने शुरू हो जाते हो।

अगर पता न चलता हो—कहाँ हो, तो समझना कि तमस में हो, क्योंकि अँधेरे





में ही पता नहीं चलता कि कहाँ हैं। घबड़ाना मत इससे कि तमस में हैं, अब क्या होगा। यह जान लिया कि तमस मे हैं, तो तुम तमस के पार उठने ही लगे। जान लिया कि नींद में हैं—नींद टूटने ही लगी। जान लिया कि पागल हूँ—पागलपन हटने ही लगा।

जानना बड़ी भारी क्रांति है। कृष्णमूर्ति निरंतर कहते हैं: ज्ञान एकमात्र क्रांति है। है भी। क्योंकि जिस चीज को भी तुम जान लो, उसी में क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाते हैं।

जिस व्यक्ति ने जान लिया: मैं आलसी हूँ—आलस्य टूटने लगा, क्योंकि यह जानना भी आलसी को संभव नहीं है। आलसी कभी अपने को आलसी नहीं मानता। तामसी कभी अपने को तामसी नहीं मानता। तुम कहो, तो लड़ने को खड़ा हो जाएगा। और सौ में निन्यानबे लोग तामसी हैं। यह स्वाभाविक है। तामसी न होते, तो बुद्धत्व को उपलब्ध हो जाते। अँधेरे में हो, अभी रोशनी नहीं हुई। अभी भीतर का दीया नहीं जला।

अगर तुम्हें समझ में आने लगे कि तुम तामसी हो, तो दूसरी दशा पैदा होगी—जो राजस की है। कुछ-कुछ समझ में आयेगा, कुछ-कुछ समझ में नहीं आयेगा। कभी ऊपर उठ आओगे, कभी डुबकी मार जाओगे; कभी अँधेरे में दब जाओगे, कभी घड़ी भर को ऊपर आ जाओगे।

किसी को नदी में डूबते देखा है? बाहर निकलता, भीतर जाता, बाहर निकलता। वैसी दशा होगी। जब बाहर आओगे, तब कुछ-कुछ साफ मालूम होगा। जब डूबोगे, तब सब सीमाएँ खो जाएँगी।

लेकिन ठीक से अपनी स्थिति को समझ लेना बहुत जरूरी है, क्योंकि वहीं से काम होगा शुरू।

तुम हो तमस में और समझो कि सत्त्व में हो, तो तब तुम कभी काम न कर सकोगे। तुम थे बीमार और समझा कि स्वस्थ हो, तो इलाज कैसे होगा! तुम चिकित्सक के पास ही न जाओगे। इसलिए तो बहुत लोग गुरु की खोज नहीं करते। जरूरत नहीं है। वे मानते हैं कि उन्हें ज्ञान है ही। वे मानकर ही चलते हैं कि और कुछ जानने को शेष नहीं है। जानने योग्य सब उन्होंने जान लिया है। किससे पूछना, किसके पास जाना? किसलिए जाना?

जब तुम किसी की खोज में जाते हो, तो स्वभावतः भीतर एक स्थिति आ गयी है, जब तुम्हें लगता है कि तुम नहीं जानते हो।

तमस की स्थिति है, उसके प्रति होश से भर जाओ, उसे छिपाओ मत। छिपाने से कोई बीमारी कभी मिटती नहीं—बढ़ती है। घाव को दबाओ मत—उघाड़ो, खुली रोशनी में रखो, हवाओं को छूने दो—घाव भरता है। सूरज को खेलने दो घाव के ऊपर

—घाव भरता है। उसे ढाँको मत, छिपाओ मत, अन्यथा और सड़ेगा। जो छोटा-मोटा घाव था, वह नासूर हो जाएगा। जो नासूर था, वह कभी कैंसर हो जाएगा।

छिपाओ मत। बीमारी छिपाने से मिटती नहीं। लेकिन हम सब बीमारी को छिपाते हैं। और झूठे स्वास्थ्य को प्रकट करते हैं। तो बीमारी बढ़ती जाती है और तुम भीतर सड़ते जाते हो। जीवन एक लम्बी सड़ाँध हो जाती है।

उघाड़ो; अपने को वैसा ही जानो, जैसे हो। यह सत्य का पहला कदम हुआ। पहले धुँधलका रहेगा; कुछ जागे, कुछ सोये; चेष्टा जारी रहेगी, धुंधलका भी मिट जाएगा। जागे ही जागे; तब सत्त्व का जन्म होगा।

● चौथा प्रश्न : क्या आप तामसी लोगों को भी अपने संन्यास में दीक्षित करते हैं?

यह पूछा है—मुक्ति ने। अगर न करता होता, तो मुक्ति का क्या होता!

तामसी ने कोई कसूर नहीं किया है, न कोई उसने अपराध किया है। तामसी का तो इतना ही अर्थ है कि अभी जीवन की संपदा अँधेरे में छिपी पड़ी है। उसे उघाड़ना है। तो मेरा उपयोग ही इसलिए है।

सात्त्विक तो मेरे बिना भी खोज ले सकता है, तामसी कैसे खोजेगा?

मैंने सुना है कि चीन में एक बड़ा सद्गुरु हुआ—हुवांग-पो। उसके पाँच सौ शिष्य थे। बड़ा आश्रम था। पाँच सौ भिक्षु उसके पास रहते थे। लेकिन एक भिक्षु बहुत उपद्रवी था। चोर भी था, और भी अनेक तरह की नशे की आदतें थीं। किसी तरह योग्य न था—भिक्षु होने के। कई बार पकड़ा भी गया, रंगे हाथों भी पकड़ा गया। सारा आश्रम परेशान था; वह चोरी करता, नशा भी करता, कभी शराब पिये हुए चला आता है। बदनामी फैलती पूरे इलाके में कि यह किस तरह का संन्यासी है! शराब-घरों में पाया गया है, जुआँ-घरों में बैठा मिला है—और भिक्षु है!

गुरु के पास बहुत शिकायतें आती रहीं। हुवांग-पो सुनता और बात टाल देता। लेकिन एक दिन तो हद हो गयी।

वह शराब पी कर बाजार में किसी से लड़ा, मार-पीट की; किसी का सिर फोड़ दिया। वहाँ से लोग उसे पकड़े हुए लाये—लहू-लुहान, और नशे में धुत् और गालियाँ बकता हुआ। उस दिन तो बाकी शिष्यों ने कहा, 'आज कुछ निर्णय हो ही जाना चाहिए। अब यह आदमी एक क्षण भी भीतर नहीं रखा जा सकता।'

उन चार सौ निन्यानबे शिष्यों ने गुरु से एक स्वर से प्रार्थना की कि 'अब हम सब एक स्वर से प्रार्थना करते हैं, इसे यहाँ नहीं रखा जा सकता।' गुरु ने कहा, 'तुम सब अच्छे लोग हो, तुम कहीं और भी चले जाओगे, तो शायद वहाँ से भी तुम सत्य को खोज लोगे, लेकिन इसका क्या होगा? तो तुम जा सकते हो, इसे छोड़ दो। इसको तो मेरी





बहुत जरूरत है। तुम मेरे बिना भी खोज लोगे, यह मेरे बिना न खोज पायेगा। इसे छोड़ना तो ऐसे होगा, जैसे कि चिकित्सक बीमार को छोड़ दे और स्वस्थ का इलाज करे! तुम भले-चंगे हो; तुम जा सकते हो।'

मेरे पास तो सब तरह के लोग आयेंगे। अगर मैं उनके लिए हूँ—जो स्वस्थ हैं, तो मेरे होने का कोई अर्थ ही नहीं है। मैं उनके लिए भी हूँ—जो अस्वस्थ हैं। वस्तुतः तो उन्हीं के लिए हूँ।

मेरे पास रोज ऐसे मामले आते हैं। कोई आ कर कहता है; 'फलां संन्यासी ऐसा काम करता पाया गया! आप कुछ कहते क्यों नहीं हैं? आप प्रोत्साहन देते हैं? आप चुप हैं!'

वह जो करता हुआ पाया गया है, वह तो स्थिति है, वह कोई नियति नहीं है। उस स्थिति को बदलना है। और वह अकेला नहीं बदल सकता, इसलिए तो मेरे पास आया है, नहीं तो खुद ही बदल लेता। वह अपने पैर से नहीं चल सका, इसलिए तो मेरे सहारे आया है। अब मैं सहारा खींच लूँ?

दुनिया में बुराई बढ़ती है, क्योंकि भले लोग बुरे आदमियों के हाथ से सहारा छीन लेते हैं; उनको बुरा होने के लिए छोड़ देते हैं। जो उनकी स्थिति है, उसको उनकी नियति मान लेते हैं।

जब भी मैं देखता हूँ कि कोई आदमी कुछ बुरा कर रहा है, तो मेरी इच्छा यह नहीं होती कि उससे कहूँ कि तू बुरा मत कर। क्योंकि यह तो बहुत बार उससे कहा गया है। अगर यही सुन कर वह ठीक हो सकता, तो ठीक हो गया होता। यह कहना तो व्यर्थ की पुनरुक्ति होगी। यह तो मूढता होगी। यह तो कितने लोगों ने उससे नहीं कहा है, कि बुरा मत कर!

मैं उससे बुरे की बात ही नहीं करता। मैं उससे कुछ 'और' करने को कहता हूँ। निषेध पर मेरा जोर नहीं है। मैं उससे कहता हूँ: ध्यान कर, प्रार्थना कर, पूजा कर। मैं उसे कुछ करने में लगाना चाहता हूँ। न करने की बात नहीं करता। जैसे-जैसे ध्यान गहरा होगा, कुछ चीजें छूटनी शुरू हो जाती हैं।

आदमी शराब पीता है; ध्यान गहरा होगा, शराब छूट जाएगी। क्योंकि मेरा अनुभव यही है कि वह शराब भी इसीलिए पीता है कि एक तरह की ध्यान की आकांक्षा है। किसी अमृत-रूपी ध्यान का उसे पता नहीं है। शराब सस्ती है, बाजार में मिल जाती है। वह शराब पी कर अपने को भुलाने की कोशिश में लगा है। भुलाने की कोशिश वहाँ है। अगर उसे ध्यान की कोई विधि मिल जाय, जिसमें वह सरलता से अपने को डुबा दे, तो शराब छूट जाएगी। उसका प्रयोजन ही न रहा। धीरे-धीरे तो वह पायेगा कि ध्यान में वह इतना डूब जाता है कि दुनिया की कोई शराब उतना नहीं डुबा सकती।

तब दुनिया की सब शराबें छूट जाएँगी।

कोई व्यक्ति धन के पीछे पागल है, तो उसे रोकने का क्या प्रयोजन है? धन में ही उसने कुछ चीज देखी है—कोई शाश्वत की थोड़ी-सी झलक देखी है। बाकी सब चीजें तो बदल जाती हैं—इस संसार में, धन थोड़ा-सा स्थिर मालूम पड़ता है। प्रेम का भरोसा नहीं है; आज करे व्यक्ति, कल न करे। प्रियजनों का भरोसा नहीं है; आज जिन्दा हैं, कल मर जायें। आज मुँह है अपनी तरफ, कल पीठ कर लें! धन साथी मालूम पड़ता है।

यह आदमी किसी साथी की तलाश में है। बाकी कोई भी साथी भरोसे योग्य नहीं मिलता। तो इसने धन से साथ जोड़ लिया है। इसको तुम कंजूस कहते हो, कृपण कहते हो, लेकिन गालियों से यह नहीं बदलने वाला। इसकी खोज भी बहुत गहरे में संग-साथ की चल रही है। कोई ऐसा साथ चाहता है—जो कभी न छूटे।

यह परमात्मा की खोज करना चाहता है। परमात्मा की छोटी-सी झलक—गलत ही सही—इसे धन में दिखाई पड़ी है। इसलिए तो ज्ञानियों ने परमात्मा को परम-धन कहा है।

कोई आदमी किसी स्त्री के पीछे दीवाना है, या कोई किसी पुरुष के पीछे दीवानी है। उस पुरुष में कुछ परमात्मा की छाया दिखाई पड़ती है। इसलिए तो पत्नियों ने पति को परमात्मा कहा है। किसी स्त्री में किसी पुरुष को सौंदर्य के द्वार खुलते हुए दिखाई पड़े हैं, चाहे वे सदा खुले न रहें, चाहे जल्दी ही बन्द हो जायें, चाहे वे द्वार वस्तुतः वहाँ न हों, काल्पनिक हों, लेकिन कुछ दिखाई पड़ा है—कुछ अलौकिक, कोई ज्योति—किसी और लोक की; उसी के पीछे आदमी पागल है। उसको रोकना क्या है? जिसके पीछे वह पागल है, उसकी और बड़ी झलक देनी जरूरी है। रुक जाएगा।

अगर परमात्मा की सीधी झलक मिले, तो कौन उसे माध्यम से खोजना चाहता है; कौन फिक्र करता है फिर कि हम किसी पुरुष में या किसी स्त्री में उसके सौंदर्य को देखें! अगर उसका सौंदर्य सीधा दिख जाय, सामने आ जाय, आँख पर आ जाय, तो फिर कौन मध्यस्थ को लेना पसंद करेगा! क्योंकि मध्यस्थ में तो विकृति हो ही जाती है।

मैं तुमसे कहता हूँ: तुम कैसे हो, इसकी मैं चिंता नहीं करता, क्योंकि तुम जैसे हो, वह तुम्हारी स्थिति है—तुम्हारा स्वभाव नहीं। मैं तुम्हारे स्वभाव को देखता हूँ। तुम्हारा स्वभाव परम है। तुम्हारा स्वभाव परमात्मा का स्वभाव है। उस पर कितनी ही राख की परतें जमी हों, मैं तुम्हारे भीतर के अंगार को देखता हूँ। तुम्हारी राख की परतों को झाड़ देंगे। राख की परतें हैं, कुछ बहुत झाड़ने में समय भी नहीं लगता। राख ही है, जरा-सा हवा का झोंका भी झाड़ देगा; भीतर की अंगार साफ हो जाएगी।

मैं तुम्हें राख में बहुत उत्सुक होने को भी नहीं कहता कि तुम इसे झाड़ने की पहले





फिक्र करो। मैं तो कहता हूँ तुम्हें भीतर के अंगारे का स्मरण आ जाय। राख रही तो, न रही तो, झड़ गयी। रही तो भी अंतर नहीं पड़ता, जिसको भीतर के अंगार का अनुभव होने लगा, वह क्या फिक्र करता है कि बाहर थोड़ी राख जमी है; जमी रहे।

अंगार की प्रतीति हो जानी चाहिए। भीतर के प्रभु का अनुभव हो जाना चाहिए। फिर तुम क्या करते हो, क्या नहीं करते हो, वह तुम जानो। इस भेद को ठीक से समझ लो।

मैं कोई नैतिक शिक्षक नहीं हूँ। तुम अगर तमस में हो, तो मेरे मन में तुम्हारे प्रति कोई निंदा नहीं है। न कोई अस्वीकार है। ठीक है। खूब हो, भले हो। कुछ हर्जा नहीं है। हर्ज तो तब होगा, जब तुम जिद्द करो—इस तमस में रहने की। तुम मेरे पास आये हो, वही बताता है कि तुम जिद्द तोड़ना चाहते हो। मेरे पास तुम आये हो, वह बताता है कि तुम तमस के पार उठना चाहते हो। बस, काफी है। तुम्हारे लिए प्रमाण काफी है कि तुम खोज कर रहे हो कि कोई उपाय मिल जाय।

एक शराबी ने चार दिन पहले मुझे कहा कि छूटती नहीं। मैंने कहा, 'तू फिक्र ही छोड़ दे। छोड़ना भी क्या है? शराब ही पीता है; किसी का खून तो नहीं पी रहा?' वह थोड़ा चौंका। उसने कहा, 'लेकिन शराब बड़ी बुरी चीज है।'

मैंने कहा, 'रहने दे, बुरी है तो भी। बुरी पर ज्यादा ध्यान मत दे। क्योंकि जीवन के बड़े जटिल नियम हैं।'

अगर तुम बुरे को छोड़ने पर ज्यादा ध्यान दो, तो तुम बुरे से ही आविष्ट होते जाओगे। जिस चीज पर ध्यान दो, उसी से सम्मोहन हो जाता है। आँख लगा कर देखते रहो किसी चीज को, तुम उसके प्रभाव में पड़ जाते हो।

तो मैंने उसे कहा, 'तू छोड़ दे फिक्र। शराब की फिक्र मत कर, ध्यान की फिक्र कर। तेरी जीवन-ऊर्जा ध्यान की तरफ जाने लगे, तो किसी दिन अपने-आप तू पायेगा: शराब गयी। पता भी नहीं चलेगा: कैसे छूटी।' पता चले तो मजा नहीं रहा। छोड़ना पड़े, तो बात ही क्या हुई! छोड़-छोड़ के छोड़ी, तो क्या खाक छोड़ी! छोड़ी ही नहीं। छोड़-छोड़ के छोड़ी तो पीछे रेखा छूट जाएगी, घाव बन जाएगा। घाव बन जाय—सदा के लिए, वह उचित नहीं है। फिर कभी गिरने का डर रहेगा।

छूटनी चाहिए, छोड़नी नहीं चाहिए। कुछ विराट् मिले, कुछ बड़ा मिले, तो क्षुद्र छूट जाय। छूट जाती है।

इस संसार में कुछ भी नहीं है, जो तुम्हें परमात्मा के पास जाने से रोक सके। हाँ, तुम ही रुकना चाहो, तो बात अलग।

लेकिन जब तुम मेरे पास आये हो, तो उसका अर्थ है: तुम जाना चाहते हो। बात पूरी हो गयी। तुम तामसी हो, कि राजसी, कि सात्त्विक—कुछ अंतर नहीं पड़ता।

तुम जहाँ हो, मैं वहीं से काम शुरू करता हूँ। मेरे द्वार सबके लिए खुले हैं।

● पांचवाँ प्रश्न : रात अच्छी नींद लेने के बाद भी प्रातः कई बार आपके प्रवचन में ध्यान खो-खो जाता है। इससे बचने को क्या किया जाय ?

कुछ भी मत करो। खो जाय, खो जाने दो। इतना ही ध्यान रखो कि खो गया। गैर-ध्यान की अवस्था को भी ध्यान बनाओ। और निषेध मत देखो, विधेय को देखो।

तुम पूछते हो : 'अच्छी नींद लेने के बाद भी प्रातः कई बार प्रवचन में ध्यान खो-खो जाता है।' कई बार खो जाता है, कई बार नहीं भी खोता। नहीं खोता, उस पर ध्यान दो। जितनी बार नहीं खोता, उतनी बार परमात्मा को धन्यवाद दो। जितना सधता है, उतनी ही अनुकम्पा है। उतना भी क्या कम है !

अगर मैं डेढ़ घंटा बोलता हूँ, और डेढ़ घंटे में पांच मिनट को भी ध्यान लग जाय— मेरी बात पर, तो हो गया। एक घंटा पच्चीस मिनट जाने दो। कोई चिंता न करो। पाँच मिनट भी—क्षण-क्षण करके भी पांच मिनट जुड़ जायँ, तो काफी है। उसके लिए भी धन्यवाद दो, क्योंकि उसमें भी नींद आ सकती थी; नहीं आयी; प्रभु की कृपा है, अनुकम्पा है।

और जो हो रहा है, उसको अगर तुम अनुग्रह मानोगे, तो तुम पाओगे : वह बढ़ने लगा। तुमने उसे भोजन दिया। तुमने उसे प्रोत्साहन दिया। धीरे-धीरे क्षण बढ़ते जाएँगे।

अभी क्या करते हो : तुम्हारी पूरी जीवन दिशा निषेधात्मक है। जो नहीं होता, उस पर नजर लगाते हो—कि 'कई बार झपकी लग गयी, ध्यान खो गया, ध्यान नहीं रहा।' अब इसके लिए दुःखी हुए। इसके दुःखी होने में बाकी जो क्षण थे, वे भी व्यस्त हो जाएँगे, नष्ट हो जाएँगे। इसके लिए परेशान हुए, इसके लिए शिकायत मन में उठने लगी, चेष्टा उठने लगी, विचार चलने लगा; तो जल्दी ही तुम पाओगे, जो कुछ देर ध्यान लगता था, वह भी अब नहीं लगता। तब तुम और चिंतित हो जाओगे। बस, धीरे-धीरे चिंता ही चिंता फैल जाएगी।

चौबीस घंटे में अगर एक क्षण को भी आनंद आ जाता हो, तो उस क्षण के लिए धन्यवाद दो। और बाकी चौबीस घंटों के लिए शिकायत मत करो और तुम पाओगे : एक दिन, सारे चौबीस घंटे उसी एक क्षण में समा गये। वही एक क्षण सब पर फैल गया। वही स्वाद पूरे समय का हो गया।

अगर तुमने चौबीस घंटे के लिए शिकायत की और एक क्षण के लिए धन्यवाद न दिया, वह क्षण बहुत छोटा है, बड़ा कोमल है; वह दब जाएगा। ये चौबीस घंटे के पत्थर-पहाड़ काफी हैं। तुम उसके प्राण ले लोगे। वह अंकुर मर जाएगा।

इसे तुम पूरे जीवन की शैली बना लो : जो मिले, उसके लिए धन्यवाद; जो न मिले, उसके लिए शिकायत नहीं। तब तुम पाओगे : धीरे-धीरे एक घड़ी आती है, शिकायत





करने को कुछ बचता ही नहीं।

यह जीवन को देखने के दो ढंग हैं, निषेधात्मक, विधेयात्मक।

संसार निषेध से चलता है—परमात्मा विधेय से। संसार में सारी शिक्षा इसी बात की है कि जो तुम्हारे पास नहीं है, उस पर ध्यान रखो।

एक आदमी के पास दस रुपये हैं। उनसे वह आनंदित नहीं है। नब्बे रुपये नहीं हैं, सौ होते, वह नब्बे के लिए दुःखी है। तो वह दौड़ेगा। कोशिश करेगा, किसी तरह नब्बे कमायेगा, सौ करेगा। जैसे ही सौ हो जाएँगे, वह नौ सौ के लिए दुःखी हो जाएगा, क्योंकि हजार चाहिए। तब वह सौ को नहीं देखेगा। हजार भी हो जाएँगे, तो वह लाख के लिए दुःखी होने लगेगा, जो उसके पास नहीं हैं।

संसार का पूरा गणित यह है कि जो तुम्हारे पास नहीं है, उसे देखो।

एक छोटे बच्चे ने अपने स्कूल में जा कर अपनी शिक्षिका को कहा कि 'एक सवाल है। क्या ऐसे काम के लिए भी किसी व्यक्ति को दण्डित किया जा सकता है, जो उसने किया ही न हो ?' शिक्षिका ने कहा, कभी नहीं।' क्योंकि वह धर्म की कक्षा थी और शिक्षिका धर्म पढ़ा रही थी। उसने कहा, 'परमात्मा के जगत् में ऐसा कभी भी नहीं होता। जो किया ही नहीं तुमने, उसके लिए क्यों दण्डित किया जाएगा।' तो उस लड़के ने कहा, 'आज मैं होम-वर्क करके नहीं लाया हूँ। जो किया ही नहीं है . . .।'

लेकिन अगर तुम गौर से देखो, तो तुम अपने जीवन में पाओगे कि जो तुमने नहीं किया है, उसके लिए तुम स्वयं अपने को दण्डित कर रहे हो। जो तुमने नहीं पाया है, उसके लिए पीड़ित हो रहे हो। जो नहीं हुआ है, वह तुम्हारे प्राण पर फाँसी का फंदा बना है। जो हुआ है, उससे तुम प्रसन्न नहीं हो। जो पाया है, उससे तुम नाचे नहीं। जो बरसा तुम पर, उसके लिए तुमने कभी कोई अहोभाव प्रकट नहीं किया। इसे बदलो।

यह संसार का गणित संसार में तो ठीक है, क्योंकि वहाँ सिवाय दुःख के और कुछ मिलना नहीं है। यह दुःख का ही सार है, यह दुःख का ही आधार है। लेकिन जहाँ तुम महाआनंद की खोज में चले हो, वहाँ विधेय पर दृष्टि दो।

एक काँटा गड़ जाय, तो चिल्लाओ, चीखो मत। हजारों फूल मिले हैं तुम्हें जीवन में। उन हजारों फूल का स्मरण करो, इस काँटे की चुभन अपने आप कम हो जाएगी। और तुम धीरे-धीरे पाओगे कि उन हजारों फूलों की याददाश्त तुम्हें ऐसी दशा में ले आती है कि काँटा चुभ भी जाय तो पता नहीं चलता ! कहाँ पता चलेगा—हजारों फूलों में एक काँटा ! फिर धीरे-धीरे काँटा चुभता भी नहीं।

काँटा थोड़े ही चुभता है, तुम्हारी गलत दृष्टि चुभती है। और तब तुम पाओगे : जो तुम्हारे पास है, वह बहुत है; तुम्हारी पात्रता से ज्यादा है। तुमने उसे कमाया भी नहीं है; वह प्रसाद-रूप बरसा है।

कोई फिक्र नहीं। अगर मुझे सुनते-सुनते कभी झपकी लग जाय, तो वह झपकी भी उसी परमात्मा की है—ले लो। लड़ो मत। जल्दी ही वह खो जाएगी। लड़े, कि बढ़ जाएगी। ले लो; ठीक है। यही शुभ होगा तुम्हारे लिए अभी। जितना जरूरी होगा, उतना ही सुन पा रहे हो। जितना जरूरी नहीं है, वह नहीं सुन पा रहे हो। छोड़ दो, इसे भी। ऐसे ही धीरे-धीरे अहंकार को छोड़ने के पाठ सीखोगे।

कोई चिंता न लो। जितना सुन लिया, उसको ही जीवन में लाने की फिक्र करो, उतने से ही काफी मिल जाएगा।

मैंने तुमसे जो कहा है, अगर उसमें से तुम एक शब्द भी ठीक से समझ गये, तो काफी है। सब समझना जरूरी भी नहीं है। सब तो मैं इसलिए कहा जाता हूँ कि तुम एक शब्द भी नहीं समझ पाते हो।

इसलिए कहे जाता हूँ कि शायद कभी किसी भावदशा में एक शब्द तुम्हारे द्वार पर कुंजी बन जाएगा और ताला खुल जाएगा। लेकिन सभी कुंजियों की कोई जरूरत नहीं है। एक कुंजी पर्याप्त है। बस, हीरा मिल जाय, जल्दी से गाँठ बाँधी—गठियाया।

थोड़ी झपकी ली, कोई हर्जा नहीं। धीरे-धीरे झपकी मिट जाएगी। जैसे-जैसे संपदा बढ़ने लगेगी, वैसे-वैसे नींद घटने लगेगी।

लोग उलटी बातें पकड़ लिए हैं। लोग समझते हैं कि अगर तुम कम सोओगे, तो तुम योगी हो जाओगे। तुम पागल हो जाओगे। योगी कम सोता है, यह बात सच है। मगर कम सोने से कोई योगी नहीं होता। विक्षिप्त हो जाओगे। पागलखाने में भरती करना पड़ेगा।

हाँ, योग से आदमी कम सोने लगता है। जैसे-जैसे जाग बढ़ने लगती है, जरूरत कम होने लगती है नींद की। जैसे-जैसे तुम आनंदित होओगे, वैसे-वैसे झपकी कम आने लगेगी। क्योंकि झपकी एक तरह की उदासी है, एक तरह की तमस अवस्था है, बोझ है। तुम हलके नहीं हो; तुम पथरीले हो। ऐसा नहीं है कि तुम्हारे पंख लगे हों, तुम आकाश में उड़ जाओ। तुम बड़े वजनी हो, इसलिए झपकी लग-लग जाती है। लग जाने दो, कोई अड़चन नहीं है। उसे भी आनंद भाव से ले लो। उसे भी स्वीकार कर लो।

अस्वीकार करना छोड़ो, क्योंकि अस्वीकार करने से अहंकार बढ़ता है; स्वीकार करने से टूटता है।

● छठवाँ प्रश्न : सांख्य ने प्रकृति का गुण विभाजन किया। इसे आप ने बहुत वैज्ञानिक बताया और यह भी कि यह ज्ञान तक पर वह लागू है। केवल परमात्मा गुणातीत है। तो क्या समझा जाय कि ज्ञान भी प्रकृति या पदार्थ का ही सूक्ष्म रूप है?

• निश्चित ही। होना—परमात्म भाव है। जानना—प्रकृति का विकार है।





होना, जानने के बिना हो सकता है। जानना, होने के बिना नहीं हो सकता। तुम हो सकते—तुम हो बिना जाने, इसलिए होना तो मूल आधार है। लेकिन जानना, तो होने के बिना नहीं हो सकता, इसलिए जानने को गौण रखो। जानना दोयम है, द्वितीय है—मूल केंद्र नहीं है। छोड़ा जा सकता है, उसके बिना हुआ जा सकता है।

जानना प्रकृति के माध्यम से है। इसलिए तो जानने के लिए संसार में भेजना पड़ता है, संसार में आना पड़ता है। बिना प्रकृति के संयोग के जानना न होगा। और जब कोई जान लेगा पूरा, तब फिर प्रकृति में नहीं लौटता। अब कोई जरूरत न रही। अब होने में लीन हो गया। उस होने को ही हम परमात्म-भाव, ब्रह्म-भाव, निर्वाण कहते हैं।

फिर तुम्हारा जानना भी तुम्हारे गुणों पर निर्भर होता है। अगर तुम्हारी प्रकृति तामसी है, तो तुम्हारा जानना भी तामसी होगा। तुम जो जानने की उत्सुकता रखोगे, वह भी तमस से पैदा होगी।

अब ऐसे लोग हैं कि अगर तुम उनकी जिज्ञासा पूछो, तो हैरान होओगे। उनकी जिज्ञासा बतायेगी कि वे क्या जानना चाहते हैं। वे क्षुद्र में उत्सुक हैं, व्यर्थ में उत्सुक हैं, बुराई में उत्सुक हैं, निंदा में उनका रस है।

अगर तुम संसार में घूम कर देखो, तो जितने लोगों को निंदा के रस में डूबे पाओगे, उतना तुम किसी रस में डूबे हुए न पाओगे। निंदा अमृत मालूम पड़ती है! कोई किसी की निंदा कर रहा है, गाली दे रहा है। कोई किसी का खण्डन कर रहा है, कोई किसी की बुराइयाँ बता रहा है। कितने लोग प्रसन्न हो कर सुनते हैं और कितनी सरलता से श्रद्धा करते हैं! कोई संदेह भी नहीं उठाता।

बुराई पर तो संदेह कोई उठाता ही नहीं। बुराई को तो लोग बिलकुल चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं, जैसे तैयार ही बैठे थे, बस, किसी के बताने की जरूरत थी।

अगर तुम किसी की भलाई बताओ, तो कोई सुनने को उत्सुक नहीं है। लोग कहते हैं, 'क्यों उबाते हो? क्यों बोरियत पैदा करते हो?' तुम भलाई की बात करो, भीड़ छट जाएगी। भीड़ निंदा में उत्सुक है।

राजनैतिक की सभा हो, बड़ी भीड़ इकट्ठी होगी, क्योंकि वहाँ सारी चर्चा तमस की होनेवाली है; गाली-गलौज होनेवाली है। धर्म की चर्चा हो, भीड़ छँट जाएगी। जैसे-जैसे सत्य की चर्चा गहरी होने लगेगी, वैसे-वैसे लोग छँटने लगेंगे। रस न आएगा। रस तुम्हारी प्रकृति से आता है।

राजसी व्यक्ति का रस महत्वाकांक्षा में है, वासना में है। वह उसकी तलाश में लगा है। अगर उसे कोई नये रास्ते बता दे—महत्वाकांक्षा पूरी करने के, तो वह सुनेगा। सात्विक व्यक्ति की आकांक्षा सत्य को जानने में है।

सत्त्व, रज, तम—ये तीन प्रकृति के गुण हैं, जो तुम्हारी आत्मा को घेरे हैं। जैसे तीन चश्में लगे हों। तो जिस रंग का चश्मा है, वैसी तुम्हें प्रकृति दिखाई पड़ती है। अगर तुमने लाल चश्मा लगा लिया, तो सारा संसार लाल मालूम पड़ता है।

तुम्हारी आत्मा पर ये तीन गुण हैं। इनके माध्यम से तुम देखते हो। जो भी तुम देखते हो, वह इनसे प्रभावित होता है। जब ये तीनों गिर जाते हैं, तब तुम गुणातीत हो जाते हो। तब देखने को कुछ बचता नहीं और देखनेवाला भी नहीं बचता, क्योंकि एक ही रह जाता है। फिर द्रष्टा और दृष्य, दोनों खो जाते हैं। शुद्ध ऊर्जा रह जाती है।

इसलिए परमात्मा को तुम न तो अज्ञानी कह सकते, न ज्ञानी। ज्ञानी कहना भी उचित न होगा। अज्ञानी कहना तो उचित होगा ही नहीं। तो परमात्मा को हम क्या कहें? इसलिए तो परमात्मा बेबूझ पहेली है। उसे ज्ञानी कहें, तो भी ठीक नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि ज्ञानी का मतलब है : वह कुछ जानता है; और जानने की तो सीमा होगी। कितना ही जानता हो, तो भी सीमा होगी। बड़े से बड़े ज्ञानी की भी सीमा होगी।

अज्ञानी तो कह ही नहीं सकते। फिर परमात्मा को हम क्या कहें? वह ज्ञानातीत है, भावातीत है, गुणातीत है। हमारे सब विभाजन नीचे छूट जाते हैं। वहाँ तक हमारा कोई भी विभाजन नहीं जाता है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी ने उसे किसी दूसरी स्त्री के साथ बैठे हुए देख लिया कमरे के भीतर—प्रेमालाप में संलग्न। दरवाजा लगाना भूल गया था नसरुद्दीन। दरवाजा खुला; पत्नी भीतर आ गयी। चीखी, चिल्लायी और उसने कहा कि 'अब मुझे सब पता चल गया।' नसरुद्दीन ने कहा, 'ठीक है, अगर सब पता चल गया तो लॉटरी में कौन-सा नम्बर जीतेगा, बता।' पत्नी कह रही है : मुझे सब पता चल गया अब, क्योंकि देख लिया, स्त्री के साथ बैठे हुए। अब सब रहस्य जाहिर हो गया कि क्या गड़बड़ चल रही थी। लेकिन नसरुद्दीन के मुँह से जो बात निकली वह यह कि 'अगर सब पता चल गया, तो बता लॉटरी में कौन-सा नम्बर निकलेगा!'

हमारे भीतर हमारे जानने की उत्सुकताएँ हैं।

मैं बहुत परेशान था सफरों में। खास कर बम्बई से जब भी मैं वापस यात्रा करता, तो हमेशा झंझट होती, क्योंकि वह जो ऐयरकंडिशन्ड कमरे के नौकर होते, वे देख लेते, इतने लोग छोड़ने आये हैं। तो बम्बई में तो इतने लोग छोड़ने आते हैं तभी, जब कोई लॉटरी के नम्बर बताता हो, रेस के घोड़े का नाम बताता हो। और तो कोई कारण नहीं बम्बई के लोगों को—इतने आदमी छोड़ने आने का। तो वे मेरी जान खा जाते।

इधर तो लोग छोड़ कर गये और नौकर मेरे पैर पकड़ लें, कि 'आप इस बार तो बता ही दें। मैं बहुत गरीब आदमी हूँ; मेरी पत्नी बीमार है और बच्चे की शादी भी करनी है। अब आप मिल ही गये, तो अब न छोड़ूँगा।' मैं पूछता, 'क्या बता दूँ तेरे को?'





वे कहते, 'अब आप तो जानते ही हैं! नम्बर बता दें।'

हमारी जिज्ञासाएँ भी हमारे तमस, हमारे रजस, हमारे सत्त्व से निकलती हैं। हम वही सोच सकते हैं। और कई बार तो अजीब हालतें हो जाती हैं।

मैं एक बार खड़ा था—जबलपुर में—अपने घर के बाहर। एक सज्जन मुझे मिलने आये थे पंजाब से। तो मैं बाहर ही खड़ा था बगीचे में। ऐसी कार खड़ी थी, मैं मैं उससे टिका हुआ खड़ा था। वहीं आये, तो उनसे वहीं मैं बात करने लगा। कार के नम्बर पर मेरा हाथ था। उन्होंने देखा; उन्होंने जल्दी से डायरी निकाल के नोट किया। मैंने कहा, 'क्या मामला है?' उन्होंने कहा, 'मैं समझ गया।' मैं कुछ नहीं समझा कि बात क्या हुई! फिर भी मैंने कहा, 'मुझे भी कुछ समझाओ।' उन्होंने कहा, 'अब क्या कहना। जिस काम से आया था, वह पूरा हो गया।' मैंने कहा, 'मुझे भी थोड़ा ज्ञान दो; मामला क्या है?' क्योंकि मुझे खयाल ही नहीं कि मैं नम्बर पर हाथ रखे हूँ। वह नम्बर उन्होंने नोट कर लिया। वे इशारा समझ गये! वे इशारा यह समझे कि यह नम्बर आनेवाला है।

वे पंजाब से नम्बर खोजने मेरे पास आये थे। अब अगर कहीं भूल-चूक से वह नम्बर आ जाय, तो पंजाब जाना ही मेरा मुश्किल हो जाय।

आदमी की जिज्ञासा उसके अपने गुण से उठती है—उसकी खोज, उसका ज्ञान भी। तुम क्या जानना चाहते हो, गौर से देखना। उससे तुम्हारे गुण का तुम्हें पता चलेगा। और जिस दिन तुम कुछ भी नहीं जानना चाहते, सिर्फ होना चाहते हो, उस दिन तुम समझना कि परमात्मा की तरफ यात्रा शुरू हुई।

तुम हो सकता है, कहो कि मैं परमात्मा को जानना चाहता हूँ, लेकिन जरा गौर से सोचना कि अगर परमात्मा मिल जाय, तो तुम क्या पूछोगे। लॉटरी का नम्बर? बात खतम हो गयी। परमात्मा से तुम्हारा कोई लेना-देना नहीं है। परमात्मा मिल जाय तो तुम क्या पूछोगे—कि मुझे अमर बना दे? बात खतम हो गयी। तुम्हारी परमात्मा से कोई जिज्ञासा नहीं, परमात्मा की कोई खोज नहीं। तुम मृत्यु से भयभीत हो? परमात्मा मिल जाय, तुम क्या कहोगे कि मुझे सम्राट् बना दे दुनिया का। तो परमात्मा से तुम्हें कुछ लेना-देना नहीं।

गौर से अपनी जिज्ञासा को खोजोगे, तो तुम्हारा अपना गुण भी तुम्हें पकड़ में आ जाएगा।

कम से कम तमस से ऊपर उठो, रजस से ऊपर उठो, सत्त्व तक आओ। उठना तो सत्त्व के भी ऊपर है।

इसी संबंध में भारत की खोज सारी दुनिया की खोज से ऊपर जाती है। सारे दुनिया के धर्म सत्त्व पर आ कर रुक जाते हैं।

अंग्रेजी का शब्द गॉड गुड का ही रूपांतर है—सत्त्व, भला, अच्छा, शुभ।

सारी दुनिया के धर्म सत्त्व तक आकर रुक जाते हैं। सिर्फ भारत में पैदा हुआ धर्म सत्त्व के भी पार ले जाता है। वह कहता है, वह भी गुण है। अच्छा है—माना। जंजीर वह भी है। सोने की है—माना। लेकिन लोहे की जंजीर है, कि सोने की जंजीर, इससे क्या फर्क पड़ता है। तमस से बँधे रहे या कि सत्त्व से बँध गये, इससे क्या फर्क पड़ता है? बुरे कारागृह में पड़े रहे, कि एक महल में बंद हो गये, इससे क्या फर्क पड़ता है। बंधन बंधन है।

भारत की कामना है मुक्ति की, जहाँ कोई गुण न रह जाय; जहाँ तुम निर्गुण, निराकार से एक हो जाओ—जहाँ गुणातीत हो जाओ।

अब सूत्र।

'और हे पार्थ, ध्यान योग के द्वारा, अव्यभिचारिणी धृति, अर्थात् धारणा से मनुष्य मन-प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धृति तो सात्त्विक ही है। और फल की इच्छा वाला मनुष्य अति आसक्ति से जिस धृति के द्वारा धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है, वह धृति राजसी है। तथा हे पार्थ, दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धृति अर्थात् धारणा के द्वारा निद्रा, भय, चिंता और दुःख को एवं उन्मत्तता को भी नहीं छोड़ता है और धारण किये रहता है, वह धृति तामसी है।'

धृति है धारणा की शक्ति। ये सूत्र बहुत कीमती हैं। तुम्हारे कदम-कदम पर काम पड़ेंगे। इसलिए किसी की झपकी लग गयी हो, तो कृपा करके थोड़ी देर को तोड़ ले।

हमारी खोज यही है—कि मनुष्य के जीवन में वही घटता है, जो उसकी धारणा होती है। धारणा ही तुम्हारे जीवन का मूल सूत्र और आधार है। तुम जैसी धारणा करते हो, वही हो जाते हो।

कोई दूसरा न तो तुम्हें सताता है, न कोई दूसरा तुम्हें सुख देता है। तुम्हारी धारणा ही तुम्हें सुख देती है, तुम्हें दुःख देती है। न तो किसी ने तुम्हें बाँधा है और न तुम्हें कोई मुक्त करेगा; तुम्हारी धारणा ही तुम्हें बाँधती है और मुक्त करती है। इसलिए धारणा बड़ी बहुमूल्य है।

बुद्ध ने कहा है, धम्मपद में, कि जैसा करोगे विचार, वैसे हो जाओगे। इसलिए विचार करते वक्त सावधानी बरतना, क्योंकि उसी वक्त तुम अपने भविष्य के आधार रख रहे हो, नींव भर रहे हो। फिर भवन बन जाता है, तब तुम रोते हो।

तुम्हारे जीवन में आज जो हो रहा है, यह कल—बीते अतीत में की गयी धारणा का परिणाम है। यह तुमने ही चाहा है, इसलिए हो रहा है। और आज तुम जो धारणा करोगे, वह कल घटित होगा।

अब बड़ी कठिनाई यह है कि धारणा और फल के बीच तुम संबंध नहीं जोड़ पाते,





इसलिए बड़ी अड़चन में पड़ते हो। तुम सोचते हो, दुःख तुम्हें कोई और दे रहा है। वह तुम्हारी ही धारणाओं का परिणाम है।

तुम सोचते हो, दूसरे तुम्हें सता रहे हैं। कोई तुम्हें सताता नहीं। किसी को क्या प्रयोजन है! तुम अपनी ही धारणाओं में घिरे परेशान हो रहे हो।

एक मेरे मित्र हैं। एक कॉलेज में मैं प्रोफेसर था। वे भी वहाँ प्रोफेसर थे। होली के दिन में भाँग पी गये। कभी पी न थी, सीधे-सादे आदमी थे। ज्यादा पी गये, लोगों ने मजाक कर दी। चौरस्ते पर उन्होंने उपद्रव कर दिया—कुछ मार-पीट कर दी। नग्न होकर दौड़ गये। पुलिस पकड़कर ले गयी। रात भर बंद रखा। मेरे साथ रहते थे।

दो बजे तक तो उनका राह देखा, फिर मैं थोड़ा चिंतित हुआ। ऐसा कभी हुआ न था। बिलकुल सीधे-सादे आदमी थे। इसलिए झंझट में पड़े। थोड़े तिरछे होते, तो इतनी जल्दी भाँग का नशा भी न आता। अनुभवी होते, तो कुछ गड़बड़ भी न होती। कभी पी न थी। ज्यादा पी गये। होश के बाहर हो गये।

खोजने निकला, पता चला कि पकड़ के पुलिस ले गयी है उनको। खोज-बीन की। कोई तीन बजे रात उनको छुड़ा पाया। उनको घर तो ले आये, लेकिन उस दिन से उनको एक धारणा पकड़ गयी। धारणा—कि पुलिस उनके खिलाफ है। धारणा—कि सारी सरकार उनके खिलाफ है। वह धारणा इतनी गहन होती चली गयी . . .। पहले तो सब ने मजाक में लिया कि दो-चार दिन में ठीक हो जाएँगे। भाँग का नशा उतर जाएगा, ठीक हो जाएँगे। भंग तो चली गयी, लेकिन वह धारणा न गयी। रास्ते पर पुलिसवाले को देख लेते, तो घर लौट आते—कि वहाँ पुलिसवाला खड़ा है। वह पकड़ ही लेगा।

फिर तो बहुत मुसीबत हो गयी। मेरा भी उन्होंने जीना मुश्किल कर दिया। क्योंकि रात पुलिसवाले की सीटी सुन लें, वे जल्दी से बिस्तर में आ जाएँ, कि 'वह सीटी बजा रहा है। आ गये वे लोग। अब तक कहता था, आप सुनते नहीं थे; अब देखो पैर की आवाज आ रही है, जूते की आवाज आ रही है!' कोई कार रुक जाय, कुछ भी हो जाय। रात भर मुसीबत हो गयी। फिर वे सताने लगे।

उनका बढ़ने लगा जाल—धारणा का—कि पुलिस के पास बड़ी फाईल है और जो भी मैंने किया जिन्दगी में, वह सब वहाँ तैयार है। वे पकड़ कर मुझे अब की बार न छोड़ेंगे। इस बार तो किसी तरह छोड़ दिया, अब न छोड़ेंगे। कॉलेज से छुट्टी लिवानी पड़ी, क्योंकि वहाँ जाना भी मुश्किल हो गया उनको। चलते तो चौंके हुए चलते, खिड़की से झाँक कर दिन-रात देखते। एकदम भयभीत चित्त हो गया।

फिर कोई रास्ता न रहा। तो पुलिस के एक इंस्पेक्टर को, जिनसे मेरी पहचान थी, उनको मैंने समझाया कि 'अब कुछ करो। तुम एक फाईल लेकर आ जाओ, क्योंकि

वे कहते हैं कि जब तक फाईल न जलेगी, तब तक कुछ न होगा। कोई भी फाईल ले कर आ जाओ--कचरा-कूड़ा-करकट की। क्योंकि उनके खिलाफ कुछ है नहीं। बस, उसने एक ही जुर्म किया जिन्दगी में--भंग पीने का। वह भी कोई खास जुर्म नहीं है। और तुम जल्दी मत छोड़ देना, नहीं तो वे समझेंगे कि कोई मेरा हाथ है। तुम उनको दो-चार चाँटे भी लगाना और कोड़ा भी बताना और हथकड़ी डाल देना हाथ-पैर में, ताकि उनको पक्का हो जाय कि वे जो कहते थे, बिलकुल ठीक कहते थे। फिर मैं तुम्हें बहुत समझाऊँगा-बुझाऊँगा। दस हजार रुपये तुम्हें दूँगा--उनके सामने, (फिर तुम लौटा देना!) और मेरे सामने उस फाईल में आग लगा देना वहीं, ताकि यह झंझट सुलझे; शायद कुछ रास्ता बन जाय।' करना पड़ा यह पूरा काम।

जब वे पिटे, तब वे बड़े प्रसन्न हुए। वे मुझसे कहने लगे कि 'देखो। कोई मेरी मानता न था! अब यह हो रहा है। आँख से देख रहे हो। अब तो गवाह हो। देख ही रहे हैं, हो ही रहा है। और वह फाईल, वह रखे है पुलिसवाला--बगल में दबाये।' पिटे-कुटे, उनको हथकड़ी डल गयी। तब उनको शांति थोड़ी मिली, क्योंकि धारणा पूरी हो गयी--कि बिलकुल ठीक थे वे!

आदमी गलत भी हो, तो भी अहंकार अपने को ठीक करने के लिए इतना आतुर है, कि नरक भी जाना पड़े, लेकिन मेरी धारणा गलत न हो जाय!

उसने काफी अपमानित किया, मारा-पीटा; रुपये दिये, तो बामुश्किल राजी हुआ। आग लगा के फाईल जलवा दी। वे मित्र दूसरे दिन से ठीक हो गये। लेकिन तब से उन्होंने मुझसे मिलना-जुलना बंद कर दिया, क्योंकि अब मैं ही एक गवाह हूँ उनके सारे अपराध का--अपराध में रिश्वत देने का और फाईल जलाने का। एक मैं ही देखनेवाला हूँ कि वे पिटे, कुटे। तब से उन्होंने मुझसे मिलना-जुलना बंदकर दिया। वह मेरा कमरा भी छोड़ दिये, जहाँ वे मेरे पास रहते थे। मगर ठीक है।

तुम न मालूम कितनी धारणाओं के जाल जन्मों-जन्मों में अपने पास बुन लिये हो। और बड़े मजे की बात यह है कि तुम उन्हें सही सिद्ध करने की कोशिश करते हो, चाहे उनसे कितना ही कष्ट क्यों न मिले।

कृष्ण कहते हैं, 'हे पार्थ, दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धृति अर्थात् धारणा के द्वारा निद्रा, भय, चिंता और दुःख को एवं उन्मत्तता को भी नहीं छोड़ता है अर्थात् धारण किये रहता है, वह धृति तामसी है।

तो तीन तरह की धारणाएँ हैं; तीन तरह के ध्यान हैं; तीन तरह की धृतियाँ हैं।

तामसी हो, तो तुम उसको पकड़े रहते हो, जो तुम्हारा नरक है। तुम्हें नरक से भी कोई निकालने को राजी हो जाय, तो तुम जाने को राजी नहीं होते। क्योंकि तुम उसके आदी हो गये होते हो। तुम कहते हो, यह मेरा घर है।





अभी पिछले वर्ष अमेरिका में एक आदमी मरा। वह जब बीस साल का था, तब हत्या के अपराध में उसे पचास साल की सजा हुई। लेकिन वह अपराधी नहीं था। हत्या भावावेश में हो गयी थी। वह कोई वस्तुतः अपराधी नहीं था। बस, एक भावदशा में हो गया। पचास साल की सजा हुई उसे। लेकिन उसका जीवन व्यवहार इतना अच्छा रहा जेल में कि पच्चीस साल बाद उसको माफी मिल गयी। उसे छोड़ दिया गया। वह थोड़ी देर घूम कर--गाँव में--वापस लौट आया। उसने कहा कि 'बाहर मैं नहीं जाना चाहता।' क्योंकि जब वह पकड़ा गया था, तब न तो कारें थीं रास्तों पर, न बसें थीं। दुनिया ही और थी। और अब तो सारी दुनिया बदल गयी थी पच्चीस साल में। वह ठीक से समझ भी नहीं पाता था कि क्या हो रहा है, लोग क्या कह रहे हैं! भाषा भी बदल गयी थी। लोगों के ढंग, रीति-रिवाज बदल गये थे। वह बिलकुल घबड़ा गया। उसके परिवार का कोई भी बचा नहीं था। बाप मर चुका था, माँ मर चुकी थी। शादी कभी उसकी हुई नहीं थी। वह वापस लौट आया। उसने कहा कि 'मैं बाहर नहीं जाना चाहता।' अधिकारी जबरदस्ती किये कि 'जाना ही पड़ेगा, क्योंकि तेरा काम ही यहाँ खतम हो गया। अब जेल के भीतर नहीं रह सकता।' तो उसने कहा, 'मैं बाहर ही रहा आऊँगा। लेकिन रहूँगा यहीं।'

वह पैंतीस साल और जीया, लेकिन जेल के बाहर ही जीया। बस, वहीं वह जेल के बगीचे में काम करता रहता। अधिकारी उसे खाने को दे देते। वहीं जेल की दीवार के पास वह सो रहता। धीरे-धीरे उन्होंने इसके लिए कोठरी का इन्तजाम कर दिया कि अब यह जाएगा भी कहाँ! जाना भी नहीं चाहता। वह कभी जेल की परिधि को छोड़कर बाहर नहीं गया पैंतीस साल--दुबारा फिर।

तुम्हारे जीवन में भी ऐसे कारागृह तुमने बना लिए हैं। वे दुःख दे रहे हैं। बंधन में डाले हैं। उनके कारण क्रोध होता है। उनके कारण भय होता है। उनके कारण पीड़ा होती है। लेकिन फिर भी तुम उनके आदी हो गये हो और उनकी धारणा को पकड़े हुए हो, छोड़ना नहीं चाहते।

गलत को भी पकड़ कर ऐसा लगता है--कुछ तो हाथ में है। बुरे को भी पकड़े; ऐसा लगता है, कम से कम हाथ खाली तो नहीं है। इसको कहते हैं--तामस धृति। जानते हुए कि दुःख पा रहा हूँ, और धारणा को छोड़ दूँ, नहीं छोड़ते। जानते हुए कि आलस्य पीड़ा दे रहा है, जीवन बोझ हुआ जा रहा है, नहीं छोड़ते। सोचते ही नहीं कि मेरी धारणा का फल है।

'फल की इच्छा वाला मनुष्य अति आसक्ति से जिस धृति के द्वारा धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है, वह धृति राजसी है।'

फल की इच्छावाला पुरुष . . .' वह धर्म भी करता है--प्रार्थना भी, पूजा भी,

तो भी फल की इच्छा से करता है। यज्ञ करता है, दान करता, वह भी फल की आकांक्षा से करता है। वह सब करता है, लेकिन आकांक्षा फल की होती है—समझते हुए, जानते हुए कि फल की आकांक्षा से कोई कभी सुख को उपलब्ध नहीं होता।

फल की आकांक्षा दुःख में ले जाती है। फल की आकांक्षा विषाद में ले जाती है। क्योंकि एक तो सौ में निन्यानबे मौकों पर तुम्हारी आकांक्षा कभी पूरी नहीं होती, इसलिए दुःख होता है। और अगर कभी पूरी भी हो जाय, तो सुख नहीं होता, क्योंकि जैसी ही पूरी होती है, फल की आकांक्षा आगे बढ़ जाती है। वह क्षितिज की भाँति है। उसे तुम कभी छू नहीं पाते। वह सदा दूर ही दूर रहती है। तुम कभी पहुँच नहीं पाते, उपलब्ध नहीं हो पाते।

कितना ही धन हो, दरिद्रता नहीं मिटती। कितना ही बड़ा पद हो, और पद की आकांक्षा नहीं मिटती। कितनी ही जीवन में सुख-सुविधा हो, और अधिक सुख-सुविधा की दौड़ समाप्त नहीं होती। और अनुपात हमेशा वही रहता है।

एक भिखमंगा है। उसके पास एक पैसा है। दस पैसे की कामना करता है। एक करोड़पति है। उसके पास एक करोड़ रुपया है। वह दस की आकांक्षा करता है। दोनों का अनुपात बराबर है। दोनों का दुःख बराबर है। एक जिसके पास है, वह दस की आकांक्षा कर रहा है। नौ की कमी खल रही है। भिखमंगा भी उतने ही दुःख में मर रहा है, जितना कि करोड़पति मर रहा है।

भिखमंगा मरे, समझ में आता है। करोड़पति क्यों दुःख में मरा जा रहा है! अनुपात वही है।

लोगों के पास धन बढ़ जाता है, लेकिन दरिद्रता नहीं मिटती, दीनता नहीं मिटती।

फलाकांक्षा दुःख देती है। सब फलाकांक्षाएँ अंततः विषाद में ले जाती हैं; हाथ में कुछ आता नहीं। हाथ खाली रह जाता है; तो भी राजसी व्यक्ति पकड़े रहता है।

'और हे पार्थ, ध्यान योग के द्वारा अव्यभिचारिणी धृति अर्थात् धारणा से मन, प्राण और इंद्रियों की क्रियाओं को धारणा करता है, वह धृति सात्त्विकी है।

जहाँ अव्यभिचारिणी ध्यान या धृति पैदा हो जाय . . .। जब तुम शांत बैठते हो, तब भी मन का व्यभिचार चलता रहता है। तुम शांत बैठे हो, मन हजार यात्राएँ करता है। तुम चुप बैठना चाहते हो, मन बोले ही चला जाता है। तुम रुकना चाहते हो, मन रुकता नहीं। यह मन का व्यभिचार है, यह बलात्कार है। और तुम मन के बलात्कार को सहे चले जाते हो। न केवल सहे जाते हो, सहयोग दिये जाते हो। इस सहयोग को हटा लो।

एकदम से बलात्कार न रुक जाएगा—मन का। यह व्यभिचार बड़ा पुराना है, जन्मों-जन्मों का है। इसकी बड़ी गहरी गाँठें हैं। नदी की धार बन गयी है। पानी बहाओगे,





वहीं से बहेगा। लेकिन टूट जाता है।

टूट जाती हैं धारें पुरानी और एक ऐसी घड़ी भी आ जाती है कि कुँआरी चेतना पैदा होती है।

मन व्यभिचारिणी स्थिति है। कितने विचार, कितना व्यभिचार! मन एक बाजार की तरह है—एक पागलखाना, जहाँ कितनी आवाजें एक साथ गूँज रही हैं!

कृष्ण कहते हैं, 'ध्यान योग के द्वारा जो अव्यभिचारिणी धृति को उपलब्ध हो जाता है'—ऐसी धारणा जो शुद्ध है, कुँआरी है, जिसमें विचार का व्यभिचार नहीं है, निर्विचार है; और जो निर्विचार है, वही निर्विकार है। और जहाँ विचार की तरंग नहीं उठती, वहीं कुँआरापन है।

वहाँ शुद्धतम चैतन्य की अवस्था है। ऐसी धारणा मन, प्राण और इंद्रियों की क्रियाओं को धारण करती है, लेकिन व्यभिचारित नहीं होती। ऐसी धृति मन को चलाती है, मन द्वारा नहीं चलती। ऐसी धृति हाथ, पैर, इंद्रियों को चलाती है। इंद्रियों के द्वारा चलती नहीं। इंद्रियाँ मालिक नहीं रह जातीं। ऐसी कुँआरी-धृति मालिक हो जाती है। यही स्वामित्व है।

इसलिए हम संन्यासी को स्वामी कहे हैं। वह सत्त्व की दशा है। वह संन्यासी की मंजिल है कि वह स्वामित्व को उपलब्ध हो जाय; वह कुँआरी धारणा को उपलब्ध हो जाए। इसलिए ध्यान पर इतना जोर है।

गैर-ध्यान की अवस्था संसार है। ध्यान संन्यास है।

और जिस दिन तुम अपने मन, तन, प्राण, सबके मालिक हो जाते हो, उसी दिन तुम योग्य हुए, पात्र हुए। अब परमात्मा तुम्हारे भीतर उतर सकता है।

इसलिए मैं निरंतर कहता रहता हूँ: उससे मिलना हो, तो सम्राट् होकर ही उसके द्वार पर जाना, भिखारियों की तरह नहीं। मन के गुलाम हुए उसके द्वार पर तुम न जा सकोगे। गुलामों के लिए वह नहीं है; मुक्त पुरुषों के लिए है।

तो इतनी मुक्ति तुम साध लो कि मन निर्विकार हो जाय, चेतना शांत और कुँआरी हो जाय; बस, तुम्हारा काम पूरा हो गया। तुमने कदम उठा लिया; अब परमात्मा के कदम उठाने की बारी है।

चाह बंधन है • ध्यान और धैर्य • सद्‌गुरु और सत्संग
दु:ख को समझो • तामस, राजस और सात्त्विक सुख

ग्यारहवाँ प्रवचन

प्रातःकाल, दिनांक ३१ जुलाई, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥



हे अर्जुन, अब सुख भी तू तीन प्रकार का मुझसे सुन। हे भरतश्रेष्ठ, जिस सुख में साधक पुरुष ध्यान, उपासना और सेवादि के अभ्यास से रमण करता है और दुःखों के अन्त को प्राप्त होता है—

वह सुख प्रथम साधन के आरम्भ काल में यद्यपि विष के समान भासता है, परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है, इसलिए जो आत्म-बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ सुख है, वह सात्त्विक कहा गया है।

और जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है, वह यद्यपि भोग काल में अमृत के सदृश भासता है, परन्तु परिणाम में विष के सदृश है, इसलिए वह सुख राजस कहा गया है।

तथा जो सुख भोग काल में और परिणाम में भी आत्मा को मोहनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है।

और हे अर्जुन, पृथ्वी में या स्वर्ग में अथवा देवताओं में ऐसा वह कोई भी प्राणी नहीं है कि जो इन प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुणों से रहित हो।

**पहले कुछ प्रश्न।**

● पहला प्रश्न : आपने कहा कि गुरु के बाह्य आकार से आसक्त हो जाना भी ठीक नहीं है। पर मेरे मन में बार-बार भाव होता है कि नहीं चाहिए ज्ञान और मोक्ष। बस, गुरु के साथ ही घुल-मिलकर एक हो जाऊँ। क्या यह भी आसक्ति है?

जब तक चाह है, तब तक आसक्ति है। वह चाहे गुरु से मिलने की चाह हो, चाहे ज्ञान प्राप्त करने की चाह हो, चाहे मोक्ष की चाह हो; चाह-मात्र आसक्ति है।

जहाँ सभी चाहें छूट जाती हैं, वहीं मोक्ष है; और जहाँ सब चाहें छूट जाती हैं, वहीं गुरु से मिलन भी है। क्योंकि जो गुरु बाहर दिखायी पड़ता है, वह तो केवल प्रतिबिम्ब है। सब चाह के छूट जाने पर भीतर के गुरु का आविर्भाव होता है। और जब तक तुम्हें तुम्हारे भीतर ही गुरु न मिल जायँ, तब तक तुम संसार में भटकते ही रहोगे।

कब तक किसी के पीछे चलोगे? पीछे चलने में अंधापन तो कायम ही रहेगा। कब तक किसी के हाथ का सहारा लोगे? सहारा तुम्हें पंगु बनायेगा। सहारे से कभी कोई स्वतंत्र थोड़े ही हुआ है। सहारे से तो पंगुता निर्मित हो जाती है। बाहर किसी में तुम्हें दिखायी पड़ा है आविर्भाव चैतन्य का, उससे अपने भीतर के चैतन्य को स्मरण करो।

गुरु में मिल जाने की कामना भी कामना है। इस कामना से तुम मुक्त न हो सकोगे। यह तुम्हें भटकाये रहेगी, भरमाये रहेगी। अंततः एक ऐसी चैतन्य दशा को पाना है, जिसके पार पाने को कुछ भी शेष न हो, जहाँ होना परम तृप्ति हो, जिसके पार क्षण भर के लिए भी भविष्य की आकांक्षा न उठती हो। ऐसी चैतन्य दशा को पाना है, जिसमें भविष्य शून्य हो जाय; समय मिट जाय।

जहाँ समय मिट जाता है, वहीं अमृत का अनुभव होता है। इसलिए हमने मृत्यु को नाम दिया है : काल। काल का एक अर्थ समय भी होता है। दूसरा अर्थ : मृत्यु भी

होता है। जब तक समय है, तब तक मृत्यु है। जब समय खो गया, अकाल अनुभव हुआ। अकाल का अर्थ है : अमृत; अकाल का अर्थ है : तुम्हारा शाश्वत होना।

यह कौन चाहता है : गुरु के साथ मिल जाना? इसने विषय तो बहुत अच्छा चुना—गुरु चुना, लेकिन वह मिलने की कामना तो बहुत पुरानी है। कभी प्रेमी के साथ मिल जाना चाहा था और एक हो जाना चाहा था; कभी धन के साथ मिल जाना चाहा था, एक हो जाना चाहा था; कभी पद के साथ मिलकर एक हो जाना चाहा था। हजार-हजार विषय चुने हैं—तुम्हारी वासना ने!

तुम गुरु को बना सकते हो—वासना का बिंदु। इससे कुछ अंतर न पड़ेगा। तुम्हारी वासना वैसे की वैसी रही। विषय बदल गया, खूँटी बदल गयी, लेकिन जो तुम टाँग रहे हो, वह वही है, जो तुम सदा से टाँगते रहे हो। बैकुंठ चुन लो, स्वर्ग चुन लो, मोक्ष चुन लो—कोई फर्क नहीं पड़ता।

बुद्ध ने कहा है : जब तक तुम निर्वाण चाहते हो, तब तक निर्वाण की कोई प्रतीति न होगी। और जब तक तुम मुक्त होना चाहते हो, तब तक तुम बँधे ही रहोगे, क्योंकि चाह ही बंधन है।

मुक्त होने की चाह भी चाह है। इसलिए करना क्या? तब तो बात बड़ी उलझी मालूम पड़ती है! मुक्त होने की चाह भी चाह है। परमात्मा को पाने की चाह भी चाह है। फिर करें क्या? फिर छूटें कैसे? चाह को समझो—चाह को बदलो मत। चाह के स्वभाव को समझो कि चाह का स्वभाव बाँधना है। और चाह की गहरी से गहरी तरकीब यह है कि जब भी तुम उसके स्वभाव को समझने के करीब होते हो, तभी वह अपना विषय बदल लेती है। विषय बदलने से तुम्हें ऐसा लगता है कि चाह बदल गयी। चलो, कुछ दिन के लिए बोझ नया हो गया। एक कंधे का भार दूसरे कंधे पर ले लिया। बस, थोड़े दिन रहेगी यह राहत।

संसार से थक गये, चाह बदल जाती है। चाह कहती है : मंदिर चलो, दुकान में क्या रखा है! धन में क्या रखा है, धर्म खोजो। इन सोने-चाँदी के ठीकरों में क्या रखा है, ये सब तो पड़े रह जाएँगे। वह चाह ही कह रही है।

चाह ही कहती है : सब ठाठ पड़ा रह जाएगा, जब बाँध चलेगा बंजारा। तो फिर कुछ ऐसा खोजो, जो पड़ा न रह जाय। कुछ मोक्ष के सिक्के खोजो, कुछ ऐसी संपदा खोजो, जो मौत के पार भी तुम्हारे साथ जाय। अग्नि की लपटें भी तुम्हें जला दें, लेकिन तुम्हारी संपदा को न जला पायें। तब तुम बड़े कुशल हो रहे हो। तुम फिर संसार ही खोज रहे हो। अनुभव से तुम जागे नहीं। अनुभव से तुमने नया सपना पैदा कर लिया।

अगर तुम चाह का स्वभाव समझोगे, तो तुम पाओगे, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि तुम क्या चाहते हो। चाहते हो—बंधन रहेगा। चाह ही बंधन है। इसलिए विषय





मत बदलो, खूँटियाँ मत बदलो, इस चाह को ही गिरा दो।

बड़ी कठिनाई मालूम पड़ती है, क्योंकि तुम कहते हो, यह भी समझ में आता है कि धन न खोजें, धर्म खोजें; दुकान न जायँ, मंदिर जायँ। यह बिलकुल समझ में नहीं आता कि कहीं न जायँ; कुछ भी न खोजें! पर मैं तुमसे कहता हूँ : जिस दिन तुम कहीं न जाओगे, कुछ भी न खोजोगे, तुम्हारे भीतर ही रमने लगोगे . . .। चाह तो बाहर ले जाती है। कभी बायें, कभी दायें; कभी उत्तर, कभी पूरब; इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। चाह ले जाती बाहर है। जिस दिन तुम कहीं न जाओगे, तुम्हारे भीतर ही तुम ठहरोगे, रमोगे, उसी दिन—उसी दिन मिल गया मोक्ष। उसी दिन हो गया गुरु से मिलन, उसी दिन पा लिया परमात्मा को।

चाह को समझो, ताकि चाह विर्सजित हो जाय।

मैं चाह को छोड़ने को भी नहीं कहता, क्योंकि छोड़ने में भी खतरा है कि तुम छोड़ोगे तभी, जब भीतर तुम्हारे मन में कोई दूसरी चाह पैदा हो गयी हो।

तुम संसार तब छोड़ोगे, जब मोक्ष की चाह पैदा हो जाएगी। तुम धन छोड़ दोगे, जब त्याग की चाह पैदा हो जाएगी। तुम काम-वासना छोड़ दोगे, जब ब्रह्मचर्य की वासना पैदा हो जाएगी। मगर सूक्ष्म हो गयी वासना, मिटी नहीं।

छोड़ने को भी नहीं कहता चाह, बदलने को भी नहीं कहता, समझने को कहता हूँ। समझना एक मात्र नियम है। वह सब शास्त्रों का शास्त्र है। तुम चाह को समझो कि चाह कैसे बाँधती है। चाह का ढंग क्या है, चाह का शास्त्र क्या है।

चाह का शास्त्र यह है : चाह सदा यह कहती है कि तुम जहाँ हो, वह ठीक होना नहीं है। और जो ठीक होना है, वहाँ तुम नहीं हो। तुम्हारे पास दस रुपये हैं, यह ठीक अवस्था नहीं है। दस करोड़ होने चाहिए, तब आनंद ही आनंद होगा। तुम शरीर में हो, शरीर में तो दुःख ही दुःख है—व्याधियाँ, बीमारियाँ। जब देह मुक्त होकर स्वर्ग में रमोगे, तभी आनंद होगा। यह वही चाह का शास्त्र है।

तुम जो हो, उसमें अधैर्य। तुम जो हो, उसमें अशांति। तुम जो हो, उसमें राजीपन नहीं, स्वीकार नहीं। तुम जो हो, उसका निषेध और तुम जो नहीं हो, उसकी कामना, उसकी वासना, उसको पाने का खयाल।

बस, यह चाह का शास्त्र है। इसे फिर तुम कहीं भी लगा लेना। धन पर लगाना, धर्म पर लगाना, वस्तुओं पर लगाना, मोक्ष पर लगाना, कोई अंतर न पड़ेगा। एक बात पक्की रहेगी : तुम जहाँ हो, वहीं दुःखी रहोगे। और जहाँ तुम नहीं हो, वहाँ तुम्हारे स्वर्ग की मृग-मरीचिका होगी। और स्वर्ग तुम्हारे भीतर है।

स्वर्ग वहीं है, जहाँ तुम हो। कबीर कहते हैं : 'कस्तूरी कुण्डल बसै।' मृग के भीतर ही कस्तूरी का नाफा है। गंध उसे लगती है—कहीं से आती हुई। भागता है पागल

होकर, खोजता है वनों में, चीखता-चिल्लाता है, विक्षिप्त हो जाता है, क्योंकि पुकारे ही चली जाती है वह गंध। और गंध उसकी नाभि में है, आती भीतर से है। लेकिन भीतर का उसे पता नहीं। सोचता है : जरूर कहीं से आती होगी। जब आती है, तो जरूर कहीं से आती होगी। उसका तर्क वही है, जो तुम्हारा है। दूर दिखती है मृग-मरीचिका; भागता है, चीखता-चिल्लाता है, विक्षिप्त हो जाता है—उसके लिए, जो भीतर था।

जो तुम्हारे पास सदा से है, उसे तुम देख न पाओगे—जब तक तुम्हारी आँखें उसे पाने में लगी हैं, जो तुम्हारे पास नहीं है। छोड़ो मोक्ष, छोड़ो विचार—गुरु का, स्वर्ग का, सत्य का। तुम इतनी ही कृपा करो कि तुम जो हो, जहाँ हो, जैसे हो—उसके प्रति जाग जाओ।

अपने भीतर के नाफे को थोड़ा खोलो; 'कस्तूरी कुण्डल बसै'। और तब तुम पाओगे कि तुम अकारण ही भागते थे। भागने की कोई जरूरत ही न थी। तुम्हें वह मिला ही था—जिसकी तुम खोज कर रहे थे।

इसलिए ज्ञानी कहते हैं, 'अचाह से मिल जाता है, चाह से खो जाता है।'

तृष्णा भटकाती है—पहुँचाती नहीं। अतृष्णा पहुँचा देती है—भटकाती नहीं।

तो तुम नाम मत बदलो। नाम बदलने से कुछ अर्थ न होगा। नये-नये रूपों में चाह पुनः पुनः जीवित हो जाएगी। तुम तो चाह के प्राण को समझ लो, उसके मूल को समझ लो, ताकि फिर वह कोई नये रूप न ले पाये, वह कोई नये वेश न ले पाये। वह किसी भी वेश में आये, तुम उसे तत्क्षण पहचान लो, कि आ गई चाह। 'कल' की पुकार आ गयी; भविष्य का निमंत्रण आ गया। बाहर खींचने की तरकीब शुरू हो गयी। यह मुझे हटा देगी मेरी जगह से। जहाँ मेरी चेतना की लौ अकंप जलती है, वह कंप जाएगी। उसके कंपते ही सब धूमिल हो जाता है, सब अंधकारपूर्ण हो जाता है।

अचाह तुम्हें ध्यान में ले जाएगी, ध्यान मोक्ष है। इसलिए हमने ध्यान को समाधि कहा है। क्योंकि ध्यान आखिरी समाधान है। पर ध्यान में जाने के लिए अचाह मार्ग है।

● दूसरा प्रश्न : ध्यान और धैर्य में क्या संबंध है?

बड़ा संबंध है—बहुत गहरा संबंध है। और अकसर ऐसा हो जाता है, तुम्हें ऐसे लोग भी मिल जाएँगे, जो ध्यान कर रहे हैं, लेकिन जिनमें धैर्य नहीं। और ऐसे लोग भी मिल जाएँगे, जो धैर्यवान हैं, लेकिन जिनमें ध्यान नहीं। ये दोनों कहीं नहीं पहुँचेंगे। उनकी नाव ऐसे है, जैसे उसमें एक ही पतवार हो।

एक सूफी फकीर हुआ—जुन्नैद उसका नाम था। उसने अपने गुरु से पूछा कि क्या ध्यान काफी नहीं है? फिर यह धैर्य और बीच में क्यों है?





सूफी तो जीवन से भागते नहीं। वे तो जीवन में ही रहते हैं। गुरु एक माझी था। वह लोगों को एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँचाने का काम करता था। ऐसे भी गुरु माझी है। इसलिए जैनों ने तो अपने महागुरुओं को तीर्थंकर कहा है। तीर्थंकर का मतलब होता है : माझी। तीर्थंकर का मतलब है : जिनके द्वारा तुम उस पार पहुँच जाते हो। तीर्थ का अर्थ होता है घाट। तीर्थंकर का अर्थ होता है, जो पहुँचा दे उस पार—इस घाट से उस घाट।

वह गुरु जुन्नैद का—माझी था, तीर्थंकर था। ऐसे बाहर की दुनिया में भी वह लोगों को एक घाट से दूसरे घाट पहुँचाता; भीतर की दुनिया में भी उसका काम वही था। उसने जुन्नैद से कहा कि 'मैं उस तरफ जा रहा हूँ, कुछ यात्री पहुँचाने हैं, तू भी आ जा। और कौन जाने रास्ते में तेरा समाधान भी हो जाय।'

जुन्नैद थोड़ा चकित हुआ, क्योंकि समाधान यहीं किया जा सकता है। इसमें नदी में जाने की और नाव में बैठने की क्या जरूरत! गुरु तो पतवार ले कर नाव चलाता है, लेकिन उस दिन उसने एक पतवार तो अन्दर रख दी—नाव जैसे ही मझधार में पहुँची; एक ही पतवार से उसे चलाने लगा। नाव गोल-गोल घूमने लगी।

अब एक ही पतवार से नाव चलाओगे, तो गोल घूमने लगेगी। संतुलन खो जाएगा। अगर तुम बायें हाथ की पतवार से नाव चला रहे हो, तो बायीं तरफ नाव घूमने लगेगी और चक्कर खाने लगेगी।

यात्री चिल्लाये कि 'क्या तुम्हारा दिमाग खराब हो गया, माझी!' क्योंकि यात्रियों को तो कुछ पता नहीं। उन्होंने कहा, 'यह तुम क्या कर रहे हो! ऐसे तो हम कभी न पहुँचेंगे।'

गुरु ने जुन्नैद से कहा, 'बोल। एक पतवार से पहुँचना हो सकता है या नहीं?' उसने कहा, 'एक से पहुँचना मुश्किल है।' गुरु ने कहा, 'तो दोनों पतवार को गौर से देख।' एक पतवार पर उसने लिखा था : ध्यान और एक पतवार पर लिखा था : धैर्य।

समझें थोड़ा।

अगर आदमी अकेला ध्यान करे और धैर्य न हो, तो ध्यान भी न हो पायेगा। क्योंकि वह व्यक्ति जल्दी में होगा।

मिल जाय—करने के पहले, ऐसा आदमी का मन है। बिना किये मिल जाय—ऐसी आदमी की आकांक्षा है। फल हाथ लग जाय—कर्म न करना पड़े!

तो ध्यान तो किसी तरह करेगा, लेकिन आकांक्षा फल पर लगी रहेगी—कि जल्दी हो जाय ध्यान और फल मिल जाय। अगर मोक्ष है कोई, तो हर दो-चार-पाँच क्षण बाद आँख खोल कर देख लेगा : अभी तक मोक्ष पास आया, नहीं आया। ध्यान हो कैसे पायेगा? क्योंकि ध्यान तभी हो सकता है, जब फलाकांक्षा न हो। फलाकांक्षा हो, तो

मन फल में लगा रहता है। ध्यान की थिरता आती ही नहीं।

ध्यान का अर्थ है : तनाव-शून्य हो जाना। फल की आकांक्षा तो तनाव है। ध्यान का तो अर्थ है : अभी और यहीं—परिपूर्ण डूब जाना। लेकिन फल की आकांक्षा तो आनेवाले फल की आकांक्षा है। ध्यान का अर्थ है : कृत्य ही फल हो जाय; साधन ही साध्य हो जाय; मार्ग ही मंजिल हो जाय। लेकिन जब तक मन में फल है, तब तक तो यह नहीं हो सकता।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं : 'रात नींद नहीं आती। क्या ध्यान से यह ठीक हो जाएगी?' मैं उनसे कहता हूँ कि 'ध्यान बड़ी तलवार है। तुम उससे सुई का काम मत लेना। सुई का काम तलवार से लोगे, कपड़ा और फट जाएगा, सीना तो मुश्किल है।

ध्यान बड़ी तलवार है। तुम बात ही बड़ी छोटी लेकर आ गये हो कि 'रात नींद नहीं आती, ध्यान से आ जाएगी!' हाँ, जो ध्यान करता है, उसे नींद अच्छी आती है, भली आती है, गहरी आती है, वह सच है। लेकिन नींद ही लाने के लिए जो ध्यान करने गया है, उसका तो ध्यान ही नहीं हो पायेगा। नींद तो दूर की बात हो गयी। बड़ी छोटी आकांक्षा पीछे पड़ी रहेगी।

लोग कहते हैं : 'मन अशांत है, ध्यान से शांति मिल जाएगी?' एक सज्जन ने मुझे आकर कहा, 'न मुझे परमात्मा की इच्छा है, न मुझे कोई मोक्ष चाहिए . . .।' वह कुछ इस ढंग से कह रहे थे, जैसे बड़े त्यागी हैं! संसार भी छोड़ते हैं, मोक्ष, परमात्मा—सब छोड़ते हैं। 'मन में जरा अशांति रहती है, बस, इसको रास्ता मिल जाय।'

अगर मन की अशांति को मिटाने के लिए तुम ध्यान करने बैठे हो, तो तुम बार-बार लौट कर देखोगे : 'अब तक मिटी नहीं!' और मजा तो यह है कि जब ध्यान शुरू करोगे, तब अशांति बढ़ेगी। क्योंकि जो दबी पड़ी है अशांति, वह भी प्रकट होगी। जो सदा-सदा से दबायी है, उसका भी रेचन शुरू होगा, कैथार्सिस होगी।

जो कूड़ा-करकट भीतर छिपा के बैठे रहे हो, प्रकट नहीं किया है, ध्यान उन द्वारों को भी तोड़ेगा। 'घर' की सफाई करेगा। वर्षों की जमी धूल—जन्मों की जमी धूल उठेगी। फिर से अंधड़ तूफान होंगे। कुछ देर तो थोड़ी-बहुत जो शांति तुम्हारे पास थी, वह भी खो जाएगी। तब तो तुम घबड़ा जाओगे कि लेने आये थे शांति और यह हाथ में जो थी, वह भी गयी!

अगर धैर्य न हुआ, तो तुम विक्षिप्त भी हो सकते हो, क्योंकि ध्यान इतना बड़ा तूफान लायेगा। क्योंकि वह एक दिन की जमी हुई रोग की अवस्था नहीं है, जन्मों-जन्मों की है। ध्यान तो सारी परतों को तोड़ेगा, ताकि तुम्हारे भीतर के अंतरतम तक पहुँच जाय।





तो परतों को तोड़ने में सारी व्यवस्था—अब तक के दमन की, उखड़ेगी। एक एक झंझावात आयेगा, सब कंप जाएगा। जमा हुआ थिर सब खो जाएगा, बना-बनाया सब गिर जाएगा। अगर तुम इसी बीच भाग गये, धैर्य न हुआ, तो तुम विक्षिप्त भी हो सकते हो।

बहुत लोग ध्यान करते हैं, धैर्य नहीं होता। दो दिन करते हैं, फिर दो साल नहीं करते। फिर एक-दो दिन कर लेते हैं, फिर भूल जाते हैं।

मेरे पास ऐसे लोग आ जाते हैं, जिनकी सत्तर साल उम्र है। वे कहते हैं, 'कई दफे शुरू किया, कई दफा छूट गया।' ध्यान भी छूटता है—शुरू किया? स्वाद लग जाय, रस आ जाय, तो ध्यान कहीं छूटता है शुरू किया? और जो छूट-छूट जाय, वह ध्यान ही न रहा होगा। धैर्य न था, एक बात पक्की है। इसलिए थोड़ी देर नाव गोल-गोल घूमी, फिर तुम थक गये, क्योंकि कहीं जाती मालूम न पड़ी।

कभी बैठो—बिना धैर्य के तो मन गोल-गोल घूमेगा। थोड़ी देर चक्कर मारेगा। फिर तुम कहोगे, 'इसमें क्या सार है। इससे तो अखबार ही पढ़ते, या दुकान ही चले जाते। थोड़े ग्राहक ही निपटा लेते, फाईल ही देख लेते दफ्तर की। ताश ही खेल लेते। वह भी सार्थक मालूम पड़ता है! यह बैठे-बैठे सिर में गोल नाव घुमाने से क्या फायदा है!'

नहीं, अगर धैर्य न होगा, तो ध्यान की जड़ ही न जमेगी।

बिना धैर्य के ध्यान तो ऐसा है : बीज बोये; उखाड़ के देखे कि अभी तक अंकुर आये या नहीं! ऐसे कई बार बोये, फिर उखाड़ के देख लिये घड़ी भर बाद। अंकुर आने भी दोगे? थोड़ी देर बीज को भूमि में पड़ा रहने दो।

एक महिला मेरे पास आयी। उसने कहा कि 'ज्यादा मेरे पास समय नहीं है। स्कूल में अध्यापिका हूँ। सात दिन की छुट्टी लेकर आयी हूँ। परमात्मा का दर्शन हो जाएगा?' सात दिन की छुट्टी! मैंने उससे कहा, 'तू भी परमात्मा पर बड़ी कृपा कर रही है। एकदम सात दिन की छुट्टी लेकर आ गयी! परमात्मा भी सदा-सदा अनुगृहीत रहेगा। कौन लेता है परमात्मा के लिए सात दिन की छुट्टी! तूने खूब गजब कर दिया!'

वह थोड़ी चौंकी। 'नहीं', उसने कहा, 'दो दिन तो छुट्टी है ही, पाँच ही दिन की ली है।' फिर भी कृपा है।

पर अब ऐसा व्यक्ति कहीं परमात्मा को उपलब्ध होनेवाला है! ऐसा व्यक्ति तो किसी भी चीज को उपलब्ध नहीं हो सकता है। इस व्यक्ति की चित्त की दशा तो बड़ी मूढ़ है। यह तो क्या कह रहा है, इसे पता ही नहीं है।

सात जन्म में भी परमात्मा मिल जाय, तो जल्दी मिल गया। यह सात दिन की

छुट्टी ले कर आ गयी है। उसमें भी दो दिन की छुट्टी थी ही, पाँच दिन की और ले ली है। और इस भाव से आयी है, कि अगर न मिला परमात्मा तो सिद्ध ही हो जाएगा कि है ही नहीं।

'अब', मैंने उसे कहा, 'तू ऐसा कर, छुट्टी बचा ही ले। वापस चली जा। इतनी जल्दी होगा भी नहीं और नाहक तेरे मन में ऐसा हो जाएगा, कि हमने इतनी कृपा की परमात्मा पर, उधर से कोई उत्तर न आया। तू नाहक नास्तिक हो जाएगी। नास्तिक तू है ही, क्योंकि आस्तिक ने कभी यह सोचा ही नहीं कि सात दिन में परमात्मा मिलने वाला है। मिल जाता है कभी-कभी सात क्षण में भी, पर आस्तिक ने कभी सोचा नहीं कि सात दिन में मिल जाएगा।'

सात जन्मों में भी मिल जाय तो जल्दी हो गयी।

योग्यता क्या है ? पात्रता क्या है ? जब भी मिलता है, तभी प्रसाद स्वरूप है। हमारे प्रयत्न से मिला नहीं। लेकिन मन जल्दी में है।

हम वैसे ही चाहते हैं ध्यान भी, जैसे कि इन्स्टैन्ट कॉफी है। जल्दी से डाली, चम्मच हिलाया, तैयार हो गयी। सब चीजें जल्दी हो जायें। बटन दबाई, काम हो जाय। जीवन, काश, ऐसा होता। लेकिन अच्छा ही है कि नहीं है।

बटन दबायी, परमात्मा आ गये; बटन दबाई, ध्यान हो गया—समाधि लग गयी ! तब तो कबीर और कृष्ण सड़क-सड़क बिकते। अकेले भी न बिकते, दर्जन में बिकते। कोई मतलब ही न था, कोई बात ही अर्थ की न थी।

ध्यान बहुत लोग शुरू करते हैं—बिना धैर्य के, तब ध्यान टूट-टूट जाता है। उसका सातत्य नहीं जमता, क्योंकि सातत्य के लिए धैर्य चाहिए। शृंखला नहीं बनती, माला के मनके रह जाते हैं, माला नहीं बन पाती, क्योंकि वह धागा, जो सब मनकों को जोड़ दे—धैर्य का, वह भीतर होता नहीं। तो एक ढेर लग जाता है, मनकों का, लेकिन माला नहीं बनती। और जब तक ध्यान माला न बन जाय, तब तक कुछ भी न होगा। वह दिखायी नहीं पड़ता धागा—भीतर पिरोया हुआ, पर वही सम्हाले हुए है।

ध्यान करने वालों में तुम्हें शायद धैर्य का अनुभव भी न हो, तुम्हें दिखायी भी न पड़े, क्योंकि मनके ही दिखायी पड़ते हैं। लेकिन भीतर असली चीज जो सम्हाले है, वह धैर्य है। ध्यान के मनके, धैर्य का धागा, फिर बन जाती है माला।

फिर बहुत लोग हैं जो धैर्यवान हैं, लेकिन जिन्होंने कभी ध्यान नहीं किया। उनका धैर्य सिवाय आलस्य के और कुछ भी नहीं है। वस्तुतः वे यह कह रहे हैं कि हम बिलकुल धैर्यवान हैं, जब मिलेगा, मिल जाएगा। असलियत में यह है कि उन्हें कोई चाहना भी नहीं है, पाने की कोई आकांक्षा भी नहीं है। वे कहते हैं : 'ऐसे ही बैठे-बैठे चलते-चलते मिल जाएगा। जँचा, तो ठीक है; चुन लेंगे; अन्यथा कोई जल्दी नहीं है।'





अगर गौर से उनके भीतर देखो, तो उनको कोई आकांक्षा ही नहीं है, कोई अभीप्सा ही नहीं है, कोई प्यास ही नहीं है। आलसी हैं, तामसी हैं। अब यूँ समझो कि जिसने बिना धैर्य के ध्यान किया, वह राजसी है। जिसने बिना ध्यान के धैर्य रखा, वह तामसी है। और जिसने धैर्य और ध्यान का संतुलन बना लिया, वह सात्त्विक है। तब तुम्हें कृष्ण का सूत्र समझ में आ जाएगा कि सत्त्व का क्या अर्थ है।

धैर्य ऐसा जैसे आलसी पुरुषों में होता है। आलसी पुरुषों में बड़ा धैर्य होता है। अगर धैर्य सीखना हो, तो उन्हीं से सीखना चाहिए। उन्हें कुछ पाने की जल्दी नहीं होती। पाने का खयाल ही नहीं होता, कोई दौड़ नहीं होती, वे बैठे ही हैं; मिट्टी के ढेर हैं। कोई जीवन नहीं है, कोई ऊर्जा नहीं है, कोई गति नहीं है।

फिर राजसी पुरुष हैं। उनमें दौड़ तो बहुत होती है; रुकने की क्षमता नहीं होती। ठहर नहीं सकते, प्रतीक्षा नहीं कर सकते, भाग सकते हैं।

जब कभी राजसी व्यक्ति जैसी ऊर्जा और आलसी जैसा धैर्य होता है, तब ध्यान और धैर्य का संगम होता है। तब सोने में सुगंध आ जाती है। तब सत्त्व का जन्म है।

अकेला ध्यान बिना धैर्य के जमेगा ही नहीं, बनेगा ही नहीं, तार ही न जुड़ेगा। अकेला धैर्य—बिना ध्यान के, किसी अर्थ का नहीं है, सिर्फ आलस्य है।

कुछ तो हैं जो बीज बोते हैं, उखाड़-उखाड़ के देख लेते हैं; प्रतीक्षा नहीं कर सकते। कुछ हैं, जिन्होंने बीज ही नहीं बोये हैं, आराम से बैठे प्रतीक्षा कर रहे हैं। बीज ही न बोये हों, तो प्रतीक्षा से कुछ आयेगा न। बीज बोये हों और प्रतीक्षा न हो, तो भी बीज बंठर हो जाएँगे। तो भी उनसे कुछ न आयेगा।

जीवन एक कला है। वहाँ विपरीत को मिलाने की क्षमता होनी चाहिए। ध्यान और धैर्य दो विपरीतताएँ हैं। ध्यान और धैर्य के जोड़ का अर्थ है : पाना चाहता हूँ अभी, रुकने को राजी हूँ—सदा के लिए। इसे समझ लेना।

पाना चाहता हूँ इसी क्षण, रुकने को राजी हूँ—सदा के लिए। शक्ति तो पूरी लगा दूँगा कि अभी मिल जाय, लेकिन जानता हूँ कि मेरी शक्ति से क्या मिलने वाला है; तेरी कृपा से मिलेगा। इसलिए अगर अनंत जन्मों में भी मिला, तो भी तेरा अनुग्रह रहेगा। अपने को पूरा डुबा दूँगा, लेकिन मेरी पात्रता क्या है, मेरे हाथ कितने दूर जाएँगे ! अपने हाथ पूरे फैला दूँगा, उसमें कोई कमी न रखूँगा, लेकिन मेरे हाथ छोटे हैं। इसलिए जानता हूँ कि तू अभी मिलेगा नहीं, लेकिन प्रयास मैं ऐसा करूँगा, जैसे अभी मिल रहा है। घर को सजाऊँगा ऐसे, जैसे अतिथि आज ही आ रहा है। जन्म-जन्म बीत जायें, तो भी शिकायत न आयेगी। जब भी आयेगा, समझूँगा : आज ही आ गया। यही क्षण था ठीक आने का।

ध्यान और धैर्य जहाँ मिल जाते हैं, वहाँ जीवन का परम संगीत बजता है; वहाँ

सत्त्व की धुन गूँजती है।

इन दोनों पर खयाल रखो। अकसर तुम पाओगे : जब तुम ध्यान करोगे, तब धैर्य खो जाएगा; जब तुम धैर्य रखोगे, तब ध्यान खो जाएगा। पर एक पतवार से नाव कहीं जाएगी न। दोनों पतवार चलनी चाहिए, साथ-साथ चलनी चाहिए।

● तीसरा प्रश्न : आपने पूर्व में कहा है : आनंद कसौटी है : मार्ग मिलने का, पर सदगुरु के पास पहुँच कर भी आनंद क्यों नहीं मिलता ?

क्योंकि पास तुम पहुँच ही नहीं पाते।

निकट होने को तुम पास होना मत समझ लेना। पास होने को तुम 'पास' होना मत समझ लेना। शरीरिक निकटता तो बिलकुल आसान है।

अनेक बार बुद्धों से कंधा रगड़ते तुम निकल गये हो। पर इससे तुम उनके पास पहुँच गये, ऐसा मत समझ लेना। कितनी ही बार—जीवन की अनंत राहों पर तुम्हें बुद्ध पुरुष मिल गये हैं। क्षण भर उनका साथ भी हो लिया है, थोड़ी गपशप भी कर ली है। थोड़ी अपनी भी कही है, उनकी भी सुन ली है। पर इससे तुम यह मत समझ लेना कि साथ हो गया। साथ ही हो जाता, तो तुम कभी के लीन हो गये होते विराट् में। साथ नहीं हुआ।

साथ होना बड़ी अद्भुत घटना है। इसलिए तो हम सत्संग को इतना मूल्य देते हैं। सत्संग को हमने द्वार कहा है सत्य का। सत्य बड़ी से बड़ी घटना है। उसकी महिमा का कोई अंत नहीं। उसका भी द्वार हमने सत्संग कहा है।

सत्संग का क्या अर्थ होगा ?—हृदयपूर्वक निकट होना।

शरीर की निकटता का कोई बड़ा मूल्य नहीं है। शरीर पास हो सकते हैं, प्राण करोड़ों मील के फासले पर हो सकते हैं। तुम यहाँ मेरे सामने बैठे हो सकते हो, दो कदम उठाओ और मेरे पास आ जाओ, लेकिन हृदय करोड़ों मील के फासले पर हो सकता है। इससे उलटी बात भी सच है कि तुम करोड़ों मील के फासले पर होओ और हृदय तुम्हारा बिलकुल पास हो, मेरे हृदय के पास धड़के।

प्रेम चाहिए; प्रेम ही पास होना है।

तुम मेरे पास हजार कारणों से आ सकते हो, लेकिन आ न पाओगे। एक कारण ही तुम्हें मेरे पास ला सकेगा, वह प्रेम है।

तुम मेरे पास आ सकते हो, क्योंकि मेरी बातें तुम्हें ठीक मालूम पड़ती हैं। तो तर्क के कारण तुम मेरे पास आ गये। वह कोई पास आना नहीं है। तुम्हारे मेरे बीच कोई हृदय का लेन-देन नहीं हुआ; बुद्धि का सौदा हुआ। तुम्हें मेरी बात जमी, तुम्हें मेरी बात पटी; तर्क ने हामी भरी। तुमने कहा 'हाँ, बात ठीक लगती है।' तुम बात के कारण मेरे पास हो, मेरे कारण नहीं। कल बात ठीक न लगेगी, दूर हो जाओगे। कल किसी





और की ठीक लगेगी, वहाँ चले जाओगे। तुम बात के पारखी थे; जहाँ ले जाएगी, वहाँ जाओगे।

और बात भी 'तुम्हारी' बुद्धि को ठीक लगी। इसलिए तुम 'मेरी' बात ठीक लगी—ऐसा मत कहो। ऐसा ही कहो कि तुम्हारी बुद्धि जैसी है, उसमें मेरी बात ठीक लगी। अंततः तो तुम अपनी बुद्धि को चुन रहे हो, मुझे नहीं चुन रहे हो। निर्णय तो तुम्हारे तर्क का तुम्हारे ही पास है, तो मेरे पास कैसे आओगे !

तुम, हो सकता है, किसी और कामना से मेरे पास हो। कुछ हो जाय : मुकदमा जीत जाओ, बीमारी दूर हो जाय। बच्चा घर में नहीं पैदा होता, पैदा हो जाय।

अभी कुछ दिन पहले एक सज्जन आ गये। वे इसीलिए आये कि उनको बच्चा नहीं पैदा होता। मैंने उनको कहा कि तुम किसी चिकित्सक के पास जाओ। मेरे पास आने से क्या लेना-देना है। और मैं क्यों जिम्मेवार होऊँगा—तुम्हारे बच्चे पैदा होने, न होने का ! तुम मुझे बख्शो।'

पर वे कहने लगे, 'नहीं, बड़ी आशा से आया हूँ, और सदा आपकी याद आती है।' मेरी याद आती है ? यहाँ भी आकर बच्चे की आकांक्षा है, मेरी क्या याद आने का संबंध है। अगर बच्चा यहाँ आने से पैदा नहीं हुआ है, जो कि कोई कारण नहीं है—यहाँ आने से बच्चा पैदा होने का, तो तुम कहीं और जाओगे। वहाँ भी तुम यही कहोगे कि आपकी बड़ी याद आती है।

नहीं, अगर तुम किसी और कारण से आ गये हो, कोई वासना है, कोई इच्छा है, कोई कामना है, वह पूरी करनी है, तो तुम मेरे पास आये ही नहीं हो। फिर आनंद की झलक न होगी।

तुम आये ही नहीं, तुम्हें भ्रांति रही कि तुम आ गये थे, क्योंकि तुमने ट्रेन में सफर की और तुम पूना पहुँच गये। मेरे पास आने के लिए कुछ और आंतरिक और सूक्ष्म यात्रा चाहिए। वह हृदय की यात्रा है; तुम अकारण आते हो।

अगर तुमसे कोई पूछे कि तुम ठीक-ठीक बताओ क्यों तुम इस आदमी के पास हो और तुम न बता पाओ, और तुम कहो कि 'कुछ कहना मुश्किल है, बेबूझ है बात, कोई कारण नहीं है होने का। असल में दूर जाने के सब कारण हैं, पास होने का कोई कारण नहीं है ! पर एक लगाव है। हृदय में कोई बात धड़कती है। यह आदमी गलत हो या सही हो; तर्कयुक्त हो या अतर्क से भरा हो; जो कहता हो, वह ठीक हो, गलत हो, इस सबका हिसाब नहीं है। यह आदमी भा गया। यह क्या करता है, क्या नहीं करता है, इस सबका भी प्रयोजन नहीं है।'

जैसे कोई किसी के प्रेम में पड़ जाता है, तो प्रेम तो अंधा है। अगर तुम वैसे अंधे हो कर मेरे पास हो . . .। और मैं तुमसे कहता हूँ प्रेम एक-मात्र आँख है। लोग कहते

हैं, 'प्रेम अंधा है', क्योंकि लोगों के पास प्रेम की आँख नहीं है। उनके पास तो सिर्फ संदेह की आँख है। श्रद्धा की आँख से उनका कोई परिचय नहीं है।

अगर तुम संदेह की आँख से ही आये हो, तो दूर ही दूर रहोगे, फासला बना ही रहेगा, सीमाएँ टूटेंगी नहीं।

अगर तुम श्रद्धा के अंधेपन को ले कर आये हो, या जिसे मैं कहता हूँ श्रद्धा की आँख—दोनों एक ही बात है—तो सीमाएँ खो जाएँगी और तब तुम पाओगे एक अपूर्व आनंद से तुम्हारा मन-मंदिर भरने लगा, एक नयी पुलक तुम्हारे जीवन में आयी, एक नयी थिरक—जिससे तुम अपरिचित थे, एक नयी धुन बजी। तुम एक नये नाच, नये उत्सव में सम्मिलित हुए। तुम मेरे भीतर आ गये।

मेरे पास आने का अर्थ है मेरे भीतर आ गये। मेरे पास आने का अर्थ है : मुझे तुमने अपने भीतर आने दिया। सब सुरक्षा की फिक्र छोड़ दी। सब सुरक्षा के आयोजन छोड़ दिये। सब दीवारें अलग कर लीं।

खतरनाक है। इसलिए तो प्रेम मुश्किल हो गया है। क्योंकि प्रेम का मतलब है : तुम असुरक्षित हो जाओ। प्रेम धीरे-धीरे कठिन होता गया है। और जब प्रेम ही कठिन हो गया, तो श्रद्धा तो बहुत असंभव हो गयी। क्योंकि श्रद्धा तो प्रेम का नवनीत है; वह तो उस प्रेम का शुद्धतम सार है।

प्रेम अगर दूध है, तो श्रद्धा नवनीत है। मनों दूध में से निकालो तो थोड़ा-सा नवनीत निकल पायेगा। लेकिन दूध आज नहीं कल सड़ जाता है, इसलिए सब प्रेम सड़ जाता है। जो अपने प्रेम को श्रद्धा तक नहीं पहुँचाता, उसका प्रेम सड़ ही जाएगा।

अब यह बड़े मजे की बात है : दूध पुराना हो तो सड़ जाता है। घी पुराना हो, तो मूल्यवान हो जाता है। जितना पुराना घी हो, उतना पौष्टिक हो जाता है। औषधि में बड़े पुराने घी का प्रयोग करते हैं। अगर कई साल पुराना घी मिल जाय, तो उसकी शीतलता ही अनूठी है; वह प्राणों से ताप को हर लेता है।

दूध तो सड़ ही जाता है। इसके पहले कि दूध सड़ जाय, दही बना लेना। अगर तुमने दही बना लिया, तो तुमने सड़ने से बचा लिया। इसके पहले कि दही सड़ जाय, तुम नवनीत अलग कर लेना। तब तुमने शाश्वत को बचा लिया।

सब प्रेम सड़ जाता है; तुम भी जानते हो कि सब प्रेम सड़ जाता है। पत्नी से करो, वह भी सड़ जाता है। बच्चों से करो, वह भी सड़ जाता है। मित्रों से करो, वह भी सड़ जाता है। सब प्रेम सड़ जाता है। कुछ प्रेम का कसूर नहीं है। प्रेम तो दूध है। उसमें सिर्फ संभावना है। तुम दूध को लिए बैठे रह गये, वह सड़ ही जाएगा। जल्दी करो, नवनीत बनाओ, प्रेम को श्रद्धा तक ले आओ। तब प्रेम भी श्रद्धा में बच जाता है और श्रद्धा तो कभी सड़ती नहीं। और श्रद्धा तो जितनी प्राचीन होने लगती है, उतनी ही





अनूठी होने लगती है, उतनी ही उसकी औषधि का गुण बढ़ता जाता है; वह अमृत होने लगती है।

तुम अगर श्रद्धा से मेरे पास हो, अगर प्रेम के नवनीत को तुमने मेरे पास सीखा है, जीया है, निर्मित किया है, तो तुम आनंद से मर जाओगे। उसमें फिर कोई दो मत नहीं है। उससे अन्यथा होता ही नहीं है।

लेकिन अगर तुम आनंद से न मरो, तो समझना कि तुम पास आये ही नहीं। तुम दूर ही दूर थे। शरीरिक निकटता को तुमने निकटता समझ के भूल कर ली। वह कोई निकटता नहीं है। वह तो निकट होने का भ्रम और आभास है। निकटता तो केवल एक है, वह हृदय की है। सामीप्य एक है, वह प्रेम का है। नवनीत एक है, वह श्रद्धा का है।

● चौथा प्रश्न : हम दुःख से तो सदा बचना चाहते हैं, पर जीवन की शैली निषेधात्मक क्यों कर बन जाती है?

बचना चाहते हो, तो जीवन की शैली निषेधात्मक बन ही जाएगी। वह बचने में ही तो निषेध है। भागना चाहते हो। किसी भी चीज को आमने-सामने साक्षात्कार नहीं करना चाहते।

दुःख है, तो भागोगे कहाँ? और दुःख है, तो परिस्थिति के कारण होता तो भाग भी जाते। दुःख तो तुम्हारे ही कारण है। यही तो सभी ज्ञानियों का विश्लेषण है।

दुःख परिस्थिति के कारण नहीं है। परिस्थिति बदली जा सकती है। पूना में दुःख है, भाग जाओ कलकत्ता। शायद दो-चार दिन पाओ कि परिस्थिति के बदलने से दुःख नहीं है, लेकिन जैसे ही व्यवस्थित हो जाओगे, पाओगे कि दुःख फिर पैदा हो गया, क्योंकि तुम तो अपने साथ ही पहुँच जाओगे। तुम अपने को पीछे कहाँ छोड़ जाओगे!

तुम अपने दुःख की सारी व्यवस्था अपने साथ लिये जा रहे हो। अगर यहाँ तुम्हारी लोगों से कलह हो जाती थी, क्रोध हो जाता था, तो क्या कलकत्ते में नहीं होगा। फिर होगा। हिमालय पर जाओगे, क्या होगा? वहाँ भी वही होगा। अगर तुम यहाँ उदास होते थे, दुःखी होते थे, तो हिमालय पर बैठ कर भी दुःखी और उदास होओगे।

तुम्हारा होना, तुम्हारे दुःख का कारण है। भागो मत। पलायनवादी मत बनो। भगोड़ों से सारी पृथ्वी भरी है; पूरा मनुष्य जाति का इतिहास भरा है। उनसे कुछ बदला नहीं। उनसे जीवन में निषेध की शैली आयी। उनसे लोगों ने यही सीखा कि जहाँ भी घबड़ाहट, परेशानी मालूम पड़े, वहाँ से भाग जाओ। भाग कर जाओगे कहाँ? जो तुमने यहाँ पैदा किया था, वही तुम नयी जगह फिर पैदा कर लोगे, थोड़ी देर लगेगी।

लोग मरघट ले जाते हैं किसी की अर्थी को, तो रास्ते में कंधा बदल लेते हैं। एक कंधे पर से अर्थी दूसरे कंधे पर रख ली; थोड़ी देर को राहत मिलती है। थका हुआ

कंधा सुस्ता लेता है। सुस्ताया कंधा थोड़ा ताकतवर होता है, पर थोड़ी देर बाद फिर वही हालत आ जाती है।

'कंधे' मत बदलो। कंधे बदलने से कोई सार नहीं है। इसलिए मैं कहता हूँ : संसार को छोड़कर मत भागो, क्योंकि एक बार छोड़ कर भागना तुम्हारी जीवन शैली बन गयी, तो तुम भागते ही रहोगे और पहुँचोगे कहीं भी नहीं। क्योंकि रोग तुम्हारे भीतर है, रोग तुम हो। औषधि वहीं करनी है, चिकित्सा वहीं करनी है, समाधान वहीं खोजना है—बाहर नहीं।

दुःख से क्यों भागते हो? अगर दुःख है, तो तुमने बुलाया होगा; बिना बुलाये संसार में कुछ आता नहीं। अगर दुःख है तो तुमने इसे संवारा होगा—अनजाने सही, बेहोशी में सही।

तुमने शायद सुख ही चाहा होगा। तुम शायद सुख की आकांक्षा से ही कुछ किये थे। लेकिन दुःख आया है; उससे साफ है कि तुम दुःख के लिए निमंत्रण दिये थे।

तुमने बीज बोये; तुम आम की प्रतीक्षा करते थे, आम नहीं लगे; नीम के कड़वे फल लग गये। तो क्या तुम यह कहोगे कि आम के बीजों में नीम के फल लग गये? यह तो होता नहीं। संभावना यही है कि जिन्हें तुमने आम के बीज समझा था, वे नीम के बीज थे। बीज बोने में भूल हो गयी।

तुम चेष्टा तो करते हो सुख की, लेकिन मिलता दुःख है। तुम ठीक से नहीं समझ पा रहे कि तुम नीम के बीज बो रहे हो, आकांक्षा आम की कर रहे हो! और रोज यही करते हो, फिर भी नहीं जागते।

भागो मत। दुःख है, तो तुम्हारे कारण। दुःख है, तो तुमने बुलाया था, इसलिए आया है। दुःख है, तो तुमने वर्षों तक इसकी प्रतीक्षा की थी, अब उसका आगमन हुआ है, अब भागते कहाँ हो! अब इस अतिथि का स्वागत करो। अब इस अतिथि को ठहराओ, इससे परिचित हो जाओ। इससे इतने परिचित हो जाओ कि दुबारा भूल-चूक से निमंत्रण न दिया जा सके। इसका नाम-पता, इसका जीवन ढंग, इसकी स्थिति सब समझ लो, ताकि दुबारा तुम फिर से इसको पत्र न लिख दो। नहीं तो तुम फिर वही भूल करोगे।

भागने वाला बार-बार वही भूल करता है। तुम अब जागकर दुःख को समझ लो।

मेरी जीवन दृष्टि जागने पर जोर देती है, भागने पर नहीं। समझने पर जोर देती है, पलायन पर नहीं। वह तो कायर का मार्ग है। साहसी—थोड़ा भी साहसी हो, तो जो आ गया जीवन में, उसका साक्षात्कार करता है।

दुःख है; ठीक है। उसे देखो : क्यों है, कैसे आया, कैसे तुमने बुलाया और अब तुम आगे बुलाने से कैसे बच सकते हो। नहीं तो तुम फिर-फिर वही भूल करोगे।

आदमी का बड़ा अद्भुत लक्षण यह है कि वह अनुभव से सीखता ही नहीं। वही-





वही घटनाएँ तुम रोज करते हो। कल भी क्रोध किया, परसों भी क्रोध किया, जीवन भर क्रोध किया, आज भी क्रोध किया, कल भी क्रोध करोगे! तुम कुछ नया कर रहे हो? अगर तुम अपनी जीवन-चर्या लिखो तो तुम पाओगे, तुम्हारी जीवन-चर्या वही की वही है, पुनरुक्ति होती है रोज। तुम गाड़ी के चाक हो, घूमते चले जाते हो—वहीं के वहीं; कोई फर्क नहीं पड़ता। अब रुको और समझो।

दुःख है; निश्चित, बहुत दुःख है, क्योंकि तुमने अब तक दुःख के बीज बोये। अब तुम फसल काट रहे हो।

इसको तुम किसी और का उत्तरदायित्व मत समझो। नहीं तो फिर चूक जाओगे। पूरा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लो कि मैंने जैसा किया, वैसा मैं भोग रहा हूँ। यही तो सारा कर्म का सिद्धांत है। जो बोयेगा, वह काटेगा। जो बोयेगा, वही काटेगा। जो करेगा, वही भरेगा। बिलकुल साफ है। समझो।

दुःख द्वार आया है, इस अवसर को ऐसे ही मत खो दो। यह समझने का बड़ा सुखद अवसर है। इसे ठीक से पहचान लो, ताकि दुबारा ये बीज तुम न बोओ।

और मैं नहीं कहता कि तुम कसम खाओ कि हम दुबारा बीज न बोयेंगे, क्योंकि कसम भी नासमझ खाते हैं। समझ लिया, फिर क्या कसम खानी है! अगर तुमने क्रोध को समझ लिया कि दुःख है, तो क्या तुम मंदिर में जा कर कसम खाओगे—कि क्रोध अब कभी न करूँगा। यह बात ही फिजूल हो गयी। तुमने दुःख समझ लिया—क्रोध को, बात खतम हो गयी। अगर समझ लिया, तो तुम दुबारा इसी मार्ग से न गुजरोगे।

एक दफा आदमी ने दीवार से निकलने की कोशिश की, सिर टूट गया; अब वह कसम थोड़े ही खाता है मंदिर में जा कर कि 'अब दुबारा दीवार से निकलने की कोशिश न करूँगा! चाहे दीवार कितना ही प्रलोभन दे और चाहे लोग कितना ही प्रचार करें, मैं तो अब दरवाजे से ही निकलूँगा।' नहीं, ऐसा आदमी अपने-आप दरवाजे से निकलता है। बात खत्म हो गयी।

दुःख को ठीक से देख लो, वहाँ दीवार है। दरवाजा अगर तुमने देखा था, तो वह तुम्हारी भ्रांति थी। वहाँ सिर्फ सिर टकरायेगा, पीड़ा होगी, लहू बहेगा। द्वार को खोजो। द्वार पास ही है, दूर नहीं है। क्रोध में द्वार नहीं है, करुणा में द्वार है। हिंसा में द्वार नहीं है, घृणा में द्वार नहीं है। क्योंकि कभी कोई उनके द्वारा सुख नहीं पा सका।

प्रेम में द्वार है, दया में द्वार है। उनसे जो गुजरे, वे प्रभु के मंदिर में प्रविष्ट हो गये।

तो दुःख को ठीक से पहचान लो और तब तुम पाओगे कि तुम्हारे जीवन में सुख अपने-आप बरसने लगा।

ऐसा समझो कि दुःख का तो अर्जन करना पड़ता है, सुख बरसता है। दुःख तुम्हारी उपलब्धि है, सुख तुम्हारा स्वभाव है। सुख के लिए किसी कारण की जरूरत नहीं,

दुःख के लिए कारण होते हैं।

अगर तुम चिकित्सक के पास जाओ, तो वह तुम्हारी बीमारी के कारण खोज सकता है। तुम्हारे स्वास्थ्य के कारण नहीं खोज सकता। स्वास्थ्य का कोई कारण होता ही नहीं। स्वास्थ्य स्वाभाविक है। जब बीमारी होती है, तब कारण होता है। तो चिकित्सक बीमारी का निदान कर देता है।

चिकित्सा शास्त्र के पास स्वास्थ्य की कोई परिभाषा तक नहीं है। इतनी ही परिभाषा है कि—'जब कोई बीमारी न हो'। यह भी कोई परिभाषा हुई! बीमारी से स्वास्थ्य की परिभाषा? कोई बीमारी न हो, तो तुम स्वस्थ हो।

इसका अर्थ यह हुआ कि स्वास्थ्य तो स्वभाव है। बीमारी पर-भाव है। बीमारी बाहर से आती है इसलिए कारण खोजे जा सकते हैं। स्वास्थ्य तो भीतर ही खिलता है—अकारण। वह फूल अकारण है।

शांति भी अकारण है। अशांति सकारण है। दुःख सकारण है, सुख अकारण है। अगर यह बात तुम्हें ठीक से समझ में आ जाय, तो जब भी दुःख हो, कारण खोजना और जब भी सुख हो, तब सुख को भोगना, कारण वहाँ कोई है ही नहीं।

सुख को भोगो, दुःख को समझो, परमात्मा दूर नहीं है फिर। सुख को जीयो, दुःख को पहचानो, मोक्ष दूर नहीं है फिर; तुम ठीक रास्ते पर चल रहे हो।

सुख को पहचानते-पहचानते महासुख हो जाएगा। दुःख को पहचानते-पहचानते दुःख के कारण तिरोहित हो जाएँगे। उस घड़ी को हमने सत्-चित्-आनन्द कहा है। तब तुम्हारे जीवन की शैली विधायक होगी। अभी तुम्हारे जीवन की शैली निषेधात्मक है। भागो। यह न करो, वह न करो। यहाँ से हटो। बचो। इससे तुम कहीं पहुँचे नहीं हो। न कहीं पहुँच सकते हो।

अब सूत्र।

'और हे अर्जुन, अब सुख भी तू तीन प्रकार का मुझसे सुन। हे भरतश्रेष्ठ, जिस सुख में साधक पुरुष ध्यान, उपासना और सेवादि के अभ्यास से रमण करता है और दुःखों के अंत को प्राप्त होता है, वह सुख प्रथम साधन के आरंभ काल में यद्यपि, विष के समान भासता है, परंतु परिणाम में अमृत तुल्य है। इसलिए जो आत्म-बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ सुख है, वह सात्त्विक कहा गया है।

'और जो सुख विषय और इंद्रियों के संयोग से होता है, वह यद्यपि भोग काल में अमृत के सदृश भासता है, परंतु परिणाम में विष सदृश है, इसलिए वह सुख राजस कहा गया है।

'तथा जो सुख भोग काल में और परिणाम में भी आत्मा को मोहनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है।





'और हे अर्जुन, पृथ्वी में या स्वर्ग में, अथवा देवताओं में ऐसा वह कोई भी प्राणी नहीं है कि जो इन प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुणों से रहित हो।'

तामसिक सुख से प्रारंभ करें: 'जो सुख भोग काल में और परिणाम में भी आत्मा को मोहनेवाला है'—मूर्छित करने वाला है, जिसका गुण शराब जैसा है, जिससे चैतन्य खोता है; जिससे समझ तिरोहित होती है, ढँकती है; जिसमें भीतर की प्रज्ञा पर राख जम जाती है; जिससे तुम ऐसा व्यवहार करने लगते हो, जैसा तुम भी होश के क्षणों में सोच न सकते थे कि करोगे।

तुम ऐसे आच्छादित हो जाते हो मूर्च्छा से, जैसे शराबी गालियाँ बकने लगता है, रास्ते पर उलटा-सीधा चलने लगता है और सुबह उठ कर उसे याद भी नहीं रहती कि मैंने क्या किया। और सुबह तुम उसे कहो कि तुमने ऐसा-ऐसा व्यवहार किया, तो वह कहेगा: 'क्या मैं पागल हूँ। ऐसा मैं कैसे कर सकता हूँ!'

'जो सुख भोग काल में और परिणाम में भी मोहनेवाला है . . .।' सुख को भोगते समय भी जो मनुष्य को मूर्छित करता है और परिणामतः भी, अंततः भी जो अपने पीछे मूर्च्छा को ही छोड़ जाता है।

'निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ . . .।'—ऐसा सुख निद्रा से उत्पन्न होता है, आलस्य से उत्पन्न होता है, प्रमाद से उत्पन्न होता है, उसे तामस कहा गया है।

तुम्हारे जीवन में कुछ सुख है, जो आलस्य से, प्रमाद से और निद्रा से उत्पन्न होते हैं। उन सुखों को वस्तुतः सुख कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उनका आत्यंतिक परिणाम महादुःख में ले जाना है। लेकिन वे प्रतीत तो सुख जैसे होते हैं।

एक आदमी ने ज्यादा खाना खा लिया है। खाना खाते वक्त कितना ही सुखद मालूम पड़े, दुःखद है। शरीर का संतुलन खो जाएगा। शरीर पर बोझ पड़ेगा, मूर्च्छा होगी, आलस्य बढ़ेगा। यह आदमी पड़ा रहेगा घंटों तंद्रा में और तब भी उठ कर यह न पायेगा: ऊर्जस्वी हुआ, सतेज हुआ, शक्ति जागी। तब भी ऐसा ही पायेगा—धुंध-धुंध से घिरा, ढँका-ढँका, मरा-मरा—जीवन्त नहीं!

एक उदासी ऐसे आदमी को घेरे रहेगी। चलेगा, तो जबर्दस्ती, जैसे धकाया जा रहा है। करेगा कुछ, तो मजबूरी में। लेकिन प्राण में कोई प्रफुल्लता न होगी। ऐसे व्यक्ति के जीवन में रात ही रात रहेगी, सुबह का सूरज उगता ही नहीं। ऐसा व्यक्ति ज्यादा खायेगा, ज्यादा सोयेगा, नशे खोजेगा। और उसका रस हमेशा इस बात में होगा कि जहाँ भी किन्हीं कारणों से होश खो जाय, वहीं उसे सुख मालूम पड़ेगा। सिनेमा में बैठ जाएगा—तीन घंटे के लिए, ताकि होश खो जाय। उसकी चेष्टा होगी—मूर्च्छा की तलाश की।

जिन चीजों में भी जागरण आता है, वहाँ उसे रस न आयेगा। उसकी आकांक्षा

यह है कि अगर वह सदा सोया रहे, तो बड़ा सुखी होगा। इसका बहुत गहरा अर्थ क्या हुआ ? इसका गहरा अर्थ हुआ : यह आदमी जीना ही नहीं चाहता; यह आदमी मरना चाहता है। यह मरे-मरे जीना चाहता है। नींद छोटी मौत है। मूर्च्छा अपने हाथ से बुलायी गई मौत है।

ऐसा आदमी यह कह रहा है : 'परमात्मा तुझसे मुझे बड़ी शिकायत है कि तूने मुझे जीवन दिया। यह आदमी चाहता है कि कब्र में ही पड़ा रहे तो अच्छा है। इसका जीवन करीब-करीब कब्र में ही जीया जाएगा। और इसको यह समझता है सुख। इसे पता ही ही नहीं है कि महासुख सम्भव था। इसने आँख ही न खोली। बड़े सुख के बादल घिरे थे, इसने झोली ही न फैलायी। सूरज उगा था, यह आँख बंद किये बैठा रहा। चारों तरफ जीवन नृत्य कर रहा था, परमात्मा का उत्सव था, यह सम्मिलित न हुआ।

'तामस सुख, भोग काल में और परिणाम में भी आत्मा को मोहने वाला है।' मोह यानी मूर्च्छा, मोह यानी शराब।

तो तुम अपने सुखों में खोज करना। अगर तुम्हारा सुख ऐसा हो कि नींद में ही सुख आता हो, ज्यादा खाना खा लेने में सुख आता हो, शराब पीने में सुख आता हो, बस, किसी भी तरह अपने को भूल जायँ कहीं—इसमें सुख आता हो, काम-वासना में सुख आता हो, तो समझना कि ये सब तामस सुख हैं। ये तुम्हें और और गहरे नरक में ले जाएँगे। इनसे तुम जीवन के आरोहण को उपलब्ध न होओगे; जीवन का सोपान न चढ़ोगे। इनसे तुम नीचे गिरोगे। तुम मनुष्य जीवन का ठीक-ठीक उपयोग ही नहीं कर पा रहे। अवसर ऐसे ही खोया जाता है।

'वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है। और जो सुख विषय और इंद्रियों के संयोग से होता है . . .।' ऐसा समझ लें कि भीतर दीया जल रहा है चेतना का। तामस सुख ऐसा है, जैसे दीये के चारों तरफ अँधेरे को इकट्ठा कर लो और अँधेरे में ही सुख पाओ। दिन दुःख दे, रात में ही सुख पाओ।

तो जिन समाजों में तामस बढ़ जाता है, उनमें लोगों का रात्रि जीवन बड़ा महत्वपूर्ण हो जाता है। दिन भर तो वे किसी तरह गुजारते हैं, रात के लिए क्लब, हॉटेल, सिनेमा घर, थियेटर, नाच, वेश्या; रात का ही जीवन महत्वपूर्ण हो जाता है। दिन तो उन्हें व्यर्थ मालूम पड़ता है, रात में ही सार्थकता दिखायी पड़ती है। अंधकार कीमती मालूम पड़ता है। अगर इस तरह के लोग उपनिषद् लिखें, तो वे कहेंगे : 'हे परमात्मा, हमें प्रकाश से अंधकार की तरफ ले चल; जीवन से मृत्यु की तरफ ले चल। अमृत हम नहीं चाहते, हमें मृत्यु दे।' उनकी यही प्रार्थना है।

'जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है . . .।' फिर, चेतना का दीया जल रहा है। कुछ लोग उसके आसपास के अँधेरे में ही सुख पाते हैं। उन्हें पूरा सुख तो





तभी मिलेगा, अगर दीया बिलकुल बुझ जाय, अँधेरा ही अँधेरा रह जाय। ऐसे तामस से भरे व्यक्ति कभी-कभी आत्महत्या में भी सुख पाते हैं; अपने को मिटा लेने में भी सुख पाते हैं ! क्योंकि तब उन्हें पूरा विश्राम हो जाता है। सुबह न तो घड़ी का अलार्म उठा सकेगा, न ब्रह्म मुहूर्त के पक्षी जगा सकेंगे, न मंदिर की बजती हुई घंटों की आवाज, न चर्च, न मसजिद की अजान परेशान करेगी। खो गये; झंझट से बाहर हुए।

आत्मघातियों में बड़ा वर्ग तामसियों का होता है। वे जीवन को इनकार कर रहे हैं। एक परम प्रसाद था परमात्मा का, उसको इन्होंने इनकार कर दिया।

दूसरा सुख है—तामसी सुख के बाद—राजसी सुख। यह इंद्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होता है। चैतन्य का दीया जल रहा है। अगर इसके पास अँधेरे में सुख लेते हो, तो तामसी। अगर इस चैतन्य के दीये का सुख सीधा नहीं लेते, इंद्रियों के माध्यम से, शरीर के माध्यम से, भोग के माध्यम से लेते हो, तो सुख राजसी। और अगर इस दीये की ज्योति का सुख दीये की ज्योति के ही कारण लेते हो—बिना किसी माध्यम के—न इंद्रियों का माध्यम, न विषय का माध्यम, न शरीर का, न मन का—सीधे इस प्रकाश में ही आह्लादित होते हो, तो सात्त्विक।

'जो सुख विषय और इंद्रियों के संयोग से होता है, वह भोगकाल में अमृत के सदृश मालूम पड़ता है, परंतु परिणाम में जहर की भाँति है . . .।'

इंद्रियों के सभी सुख भोगते समय सुखद मालूम पड़ते हैं, भोगते ही दुःख बन जाते हैं। धोखा है।

काम-वासना सुख देती मालूम पड़ती है। गयी भी नहीं, कि पीछे विषाद, पीड़ा, थकापन, हारापन और एक आत्मग्लानि पकड़ लेती है कि फिर वही नासमझी की, जिसका कोई मूल्य नहीं है, जो कहीं पहुँचाती नहीं है, जिससे कोई कभी गया नहीं। फिर एक बार उसी गड्ढे में गिरे।

संभोग के बाद ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है, ऐसी स्त्री खोजनी मुश्किल है, जिसे आत्मग्लानि का स्वर सुनायी न पड़ता हो। अगर न सुनायी पड़ता हो, तो समझना कि उसका सुख तामसी है। तब काम-वासना भी सिर्फ अँधेरे में खो जाने का उपाय है।

अगर यह ग्लानि का स्वर सुनायी पड़ता हो संभोग के बाद, तो समझना कि सुख राजसी है।

सभी सुख—इंद्रियों के माध्यम से जो लिये गये हैं, वे क्षणभंगुर होंगे। वे ऐसे ही होंगे जैसे रास्ते पर चलते वक्त अचानक एक तेज प्रकाश वाली कार पास से गुजर जाय। एक क्षण प्रकाश लगेगा, फिर गहन अँधेरा हो जाएगा। अँधेरा पहले से भी ज्यादा गहन हो जाएगा। इतना अँधेरा पहले भी नहीं था। इस प्रकाश ने आँखें चौंधिया दीं।

इंद्रियों से मिले सुख और भी गहरे अँधेरे की प्रतीति करवाते हैं—सुख के बाद।

इसलिए मिलते समय तो अमृत जैसा मालूम होता है, परिणाम में विष जैसा मालूम होता है।

'और वह सुख जिसमें साधक पुरुष ध्यान, उपासना और सेवादि के अभ्यास से रमण करता है और दुःखों के अंत को प्राप्त होता है, वह सुख प्रथम साधन के प्रारंभ काल में विष के समान और परिणाम में अमृत के तुल्य है।'

ठीक राजस से उलटी दशा सात्त्विक की है। प्रारंभ में तो दुःखद मालूम होगा; सभी तपश्चर्या दुःख मालूम होती है। ध्यान करो, प्रार्थना करो, पूजा करो—ऐसा लगता है कि कोई सुख नहीं है। लेकिन जो कर गुजरते हैं, वे महासुख के अधिकारी हो जाते हैं।

ध्यान करो, कोई सुख नहीं सुनाई पड़ता कहीं भी। ऐसा लगता है—समय व्यर्थ गँवा रहे हो। पैर दुःखते हैं, चींटियाँ काटती हैं, मच्छर सताते हैं, हजार तरह के मन में विचार उठते हैं, संकल्प-विकल्प का तूफान उठ जाता है। इससे तो वैसे ही बेहतर थे; इतना उपद्रव नहीं होता था।

गौर से खोजते हो, पैर के पास चींटी है ही नहीं, लेकिन काटना मालूम पड़ता है। कहीं शरीर खुजलाता है। ये सबके सब उपद्रव खड़े हो जाते हैं! बड़ा कठिन मालूम पड़ता है। एक चालीस मिनट शांत बैठना बड़ा दुःखद मालूम पड़ता है। तपश्चर्या दुःखद है, लेकिन उसके फल बड़े मीठे हैं।

सात्त्विक सुख प्रारंभ में तो दुःखपूर्ण लगते हैं—और अंत में महासुख। अब समझें।

सात्त्विक सुख राजस के विपरीत है, इस अर्थ में कि उसका माध्यम इंद्रियाँ नहीं हैं। उसका माध्यम है ही नहीं। वह ध्यान, उपासना और सेवादि में अभ्यास के रमण से उत्पन्न होता है। वह तुम्हारे चैतन्य का स्वभाव ही है। तुम उसे किसी माध्यम से उपलब्ध नहीं करते।

ध्यान में क्या माध्यम है? ध्यान का अर्थ है: तुम खाली हो कर बैठ रहे। धीरे-धीरे अगर तुमने हिम्मत रखी और बैठते ही गये, बैठते ही गये, एक दिन ऐसा आयेगा कि विचार खो जाएँगे। तुम अकेले छूट जाओगे। उस दिन उस एकांत क्षण में, उस मौन में, कहीं से कोई संबंध न रह जाएगा। भीतर ही झरने फूटने लगेंगे। भीतर ही कोई नयी सुगबुगाहट, कोई नयी तरंग, तुम्हें डुबा लेगी। भीतर ही लहरें आने लगेंगी। और ये लहरें भीतर की ही हैं, बाहर से नहीं आतीं।

सात्त्विक सुख तुम्हारे भीतर से ही आता है। तामसिक सुख भीतर के दीये को बुझा के पाते हो। राजसिक सुख तुम इंद्रियों और शरीर के माध्यम से खोजते हो।

सात्त्विक सुख राजसिक सुख से विपरीत है, क्योंकि इंद्रियों का कोई माध्यम नहीं है। इसलिए भी विपरीत है कि राजसिक सुख में पहले तो सुख मिलता—फिर दुःख।





सात्त्विक सुख में पहले दुःख मिलता—फिर सुख। सात्त्विक सुख तामसिक सुख के विपरीत है, क्योंकि तामसिक सुख मूर्च्छा पर निर्भर है और सात्त्विक सुख—अमूर्च्छा पर, ध्यान पर, उपासना पर, जागरण पर।

तामसिक सुख शरीर की बोझिलता पर निर्भर है—आलस्य, प्रमाद पर। सात्त्विक सुख हलकेपन पर; जैसे पंख लग गये प्राणों को। जैसे तुम उड़ सकते हो आकाश में, ऐसे हलकेपन पर निर्भर है।

ये तीन तरह के सुख हैं।

और कृष्ण कहते हैं: 'पृथ्वीपर या स्वर्ग में ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जो इन प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों से रहित हो।'

सभी प्राणी इन तीनों तरह के सुखों के बीच दबे हैं—पृथ्वी पर या स्वर्ग में। लेकिन कृष्ण के संबंध में क्या कहोगे? कृष्ण तो पृथ्वी पर खड़े थे, जब यह कह रहे थे। क्या कृष्ण भी इन तीन तरह के सुखों में दबे हैं? नहीं, जो इन तीनों को जान लेता है, वह तीनों के पार हो जाता है। उसको हमने तुरीय कहा है, चौथी अवस्था कहा है। वह गुणातीत हो जाता है।

लेकिन जैसे ही तुम गुणातीत हो जाते हो, दूसरों को तुम दिखायी पड़ते हो कि पृथ्वी पर हो, फिर तुम पृथ्वी पर नहीं हो। फिर तुम्हारे पैर पृथ्वी पर पड़ते हैं और नहीं भी पड़ते। फिर तुम यहाँ दिखायी भी पड़ते हो; और यहाँ हो भी नहीं। फिर तुम प्राणी नहीं हो। तुम्हारी कोई सीमा नहीं है। तुम तो प्राण का स्त्रोत हो गये। तुम परमात्मा हो गये।

तीन तरह के सुख हैं, तीन तरह के सुखों में जो घिरा है, वह प्राणी है। तीन के जो पार हो गया, वह सृष्टि के पार हो गया, वह स्वयं स्रष्टा का अंग हो गया; गुणातीत हो गया।

इन तीनों सुखों को गौर से समझने की कोशिश करना। समझने का अर्थ है: अपने जीवन में परखने की कोशिश करना।

तुम्हारा जीवन अभी तमस से भरा है; तो थोड़ा उठाओ अपने को रजस की तरफ। रजस से भरा है, तो उठाओ अपने को सत्त्व की तरफ। सत्त्व से भरा है, तो उठाओ अपने को गुणातीत की तरफ, क्योंकि गुणातीत मंजिल है।

सभी गुणों के जो पार हो गया, वह प्रकृति के पार हो गया। प्रकृति के पार हो जाना परमात्मा हो जाना है।

भीष्म का महासमर्पण • अचाह और धर्म • गुणातीत है आनन्द
अपराध-भाव और अहंकार • त्रिगुणात्मक वर्ण

बारहवाँ प्रवचन

प्रातःकाल, दिनांक १ अगस्त, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥



इसलिए हे परंतप, ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों के तथा शूद्रों के भी कर्म—स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के आधार पर विभक्त किये गये हैं।

शम—अन्तःकरण का निग्रह; दम—इन्द्रियों का दमन; शौच—बाहर-भीतर की शुद्धि; तप, क्षांति अर्थात् क्षमा-भाव एवं आर्जव अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर की सरलता; आस्तिक बुद्धि, ज्ञान और विज्ञान भी—ये तो ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

शौर्य, तेज, धृति अर्थात् धैर्य, चतुरता और युद्ध में भी न भागने का स्वभाव एवं दान और स्वामी-भाव—ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।

तथा खेती, गौ-पालन और क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार—ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं। और सब वर्णों की सेवा करना—यह शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।

पहले कुछ प्रश्न।

●पहला प्रश्न : भीष्म और कर्ण जैसे धार्मिक लोगों ने अधर्मी दुर्योधन का पक्ष क्यों लिया था ? और महाभारत के अंतिम काल में कृष्ण ने अर्जुन आदि पाँच पाण्डवों को भीष्म पितामह के पास उनकी मृत्यु-शय्या पर धर्म का उपदेश लेने क्यों भेजा था ?

पहली बात। धार्मिक व्यक्ति का अर्थ है : समर्पित व्यक्ति। जीवन जहाँ ले जाय; उसकी अपनी कोई मरजी नहीं है। अगर जीवन दुर्योधन के पक्ष में खड़ा कर दे, तो वह वहीं खड़ा हो जाएगा। अगर जीवन अर्जुन के पक्ष में खड़ा कर दे, तो वह वहीं खड़ा हो जाएगा।

धार्मिक व्यक्ति की अपनी मरजी होती, अपना निर्णय होता, तो सवाल उठता था कि भीष्म क्यों दुर्योधन के पक्ष में खड़े हैं। धार्मिक व्यक्ति तो निमित्त-मात्र है। इसलिए जहाँ परमात्मा की मरजी हो, वहीं खड़ा हो जाता है।

उसने अपनी तरफ से निर्णय लेना छोड़ दिया है; वह समर्पित है। इसलिए भीष्म ने जहाँ पाया, उसे स्वीकार कर लिया। इस स्वीकृति के कारण ही . . . । जो कि बड़ी कठिन है। इसे थोड़ा समझें।

अगर भीष्म ने पाण्डवों के पक्ष में अपने को पाया होता, तो स्वीकृति ज्यादा सरल थी; समर्पण ज्यादा आसान था।

जब तुम शुभ दशा में पाते हो, तब समर्पण कठिन होता ही नहीं। स्वर्ग में अपने को पाकर कौन समर्पण न कर देगा ! नरक में पाकर जो समर्पण करे, वही समर्पण है। जहाँ जीत होने को ही हो . . . और यह स्पष्ट ही था कि पाण्डवों की जीत सुनिश्चित है, फिर भी अपने को छोड़ दिया भीष्म ने—उनके साथ जिनकी हार निश्चित थी। भीष्म को भली-भाँति पता है।

भारत की सारी बोध की संपदा एक छोटे से सूत्र में समायी है : सत्यमेव जयते नान्यतम्। सत्य जीतता है, असत्य कभी नहीं।

उन्हें पता है कि सत्य कहाँ है। उन्हें यह भी पता है कि जीत कहाँ होगी, कैसी होगी, फिर भी उन्होंने छोड़ दिया। इसलिए गुण-गौरव और भी बढ़ जाता है। भीष्म की गरिमा बढ़ जाती है, घटती नहीं।

भीष्म अगर कहते कि युधिष्ठिर और अर्जुन और पाण्डवों के पक्ष में तू मुझे खड़ा कर दे, तो मैं समर्पण को राजी हूँ, तब तो समर्पण कुछ बहुत गहरा न हुआ होता। जिस बात के लिए तुम राजी हो, उसमें समर्पण करने में कौन-सी कठिनाई है। वस्तुत: तुम समर्पण का आवरण ओढ़ रहे हो; मरजी तुम्हारी ही है। लेकिन भीष्म ने अपने को ऐसी विपरीत दशा में छोड़ दिया, जहाँ कि समर्पण अति कठिन है, असंभव है। अँधेरे के पक्ष में छोड़ दिया। अगर प्रभु की यही मरजी है, तो यही होगा।

और यही कारण है कि पाण्डवों को कृष्ण ने अंतत: भीष्म के पास धर्म की शिक्षा के लिए भेजा, क्योंकि जिसका समर्पण इतना गहरा है कि परमात्मा के भी विपरीत लड़ना हो, अगर परमात्मा की यही मरजी है, तो यह भी करेगा। वहाँ भी ना-नुच न करेगा, वहाँ भी इनकार न करेगा। जिसका आस्तिक भाव इतना परम है, उसके पास उसके मरण के क्षण में शिक्षा लेने योग्य है, जाने योग्य है। उसके चरणों में बैठकर उससे सीखने योग्य है।

इससे तुम एक बात समझ लेना कि जो व्यक्ति जैसी भी परिस्थिति हो, बिना किसी शर्त के समर्पण करता है, वही समर्पण करता है। तुम्हारी मरजी के अनुसार स्थिति हो और तुम समर्पण करो, तो तुम समर्पण के धोखे में पड़ना मत। तुम चालबाजी कर रहे हो।

जब सुख बरसता हो, स्वर्ग पास हो, तब तुम यह मत कहना कि प्रभु तेरी ही मरजी पूरी हो। जब नरक द्वार पर दस्तक देता हो, अंधकार सब तरफ से घेरे हो, पराजय सुनिश्चित हो, पैर के नीचे की भूमि खिसकती हो, कहीं सहारा न मिलता हो, नाव डूबने ही वाली हो, आँधियाँ हों अंधड़ हों, तब भी तुम कहना : प्रभु तेरी ही मरजी पूरी हो, तो तुम्हारे समर्पण की जो गहराई होगी, वही असली गहराई है।

भीष्म ने अद्‌भुत किया। बड़ा कठिन था दुर्योधन के साथ खड़ा होना। साधारण बुद्धि का आदमी भी देख लेता कि दुर्योधन के साथ खड़ा होना कितना कठिन है। भाग खड़ा होता। या तो भीष्म जैसे लोग खड़े थे दुर्योधन के साथ—जिनका समर्पण पूरा था या वैसे लोग खड़े थे, जिनकी दुष्टता पूरी थी।

अधार्मिकों की जमात थी। दुष्टों का गिरोह था। उसके बीच भीष्म खड़े थे चुपचाप, क्योंकि 'उसकी' अगर यही मरजी है, तो ठीक।

उसकी मरजी के मार्ग पर मर जाना बेहतर, मिट जाना बेहतर। उसकी मरजी से नरक में गिर जाना बेहतर, महा-अंधकार में उतर जाना बेहतर। अपनी मरजी का





प्रकाश कोई प्रकाश सिद्ध होनेवाला नहीं है।

इस महासमर्पण के कारण ही यह गरिमा उनको कृष्ण ने दी।

महाभारत बहुत अनूठा है। उसकी हर घटना अनूठी है। महाभारत जैसा महाकाव्य इस संसार में दूसरा नहीं। उसमें जीवन के बड़े गहन तत्त्वों को बड़ी सरलता से प्रकट किया गया है। मगर बड़ी सूझ चाहिए, तो ही दिखाई पड़ेगा कि मामला क्या है।

मरण शय्या पर पड़े भीष्म के पास भेजते हैं कि सीख लो उनसे धर्म की असली बात, क्योंकि जिसने इतना महासमर्पण किया है, उसने असली धर्म को पहचान लिया है।

उलटा ही होता, तुम अगर होते, तो तुम कहते, इसके पास क्या जाना, जो दुष्टों के साथ खड़ा रहा। जिसको धर्म की इतनी भी बुद्धि नहीं है कि समझ सके कि असद् को छोड़ो, सद् को पकड़ो; बुराई को त्यागो, भलाई को पकड़ो। जिसको इतनी भी सद्‌बुद्धि नहीं है, इसके पास धर्म सीखने जाना? बात ही उलटी है! लेकिन कृष्ण ने भेजा। पाण्डव गये।

न तो पाण्डवों ने यह बात उठायी कि हम जायें—इस आदमी से सुनने। नहीं; वे समझे इस राज को कि भीष्म वहाँ अपनी मरजी से नहीं हैं, वे परमात्मा की मरजी से हैं।

जिसने इस तरफ लोगों को खड़ा किया है, उसी ने उस तरफ भी लोगों को खड़ा किया है। खेल उसका है। हम उसके हाथ में चलनेवाले प्यादे सिपाही, घोड़े, हाथी, राजा, रानी, कुछ भी हों, लेकिन शतरंज के मोहरें हैं। हाथ उसका है, वह जहाँ उठाये, जैसे चलाये। जो उसके साथ पूरी तरह चलने को राजी है, जिसने अपने अहंकार को बिलकुल छोड़ा है, वही धर्म के गुह्य राज को जानने में समर्थ होता है।

'मरने के पहले पूछ लो उससे', कृष्ण ने कहा, 'यह अवसर न खो जाय। क्योंकि जो नासमझ उसके आसपास खड़े हैं, वे तो उससे पूछेंगे भी नहीं।'

शायद दुर्योधन तो यही सोचता रहा होगा मन में कि भीष्म पितामह और ये सब मेरी दुष्टता के कारण ही मेरे साथ हैं। मेरे भय के कारण मेरे साथ हैं या मेरे साथ रहने से कुछ लोभ पूरा होगा, धन-संपदा, यश-प्रतिष्ठा मिलेगी, विजय मिलेगी, इसलिए मेरे साथ हैं। मेरे डर के कारण मेरे साथ हैं। उसने तो कभी सोचा भी न होगा कि भीष्म एक परम समर्पण के कारण मेरे साथ हैं।

उस राज को तो कृष्ण के सिवाय कोई भी नहीं जानता है कि दुर्योधन के साथ भीष्म का खड़ा होना किसी और कारण से नहीं है, प्रभु की मरजी के कारण है। इसलिए कृष्ण ने पाण्डवों से कहा कि 'जाओ इसके पहले कि यह जीवन-ज्योति खो जाय, इससे इसके जीवन का निचोड़ पूछ लो, सार पूछ लो। इससे पूछ लो, धर्म क्या है।' इसने धर्म

को बड़ी विपरीत अवस्थाओं में जाना है। और जिसने जाना है, अंधकार में प्रकाश को, उसकी पहचान, प्रत्यभिज्ञा बड़ी गहरी होती है।

जब सूरज उगा हो और तुमने एक जलते हुए दीये को देखा हो, तो तुम्हारी प्रत्यभिज्ञा होती ही नहीं गहरी। दीया दिखायी ही नहीं पड़ता। अमावस की घनी अँधेरी रात में, जब तारे भी छिपे हों, तब दीया प्रकट होता है। तब उसकी ज्योति को जिसने देखा है, उसने ज्योति का रोआँ-रोआँ देखा है; उसने ज्योति का रेशा-रेशा देखा है, उसने ज्योति को अँधेरे की पृष्ठभूमि में देखा है। उससे पूछ लो—ज्योति का नक्शा, ज्योति का रहस्य, ज्योति को जलाने की विधि। उसके पास दृष्टि है। इसलिए भीष्म के पास भेजा है।

और एक बात समझ लेनी जरूरी है, क्योंकि वह सवाल भी मन में उठेगा कि आखिर परमात्मा की भी ऐसी मरजी क्यों। क्या परमात्मा असत्य को जिताना चाहता है? क्यों परमात्मा ऐसा चाहे? क्यों समग्र की ऐसी आकांक्षा हो कि भीष्म और कर्ण जैसे पवित्र, जिनकी शुचिता का कोई अंत नहीं, वे दुष्टों के गिरोह में खड़े हो जायें? कारण है। और कारण समझने जैसा है।

इस संसार में बुराई भी भलाई के पैरों पर ही खड़ी हो सकती है अन्यथा खड़ी ही नहीं हो सकती। झूठ भी सत्य का सहारा ही लेकर खड़ा हो सकता है अन्यथा खड़ा ही नहीं हो सकता।

झूठ के पास अपने कोई पैर ही नहीं हैं। पाप के पास अपनी कोई शक्ति ही नहीं है कि वह खड़ा हो जाय। उसको भी पुण्य का सहारा चाहिए। तो वहाँ रावण के खेमे में कोई है, जो राम को प्रेम करता है। रावण के खेमे में कुछ सत्य की किरण है, नहीं तो रावण का खेमा ही गिर जाय।

दुर्योधन के खेमे में कोई है कि अगर उसके प्राणों के प्राणों से पूछा जाय, तो वह कहेगा कि पाण्डव जीत जायें। लेकिन वह खेमे में खड़ा है दूसरे—विपरीत। वहाँ अर्जुन के गुरु द्रोण हैं, वहाँ कर्ण जैसा महारथी है, वहाँ भीष्म जैसा अनूठा पुरुष है अन्यथा पलड़ा पहले ही गिर जाएगा। युद्ध हो ही न पायेगा। संघर्ष खड़ा ही न हो सकेगा।

झूठ के पास अपने पैर नहीं हैं, सत्य के पैर चाहिए। लेकिन तुम कहोगे कि अगर ऐसा सत्य के उधार पैर ले कर लड़ना पड़ता है, तो झूठ को लड़ाने की जरूरत ही क्या है! यहीं जीवन की एक बड़ी गहरी कीमिया है।

अगर झूठ न लड़े, तो सत्य कभी जीतेगा भी नहीं। झूठ को लड़ाना भी होगा, सत्य को जिताना भी होगा। झूठ के पार होकर ही सत्य निखरेगा। अँधेरी रात के बाद ही सुबह होगी।

तुम कहो, अँधेरी रात की जरूरत ही क्या है! दुःख की जरूरत ही क्या है? दुःख





के बाद ही सुख का फूल खिलेगा और समझ में आयेगा: संसार की जरूरत क्या है? संसार से गुजर कर ही मोक्ष की प्रतीति होगी। विपरीत से आकर ही तुम अनुभव को उपलब्ध हो सकते हो अन्यथा जीवन का सारा खेल ही पंगु हो जाएगा, लंगड़ा हो जाएगा।

तो परमात्मा झूठ को भी सच के सहारे देता है। उससे सच हारता नहीं, उससे झूठ जीतता नहीं, सिर्फ झूठ और सच का संघर्ष हो पाता है। उस संघर्ष में सत्य ही सदा जीतता है। उस संघर्ष में झूठ ही सदा हारता है। लेकिन वह संघर्ष भी अनिवार्य है और जरूरी है, एक अनिवार्य शिक्षण है; उससे गुजरना आवश्यक है। वह विद्यापीठ है।

असत्य को भी सहारा तो भगवान् का ही है, इतना नहीं है कि वह जीत जाय, पर इतना जरूर है कि सत्य से लड़ सके। क्योंकि उसकी लड़ाई से ही सत्य को बल मिलेगा, उसके संघर्ष से ही सत्य निखरेगा, नया होगा, उभरेगा, प्रकट होगा। वह सत्य के विपरीत नहीं है वस्तुतः, सत्य को प्रकट होने का अवसर है।

● दूसरा प्रश्न: आप कहते हैं कि कामना धन की है अथवा धर्म की, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता; लेकिन धर्म की यात्रा का आरंभ उसकी कामना से ही होता है या कि उसका उतना उपयोग भी नहीं है!

नहीं; धर्म की यात्रा का प्रारंभ धर्म की कामना से नहीं होता, संसार की कामना के असफल होने से होता है। इसे ठीक से गाँठ बाँध लो। इसे सम्हाल कर रख लो।

धर्म की यात्रा धर्म की कामना से शुरू नहीं होती, क्योंकि कामना से तो धर्म की यात्रा शुरू ही नहीं हो सकती। कामना तो संसार है। कामना का फैलाव ही तो संसार है। तो कामना से कैसे धर्म की यात्रा शुरू होगी अन्यथा धर्म भी संसार हो जाएगा। कामना से ही तुम कामना के पार कैसे जाओगे? यह तो कीचड़ से कीचड़ धोना हो जाएगा।

नहीं, संसार की कामना जब हार जाती है—समग्र रूपेण, परिपूर्णता से; तुम सब तरफ से जीतने की कोशिश कर लेते हो, सब तरफ के सहारे खोजते हो, बैसाखियाँ लगाते हो, लेकिन गिर-गिर जाते हो। एक ऐसी घड़ी होती है कि तुम जान लेते हो कि संसार पराजय है; वहाँ दुःख ही दुःख है। वहाँ सुख की केवल आशा है और वह आशा जिस दिन निराशा बन जाती है, प्रगाढ निराशा बन जाती है, कि उसमें फिर आशा की एक भी किरण नहीं बचती—इस अनुभव से कि संसार व्यर्थ हो गया, तुम धर्म की तरफ चलते हो।

धर्म की कामना से नहीं, संसार की कामना के टूट जाने से। संसार व्यर्थ हो गया, तो पैर धर्म की तरफ उठने लगते हैं। यह कोई नयी कामना नहीं है, वासना की कोई नयी यात्रा नहीं है। सभी वासनाएँ हार गयीं, यह तो निर्वासना की तरफ जाना है।

दो तरह के लोग धर्म की तरफ जाते हैं। एक, कामना से ही जाते हैं। वे जा ही नहीं

पाते। उन्हें लगता है कि वे धर्म की यात्रा पर हैं; वह भ्रांति है उनकी। धर्म के नाम पर संसार ही चलता है। मंदिर जाते हैं, क्योंकि धन चाहिए, मुकदमा जीतना है, विवाह करना है, बच्चे नहीं होते हैं, दुकान नहीं चलती, नौकरी नहीं मिलती है ! मंदिर वे जाते हैं; जाते नहीं।

मंदिर भी बाजार है—बाजार का ही हिस्सा है। दीखता भले है कि मंदिर है, वह है नहीं मंदिर। मंदिर में क्या कुछ माँगने जाना ! जिसकी माँग समाप्त हो गयी, वही मंदिर में जाता है। जिसने जान लिया कि कुछ सार नहीं, मिल जाय संसार तो सार नहीं, न मिले तो सार नहीं; जिसने सब भाँति पहचान लिया कि असार ही असार है, वही धर्म की तरफ जाता है। तब वह माँगने नहीं जाता, कुछ पाने नहीं जाता।

माँग और पाने का कुछ संबंध ही धर्म से नहीं है। तब वह सब छोड़कर, सब व्यर्थता को पहचान कर, एक नयी यात्रा पर निकलता है जो निर्वासना की है।

यहाँ न तो परमात्मा पाना है, न मोक्ष पाना है। कुछ पाना नहीं है। यहाँ तो सिर्फ होने का आनंद लेना है।

'होना' और 'पाना' इन दो शब्दों को ठीक से खयाल में रखो। जब होने की यात्रा शुरू होती है—तब धर्म। जब पाने की यात्रा चलती रहती है, तब संसार। तुम सिर्फ होना चाहते हो—अपनी परिपूर्णता में। यह कोई चाह नहीं है, यह तुम हो ही। सब चाह छूट जाय, तो यह तुम्हें दिखायी पड़ जाय।

चाह के कारण दिखायी नहीं पड़ता। चाह घेरे रहती है, चाह का धुआँ चारों तरफ घिरा रहता है। तुम अपने को नहीं पहचान पाते। चाह के कारण दौड़ते हो, बैठ नहीं पाते। चाह के कारण सपने संजोते हो, शांत नहीं हो पाते। चाह के कारण चित्त विचार और विचार करता है। हजार आयोजनाएँ करता है और उस कारण वह तुम्हारे भीतर जो छिपा है, उसके साथ मैत्री नहीं बन पाती; उसके साथ संबंध नहीं जुड़ पाता।

चाह लाखों संबंध बनवाती है—अपने से बाहर; भीतर से संबंध नहीं जुड़ने देती। जब सब चाह छूट जाती है . . . । छूट जाने का मतलब यह नहीं कि तुम छोड़ कर भाग जाते हो। छूट जाने का मतलब : जब तुम समझ जाते हो : व्यर्थ है। बोध होता है; सुरति जगती है। तब ऐसा नहीं है कि कोई नयी यात्रा शुरू हो जाती है। बस, पुरानी यात्रा बंद हो जाती है। तुम अपने को वहीं पाते हो, जहाँ तुम जाना चाहते थे। तुम अपने को परिपूर्ण पाते हो, तुम अपने को ब्रह्मस्वरूप पाते हो। उस क्षण तुम्हारे भीतर अहर्निश एक नाद गूँजने लगता है, 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ही ब्रह्म हूँ। बिना कहीं गये, मंजिल मिल जाती है।

धर्म यात्रा नहीं है, क्योंकि यात्रा में तो वासना होगी; कहीं जाना है। धर्म तो पहुँचना है, यात्रा नहीं है। धर्म मार्ग नहीं है, मंजिल है। और तुम वहाँ इस क्षण भी हो,





अभी भी हो। लेकिन तुम्हारी वासनाएँ तुम्हें दौड़ाती हैं, अवसर नहीं मिलता, समय नहीं मिलता, सुविधा नहीं मिलती कि तुम पहचान लो—भीतर क्या घटित हो रहा है; क्या सदा से ही घटित हुआ हुआ है।

तुम्हारे भीतर अहर्निश परमात्मा विराजमान है। श्वास-श्वास में, हृदय की धड़कन-धड़कन में वही रमा है। पर फुरसत कहाँ, सुविधा कहाँ, समय कहाँ है !

अभी बहुत बड़ी दौड़ है; संसार जीतना है। सिकंदर छाती पर सवार है। वह खींचे लिए जा रहा है। बहुत पाना है। सोचते हो कि जब सब पा लेंगे, तब फिर इस तरफ भी ध्यान देंगे।

ध्यान रखो, धर्म यात्रा ही नहीं है। धर्म वासना ही नहीं है। उतना भी उपयोग नहीं है—धर्म के लिए।

धर्म संसार की असफलता से उठा हुआ फूल है; जीवन के विषाद से उठा हुआ फूल है। विफलता से खिला हुआ फूल है। कामना की मृत्यु पर धर्म का जन्म है। कामना की राख पर धर्म का अंकुर फूटता है।

● तीसरा प्रश्न : कल के श्लोक में ध्यान, उपासना आदि से उत्पन्न सात्त्विक सुख को दुःख का अंत करनेवाला, अमृत-तुल्य और आत्म-बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ कहा गया है। कृपया समझाएँ कि कृष्ण ने इसे सुख क्यों कहा है ! आनंद क्यों नहीं कहा ?

सुख दुःख के विपरीत है। संसार में तुम जानते हो दुःख, स्वयं में तुम जानोगे सुख। संसार भूल जाएगा, तो सुख का उदय होगा। जब 'स्वयं' भी भूल जाएगा, तब आनंद का उदय होगा।

पहले संसार से मुक्त होना है, फिर स्वयं से भी। संसार से मुक्ति पर दुःख न रहेगा, सुख हो जाएगा, अमृत-तुल्य सुख हो जाएगा। बड़ा अनूठा है; प्रसाद-रूप है; भीतर से उपजता है; सतत धार बहती है। संगीत में नहा जाते हो उसके; प्रफुल्लित हो उठते हो। लेकिन संसार में जो दुःख जाना था, यह उसके विपरीत अवस्था है। और आनंद दुःख के विपरीत नहीं है। आनंद तो सुख और दुःख दोनों के अतीत है।

तो पहली अवस्था है दुःख—संसार, जहाँ तुम दुःख ही दुःख जानते हो। सुख की सिर्फ आशा होती है; मिलता कभी नहीं। बस, मिला, मिला—ऐसा मालूम पड़ता है। मिलता कभी नहीं। लगता है : अब आया हाथ, अब आया हाथ, हाथ कभी आता नहीं। दूर-दूर हटता चला जाता है। दुःख मिलता है, सुख की आशा रहती है।

सुख की आशा के कारण ही तुम दुःख झेलने में राजी रहते हो, नहीं तो तुम कभी के भाग खड़े होते। वह तो ऐसा ही है जैसे कि गाय को घर लाना हो, तो घास की एक गठरी ले कर चल पड़ो—घर की तरफ। गाय उसके पीछे चली आती है। आशा बंधी रहती है कि अभी यह घास है— मिलेगा। लेकिन गाय को तो घर आने पर घास मिल

भी जाता है; तुम जिस घास के पीछे चल रहे हो, वह कभी मिलता ही नहीं। बस, वह आगे चलता ही रहता है। तुम भी चलते रहते हो, घास भी चलता रहता है। फासला उतना ही रहता है, जितना पहली बार था; आखिरी बार भी उतना ही रहता है। वह भ्रामक है, माया जैसा है, सपने जैसा है।

संसार में दुःख मिलता है, सुख की आशा रहती है। आनंद की तो बात ही मत उठाओ। आनंद का तो तुम सपना भी नहीं देख सकते—संसार में। सुख की भी जहाँ आशा भर है, वह भी कभी नहीं मिलता, वहाँ आनंद का तो सवाल क्या! आनंद की तो भनक भी नहीं पड़ती।

इसलिए आनंद शब्द तुम्हारे शब्द-कोश में है ही नहीं; हो नहीं सकता। तुम ज्यादा से ज्यादा आनंद का अर्थ सुख ही कर पाते हो—बड़ा सुख, महासुख, बहुत गुना सुख। लेकिन तुम्हारा आनंद गुणात्मक रूप से सुख से भिन्न नहीं होता। सुख का ही बहुत गुना होता है। लेकिन सुख ही होता है।

तो सुख होगा तुम्हारा एक रेत के कण जैसा और आनंद होगा—सागर की तटों पर फैली हुई सारी रेतों के जैसा, लेकिन गुणात्मक कोई फर्क नहीं है, परिमाण का भेद है। बड़ा होगा—भिन्न नहीं होगा। और आनंद भिन्न है, बड़ा नहीं है। इसलिए आनंद का तो तुम सुख ही अर्थ ले सकते हो। अभी सुख भी तो जाना नहीं है। वह भी आशा में झलका है।

जब संसार छूटता है, असार होता है, आँख भीतर मुड़ती है, अपने पर आती है, तो सुख वास्तविक हो जाता है। जिसकी कल तक आशा थी वह बहने लगता है।

तुम भटकते थे, क्योंकि बाहर खोजते थे और वह भीतर था—'कस्तूरी कुण्डल बसै।'

तुम उसकी सुगंध में कहाँ-कहाँ यात्रा नहीं किये; लोक-परलोक छान डाले; कितनी पृथ्वियों पर भटके, कितनी योनियों में भटके; सब तरफ टटोला, खोजा, सिर टकराया, हाथ-पैर मारे, कुछ भी अनकिया न छोड़ा। वह मिला नहीं। क्योंकि वह भीतर था। अब तुम थके-हारे, भीतर लौटे। अचानक पाया कि यहाँ तो अहर्निश उसी की धुन बज रही है, उसी का दीया जल रहा है।

तो कृष्ण कहते हैं: 'अमृत-तुल्य'। अमृत ही नहीं—अमृत-तुल्य; अमृत-जैसा; प्रसाद-रूप, क्योंकि कुछ कर नहीं रहे हो और मिल रहा है। बस, भीतर गये और मिलने लगा है। भीतर था ही। यात्रा गलत हो रही थी; जो भीतर था, उसे तुम बाहर खोजते थे। यात्रा ठीक हो गयी, सुख भरने लगा। लेकिन यह सुख संसार के दुःख से विपरीत है। यह वही सुख है, जिसकी आशा संसार में तुमने बाँधी थी और कभी पाया नहीं। वही सुख अब तुम्हें मिल रहा है। लेकिन यह भी संसार से जुड़ा है। कितना ही सात्त्विक





हो, संसार से जुड़ा है।

तुम्हारा होने का खयाल कि मैं हूँ, यह भी संसार का ही हिस्सा है। दूसरे हैं, तू है, उन्हीं से जुड़ा हुआ खयाल है: 'मैं हूँ।' मैं और तू एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

अब तक तुमने तू में खोजा था, दुःख पाया; अब तुमने मैं में खोजा और सुख पाया। सुख मिलने के बाद तुम्हारे जीवन में पहली दफे आनंद की आशा बँधेगी। जैसे दुःख में सुख की आशा थी, सुख में आनंद की आशा बँधेगी। सुखी व्यक्ति आनंद की तलाश पर निकलेगा। वह पूछेगा : आनंद; क्योंकि सुख थोड़े ही दिनों में उबाने लगेगा। कितना ही अमृत-तुल्य हो, रोज-रोज पीने से बेस्वाद हो जाएगा। कितना ही प्रसाद-रूप हो, रोज-रोज वही भोगने से ऊब जाओगे, रसहीन हो जाएगा। उससे भी थक जाओगे।

और अकसर ऐसा हुआ है कि जब तुम भीतर के सुख से थक जाओगे, तो तुम बाहर की तरफ फिर आँख खोलने लगोगे कि थोड़ा-सा दुःख मिल जाय, थोड़ा स्वाद बदल जाय।

जंगलों में बैठे हुए संन्यासी सुख पाते हैं, लेकिन सुख से फिर ऊबने लगते हैं। फिर संसार उन्हें पुकारने लगता है। क्योंकि जब तक 'मैं' जिन्दा है, तब तक संसार स्थूल रूप से मर गया, सूक्ष्म रूप से नहीं मरा है। उसका मौलिक आधार अभी भी शेष है। 'ब्लू-प्रिन्ट' मौजूद है। फिर से भवन बनाया जा सकता है। बीज बना है, वृक्ष फिर बन सकता है। तुमने वृक्ष तो काट दिया, बीज अभी सम्हाला हुआ है। 'मैं' ही, अहंकार ही तो बीज है—सारे फैलाव का।

कभी तुमने खयाल किया, अगर कभी ध्यान में थोड़ी शांति भी लगने लगती है, तो जल्दी ही तुम पाते हो कि मन चाहता है: थोड़ी अशांति भी भोगें। चलो, फिल्म ही देख आयें! मित्रों से मिल आयें; कुछ उपद्रव कर लें, क्योंकि शांति भी सतत पड़ती रहे, तो तुम झेल नहीं पाते। उसमें भी ऊब आने लगती है। स्वर्ग भी अगर सतत ही मिलता रहे, तो जल्दी ही तुम नरक जाने की अर्जी दे दोगे। तुम कहोगे कि 'थोड़े दिन के लिए जरा बाहर हो आयें। थोड़ी हवा बदल हो जाएगी।'

सुख से भी आदमी ऊब जाता है। क्योंकि सुख भी एक अनुभव है। और सभी अनुभव बार-बार मिलते रहें, तो ऊबाने वाले हो जाते हैं।

आनंद अनुभव नहीं है। वह प्रसाद-रूप भी नहीं है, वह स्वभाव-रूप है। वह अमृत-तुल्य नहीं है, वह अमृत है। वहाँ भोगनेवाला कोई भी नहीं है। वहाँ ऐसा नहीं है कि तुम हो और आनंद मिल रहा है। वहाँ बस, आनंद है और तुम नहीं हो।

जिसको सुख मिलता है, वह अधर में लटक जाता है। दो उपाय हैं। अगर समझदार न हों, अगर संगी-साथी न हों, जो उसे ऊपर खींच सकें, अगर गुरु उपलब्ध न हो, तो बहुत डर है कि वह वापस संसार में लौट जाय। बहुत बार लोग लौट गये हैं। तुम में

से भी बहुत लौट गये हैं। इसी तरह के लोगों को तो हम योग-भ्रष्ट कहते हैं। वह करीब-करीब आ गयी थी मंजिल। बस, हाथ के करीब थी और लौट गये! पर मजबूरी है। कर भी क्या सकते हैं!

मैंने सुना है कि कोलेरेडो में जब पहली दफा सोने की खदानें खोजी गयीं, तो लोग एकदम पागल की तरह कोलेरेडो की तरफ भागने लगे। क्योंकि वहाँ सोना ही सोना बरस रहा था। खेतों में सोना पड़ा था। पहाड़ों पर सोना था। जहाँ खोदो, वहाँ सोना मिल रहा था।

एक करोड़पति ने अपनी सारी जमीन-जायदाद, अपने सब महल बेच दिये और एक पूरा पहाड़ खरीद लिया। संयोग की बात, पहाड़ सोने से खाली था। बहुत खोजा, लेकिन कुछ न मिला। कर्ज लिया उसने; बड़े यंत्र लगवाये। लोग खेतों में हाथ से खोद रहे थे और सोना मिल रहा था। नदी के किनारे रेत खोद रहे थे और सोना मिल रहा था। और उसने पूरा पहाड़ खरीद लिया था—इसी आशा में कि वह दुनिया का सबसे बड़ा धनपति हो जाएगा। वह कंगाल हुआ जा रहा है! उसने बड़ा कर्ज लिया, बड़ी मशीनें ले गया। पहाड़ खुदवा डाले, लेकिन सोने का कोई पता नहीं।

एक दिन उसने अखबारों में खबर दी कि मैं अपने सारे यंत्र, सारी संपत्ति, सारा पहाड़ बेचना चाहता हूँ। उसके मित्रों ने कहा, 'कौन खरीदेगा? यह खबर तो सबको मिल गयी है। पूरी अमेरिका में चर्चा है इसकी कि भाग्य की बात कि राह पर पड़ा मिल रहा है सोना, और एक आदमी ने इतनी मेहनत की और एक कण भी न पाया, आश्चर्य। भाग्य में ही न होगा। तो अब तुम क्या सोचते हो, कोई पागल होगा, जो इतनी बड़ी व्यवस्था को खरीदे। जैसे तुमने अपने को दाँव पर लगाया, कौन लगायेगा—और जानते हुए! तुमने तो खैर अँधेरे में दाँव लगाया था। अब तो जानी हुई बात है। उसने कहा, 'कौन जाने; दुनिया कभी पागलों से खाली नहीं।'

और एक आदमी मिल गया—जिसने करोड़ों रुपये दे कर, वह पूरी जायदाद खरीद ली। उसके घर के लोगों ने कहा, 'तुम पागल हो गये हो?' उस आदमी ने कहा कि 'जहाँ तक उसने खोजा है, वहाँ तक नहीं मिला; लेकिन आगे नहीं होगा, इसका कुछ पक्का है? एक कोशिश कर लेनी जरूरी है।' और वह दूसरा आदमी दुनिया का अरबपति हो गया, क्योंकि सिर्फ एक फुट और खोदा। और इससे बड़ी खदानें कोलेरेडो में मिली ही नहीं। सिर्फ एक फुट! पहले ही दिन मशीनों ने काम शुरू किया और खदानें प्रकट हो गयीं। और वह आदमी पचासों फीट खोद चुका था।

पर तुम जानोगे भी कैसे कि एक फुट पहले ही लौट आये हो! बस, एक फुट दूर थी तुम्हारी संपदा। तुम्हारा भाग्य प्रतीक्षा करता था, बस, एक इंच दूर भी हो सकता था। सिर्फ मिट्टी की एक पतली सतह एक इंच की हो सकती थी। और तुम लौट आये होते।





सुख की अवस्था से बहुत लोग वापस गिर जाते हैं। क्योंकि जब सुख उबाने लगता है, तब अगर कोई सम्हालने को न हो और कोई कहे कि 'भागो मत, यही तो मौका है। आँख ऊपर उठाओ, आनंद की झलक मिल सकती है अभी . . .।'

सुख में ही आनंद की झलक मिलती है, दुःख में नहीं। दुःख में तो सुख की झलक मिलती है। स्वाभाविक है। दुःख की सीढ़ी से सुख की सीढ़ी जुड़ी है। सुख की सीढ़ी के पार आनंद की सीढ़ी है।

भागो मत, सुख का उपयोग कर लो। अगर तुमने दुःख को ठीक से समझा, तुम सुख में पहुँच जाओगे। अगर तुमने सुख को ठीक से समझा, तुम आनंद में पहुँच जाओगे।

दुःख है: संसार। तुम—दो मौजूद रहो, तो दुःख है—मैं और तू। बस, मैं और तू की सारी बकवास है—संसार। फिर मैं ही बचे, आधा रोग रह जाय, तो सुख मालूम होता है। फिर मैं भी चला जाय, तो आनंद बरसता है। लेकिन तब तुम नहीं होते।

आनंद अनुभव नहीं है। कोई है ही नहीं वहाँ, जो अनुभव करता है। आनंद ही हो। इसलिए हमने परमात्मा का लक्षण कहा है: सत्-चित्-आनन्द।

परमात्मा आनंदित हो रहा है, ऐसा नहीं कहा है। परमात्मा आनंद है, क्योंकि 'आनंदित हो रहा है', तो कभी-कभी दुःखी भी होगा! कभी-कभी आनंद से हाथ छूट भी जाएगा। कभी-कभी उदास भी हो जाएगा। नहीं; परमात्मा आनंद है। यह उसका होना है।

इसलिए कृष्ण इसे सुख कह रहे हैं, आनंद नहीं कह रहे हैं। समझो।

अगर सत्त्व की दशा सध जाय, तो सुख मिलेगा; अगर गुणातीत दशा सध जाय, तो आनंद मिलेगा। तीनों गुणों के जो पार हो जाता है, वह आनंद को उपलब्ध होता है।

सत्त्व की दशा में, शुद्धतम गुण की दशा में सुख होता है, महासुख होता है, आनंद नहीं। अभी एक रेखा बनी ही रहती है—तुम्हारे होने की। वही काँटे की तरह चुभती रहती है। सुख में भी दुःख का बीज बना रहता है।

● चौथा प्रश्न: आपने समझाया कि तमस से रजस में, फिर रजस से सत्त्व में उठना है। फिर कहा गया है कि स्वधर्म में जीना ही धर्म का लक्ष्य है। तो यदि किसी व्यक्ति का स्वधर्म तामसिक या राजसिक होना हो, तो क्या उसे भी अपना स्वधर्म छोड़कर सत्त्व में उठना जरूरी है?

कोई गुण स्वधर्म नहीं है। गुण तो बाहर के आवरण हैं। स्वधर्म का अर्थ तो स्वभाव में जाना है। वह तो गुणातीत है।

तमस, रजस या सत्त्व स्वधर्म नहीं हैं, धर्म पर आरोपण हैं। किसी के ऊपर लोहे का आवरण है, वह तमस। किसी के ऊपर चाँदी का आवरण है, वह रजस। किसी के

ऊपर सोने का आवरण है, वह सत्त्व। बाकी तीनों आवरण हैं। भीतर जो छिपा है, गुणातीत, स्वधर्म तो वहाँ है।

तो स्वधर्म का अर्थ तुम गुणों से मत करना। स्वधर्म तो आकाश की भाँति है। उसमें तो तुम जाओगे, तो ही पहचान पाओगे; उसका कोई गुण नहीं है। स्वधर्म का कोई गुण नहीं है; गुणातीत अवस्था ही उसका होना है। इसलिए सभी को तमस से उठना है, रजस से उठना है, सत्त्व से भी उठना है। और अंततः स्वधर्म को पाना है।

अब यह स्वधर्म—न तो इसका हिन्दू धर्म से कोई मतलब है, न मुसलमान धर्म से कोई मतलब है, न जैन धर्म से कोई मतलब है। स्वधर्म का अर्थ तो है : तुम्हारे चैतन्य की परम अनुभूति, आत्यंतिक अनुभूति।

●पाँचवाँ प्रश्न : बर्ट्रेन्ड रसेल ने कहीं कहा है कि आधुनिक मनुष्य की सबसे बड़ी समस्या अपराध-भाव है। क्या यह बात सही है और यदि सही है तो उससे मुक्त होने को वह क्या करे?

यह बात बहुत गहरे अर्थों में सही है। और आज ही ऐसा है, ऐसा नहीं; सदा से मनुष्य की समस्या रही है—अपराध-भाव। जब मैं कहता हूँ 'सदा से', तो मेरा अर्थ है : जब से आदमी सभ्य हुआ है।

असभ्य आदमी को कोई अपराध-भाव नहीं होता। वह ऐसे ही सरलता से जीता है, जैसे बच्चे, जैसे पशु-पक्षी, पौधे। सभ्यता का जन्म अपराध-भाव से होता है। अपराध-भाव का अर्थ है : हम प्रत्येक बच्चे को कहते हैं कि तुम्हें ऐसा होना चाहिए और ऐसा नहीं होना चाहिए। फिर बच्चा जब भी अपने को पाता है—उस दिशा में झुकता, जैसा नहीं होना चाहिए, तो अपराध की वृत्ति पैदा होती है, गिल्ट पैदा होती है, ग्लानि पैदा होती है। और जब भी पाता है—उस दिशा में झुकता हुआ, जैसा हम कहते हैं : होना चाहिए, तो अहंकार पैदा होता है।

सभ्यता दो रोग पैदा करवाती है : एक तरफ अहंकार और एक तरफ अपराध-भाव।

तुमने किसी बच्चे को कहा, 'सिगरेट नहीं पीना; महापाप है; नरक में सड़ोगे', तुमने डरवाया। अब अगर पीयेगा, तो अपराध-भाव पैदा होगा कि 'मैंने कुछ पाप किया। माँ-बाप से झूठ बोला, छिपाया।' वह डरा-डरा घर आयेगा। चौकन्ना रहेगा कि कहीं न कहीं से खबर मिलने ही वाली है। किसी न किसी ने देख ही लिया होगा। कपड़े में बास आ जाएगी—माँ को। मुँह को पास लायेगा तो मुँह से पता चल जाएगा। वह पकड़ा ही जानेवाला है। वह अपराध से भरा हुआ है, डर रहा है,घबड़ा रहा है।

अगर यह भय बहुत गहरे बैठ जाय, तो तुम जीवन भर डरते ही डरते समाप्त हो जाते हो। तुम जी ही नहीं पाते। भयभीत, जीयेगा कैसे! अपराध तुम्हारे जीवन को





चूस डालता है।

अगर सिगरेट न पी; पीने की आकांक्षा थी, पीने का मन था, हाथ में उठा ली थी, फिर छोड़ दी, त्याग कर दी, तो अकड़ पैदा होगी, अहंकार पैदा होगा। यह लड़का घर और ही चाल से चलता हुआ आयेगा कि इसने कोई महाकार्य कर लिया है, कि जैसे यह परमात्मा की नजरों में बहुत ऊपर उठ गया। स्वर्ग बिलकुल निश्चित है!

छोटे बच्चों को तो छोड़ दो, तुम्हारे बड़े साधु-संन्यासी भी ऐसी ही छोटी बातों में स्वर्ग और नरक का हिसाब लगा रहे हैं! किसी ने उपवास कर लिया; वह पक्का मानकर बैठा है कि स्वर्ग में बैंड-बाजे लिये परमात्मा खड़ा है। जैसे ही वह मरेगा कि बैंड-बाजे बजे, हाथी पर जुलूस निकला! बचकानी बुद्धि है।

तुमने किया क्या है? भोजन नहीं किया, कि सिगरेट नहीं पी, कि पान नहीं खाया। कुछ हैं कि जिन्होंने पान खा लिया है, सिगरेट पी ली है, वे घबड़ा रहे हैं कि नरक का द्वार अब खुला, अब खुला। अब देर नहीं है और शैतान ने दबोचा!

दोनों ही बातें नासमझी की हैं। और दोनों ही के पीछे कारण है। कारण है—समाज, राज्य, धर्म।

समाज जीता है व्यक्ति को डरा कर, भयभीत करके। पुरोहित भी जीता है : व्यक्ति को डरा कर, भयभीत करके। पहले डराओ। जब आदमी बिलकुल घबड़ा जाय, तब उसको बचाने आ जाओ। यह जाल है।

मैंने सुना है एक गाँव में दो भाई थे। उनका धंधा बहुत अच्छा चलता था। एक भाई रात में जाकर लोगों की खिड़कियों पर डामर फेंक आता था और दूसरा भाई सुबह से निकलता था, चिल्लाता हुआ, 'किसी को काँच तो साफ नहीं करवाने हैं।' धंधा बड़ा परिपूर्ण था। उसमें कभी ऐसा होता ही न था कि ग्राहक न मिलें। पहला भाई ग्राहक पैदा कर जाता था, दूसरा भाई सुबह जा कर लोगों के काँच पर डामर साफ कर आता था।

पहले पुरोहित तुम्हें डराता है। जब तुम भयभीत हो जाते हो, तब तुम्हें सांत्वना देता है कि 'घबड़ाओ मत। हमारे पास कुंजियाँ हैं, उपाय हैं, जिनसे तुमने अगर पाप भी किये हैं, तो भी क्षमा कर दिये जाओगे। अगर तुमने अपराध भी किये हैं, तो अपराध तुम्हें नरक में न ले जाएँगे। हमारे पास मंत्र हैं, यज्ञ का साधन है। अगर तुमने हमारी सुनी और मानी, तो क्षमा कर दिये जाओगे। घबड़ाओ मत, बचाने का उपाय है। बचने की संभावना है।'

मनुष्य को पहले हम रुग्ण करते हैं—फिर इलाज! पहले बीमार करते हैं, फिर चिकित्सा करते हैं। ऐसे धंधा चलता है।

आदमी स्वस्थ है, कुछ करने की जरूरत नहीं है। लेकिन यह जारी रहेगा, क्योंकि

राजनेता व्यर्थ हो जाएगा, अगर तुम घबड़ाये न। अगर तुम डरे न, तो राजनेता तुम्हें युद्धों में न झोंक सकेगा। अगर तुम डरे न तो मंदिर, मसजिद, गुरुद्वारे खाली हो जाएँगे, क्योंकि कौन वहाँ घुटने टेक कर प्रार्थना करेगा? अगर तुम डरे न, तो समाज की छाती पर जो लोग बैठे हैं, वे बैठे न रह सकेंगे। तब व्यक्ति मुक्त होने लगेगा। समाज बिखरने लगेगा। लोग सरल हो जाएँगे, लोग नैसर्गिक हो जाएँगे, लोग आनंद-भाव को उपलब्ध हो जाएँगे, लेकिन तब दुष्टों की, शोषकों की, पीड़ित करने वालों की, पर-पीड़कों की बड़ी कठिनाई हो जाएगी। वे क्या करेंगे? इसलिए यह सारा खेल है।

जैसे ही आदमी सभ्य हुआ है, सबसे बड़ी दुर्घटना जो घटी है, वह है : उसके भीतर अपराध-भाव पैदा हो गया। और कैसी-कैसी छोटी बातों पर अपराध-भाव पैदा हो जाता है!

मैं छोटा था। तो मेरे घर में पर्युषण के दिन आते, जैनों का त्योहार आता, तो सब बड़े उपवास करते। स्वभावत: जब बड़े उपवास करते हैं, तो छोटे भी अनुकरण करते हैं। न करें, तो ऐसा लगता है : पाप कर रहे हैं; करो तो बड़ी अकड़ पैदा होती है कि कोई महाकार्य कर लिया है! सिर्फ भूखे मरे हैं और लगता है : महाकार्य कर लिया!

मैं छोटा था, तो जब घर में सभी उपवास कर रहे हों, तो मुझे भी करना चाहिए। कोई जबरदस्ती न थी। लेकिन न करो, तो ऐसा लगता कि जैसे अभी तक मनुष्य जाति के हिस्से नहीं हैं। अभी थोड़े मनुष्य जाति के नीचे हैं।

फिर दूसरों के घरों में दूसरों के बच्चे कर रहे हैं। वह भी बड़ी पीड़ा का कारण था, कि फलाने के लड़के ने उपवास कर लिया। या तो भूखे न मरो, तब अहंकार की तृप्ति नहीं होती। भूखे मरो, तो अहंकार की तृप्ति हो सकती है। अगर उपवास न करो, तो अपराध-भाव पैदा होता है कि तुम्हीं कुछ गलत हो, बाकी सब कर रहे हैं।

रात प्यास लगी है, तो पानी नहीं पी सकते। घर के लोग समझाएँ भी कि पी लो, तुम अभी बच्चे हो, उससे भी दु:ख होता है कि अभी हम बच्चे हैं, इसीलिए पीने को कहा जा रहा है, वैसे तो यह पाप है। तो अकड़ पैदा होती है कि मत पीओ, सुबह गुजार ही दो किसी तरह। बच्चे तो जिद्दी होते भी हैं। सोचते हैं : किसी तरह रात तकलीफ में गुजार दो, सुबह की राह देखो।

प्रकृति के विपरीत जो भी करवाया जा रहा है, उसमें अहंकार पैदा होगा, अगर करोगे। अगर न करोगे, तो अपराध पैदा हो जाएगा, क्योंकि दूसरे कर रहे हैं, आगे निकले जा रहे हैं, तुम पीछे छूटते जा रहे हो। आत्म-निंदा पैदा होगी।

और इस संसार में सबसे बड़ी बुरी बात है—आत्म-निंदा का भाव पैदा हो जाय। क्योंकि जिसको आत्म-निंदा पैदा हो गयी, वह कैसे पहचानेगा भीतर के परमात्मा को? वह तो इतना निंदित हो गया कि वह कभी सोच भी नहीं सकता कि मेरे भीतर—और





परमात्मा हो सकता है! महावीर के भीतर होगा, बुद्ध के भीतर होगा, कृष्ण के भीतर होगा, मेरे भीतर हो सकता है? रात पानी पी लिया! उपवास का दिन था; भूख लग गयी!

तुम्हारे भीतर परमात्मा हो सकता है, यह बात ही माननी मुश्किल हो जाएगी—जितनी अपराध की परत मजबूत हो जाएगी। और अहंकार की परत मजबूत हो जाय, तो भी मुश्किल हो जाएगा मानना कि तुम्हारे भीतर परमात्मा है।

अहंकार भी जानने नहीं देता और अपराध भी जानने नहीं देता। दोनों से जो मुक्त हो जाता है, उसको ही मैं सरल-साधु कहता हूँ। न तो जो अपराध की धारणा रखता है अपने भीतर। भूख लगी तो भोजन किया, प्यास लगी तो पानी पीया, नींद आयी तो सो गये। जो जीवन को इतनी सरलता से चलाता है कि प्रकृति को नाहक लड़ाई-झगड़े में नहीं डालता। और न ही किसी अहंकार को अर्जित करता है। कर भी नहीं सकता।

अगर तुम नींद आये तभी सो जाओ, तो अहंकार कैसे अर्जित करोगे? तुम कैसे कहोगे कि मैं सिर्फ दो ही घंटे सोता हूँ! तुम कैसे कहोगे कि मैं रोज ब्रह्म-मुहूर्त में उठता हूँ; मैं कोई साधारण आदमी नहीं हूँ। पूरे जीवन मैं ब्रह्ममुहूर्त में ही उठा हूँ। तुम कैसे कहोगे कि मैंने कितने उपवास किये, कितने व्रत रखे।

अगर तुम समझ लो : अपराध छूट जाय तो अहंकार भी छूट जाता है, क्योंकि उसका कोई उपाय ही नहीं बचता। तब तुम होते हो, जैसे 'नहीं' हो। और यही होने का श्रेष्ठतम ढंग है। ऐसे—जैसे नहीं हो। न तुम ग्लानि से भरे हो और न तुम किसी की छाती पर खड़े होने की चेष्टा कर रहे हो। न तुम अपने को नीचा मानते हो कि दूसरों को अपने सिर पर खड़ा करो, न तुम अपने को ऊँचा मानते हो कि किसी के सिर पर खड़े हो जाओ।

तुम न नीचे हो, न तुम ऊपर हो। तुम बस, तुम हो। तुम न तुलना करते हो किसी से अपनी, न निंदा करते हो; न अपना गुणगान करते हो, न अपनी स्तुति करते हो। इस सहजता का नाम ही स्वभाव है, स्वधर्म है। और तभी तुम अपने भीतर के परमात्मा का आविष्कार कर पाओगे।

परमात्मा से बचने के दो उपाय हैं : अपराध और अहंकार। पाने का एक ही उपाय है, दोनों को छोड़ दो, दोनों को गिरा दो।

स्वीकार कर लो—अपनी सहजता को, निसर्ग को। मत व्यर्थ का संघर्ष खड़ा करो। लड़ो मत नदी से; बहो।

अब सूत्र।

'इसलिए हे परंतप, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के तथा शूद्रों के भी कर्म स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा विभक्त किये गये हैं। शम—अंत:करण का निग्रह, दम—इंद्रियों

का निग्रह, शौच—बाहर-भीतर की शुद्धि; तप, क्षांति—क्षमा-भाव एवं आर्जव अर्थात् मन, इंद्रिय और शरीर की सरलता; आस्तिक बुद्धि, ज्ञान और विज्ञान, ये तो ब्राह्मण के स्वभाविक कर्म हैं।

'और शौर्य, तेज, धृति अर्थात् धैर्य, चतुरता और युद्ध में भी न भागने का स्वभाव एवं दान और स्वामी-भाव, ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।

'तथा खेती, गौ-पालन, क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार वैश्य के और सब वर्णों की सेवा करना—यह शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।'

पहली बात। अगर संसार में लोग ठीक-ठीक गुणों में विभाजित होते, तो तीन ही वर्ण होने चाहिए—चार नहीं; ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र। अगर लोग ठीक-ठीक विभाजित हों, तो तीन ही वर्ण होंगे। चौथा वर्ण भी है, क्योंकि लोग ठीक-ठीक विभाजित नहीं हैं।

वैश्य वस्तुतः कोई वर्ण नहीं है, सभी वर्णों का बाजार है। शूद्र और क्षत्रिय के बीच में जो हैं, क्षत्रिय और ब्राह्मण के बीच में जो हैं, शूद्र और ब्राह्मण के बीच में जो हैं—वह जो-जो बीच में हैं, उनका सबका इकट्ठा समूह वैश्य है।

वैश्य कोई वर्ण नहीं है; मिश्रण है, खिचड़ी है। लेकिन उसकी भी जरूरत है, वह चौराहा है। वहाँ से एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण में प्रवेश करता है। वहाँ से एक गुण का व्यक्ति दूसरे गुण में प्रवेश करता है।

तीन तो यात्रा-पथ हैं, चौथा चौराहा है। इसलिए वैश्य बड़ा से बड़ा वर्ण है। होना ही चाहिए।

अगर प्रकृति बिलकुल नियम से चलती हो और सब चीजें बँटी हों, जैसी कि हम गणित और तर्क में बाँट लेते हैं विभाजन साफ हो, तो वैश्य खो जाएगा। तब तीन ही रह जाएँगे।

तमस से भरे हुए व्यक्ति का नाम शूद्र है, सोया, मूर्च्छित। रजस से भरे हुए—तीव्र त्वरा और कर्म से भरे हुए व्यक्ति का नाम क्षत्रिय है। सत्त्व, शांति, पवित्रता से भरे हुए व्यक्ति का नाम ब्राह्मण है।

ये तीन तो गणित के विभाजन हैं, लेकिन जीवन गणित को नहीं मानता। तो जीवन में ब्राह्मण तो मुश्किल से मिलेगा, शूद्र भी मुश्किल से मिलेगा, क्षत्रिय भी मुश्किल से मिलेगा। जहाँ जाओगे वहाँ वैश्य मिलेगा, क्योंकि तुम पाओगे: ब्राह्मण भी धंधा कर रहा है। चाहे वह धंधा यज्ञ का हो, पूजा-पाठ का हो, पुरोहित का हो—धंधा कर रहा है। धंधा कर रहा है, तो वैश्य है।

तुम पाओगे: शूद्र भी सेवा कहाँ कर रहा है, वह भी धंधा कर रहा है। चाहे जूता बना रहा हो, चाहे मालिश कर रहा हो, चाहे बुहारी लगा रहा हो, वह भी धंधा कर





रहा है, वह भी वैश्य है।

और क्षत्रिय तुम कहाँ पाओगे? वे भी धंधा करनेवाले लोग हैं। वे अपनी जान बेच रहे हैं। मरने-मारने के लिये वे तैयार हैं, क्योंकि सौ रुपये महीना तनख्वाह मिलती है! वे भी वैश्य हैं।

तीन तो होते, अगर जीवन बिलकुल गणित से चलता, लेकिन जीवन गणित से चलता ही नहीं। तो तुम इन तीनों का संगम पाओगे। गंगा यमुना, सरस्वती—तीनों को तुम प्रयाग में मिलता पाओगे। वैश्य तीर्थ बन गया है। वह सब उसमें गड्डम-गड्ड है। वह सबसे बड़ा वर्ण बन गया है, जो होना नहीं चाहिए।

और दूसरी बात ध्यान रखो: कि इनका जन्म से कोई संबंध नहीं है। जन्म से तुम ब्राह्मण के घर पैदा हो सकते हो, इससे तुम्हारे ब्राह्मण होने का कोई संबंध नहीं है। जन्म से तुम क्षत्रिय के घर पैदा हो सकते हो, लेकिन इससे तुम्हारे क्षत्रिय होने का कोई संबंध नहीं है। तुम डरपोक क्षत्रियों को खोज ही लोगे। और ब्राह्मण के घर पैदा होने से कोई ब्रह्म-ज्ञान को थोड़े ही उपलब्ध हो जाता है। और शूद्र के घर में पैदा होने से ही कोई शूद्र थोड़े ही होता है।

जीवन का संबंध जन्म से कोई बहुत ज्यादा नहीं है। जन्म से तो केवल संभावना मिलती है।

श्वेतकेतु घर लौटा—शिक्षित होकर। गुरुकुल से वापस आया। बाप ने पूछा कि 'सच में ही ब्राह्मण हो कर लौटा है? क्योंकि तुझे मैं एक बात कह दूँ: हमारे कुल में नाम से ब्राह्मण कभी भी कोई नहीं हुआ। तो तू उस एक को जानकर लौटा है—जिसको जानने से सब जान लिया जाता है? अगर न जान कर लौटा हो उस एक को, तो अभी तू नाम-मात्र को ब्राह्मण है और हमारे कुल में कभी कोई नाम-मात्र का ब्राह्मण नहीं हुआ। हम सदा ही वस्तुतः ब्राह्मण होते रहे हैं। यह हमारे कुल की धारा है, प्रतिष्ठा है। तो तू जा।' उसने कहा, 'उसको तो मैं जान कर नहीं लौटा। जो भी सिखाया गया है, वह सब जान कर लौटा हूँ, लेकिन मेरे गुरु ने उसकी तो कोई बात ही नहीं की—उस एक की, जिसको जान लेने से सब जान लिया जाय! उस एक की तो बात ही नहीं उठी। और मैं ऐसा नहीं मानता कि मेरे गुरु को उसका पता होता और वे छिपाते। उन्हें पता ही न होगा, क्योंकि उन्होंने तो अपनी पूरी मुट्ठी खोल दी और जो भी था, मुझे दिया है।'

तो उद्दालक ने कहा, 'फिर? फिर मैं ही तुझे उस एक की शिक्षा दूँगा। लेकिन उस एक को जाने बिना कभी भूल के अपने को ब्राह्मण मत कहना।'

तो ब्राह्मण के घर में तो कोई नाम का ब्राह्मण हो सकता है। जब तक ब्रह्म को न जान लो, तब तक अपने को ब्राह्मण जरा सोच समझ के कहना।

कोई शूद्र के घर में पैदा होने से शूद्र नहीं हो जाता।

हमारी मुल्क की परंपरा तो यह है कि सभी शूद्र की तरह पैदा होते हैं, क्योंकि सभी आलस्य से पैदा होते हैं, गहन तमस से आते हैं। माँ के पेट में बच्चा नौ महीने सोया रहता है। अब इससे बड़ा और आलस्य कुछ खोजोगे ! नौ महीने पड़ा ही रहता है—तमस, अंधकार में। सभी अंधकार में से आते हैं, आलस्य और तमस से पैदा होते हैं। सभी शूद्र हैं।

सब शूद्र की तरह पैदा होते हैं और सब ब्राह्मण की तरह मरने चाहिए, यह तो जीवन की कला होगी। लेकिन जिसने ब्राह्मण के घर में पैदा हो कर समझ लिया : 'मैं ब्राह्मण हो गया', वह चूक जाएगा। वह नाम मात्र का ब्राह्मण था। उसने लेबल को असलियत समझ लिया। क्षत्रिय के घर में पैदा होने से कोई क्षत्रिय नहीं होता।

समझने की कोशिश करें—उन तीनों के लक्षण।

'शम अर्थात् अंतःकरण का निग्रह . . .।' जिसके भीतर एक गहरी शांति की अवस्था आ गयी है, जिसके भीतर कोई उत्तेजित लहरें नही हैं, अंतःकरण विक्षिप्त नहीं रहा, मौन हो गया। आँख बंद कर लो, तो भीतर सन्नाटा—और सन्नाटा—और सन्नाटा खुलता जाता है। स्वर की व्यर्थ गूँज नहीं होती; शब्द अकारण नहीं तिरते; विचार यों ही नहीं घूमते रहते। भीतर एक परम शांति है। तो अंतःकरण निगृहीत हो गया। अब अंतःकरण पागल की तरह नहीं दौड़ रहा है। जब जरूरत होती है, तब चलता है; जब जरूरत नहीं होती, तब विश्राम करता है। तुम मालिक हो गये हो—अपने अंतःकरण के।

'दम'—जिसकी इंद्रियाँ अब मालिक नहीं रहीं; जिसका होश मालिक हो गया है। तुम्हें तो इंद्रियाँ चलाये जाती हैं।

सुंदर स्त्री जा रही है, तुम ध्यान करने बैठे थे और आँख कहती है : 'देखो, सुंदर स्त्री जाती है।' तुम मालिक नहीं हो। आँख मजबूर कर देती है; तुम्हें देखना पड़ता है; आँख उठानी पड़ती है। आँख उठा कर पछताते हो कि क्या होगा देख लेने से भी। और सौंदर्य में देखने योग्य भी क्या है। हवा में खिंची लकीरें हैं। थोड़ी अनुपातपूर्ण होंगी। हड्डी-मांस-मज्जा पर चढ़ी हुई लकीरें हैं; थोड़ी अनुपातपूर्ण होंगी। लेकिन क्या होगा ? पर नहीं। ध्यान टूट गया, शृंखला मिट गयी। आँख ने पुकार लिया। आँख ने पकड़ लिया।

दम अर्थात् इंद्रियाँ जिसकी वश में आ गयी हैं।

'शौच—बाहर भीतर की शुद्धि।' जो सदा नहाया हुआ है; जिसके भीतर विकार की धूल नहीं उठती।

'तप—जो जीवन में दुःख झेलने को तैयार है', अगर उस दुःख से शुद्धि होती हो। दुःख झेलने को तैयार है, उससे अगर सत्य की खोज होती हो। जो सुख का आकांक्षी





नहीं है ; सुख से बड़ी आकांक्षा का जिसके भीतर आविर्भाव हुआ है, जो सत्य का खोजी है।

ये ब्राह्मण के स्वाभाविक लक्षण हैं। यही उसका स्वभाव है।

शौर्य, वीरता, साहस, तेज, एक अदम्य ऊर्जा, शक्ति, धृति, धैर्य, चतुरता—एक जीवन में संघर्ष की कुशलता; युद्ध में भी न भागने का स्वभाव—चाहे मौत ही क्यों न आ जाय, लेकिन क्षत्रिय पीठ दिखाना पसंद न करेगा। मौत वरणीय है, पीठ दिखाना वरणीय नहीं है।

'दान'; कुछ भी न हो उसके पास और अगर कोई माँगे तो वह इनकार न कर सकेगा। देना उसके लिए स्वाभाविक है।

'और स्वामी-भाव'; और वह मालिक है। वह अकड़ भी उसके लिए स्वाभाविक है। वह अहंकार भी उसके लिए स्वाभाविक है। ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं। ये राजस व्यक्ति के कर्म हैं : साहस ,न भागने की वृत्ति, देने की सहज स्वाभाविकता, माँगने से बचने की चेष्टा।

क्षत्रिय माँग न सकेगा। तुम उसे माँगता हुआ न पाओगे। इसलिए तो बुद्ध के पिता को बड़ी पीड़ा हुई, जब बुद्ध राह पर भिक्षा माँगने लगे। उन्होंने कहा, 'यह हमारे, कुल में कभी हुआ ही नहीं। यह तू क्या कर रहा है ? यह ब्राह्मण जैसा व्यवहार क्यों कर रहा है ?' ब्राह्मण माँग सकता है। अब यह थोड़ा समझने जैसा है।

ब्राह्मण माँग सकता है, क्योंकि उसके पास कोई अहंकार नहीं है। क्षत्रिय माँग नहीं सकता। अहंकार ही तो उसके जीवन की रीढ़ है; माँगा कि गया। दे सकता है।

तो क्षत्रिय महादानी होगा। ब्राह्मण महाभिक्षु होगा। लेकिन ब्राह्मण को क्षत्रिय से ऊपर रखा है। हमने दानी से भिक्षु को ऊपर रखा है। क्योंकि दानी में भी अकड़ है।

अभी कुछ दिन पहले कर्नल राज की माँ ने संन्यास लिया। क्षत्रिय की अकड़ ! प्यारी बुढ़िया है। उसने जो बातें मुझे कहीं, उनमें एक बात यह भी थी कि 'अगर कोई मुझे एक रुपया दे, तो मैं सौ रुपये लौटाती हूँ। आप का क्या कहना है ? इसमें कोई गलती तो नहीं।' यह क्षत्रिय की अकड़ है कि कोई अगर एक पैसा दे तो सौ लौटा देते हैं। उसने कहा, 'एक तो लेती ही नहीं किसी से। कोई मजबूरी आ जाय, कोई भेंट ही दे दे कुछ, तो तत्क्षण लौटाना है, सौ-गुना करके लौटाना है। इसमें कोई गलती तो नहीं।' क्षत्रिय होने तक तो कोई गलती नहीं है, लेकिन अगर ब्राह्मण होना हो तो महा गलती है।

यह देने का भाव बुरा नहीं है, लेकिन इस देने से भी अहंकार ही सघन होगा, मजबूत होगा, विनम्रता न आएगी।

'स्वामी-भाव' ; कुछ भी न रह जाय क्षत्रिय के पास, तो भी स्वामी-भाव बना रहता है। कुछ भी न हो, तो भी वह मूँछ पर अकड़ दे कर चलता हुआ दिखायी पड़ेगा। वह

उसका स्वाभाविक गुण है।

मैने सुना : अकबर के दरबार में दो राजपूत युवक गये और उन्होंने कहा कि 'हम चाहते हैं कि हमें नौकरी मिल जाय।' अकबर ने उनसे ऐसे ही मजाक में पूछा . . .। अभी मूँछ की रेख भी आनी शुरू न हुई थी, लेकिन अकड़ भारी थी। जो मूँछ भी थी नहीं, उस पर भी उन्होंने अकड़ दे रख थी। अकबर ने पूछा, 'लेकिन तुम्हारा गुण क्या है?' उन्होंने कहा, 'क्षत्रिय का गुण क्या ? हम लड़ सकते हैं।' अकबर ने पूछा, 'तुम्हारी बहादुरी का कोई प्रमाण-पत्र लाये हो ?' बात अखर गयी।

दोनों भाई थे, जुड़वाँ भाई थे। तलवारें खिंच गयीं। इसके पहले कि अकबर कुछ कहे, दोनों की तलवारें एक-दूसरे की छाती में घुस गयीं। दोनों लाशें पड़ी थीं।

अकबर तो घबड़ा गया। अकबर ने अपनी आत्मकथा में लिखवाया है कि जैसा मैं उस दिन घबड़ाया, कभी नहीं घबड़ाया। और जब मैंने मानसिंह को बुला कर कहा कि 'यह क्या मामला है!' तो मानसिंह ने कहा, 'कभी किसी क्षत्रिय से भूल के मत पूछना प्रमाण-पत्र। और क्या प्रमाण-पत्र हो सकता है। यह रही जान। कहीं बहादुरी का कोई प्रमाण-पत्र हो सकता है? जो प्रमाण-पत्र बहादुरी का लाये, वह क्षत्रिय न होगा, कोई और होगा। प्रमाण-पत्र लिखवा के किससे लायेगा?'

अकबर ने लिखा है : फिर मैंने किसी क्षत्रिय से नहीं पूछा। क्षत्रिय को देख के डरने लगा, यह तो आदमी खतरनाक है। यह भी कोई बात हुई! अभी तो बात ही चल रही थी। इसमें कोई जान गँवाने का सवाल था? लेकिन जीवन का प्रश्न उठ गया।

कोई बहादुरी का प्रमाण-पत्र पूछ ले। हद हो गयी! क्षत्रिय का होना ही उसकी बहादुरी है।

'और खेती, गौ-पालन, क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार, वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं।' सत्य व्यवहार ; वह जो भी करे, उसमें सच्चाई हो, ईमानदारी हो।

हमने एक अनूठी ही अर्थशास्त्र की धारणा खोजी थी। उस धारणा में, उस अर्थशास्त्र में, अर्थ कम था नीति ज्यादा थी; अर्थ कम था, धर्म ज्यादा था। और हमने चाहा था कि वैश्य भी व्यापार भला करे, लेकिन व्यापार अधर्म आधारित न हो ; उसके पीछे भी सत्य की खोज चलती रहे। वह जो भी करे, उसमें से उतना ही ले, जितना जरूरी है। वह ज्यादा न चूस ले।

'खेती, गौ-पालन, क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं।' इसलिए जो वैश्य सचमुच वैश्य थे, उनके लिए हमने जो नाम दिया है वह है : सेठ। मूल शब्द उसका है : श्रेष्ठ—जिसका वह अपभ्रंश है। जिसने जीवन के उलझे हुए व्यापार में सत्यता को साधा है, वह श्रेष्ठ है ही। श्रेष्ठ का ही विकृत रूप सेठ हो गया। वह बड़ा सम्मानित शब्द था—कृष्ण के समय में : श्रेष्ठी। क्योंकि व्यापार में और ईमानदारी





साधने से ज्यादा कठिन कोई बात नहीं हो सकती।

ब्राह्मण ईमानदार हो सकता है, क्योंकि कोई व्यवसाय नहीं कर रहा है। क्षत्रिय ईमानदार हो सकता है, क्योंकि सीधे तलवार का ही काम है। लेकिन वैश्य? वहाँ तो सारा धंधा ही उपद्रव का है। वहाँ तो सब चोरी, षड्यंत्र, धन की दौड़, महत्वाकांक्षा, मिलावट—सब वहाँ है। वह बीच बाजार में खड़ा है। इसलिए हमने ब्राह्मणों तक को श्रेष्ठी नहीं कहा। क्षत्रियों को श्रेष्ठी नहीं कहा; और वैश्य को श्रेष्ठी कहा, क्योंकि वहाँ जिसने साध लिया, उसने निश्चित ही कुछ गजब की बात साध ली है।

'और सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।'

ये स्वाभाविक कर्म कृष्ण कह रहे हैं। इनको तुम अगर ढंग से न करो, तो तुम विकृत हो जाओगे।

शूद्र सेवा करे, क्योंकि वह ज्यादा से ज्यादा सेवा ही कर सकेगा। लेकिन उसमें भी भाव सेवा का हो। आलसी है, तामसी है, इससे ज्यादा उससे न हो सकेगा। थोड़ा बहुत काम कर लेगा, बस इतना काफी है। रोटी-रोजी कमा ले, इतना उसे मिल जाय। लेकिन उसकी भाव-दशा सेवा की हो। अब असंभव है।

दुनिया में शूद्र अब भी हैं, सदा रहेंगे, क्योंकि उनका समाज के रूपांतरण से कोई संबंध नहीं है, व्यक्तियों के भीतरी गुणों से संबंध है। लेकिन अब शूद्र का नाम है : प्रोलिटेरियट—सर्वहारा। वह क्रोध से भरा है, वह घिराव करता है, हड़ताल करता है, झंझट खड़ी करता है। सेवा करने की उसकी उत्सुकता नहीं है। वह मालिक होना चाहता है।

अब भी वैश्य वैश्य है, लेकिन सत्य व्यवहार नहीं है उसका। अब तो वैश्य बिलकुल ही असत्य पर खड़ा है। झूठ ही उसके धंधे का आधार है—बेईमानी, अप्रमाणिकता।

क्षत्रिय अब भी है, लेकिन शौर्य जा चुका है। अकड़ भला रह गयी हो; अकड़ ही रह गयी है। अकड़ के पीछे अब कोई कारण नहीं रह गया है। कभी कारण था। अकड़ माफ की जा सकती थी, क्योंकि खूबियाँ थीं।

अगर कर्ण अकड़ता क्षत्रिय की तरह, तो हम माफ कर सकते थे, क्योंकि दान की बात थी। अपने कान भी काट कर दे दिये। अब तो राख रह गयी है, रस्सी रह गयी है। जल गयी है। रस्सी में अकड़ के निशान रह गये हैं।

ब्राह्मण भी नाम का ब्राह्मण है। पोथी-पण्डित है, तोते की भाँति है। शास्त्र कण्ठस्थ हैं। अब शास्त्र उसके भीतर से पैदा नहीं होते। जमाने हुए तब से उसकी भीतर की धारा सूख गयी है। रस-स्रोत विलीन हो गये हैं। अब वह उधार है। वह पुरानी बाप-दादों की संपत्ति को दोहराये चला जाता है। उसके ओठों पर भी वे शब्द सच्चे नहीं मालूम होते, क्योंकि उनके भीतर प्राणों का कोई सहयोग नहीं है।

सब विकृत हो गया है। लेकिन अगर सुकृत सब हो, तो शूद्र धीरे-धीरे सेवा से ऊपर

उठेगा, क्योंकि सेवा अंततः सत्य में ले जाएगी। सत्य व्यवहार में ले जाएगी।

सत्य का व्यवहार करनेवाला व्यक्ति धीरे-धीरे व्यवसाय से उठ कर दान में जाएगा। श्रेष्ठी कभी न कभी दानी हो जाएगा। जिस दिन दानी हो गया, वह क्षत्रिय के जगत् में प्रवेश कर गया।

और अकड़े तुम कब तक रहोगे? अगर ठीक-ठीक क्षत्रिय का व्यवहार रहा, जीवन से भागने की वृत्ति न रही, तो तुम जीवन को समझ ही लोगे; और जीवन की समझ ही तुम्हें ब्राह्मण बनने की तरफ ले जाएगी, ज्ञान की तरफ ले जायेगी।

और जो ब्राह्मण है, वह सत्त्व से कभी न कभी ऊब ही जाएगा। सत्त्व बहुत सुख देता है, लेकिन आनंद नहीं। वह एक दिन गुणातीत होने की चेष्टा करेगा।

ऐसी अगर सुकृत व्यवस्था हो, तो शूद्र भी ब्राह्मण हो जाएगा और ब्राह्मण भी गुणातीत होने की तरफ यात्रा करेगा। अगर सुकृत व्यवस्था न हो, तो सारा समाज धीरे-धीरे गड्डम-गड्ड हो जाएगा। और अगर तीनों वर्ण खो जायँ, तो वैश्य का अकेला वर्ण रह जाएगा, जैसा कि हुआ है।

आज अगर गौर से देखो तो वैश्य का वर्ण ही रह गया है, बाकी सब वर्ण उसमें खो गये, गड्डम-गड्ड हो गये। यह एक बड़ी विकृत स्थिति है, रुग्ण स्थिति है। इसका गहन इलाज होना जरूरी है।



अर्जुन और नीत्से • नहीं और हाँ का मनोविज्ञान
स्वधर्म, स्वकर्म और वर्ण • क्षत्रियत्व और तीर्थंकर
ब्रह्मज्ञानी रावण और रामलीला • परमात्मा है कर्ता

## तेरहवाँ प्रवचन

प्रातःकाल, दिनांक २ अगस्त, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥



एवं इस अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम-सिद्धि को प्राप्त होता है, परन्तु जिस प्रकार से अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है, उस विधि को तू मेरे से सुन।

हे अर्जुन, जिस परमात्मा से सर्व भूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर को अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा पूज कर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है।

इसलिए अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता।

अतएव हे कुन्तीपुत्र, दोषयुक्त भी स्वाभाविक कर्म को नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि धुएँ से अग्नि के सदृश सब ही कर्म किसी न किसी दोष से आवृत हैं।
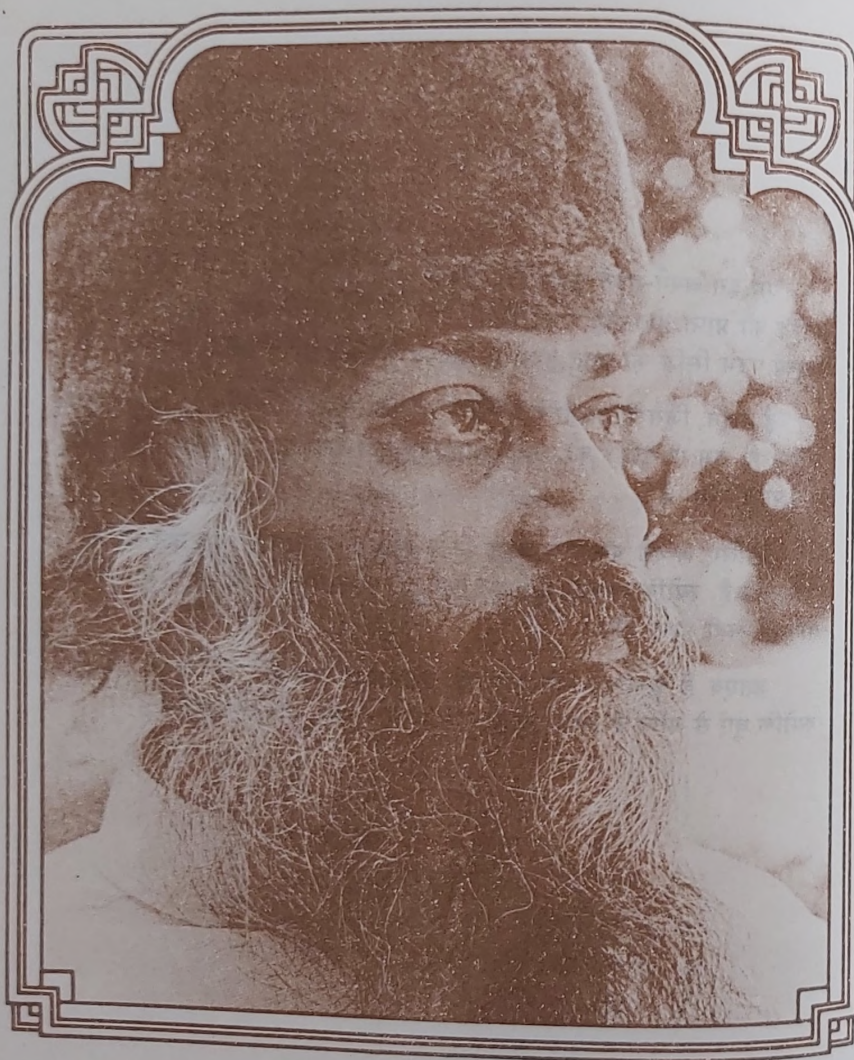
पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : आपने कहा कि जब शिष्य तैयार होता है, तो गुरु मिल जाते हैं; जैसे अर्जुन को गहन विषाद के समय कृष्ण का सहारा मिला। तो क्या कारण है कि नीत्से जैसे लोगों को उनके चरम विषाद में भी किसी गुरु का सहारा नहीं मिल पाता है?

शिष्य तैयार हो तो, गुरु मिल जाता है। लेकिन शिष्य शिष्य होने को राजी ही न हो, तब गुरु मिल भी जाय, तो भी मिलने का कोई अर्थ नहीं, सार नहीं।

अर्जुन को विषाद हुआ और उसने जिज्ञासा की, मुमुक्षा की; वह किन्हीं के चरणों में झुका, किन्हीं से जानने के लिए आतुर हुआ, तो गुरु की वर्षा हो सकी उसके ऊपर। प्यास थी, तो जल सरोवर निकट आ गया।

नीत्से अर्जुन से भी ज्यादा बड़े विषाद से भरा है; उसका विषाद अर्जुन से कम नहीं है, ज्यादा है; उसकी पीड़ा भयंकर है। उसकी पीड़ा अंततः उसे विक्षिप्तता में ले गयी। जीवन के अंतिम दिन पागलखाने में ही बीते, लेकिन सीखने की उसकी कोई मन्शा नहीं, जिज्ञासा करने की कोई आकांक्षा नहीं है; किसी से पूछने को वह तैयार नहीं है।

न केवल यही कि वह किसी से पूछने को तैयार नहीं है, वह यह भी मानने को तैयार नहीं है कि कोई बता सकता है या कोई जानता है। उसके द्वार गुरु के लिए बिलकुल बंद हैं!

गुरु को निमंत्रण तो उसने दिया ही नहीं है; द्वार भी बंद कर रखे हैं। गुरु द्वार पर भी खड़ा हो जाय, तो वह स्वीकार करने को राजी नहीं है। झुकने की वृत्ति उसमें नहीं है। और जो झुकना न जानता हो, वह शिष्य कैसे हो सकेगा?

शिष्य की सारी कला, तो झुकने की कला है। निश्चित ही मैं कहता हूँ कि जब भी कोई शिष्य तैयार होता है, गुरु उपलब्ध हो जाते हैं। लेकिन शिष्यत्व को मत भूल जाना। वह तैयारी प्राथमिक है।

नीत्से तो तैयार ही न था सीखने को; कहीं भूल-चूक से कोई सिखा न दे, इसके लिए भी उसने सब विपरीत आयोजन कर रखा था। वह अगर दस्तखत भी करता था, तो उसमें भी एन्टी-क्राईस्ट लिखता था; 'जीजस का शत्रु'—पीछे दस्तखत करता।

जीसस से शत्रुता का क्या कारण है उसके लिए? एक ही कारण है कि यह एक आदमी मालूम पड़ता है—जिसके सामने शायद झुकना पड़े। जिसके सामने झुकना पड़े, उसके तो वह विरोध में है।

उसने जगह-जगह घोषणा की है कि 'ईश्वर मर चुका है। और मनुष्य पूर्णरूपेण स्वतंत्र है।' और जब भी उससे पूछा गया कि 'तुम क्यों कहते हो कि ईश्वर मर चुका है?' तो वह कहता है कि 'दो ईश्वर कैसे हो सकते हैं! या तो ईश्वर हो सकता है या मैं हो सकता हूँ। और अगर कोई और ईश्वर है, तो यह मेरे बरदाश्त के बाहर है। उस सिंहासन पर तो केवल मैं ही हो सकता हूँ।'

ऐसा जहाँ अहंकार हो, वहाँ गुरु से मिलन नहीं हो सकता। ऐसी जहाँ दुर्दम्य अस्मिता हो—अनमनीय जहाँ भाव हो, वहाँ सरोवर भी पास रहे, तो भी तुम्हारी प्यास न बुझेगी। झुकोगे, अंजलि में भरोगे जल को, तो ही तो कंठ तक ले पाओगे। सरोवर उछल कर तुम्हारे कंठ में न चला जाएगा। और अगर तुम जिद ही कर रखे हो, तो सरोवर उछले भी, तो तुम भाग खड़े होओगे।

नीत्से बचता रहा और इसका स्वाभाविक जो परणाम होना था, वह हुआ। वह विक्षिप्त हुआ। इतना अहंकार विक्षिप्तता में ले जाएगा। विनम्रता विमुक्ति में ले जाती है; अहंकार विक्षिप्तता में।

झुको, मिटो, तो तुम्हारे ऊपर जीवन के सभी आनन्द बरस जाते हैं; तुम जीवन की परम सम्पदा के मालिक हो जाते हो। मत झुको, सूखते जाते हो, जड़ें टूटती जाती हैं। एक दिन तुम जीर्ण-जर्जर, एक खण्डहर मात्र रह जाते हो।

अर्जुन के लिए गुरु मिला, नीत्से को गुरु नहीं मिल सका, क्योंकि नीत्से इनकार कर रहा है।

अर्जुन में संदेह भला हो, अस्वीकार नहीं है। अर्जुन अपने संदेहों को रखता है। अर्जुन कोई अंधा अनुयायी नहीं है, कि कृष्ण जो कहते हैं, उसे मान लेता है। लेकिन मौलिक रूप से 'कृष्ण जो कहते हैं, ठीक ही कहते होंगे; मेरे संदेह ही गलत हो सकते हैं, कृष्ण का वक्तव्य नहीं'—यह उसकी श्रद्धा है।

संदेह हैं; उनका निवारण करना है। लेकिन संदेह कोई सत्य नहीं है; उनसे मुक्त होना है।

नीत्से बिलकुल उलटा है; संदेह उसे नहीं है, सत्य ही उसके पास है! वह तो दूसरों का संदेह मिटाने के लिए सत्य देने को तैयार है।





नीत्से गुरु बनने को तैयार है—शिष्य बनने को नहीं। और जो शिष्य नहीं बना, वह गुरु तो कभी बन ही न सकेगा। उसकी गुरुता तो पागलपन होगी। जिसने सीखा नहीं है, वह देगा कैसे? जिसने पाया नहीं, वह लुटायेगा कैसे? जिसके पास है नहीं, वह बाँटेगा कैसे?

● दूसरा प्रश्न : आपने कल कहा कि जो 'हाँ' में जीता है—जो भी हो, उसे स्वीकार करता है, वह आस्तिक है; परन्तु अनेक बार मुझसे समग्रता से 'ना' भी निकला है। यदि अस्तित्व की समग्रता से 'ना' निकले, तो क्या वह भी आस्तिकता ही नहीं है?

'ना' समग्रता से निकलता ही नहीं; निकल ही नहीं सकता; वह उसका स्वभाव नहीं। इसे थोड़ा समझो। मामला थोड़ा नाजुक है।

जब भी तुम 'नहीं' कहते हो, तब तुम टूट जाते हो—समग्रता से। यह जो विराट् अस्तित्व है, 'नहीं' कहते ही तुम्हारे और इसके बीच एक खाई खड़ी हो जाती है।

तुम जिससे भी 'नहीं' कहते हो, उसी से टूट जाते हो। तुम जहाँ 'नहीं' कहते हो, वहीं तुम एक छोटे से खण्ड हो जाते हो। अखण्ड से तुम्हारा नाता अलग हो जाता है। 'नहीं' दरार है।

जब भी तुम 'नहीं' कहते हो, तब तुम्हारे भीतर की समग्रता से भी 'नहीं' नहीं निकल सकता है। क्योंकि नहीं में विरोध है, नहीं में प्रतिरोध है, रेसिस्टेन्स है, संघर्ष है। संघर्ष कभी तुम्हारी पूर्णता से नहीं निकल सकता। विश्राम ही तुम्हारी पूर्णता से निकल सकता है।

संघर्ष से तुम आज नहीं कल थक ही जाओगे। 'नहीं' कहने वाला आदमी आज नहीं कल टूट ही जाएगा।

और जब तुम 'नहीं' कहते हो, तो उसका मतलब क्या है? उसका मतलब यह है कि तुम अपने को ऊपर रखते हो, अपने को ज्यादा समझदार मानते हो। तभी 'नहीं' कहते हो।

आस्तिक कहता है : 'यह जो समग्रता है जीवन की, यही ऊपर है। मैं तो इसी की एक तरंग हूँ।' सागर की तरंग सागर से नहीं कैसे कह सकती है। और अगर कहेगी, तो टूट जाएगी। तो जम कर बर्फ बन जाएगी; तब कह सकती है।

नहीं कहने के लिए दूर होना जरूरी है, फासला जरूरी है। तुम जब 'नहीं' का उपयोग भी करते हो, तब भी तुम पाओगे : तत्क्षण बड़ा फासला पैदा हो जाता है। जब भी तुम 'हाँ' कहते हो, सेतु बन जाता है; टूटी हुई चीजें जुड़ जाती हैं। खाई पट जाती है। बंद द्वार खुल जाते हैं। तुम अलग नहीं रह जाते।

अगर तुम्हारी 'ना' तुम्हें तोड़ती है—समग्र से, तो तुम्हारे भीतर भी तुम्हारी समग्रता में नहीं हो सकती। अगर तुम वहाँ भी खोज करोगे, तो पाओगे कि वहाँ भी

'नहीं' कहने वाला अलग खड़ा है।

'नहीं' कहने के लिए अहंकार को अलग खड़ा होना अत्यंत जरूरी है। अन्यथा नहीं कौन कहेगा? वहाँ कहने वाला, और जो कहा गया है, अलग अलग होंगे।

जब तुम 'हाँ' कहते हो, तब वस्तुतः हाँ कोई कहता नहीं, हाँ निकलता है। 'नहीं' कही जाती है। 'हाँ' तुमसे उठता है, जैसे श्वास उठती है। तुम इसको प्रयोग करके देखो।

जब भी तुम 'नहीं' कहो, तब गौर करना तुम्हारे भीतर क्या घटता है। तुम्हारी श्वास अवरुद्ध हो जाती है; पूरी श्वास तुम नहीं ले सकते। जब तुम नहीं कहते हो, तब श्वास पूरी नहीं जाती, वह भी टूट जाती है। जब तुम नहीं कहते हो, तब तुम्हारे भीतर कोई चीज सिकुड़ जाती है; फैलती नहीं है। जब तुम नहीं कहते हो, तब अचानक तुम क्षुद्र हो जाते हो।

जब तुम 'हाँ' कहते हो, तब तुम्हारे भीतर कोई चीज फैलती है। जब तुम हाँ कहते हो, तब तुम्हारी श्वास पूरी चलती है, हृदय पूरा धड़कता है। 'हाँ' कह के एक हल्कापन मालूम होता है। नहीं कह के एक बोझ बन जाता है।

'नहीं' कहते ही चित्त में एक तनाव खिंच जाता है। 'हाँ' कहते ही सब विराम हो जाता है। यह बहुत मजे की बात है :

दुनिया की सब भाषाओं में 'हाँ' के लिए अलग-अलग शब्द हैं, लेकिन 'ना' के लिए करीब-करीब 'ना' ही शब्द है। 'नो' हो, नहीं हो, न हो, लेकिन 'ना' के लिए सारी दुनिया की भाषाओं में 'ना' ही शब्द है। यह बड़े आश्चर्य की बात है।

'हाँ' के लिए अलग-अलग शब्द हैं। पर अधिकतम भाषाएँ 'ना' के लिए एक ही शब्द उपयोग करते हैं। 'ना' में ही कुछ नहीं है, कुछ इनकार है। ना में नकार है, निगेशन है। 'ना' ध्वनि में ही कुछ तोड़ने वाली बात है।

तुम हाँ के लिए उपयोग किए जाने वाले शब्दों को विचार करो। 'हाँ' कहो, यस कहो; इनकार नहीं है, अस्वीकार नहीं है, विरोध नहीं है। तुम किसी चीज से मिलने के लिए आगे बढ़ते हो, तुम्हारा हाथ फैलता है, तुम आलिंगन को तत्पर हो।

और इसको तुम सूत्र समझ लो : जो तुम्हें बाहर समग्र से जोड़ता है, वही तुम्हारे भीतर के समग्र से आ सकता है। अगर बाहर के समग्र से तुम्हें तोड़ता है, तो तुम्हारे भीतर कभी समग्र से नहीं आ सकता।

लेकिन अहंकार 'नहीं' कहने में मजा पाता है। 'नहीं' अहंकार की सुरक्षा है। और जितना तुम 'नहीं' कहोगे, उतना ही अहंकार में धार आती है। ऐसी जगह भी तुम नहीं कहते हो, जहाँ कहने की कोई जरूरत ही न थी।

छोटा बच्चा माँ से पूछता है, 'बाहर खेल आऊँ।' माँ कहती है, 'नहीं।' कोई मतलब





न था। वह बिना पूछे भी जाएगा, पूछ कर भी जाएगा; नहीं कहने के बाद भी जाने वाला है। और बाहर खेल आने में हर्ज भी क्या था। लेकिन 'नहीं' स्वाभाविक मालूम होता है, आदत बन गई है।

नौकर पूछता है, 'आज तनख्वाह मिल जाय।' तुम कहते हो, 'नहीं।' ऐसा भी नहीं कि आज पैसे घर में न थे या देने में कोई अड़चन थी; लेकिन नहीं कहने में एक सुविधा है।

जाकर देखो—रेलवे स्टेशन पर; बुकिंग क्लर्क, देखते ही नहीं...। तुम खड़े हो; वह अपने काम में लगा हुआ है। काम में शायद लगने की जरूरत भी न हो; क्योंकि जब वहाँ कोई नहीं होता; तब वह विश्राम करता है। जब खिड़की पर कोई टिकिट लेने वाला नहीं होता, तब वह सिगरेट पीता है; पैर फैला के आराम करता है। जैसे ही कोई खिड़की पर दिखाई पड़ा, कि वह रजिस्टर पर झुक जाता है; वह 'नहीं' कह रहा है। वह कह रहा है : रुको; ठहरो; क्या समझ रखा है अपने आप को!

छोटी-सी सत्ता मिल जाय—कि तुम क्लर्क हो गये, कि पुलिस वाले हो गये, कि फिर देखो : तुम्हारा 'नहीं' कैसा प्रकट होने लगता है! कि तुम बाप हो गये, बेटे के ऊपर सत्ता मिल गई, कैसा 'नहीं' प्रकट होने लगता है।

इसे जरा गौर करना; सौ में निन्यानबे मौके पर तो तुम पाओगे : 'नहीं' की कोई जरूरत ही न थी; वह निष्प्रयोजन था, लेकिन एक प्रयोजन वह पूरा करता है : वह तुम्हारे अहंकार को भरता है।

अगर तुम हाँ कह दो, तो ताकत मालूम नहीं होती, शक्ति नहीं मालूम होती। हाँ में ऐसा लगता है कि अपनी कोई शक्ति नहीं—कि ना कह सकें। ना कहने में ताकत, शक्ति, अधिकार मालूम होता है। इसलिए ना से अहंकार भरता है।

ना अहंकार का भोजन है। हाँ अहंकार की मृत्यु है। और जहाँ अहंकार मिट जाएगा, वहीं तुम समग्र हो सकोगे; क्योंकि अहंकार तुम हो नहीं। अहंकार तो गाँठ है, रोग है, बीमारी है। वह तुम्हारा स्वभाव नहीं है; तुम्हारे स्वभाव में पड़ गई गाँठ है। उस गाँठ के साथ तुम कितने ही अपने को बाँध लो, तुम गाँठ हो नहीं। इसलिए तुम कभी पूरे हो नहीं सकते।

और अगर तुम धीरे-धीरे ना कहना बंद कर दो, होश से भर जाओ, ना के कारण पहचानने लगो, कि क्यों कहते हो और धीरे-धीरे ना गिरती चली जाय, वैसे-वैसे तुम पाओगे : तुम भीतर भी जुड़ने लगे, बाहर भी जुड़ने लगे।

एक ऐसी घड़ी आती है, जब हाँ ही भीतर का स्वर रह जाता है, तभी परम आस्तिकता है। तब मृत्यु भी आती हो, तो नहीं का स्वर नहीं उठता। अभी तो छोटी-छोटी बातों में उठता है। जरूरत नहीं है, वहाँ भी उठता है। जीवन भी आता हो, तो भी उठता है।

फिर तो मृत्यु भी आती हो, तो हाँ का स्वर ही स्वागत करता है। और जिस दिन तुमने हाँ के साथ मृत्यु का स्वागत कर लिया—मृत्यु को मार डाला, मृत्यु को जीत लिया, अमृत को उपलब्ध हुए।

जिस दिन तुमने सुख में, दुःख में, पराजय में, जीत में, हर घड़ी हाँ कहने का राज सीख लिया, उसी दिन तुम निमित्त हो गये, उसी दिन तुम परमात्मा के उपकरण बन गये। अब तुम्हारी कोई फलाकांक्षा न रही; अब उसकी ही मरजी तुम्हारी मरजी है। अब वह जहाँ ले जाय, तुम जाने को राजी हो। न ले जाय, तो न जाने को राजी हो। भटकाये तो भटकने को राजी हो, पहुँचाए तो पहुँचने को राजी हो। अब वह बीच मझधार में डुबा दे तुम्हारी नाव को, तो वही किनारा है। उस डूबते क्षण में भी तुम्हारे मन से इनकार न उठेगा।

जीसस आखिरी क्षण में—सूली पर लटके हुए—एक क्षण को ना से भर गये। अहंकार की आखिरी रेखा शेष रह गई होगी; पता भी नहीं चला था; सूली के क्षण में ही पता चला होगा स्वयं को भी। सूली पर जब लटकाये गये और जब हाथों में खीलें ठोंके गये, तो एक क्षण को विह्वल हो गये। मौत द्वार पर खड़ी थी और साधारण मौत न थी। बिस्तर पर लेटे हुए नहीं आ रही थी; सूली लग रही थी। हजारों लोग पत्थर और गालियाँ फेंक रहे थे। अपमान का स्वर गूँज रहा था; चारों तरफ निन्दा थी; जैसे कि अघन्य अपराधी को मारा जा रहा हो। एक क्षण को किसी के भी प्राण कंप जाएँगे।

मुझे अच्छा भी लगता है कि जीसस के प्राण भी कंपे, इससे पता चलता है कि जीसस मनुष्य हैं और मनुष्यता से ही आये हैं। मनुष्य के ही बेटे हैं। परमात्मा के बेटे बने, लेकिन मूलतः मनुष्य के बेटे हैं।

पूरी मनुष्यता सूली पर उस दिन लटकी थी। और मनुष्य दीन है, दुर्बल है, डरता है, गिरता है, उठता है; सभी कमजोरियाँ हैं।

जीसस ने उस दिन जो कमजोरी प्रकट की, वह बड़ी प्रीतिकर है: एक क्षण को वे भूल गये—सारी आस्तिकता। भूल गये क्षण को अपना सारा स्वीकार-भाव; उठाया सिर आकाश की तरफ और कहा कि 'यह तू मुझे क्या दिखा रहा है? यह क्या हो रहा है मेरे ऊपर?' एक क्षण को शिकायत आ गई, इनकार आ गया। लेकिन सम्हल गये। तत्क्षण सम्हल गये कि यह इनकार, यह अस्वीकार, यह शिकायत तो यही बताती है कि मैं अभी परमात्मा से पूरा-पूरा राजी नहीं हूँ।

आँखें नीचे झुक गईं; उनमें आँसू भर गये होंगे और उन्होंने प्रार्थना की कि 'हे परमात्मा, मेरी नहीं, तेरी ही मरजी पूरी हो। तू जो कर रहा है, ठीक ही कर रहा है।'

इस एक क्षण में क्रांति घटी। वह जो मनुष्य था, अचानक दिव्य हो गया; वह जो साधारण हड्डी, मांस, मज्जा की देह थी, अब हड्डी, मांस, मज्जा की देह न रही। मृण्मय





का जगत् पार हो गया। वह देह अब चिन्मय से भर गई। वह ज्योति जग गई, परम ज्योति उतर गई। उसी 'हाँ' के क्षण में जीसस जोसेफ नाम के बढ़ई के लड़के न रहे। उसी क्षण में जीसस न रहे, क्राइस्ट हो गये। वे परम भाव को उपलब्ध हो गये।

बस, इतना ही फासला है—तुम्हारी दीनता में और परम धन में। तुम्हारी दुःख की अवस्था में और तुम्हारे आनन्द में।

तुम्हारे नरक और स्वर्ग में 'नहीं' और 'हाँ' का फासला है। जितनी बड़ी 'नहीं' उतना बड़ा नरक। 'नहीं' यानी नरक। छोटी नहीं, छोटा नरक; थोड़ी-सी नहीं तो थोड़ा-सा नरक। 'नहीं' बिलकुल नहीं, हाँ ही हाँ रह जाय, तो स्वर्ग ही स्वर्ग है।

● तीसरा प्रश्न: मनुष्य का स्वधर्म क्या है और परधर्म क्या है?

कृष्ण दो शब्दों का उपयोग करते हैं। दोनों ठीक से समझ लेने चाहिए।

एक तो है: स्वधर्म और एक है: स्वकर्म। स्वधर्म का तो अर्थ है: तुम अपनी आत्यंतिक निजता में जो हो; तुम्हारे स्वभाव का जो मौलिक स्वर है, जहाँ सब विचार खो गये, गहन शून्य बचा; उस भीतर के शून्य का जो गुणधर्म है, उसका नाम स्वधर्म है।

इसका तो यह अर्थ हुआ कि स्वधर्म वस्तुतः एक-सा ही होगा। मेरा स्वधर्म और तुम्हारा स्वधर्म अलग नहीं हो सकता। क्योंकि जब मैं पहुँचूँगा उस पड़ाव पर, तो वही शून्य मिलेगा, जो तुम्हें मिला है। लेकिन वह तो आत्यंतिक घटना है, आखिर घटना है।

कृष्ण, बुद्ध और क्राइस्ट एक ही शून्यता को उपलब्ध हो गये हैं; एक ही शुद्ध भाव को उपलब्ध हो गये हैं। लेकिन उसको तो बाहर से देखने का कोई उपाय नहीं है। वह तो भीतर की अनुभूति है। उसको तो पहचानने का कोई लक्षण भी नहीं है। बाहर से तो तुम जिसे पहचानोगे, वह है स्वकर्म। वह भिन्न भिन्न है।

कर्म है, तुम्हारी परिधि और धर्म है तुम्हारा केन्द्र। तुम्हारे केन्द्र पर तो तुम्हारे अतिरिक्त कोई भी नहीं पहुँच सकता। इसलिए तुम ही जानोगे। यद्यपि वह केन्द्र एक ही जैसा है—सभी के भीतर। लेकिन तुम्हारे केन्द्र पर तुम्हीं पहुँचोगे, मेरे केन्द्र पर मैं ही पहुँचूँगा। अगर तुम मेरे केन्द्र पर जाओ, तो वह मेरा केन्द्र ही न रहा। वह गली इतनी सँकरी है कि उसमें दो समाते ही नहीं।

केन्द्र पर तो मैं ही अकेला रह जाऊँगा। अगर वहाँ दो बिन्दु भी बन सकते हैं, तो वह अभी केन्द्र नहीं है। जहाँ सिर्फ एक ही बिन्दु बनता है, जहाँ केवल परकाल की नोक ही समाती है, बस, वही।

परिधि पर बहुत बिन्दु बन सकते हैं। परिधि भिन्न-भिन्न होगी, अलग-अलग रंग की होगी। तो स्वकर्म।

यह जो विभाजन है: क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य, ब्राह्मण का—यह स्वकर्म का विभाजन है। यह तुम्हारी परिधि है। क्षत्रिय की गहराई में भी तुम उसी ब्रह्म को पाओगे, जिसको

ब्राह्मण की गहराई में पाओगे। उसी को शूद्र की गहराई में भी पाओगे। लेकिन कर्म भिन्न-भिन्न हैं, परिधि भिन्न भिन्न हैं।

कृष्ण बहुत बार स्वधर्म को स्वकर्म के अर्थ में भी प्रयुक्त करते हैं, इससे तुम्हें भ्रांति हो सकती है। भ्रांति का कोई कारण नहीं है। समझ लेना चाहिए।

शूद्र को वे कहते हैं कि तू अपने स्वकर्म में रह कर ही उपलब्ध हो सकता है। ब्राह्मण को कहते हैं : तू अपने स्वकर्म में रह कर ही उपलब्ध हो सकता है। बोलचाल की भाषा में इसी को स्वधर्म कहा जाता है। काम-चलाऊ है; बहुत पारिभाषिक नहीं है। कहना चाहिए : स्वकर्म।

कृष्ण का कहना यह है कि जिस कर्म में तुम पैदा हुए हो, जिस परिवार में जिस वर्ण में तुम पैदा हुए हो, उसमें पैदा होना भी अकारण तो नहीं हो सकता। तुमने चाहा होगा, तुमने कमाया होगा, तुमने पिछले जन्म में उस तरह की वासना की होगी। अब तुम पैदा हो गये हो।

जन्म भी अकारण नहीं है। वह भी तुम्हीं ने चुना है। वह भी तुम्हारा ही चुनाव है। कोई शूद्र के घर में अकारण नहीं आ जाता, न कोई ब्राह्मण के घर में अकारण आ जाता है। अकारण इस जगत् में कुछ होता ही नहीं, हो भी नहीं सकता।

जन्मों-जन्मों की वासना, आकांक्षा, अभीप्सा तुम्हें लाती है। तुम पुरुष बन गये हो, स्त्री बन गये हो, वह तुम्हारी जन्मों-जन्मों की आकांक्षाओं का परिणाम है; तुमने उसे संजोया है—बीज की तरह बोया है। अब तुम फसल काट रहे हो। हालाँकि कब तुमने बीज बोये थे, तुम्हें उसकी सारी स्मृतियाँ भूल गईं। अब जब तुम फसल काट रहे हो, तुम्हें याद भी नहीं आता कि ये बीज तुमने कभी बोये थे ! पर आज तुम यह भी सोचोगे कि कैसे कोई आदमी शूद्र होना चाहेगा। होना चाहने का सवाल नहीं है। अब तुम थोड़ा समझने की कोशिश करो।

तुम चाहे शूद्र न भी होना चाहते हो, लेकिन जिस ढंग से तुम जीते हो, उस ढंग से तुम कुछ अर्जित कर रहे हो। एक आदमी है, जो सिर्फ खाता है, वह ब्राह्मण हो, इस जन्म में; मगर जिसका जीवन केवल खाने-पीने-सोने का जीवन है, यह आदमी अगले जन्म में शूद्र होने की तैयारी कर रहा है। प्रकृति इसे शूद्र की तरफ भेज देगी, क्योंकि जो आदतें यह बना रहा है, वे शूद्र की आदतें हैं।

और प्रकृति तो सदा तुम्हारे साथ सहयोग करने को राजी है। तुम्हें अगर इसमें ही सुख मिल रहा है, तो तुम्हें शूद्र ही बना देना अच्छा है। असल में ब्राह्मण घर में रह कर और इस तरह का व्यवहार करके तुम्हें दुःख ही मिलेगा।

क्षत्रिय घर में रहोगे और तलवार उठाना न जानोगे, तो कष्ट ही पाओगे। क्षत्रिय घर में रहोगे और वेद, उपनिषद् पढ़ कर उन्हीं में डूबे रहोगे, तो बड़ी लोक-निन्दा होगी।





वहाँ तलवार हाथ में उठाने की क्षमता चाहिए ही; वह संघर्ष का जगत् है।

लेकिन अगर तुम वेद, उपनिषद् में डूबे रहे, तो तुम अगले जन्म में ब्राह्मण हो जाओगे। तुम्हारी जीवन-यात्रा उस तरफ मुड़ जाएगी। तुम ऐसे घर को खोज लोगे, जहाँ तुम्हारी आकांक्षाओं की सहज तृप्ति हो सके।

कोई ब्राह्मण है और तलवार लिए घूमता है ! उचित होगा कि क्षत्रिय घर में पैदा हो, ताकि पहले ही क्षण से इसे तलवार की छाया में ही बढ़ती मिले। उसी तरह का वातावरण हो, उसी तरह के संस्कार हों, उसी तरह की हवा हो, जो इसे सहारा दे, ताकि इसके भीतर जो तलवार लेकर घूमने का नशा है, वह पूरा हो जाय।

जो भी घटता है, अकारण नहीं घटता।

तो कृष्ण कहते हैं : अगर तुम शूद्र घर में पैदा हुए हो, तो तुमने बहुत बार चाहा, अब पैदा हो गये; अब परेशान हो रहे हो। अब इस जीवन को परेशानी में मत बिताओ और इस जीवन में अब नाहक दूसरे वर्ण में और दूसरे कर्म के जगत् में प्रवेश करने की चेष्टा मत करो। उससे समय व्यय होगा, शक्ति व्यय होगी, जीवन खराब होगा। ज्यादा उचित यही है कि जो कर्म तुम्हें मिल गया है, जो पात्र होने की तुमने अब तक कमाई की थी, वह तुम्हें मिल गया है ; अभिनय में वहीं तुम्हें मिल गया है, अब तुम उसे पूरा करते रहो। और उसको पूरा करते हुए तुम परमात्मा को साधने में लग जाओ। यह ज्यादा आसान होगा।

अपने कर्म को करते हुए अगर तुम ध्यान में उतरने लगो, तो तुम यहीं से मुक्त हो जाओगे।

कोई वर्ण बदलने की जरूरत नहीं है। कोई देह बदलने की जरूरत नहीं है। कुछ ऊपर की परिधि बदलने की जरूरत नहीं है। जो जहाँ है, वहीं से अपने केंद्र में सरक सकता है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं : कर्म को बदलने के लिए बहुत चिंता मत करो; स्वकर्म में ही जीओ, ताकि तुम अपने स्वधर्म को उपलब्ध हो सको। लेकिन स्वकर्म में जीते हुए स्वधर्म को उपलब्ध करने की चेष्टा, यत्न—चलता रहे। होश सधा रहे। सूत्र खोये न। नहीं तो तुम अभी शूद्र हो, ब्राह्मण बनने की कोशिश कर रहे हो। क्षत्रिय हो, शूद्र बनने की कोशिश कर रहे हो। कोई ब्राह्मण है, वह क्षत्रिय बनने की कोशिश कर रहा है ! यह जीवन यूँ ही खो जाएगा।

और जहाँ तुम पैदा हुए हो, जहाँ तुम्हें जन्म से एक हवा मिली है, उस हवा में जीवन को बिता लेना सबसे ज्यादा सुगम है; उसके लिए तुम तैयार हो। इसलिए व्यर्थ उपद्रव खड़ा मत करो। जीवन ऐसा बिता दो बाहर, जैसा मिला है और भीतर उसकी खोज कर लो—जो तुम्हारे भीतर छिपा है।

स्वकर्म में जीते हुए स्वधर्म को पाना आसान है। स्वकर्म को बदल कर स्वधर्म को पाना मुश्किल हो जाएगा; क्योंकि एक नया उपद्रव तुम्हारे जीवन में स्वकर्म को बदलने का हो जाएगा और यह कठिन है।

यह ऐसे ही है, जैसे एक आदमी डॉक्टर की तरह शिक्षित हुआ, जब वह सारी शिक्षा लेकर एम. डी. होकर घर वापस लौटा, तब उसको खयाल चढ़ा कि संगीतज्ञ हो जाय! अब ये इतने दिन बेकार गये। यह आधा जीवन जो डॉक्टर होने में लगाया—गँवाया; वह गया। उसका कोई सार न हुआ। अब वह संगीतज्ञ होने की धुन में लग गया।

अब संगीतज्ञ की शिक्षण व्यवस्था बिलकुल अलग है, चिकित्सक की शिक्षण व्यवस्था बिलकुल अलग है। उनमें कोई तालमेल नहीं है। उसे अ, ब, से शुरू करना पड़ेगा। और आधी उम्र तो गई और अब यह फिर अ, ब, स, से शुरू करके जब यह मरने के करीब होगा, तब कहीं यह थोड़ी बहुत संगीत की कुशलता को उपलब्ध हो पायेगा। तब भी यह तृप्त न जा सकेगा—इस दुनिया से। अतृप्ति बनी रह जाएगी।

उचित तो यही था कि अगर इसे स्वधर्म को खोजना हो, तो स्वकर्म को करते-करते चुपचाप खोज ले; क्योंकि स्वकर्म सुविधापूर्ण है।

स्वधर्म तो तुम्हारा भी वही है, जो मेरा है। सबका वही है। क्योंकि स्व की गहराई पर तो एक का ही वास है। लेकिन परिधियाँ सब की अलग हैं, देहें सब की अलग हैं, आत्मा एक है।

तुम्हारे भीतर का शून्य तो एक है; लेकिन उस शून्य को ढाँके हुए वस्त्र अलग-अलग हैं। उनके रंग अलग, रूप अलग, ढंग अलग।

कोई जरूरत नहीं है कि तुम वस्त्र बदलो। तुम्हारे वस्त्रों में ही घटना घट जाएगी। इसलिए कृष्ण कहते हैं: कभी तुम्हें ऐसा लगे कि दूसरे का कर्म अपने से सुविधापूर्ण है, तो भी तुम झंझट में मत पड़ना।

दूर के ढोल सुहावने मालूम होते हैं। जब तुम पास जाओगे, तब कठिनाइयाँ तुम्हें मालूम पड़ेंगी। जिसके तुम पास होते हो, उसको कठिनाइयाँ दिखाई पड़ती हैं। जिसके तुम दूर होते हो, उसके सुख दिखाई पड़ते हैं।

इसलिए कृष्ण कहते हैं: 'अपने ही कर्म में जीते हुए अपने धर्म को पा लेना।' इसको गहरे से समझ लें। क्योंकि हमारा प्रयोजन कर्म को साधना नहीं है, हमारा प्रयोजन मूलतः धर्म को साधना है।

तो इन व्यर्थ बातों में समय मत गँवाना; जितना समय इनमें जाएगा, वह व्यर्थ गया। उतने समय को तुम जीवन सम्पदा की खोज करने में लगा सकते थे।

तो कोई हर्ज नहीं: जूता बनाते हो, जूता बनाते रहना। कुछ तो करना ही होगा। चाहे जूते बनाओ, चाहे सोने के आभूषण बनाओ; कुछ तो करना ही होगा। और अगर





जूते बनाने वाले घर में पैदा हुए हो, तो कुछ हर्ज नहीं है। ज्यादा कुशल हो। बचपन से ही जाना है। वही घटता रहा है—चारों तरफ। वह तुम्हारे खून में समा गई है कला। वह जो सोनी के घर पैदा हुआ है, उसके खून में समा गई कला—कि वह सोने को गलाने में, ढालने में कुशल हो गया है।

हमने इस देश में एक फिक्र की थी कि जहाँ तक बने, बाहर का जीवन ज्यादा समय न ले और ज्यादा शक्ति न ले। इसलिए हमने व्यवस्थित कर दिया था वर्णों को, कि अपने-अपने वर्ण में व्यक्ति चुपचाप काम करता रहे।

शूद्र के लिए हमने कहा कि वह जो भी करे, सेवा की भाँति करे। बस, उससे जीवन यापन पूरा हो जाता है, इतना काफी है। शेष जो बच जाय समय, वह भीतर के लिए लीन होने में लगा दे।

वैश्य को हमने कहा है, वह सत्य की तरह व्यवसाय करता रहे। व्यवसाय ही करे, सिर्फ सत्य को उसमें जोड़ दे। जैसे शूद्र काम करे, लेकिन सेवा को जोड़ दे। उसके लिए सेवा ही स्वधर्म तक जाने का मार्ग बन जाएगी। वैश्य को सत्य व्यवहार ही स्वयं तक जाने का मार्ग बन जाएगा।

क्षत्रिय को अ-पलायन; भागे न, पीठ न दिखाये—जीवन की समस्याओं से; वही उसके लिए है। जीवन के घने संघर्ष में बिना भय के खड़ा रहे—अभय—वही उसके लिए मार्ग बन जाएगा।

ब्राह्मण के लिए? वह सिर्फ ब्राह्मण नाम-मात्र को न रहे, ब्रह्म का उद्‌घोष सोते-उठते-बैठते; ब्रह्म का भाव, सुरति बनी रहे, स्मृति बनी रहे। फिर करता रहे, जो उसे करना है। जो करने योग्य है, कर्तव्य है, वह करे। लेकिन भीतर वह साधे रहे।

ब्राह्मण ब्रह्म की स्मृति से पहुँच जाता है वहीं, जहाँ शूद्र सेवा के भाव से पहुँचता है।

इसलिए बहुत मजे की बात है: दुनिया में इतने धर्म पैदा हुए हैं, इन सभी धर्मों का अलग-अलग बातों पर जोर है। और अगर तुम गौर करोगे, तो तुम पाओगे कि वह जोर इसी कारण है।

जैसे कि जीसस का जोर सेवा पर है। जीसस शूद्र घर से आये हैं, बढ़ई के लड़के हैं; जोर सेवा पर है।

हमने बहुत पहले यह खोज लिया था कि शूद्र के जीवन में सेवा पर जोर होगा, इसलिए ईसाइयत खूब फैली; दुनिया का कोई धर्म इतना नहीं फैला। आधी दुनिया आज ईसाई है। स्वाभाविक है।

तुम यह मत समझना कि वह ईसाई मिशनरी लोगों को जबरदस्ती ईसाई बना रहा है इसलिए; स्वाभाविक है। क्योंकि शूद्र दुनिया में बड़ी से बड़ी जमात है।

सभी शूद्र की तरह पैदा होते हैं। इसलिए सेवा की बात सभी को जम सकती है। और जो लोग इस मुल्क में भी शूद्र के वर्ग से आये हैं, उनका जोर भी सेवा पर है।

विवेकानन्द; वे शूद्र हैं; कायस्थ घर से आये हैं। उनका जोर सेवा पर है। इसलिए रामकृष्ण मिशन पूरा का पूरा सेवा में लग गया—वह विवेकानन्द की वजह से।

रामकृष्ण मिशन 'रामकृष्ण मिशन' नाम को ही है; वह 'विवेकानन्द मिशन' है। विवेकानन्द ने ही बनाई सारी जीवन-दृष्टि। रामकृष्ण को तो कभी खयाल भी नहीं था : यह सेवा और इस सबका! लेकिन विवेकानन्द को है। तो पूरा मिशन अस्पताल खोलता है, स्कूल चलाता है, बीमारों के हाथ-पैर दबाता है, इलाज करता है। सेवा में संलग्न हो गया है।

जो-जो धर्म जहाँ-जहाँ से आये हैं, उस स्त्रोत को अपने साथ लायेंगे। यह बिलकुल स्वाभाविक बात है।

वैश्य में जो मनीषी पैदा हुए हैं, जैसे श्रीमद् राजचन्द्र, तो सारा जोर सत्य पर है—सत्य व्यवहार, प्रमाणिकता। वह वैश्य की जीवन-धारा का अंग है। वही उसके लिए सबसे महत्वपूर्ण मालूम होगा।

जो धर्म ब्राह्मणों से अनुस्यूत हुए हैं, उनका सारा जोर प्रभु-स्मरण, ब्रह्म-स्मरण—उस पर ही है।

क्षत्रियों से आने वाले जितने धर्म हैं, जैसे जैन; उनका सारा जोर संघर्ष पर है, संकल्प पर है, लड़ने पर है। महावीर सोच ही नहीं सकते—कि समर्पण; क्षत्रिय सोच नहीं सकता। वह भाषा उसकी नहीं है। किस परमात्मा के चरणों में समर्पण? कोई परमात्मा नहीं। गहन संकल्प। कहीं कोई भक्ति, भाव की गुंजाइश नहीं है—शुद्ध विचार। और विचार से पलायन न करना, भागना नहीं। विचार को ही उसकी परम शुद्धि तक ले जाना और संघर्ष को उसके आखिरी रूप में प्रकट करना; अपने से ही संघर्ष, ताकि जो-जो गलत है, वह काट डाला जाय।

महावीर योद्धा हैं, इसलिए तो उनको नाम 'महावीर' का दिया है। उनका नाम वर्धमान था; वह हमने बदल दिया। क्योंकि वह नाम जमा नहीं फिर। उनकी सारी जीवन-दृष्टि योद्धा की है, संघर्षशील की है, अपलायनवादी की है, लड़ने की है। लड़ कर ही उन्होंने पाया है।

ब्राह्मण की सारी दृष्टि समर्पण की है; उसके चरणों में सब छोड़ देने की है। उससे भाव उठा है, भक्ति उठी है, ब्रह्म-स्मरण उठा है।

पर सभी मार्ग पहुँचा देते हैं वहीं।

स्वधर्म तो एक है; लेकिन स्वकर्म अनेक हैं।

और तुम अपने स्वकर्म से भागने की व्यर्थ चिंता मत करना। उससे कुछ सार नहीं





है। उससे तो जन्मों-जन्मों भागते रहे हो। इसलिए कृष्ण कहते हैं : अपना स्वकर्म अगर थोड़ा पीड़ादायी भी मालूम पड़े और दूसरे का थोड़ा सुखद भी मालूम पड़े, तो भी उसे मत चुनना।

अपने पीड़ादायी स्वकर्म को ही करते-करते पाना हो जाता है। दूसरे के स्वकर्म को चुनने में उपद्रव है। वह भयावह है। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। वह बहुत भयभीत करने वाला है, उससे बचना। लेकिन यहाँ परधर्म और स्वधर्म का उपयोग, वे स्वकर्म और परकर्म के लिए कर रहे हैं।

● चौथा प्रश्न : तीर्थंकर या अवतार होने के लिए क्षत्रिय होना क्यों जरूरी बन गया?

कारण है; कर्म की व्यवस्था में ही कारण है। जैसा मैंने कहा कि तीन गुण हैं : तमस, रजस, सत्त्व; और तीन ही मौलिक वर्ण हैं : शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण! वैश्य सभी का मिश्रण है। वह एक समझौता है, चौराहा है, भीड़ है। वह वस्तुतः वर्ण नहीं है, बल्कि सभी वर्णों का संगम है।

ये जो तीन वर्ण हैं, इन तीनों की तीन अलग जीवन-धाराएँ हैं।

शूद्र आत्यन्तिक रूप से बहिर्मुखी है; एक्स्ट्रोव्हर्ट—जिसको जुंग ने कहा है। उसकी दृष्टि बाहर देखती है। भीतर नहीं। इसलिए तो सेवा ही उसके लिए धर्म हो सकता है। वह दूसरे को ही देख सकता है। या तो दूसरे को लूटे या दूसरे की सेवा करे; लूटे तो अधर्म हो जाता है; सेवा करे तो धर्म हो जाता है। लेकिन नजर उसकी दूसरे पर है।

शूद्र है : एक्स्ट्रोव्हर्ट—बहिर्मुखी, बाहर ही उसकी आँख खुलती है। ब्राह्मण है—अंतर्मुखी; उसकी बाहर आँख नहीं खुलती; वह है : इन्ट्रोव्हर्ट। इसलिए स्मरण—प्रभु का स्मरण, भाव, ध्यान, समाधि—ये उसके लिए सार्थक हैं। ब्राह्मण से तुम सेवा की बात ही कहो, तो उसके समझ में नहीं आती कि क्या बात कर रहे हो! किसकी सेवा करनी? शूद्र से कहो कि भाव करो, ध्यान करो; उसे समझ में नहीं आता : क्या ध्यान करना है! कैसा ध्यान करना है! ध्यान का मतलब ही उसे होता है : बाहर कुछ आलम्बन चाहिए।

ब्राह्मण भीतर की तरफ जाता है; उसकी अंतर्धारा बह रही है, वह उसकी सारी जीवन ऊर्जा भीतर की तरफ बहती है। शूद्र की बाहर की तरफ बहती है, क्षत्रिय द्वार पर खड़ा है।

ऐसा समझो कि एक ब्राह्मण है, वह आँख बंद किए बैठा है—भीतर के भाव में लीन। इसलिए ब्राह्मणों ने जितनी ध्यान की विधियाँ खोजी हैं, उन सबमें आँखें बंद होती हैं; इंद्रियों को बंद करो, इंद्रियों का नियमन करो, सब इंद्रियों के द्वार बंद कर दो और भीतर डूब जाओ, अपने में खो जाओ; वहीं सब पाने को है।

शूद्र की आँख पूरी खुली हुई है। उसने अगर कभी धर्म भी पाया है, तो किसी के चरणों की सेवा करते हुए पाया है, वह चाहे असली चरण हों, चाहे परमात्मा की मूर्ति के चरण हों। वह किसी मूर्ति के मुख को देखकर आनन्दित हुआ है। उसने परमात्मा के मुखारविन्द को देखा है, उसके चरणों को छूआ है, नाचा है, पर उसकी आँख खुली रही है। सेवा से ही उसने जाना है, दूसरे से ही उसने जाना है।

क्षत्रिय मध्य में खड़ा है; उसकी आधी आँख खुली है, आधी बंद है। वह द्वार पर है। वह जरा आँख बंद करे, तो भीतर देख सकता है; जरा आँख खोले, तो बाहर देख सकता है। वह दोनों के बीच सेतु है—अर्ध बहिर्मुख, अर्ध-अंतर्मुख है।

अब यह थोड़ी समझने की बात है कि तीर्थंकर होने के लिए या अवतार होने के लिए क्षत्रिय ही ठीक हो सकता है, क्योंकि जो बहिर्मुख है, वह स्वयं को उपलब्ध ही नहीं होता; वह दूसरे के चरणों में समर्पित हो जाता है। इसलिए उससे कभी जीवन-साधना का शास्त्र निर्मित नहीं हो सकता।

जो अंतर्मुख है, वह अपने में ही डूब जाता है। वह इतना गहरा डूब जाता है कि उससे भी जीवन का शास्त्र निर्मित नहीं होता। वह इतनी भी चिंता नहीं करता कि दूसरे को समझाये, कि दूसरे को उठाये, कि सहारा दे।

एक अपने में खो जाता है, एक दूसरों में खो जाता है। जो मध्य में खड़ा है, वह अपने में भी डुबकी लेता है और बाहर भी डुबकी लेता है। वह अपने को भी जानता है और दूसरों को भी जानता है। और जब उसके जीवन में फूल खिलते हैं, तो उसकी सुगंध बाहर जानी शुरू होती है। और जब उसके जीवन में ज्ञान का प्रकाश होता है, तो वह बाँटना भी चाहता है। वह सिर्फ दीये को भीतर छाती में छिपा कर नहीं जीता। वह बाँटना चाहता है। वह अर्ध बहिर्मुखी है। इसलिए वह गुरु बन सकता है, तीर्थंकर बन सकता है, अवतार बन सकता है।

अवतार या तीर्थंकर का अर्थ है : जिसने स्वयं पा लिया और अब जो हजारों के लिए पाने का मार्ग बने। इसलिए जैन कहते हैं कि अवतार न तो ब्राह्मण के घर से आ सकता है, न शूद्र के घर से आ सकता है। इसमें बड़ा अर्थ है; इसमें बड़ा मनोविज्ञान है। यह बात बड़ी गहरी है और साफ है।

अवतार बनने के लिए या तीर्थंकर बनने के लिए दोनों बातें चाहिए : अपने में गहरी डुबकी भी चाहिए और दूसरे में रस न खो जाय। तो महावीर और बुद्ध दोनों कहते हैं प्रज्ञा हो और करुणा हो, तभी कोई तीर्थंकर हो सकता है। अगर सिर्फ प्रज्ञा हो, बोध हो जाय और करुणा पैदा न हो, तो वह आदमी खुद लीन हो जाएगा—परमात्मा में, लेकिन उसके द्वारा कोई घाट न बनेगा, नाव न बनेगी, जिस पर बैठ कर दूसरे लोग यात्रा करें।





अगर प्रज्ञा के साथ-साथ करुणा का जन्म हो—कि मैंने जान लिया, अब दूसरों को भी जनाऊँ—ऐसा भाव भी जन्मे, तो ही वह आदमी दूसरों के काम आ सकेगा।

तो जो भीतर डूब गया, वह तो अपनी डोंगी ले कर पार हो जाएगा। वह कोई बड़ी भारी नाव न बनाएगा, जिसमें हजारों लोग जा सकें। वह तीर्थंकर न हो सकेगा। या जो दूसरों की सेवा में डूब गया, वह सेवा के द्वारा पहुँच जाएगा, लेकिन उसके भीतर के जीवन का शास्त्र तो कभी उसे प्रकट न होगा। वह उसके भीतर की भूगोल से तो परिचित न होगा कि दूसरों को भी नक्शा दे सके।

इसलिए शूद्र तीर्थंकर नहीं हो सकता; खुद ज्ञान को उपलब्ध हो सकता है। ब्राह्मण तीर्थंकर नहीं हो सकता, खुद ज्ञान को उपलब्ध हो सकता है। क्षत्रिय ही तीर्थंकर हो सकता है, जो द्वार पर खड़ा है; जो एक झलक भीतर की लेता है और एक झलक बाहर की लेता है; जो भीतर से खजाना लाता है और बाहर लुटाता है; इस कारण।

● पाँचवाँ प्रश्न : आपने कहा है कि आनन्द का कोई अनुभव नहीं होता, क्या संतों के गीत, बुद्ध पुरुषों के वचन, सद्गुरुओं की वाणी—आनन्द अनुभव से नहीं आती?

नहीं; आनन्द से आती है—आनन्द अनुभव से नहीं आती। फर्क बारीक है, लेकिन महत्वपूर्ण है।

आनन्द अनुभव का तो यह अर्थ हुआ कि तुम अलग हो—और अनुभव अलग है। प्यास लगी, तुमने जल पीया; कंठ जलता था, तब एक अनुभव हो रहा था—पीड़ा का, प्यास का। लेकिन तुम वह पीड़ा न थे। कंठ में पीड़ा थी, तुम जानने वाले थे। फिर जब पीया, ठंडी धार—शीतल धार—जल की भीतर गई, कंठ तृप्त हुआ, अब तृप्ति का अनुभव हो रहा है कंठ में; अब भी तुम देखने वाले हो।

अनुभव तो अलग होता है, देखने वाला अलग होता है। तुम साक्षी हो; आनन्द का कोई साक्षी नहीं होता, क्योंकि जिसके भी तुम साक्षी हो, वह संसार।

आनन्द हमने परमात्मा का स्वभाव कहा है। हमने ऐसा नहीं कहा कि परमात्मा आनन्दित है। हमने कहा परमात्मा आनन्द है, सच्चिदानन्द है। यह उसका स्वभाव है।

जब कोई व्यक्ति आनन्द को उपलब्ध होता है, तो ऐसा नहीं जैसा कि और चीजों को उपलब्ध होता है, ऐसे आनन्द भी हाथ में आ गया। नहीं। अचानक पता चलता है कि मैं आनन्द हूँ, तब आनन्द का अनुभव नहीं होता। तुम आनन्द ही होते हो। जिसका भी अनुभव होता है, वह तो पराया है। वह तो आज है, कल छूट जाएगा। वह तो पानी का बुदबुदा है—बनेगा, मिटेगा; लहर आई—गई। उसका तो ज्वार भी होगा, भाटा भी होगा।

आनन्द आता है, तो फिर जाता नहीं। आनन्द होता है, तो फिर नहीं नहीं होता। आनन्द तुम्हारा स्वाभाव है, तुम उससे रत्ती भर भी फासले पर नहीं होते। तुम उसे

देखते नहीं। तुम उसका अनुभव नहीं करते; तुम वही हो जाते हो। तुममें और उसमें इंच भर का फासला नहीं होता।

इसलिए मैं कहता हूँ कि आनन्द का अनुभव नहीं होता। दुःख का अनुभव होता है; सुख का अनुभव होता है; आनन्द का अनुभव नहीं होता। इसलिए सुख दुःख दोनों ही संसार के ही सिक्के हैं। आनन्द भर परमार्थ है।

बुद्ध पुरुषों की वाणी आनन्द के अनुभव से नहीं पैदा होती, आनन्द से ही पैदा होती है; सीधे आनन्द से ही बहती है।

बुद्ध पुरुष तो मिट ही गये; अगर बुद्ध पुरुष भी बचा है और आनन्द भी, तो अभी बुद्ध पुरुष पैदा ही नहीं हुआ और आनन्द भी पैदा नहीं हुआ। जहाँ बुद्ध पुरुष स्वयं तो खो जाता है और आनन्द ही रह जाता है; कोई नहीं रहता भीतर जानने वाला—कि आनन्द हो रहा है, आनन्द ही बस होता है, अकेला आनन्द ही होता है; फिर जो बहता है, फिर वह शांति में बहे, मौन में बहे, वाणी में बहे, मीरा का गीत बन जाय, चैतन्य का नृत्य बने—कुछ कहा नहीं जा सकता। ये सब कर्म हैं, ये स्वकर्म हैं; ये अलग-अलग हैं।

मीरा नाचेगी, बुद्ध चुप हो कर बैठ जाएँगे, चैतन्य मद-मस्त हो जाएँगे—गाँव गाँव डोलेंगे; महावीर नग्न खड़े हो जाएँगे; किसी से बोलेंगे भी नहीं—ये सब के अलग-अलग ढंग हैं; जो घटा है, वह एक है।

किसी को मौन कर जाता है, किसी को मुखर कर जाता है; किसी को नचा देता है, किसी को बिलकुल मौन पत्थर की मूर्ति बना देता है। पर जो घटा है, वह एक है। परिधि अलग-अलग हैं, केंद्र एक है।

● छठवाँ प्रश्न : कहा जाता है कि रावण भी ब्रह्म-ज्ञानी था। क्या रावण भी रावण उसकी मरजी से नहीं था? क्या रामलीला सच में ही राम की लीला थी?

निश्चित ही—रावण ब्रह्म-ज्ञानी था।

और रावण के साथ बहुत अनाचार हुआ है। और दक्षिण में जो आज रावण के प्रति फिर से समादर का भाव पैदा हो रहा है, वह अगर ठीक रास्ता ले ले, तो अतीत में हमने जो भूल की है, उसका सुधार हो सकता है। लेकिन वह भी गलत रास्ता लेता मालूम पड़ रहा है—दक्षिण का आन्दोलन। वे रावण को तो आदर देना शुरू कर रहे हैं, राम को अनादर देना शुरू कर रहे हैं।

आदमी की मूढ़ता का अंत नहीं है; अतियों पर डोलता है। वह कभी संतुलित तो हो ही नहीं सकता।

यहाँ तुम रावण को जलाते रहे हो, वहाँ अब उन्होंने राम को जलाना शुरू किया है। तुमने एक भूल की थी, अब वे दूसरी भूल कर रहे हैं।

रावण ब्रह्म-ज्ञानी था। यह भी परमात्मा की मरजी थी कि वह यह पार्ट अदा





करे। उसने यह भली तरह अदा किया। और कहते हैं : जब राम के बाण से वह मरा, तो उसने कहा कि 'मेरे जन्मों-जन्मों की आकांक्षा पूरी हुई।' राम के हाथों मारा जाऊँ, इससे बड़ी और कोई आकांक्षा हो भी नहीं सकती, क्योंकि जो राम के हाथ मारा गया, वह सीधा मोक्ष चला जाता है। गुरु के हाथ जो मारा गया, वह और कहाँ जाएगा!

और जैसे पाण्डवों को कहा है, कृष्ण ने—कि मरते हुए भीष्म से जा कर धर्म की शिक्षा ले लो, वैसे ही राम ने लक्ष्मण को भेजा है—रावण के पास कि वह मर न जाय, वह परम ज्ञानी है; उससे कुछ ज्ञान के सूत्र ले आ। उस बहती गंगा से थोड़ा तू भी पानी पी ले।

लेकिन कठिनाई क्या है? कठिनाई हमारी यह है कि हमारी समझ चुनाव की है। अगर हम राम को चुनते हैं, तो रावण दुश्मन हो गया। अगर हम रावण को चुनते हैं, तो राम दुश्मन हो गये। और दोनों को तो हम चुन नहीं सकते। क्योंकि हमको लगता है : दोनों तो बड़े विरोधी हैं, इनको हम कैसे चुनें! और जो दोनों को चुन ले, वही रामलीला का सार समझा। क्योंकि रामलीला अकेली राम की लीला नहीं है, वह रावण के बिना हो भी नहीं सकती। थोड़ा रावण को हटा लो—रामलीला से, फिर रामलीला बिलकुल ठप्प हो जाएगी, वहीं गिर जाएगी। सब सहारे उखड़ जाएँगे।

राम खड़े न हो सकेंगे—बिना रावण के। राम को रावण का सहारा है। प्रकाश हो नहीं सकता—बिना अँधेरे के। अँधेरा प्रकाश को बड़ा सहारा है। जीवन हो नहीं सकता—बिना मृत्यु के। मृत्यु के हाथों पर ही जीवन टिका है। जीवन विपरीत में से चल रहा है।

राम और रावण, मृत्यु और जीवन—दोनों विरोध वस्तुतः विरोधी नहीं हैं, सहयोगी हैं। और जिसने ऐसा देखा, उसी ने समझा कि रामलीला का अर्थ क्या है। तब विरोध—नाटक रह जाता है। तब भीतर कोई वैमनस्य नहीं है। न तो राम के मन में कोई वैमनस्य है, न रावण के मन में कोई वैमनस्य है। और इसलिए तो हमने इस कथा को धार्मिक कहा है। अगर वैमनस्य हो, तो कथा नहीं रही, इतिहास हो गया। इस फर्क को भी ठीक से समझ लो। पुराण और इतिहास का यही फर्क है।

इतिहास साधारण आदमियों की जीवन घटनाएँ हैं। वहाँ संघर्ष है, विरोध है, वैमनस्य है, दुश्मनी है। पुराण? नाटक है, लीला है। वहाँ वास्तविक नहीं है—वैमनस्य; दिखावा है, खेल है। जो मिला है अभिनय, उसे पूरा करना है।

कथा यह है कि वाल्मीकि ने राम के होने के पहले ही रामायण लिखी। अब जब लिख ही दी थी, तो राम को पूरा करना पड़ा। कर भी क्या सकते! जब वाल्मीकि जैसा आदमी लिख दे, तो तुम करोगे क्या। फिर उसको पूरा करना ही पड़ा। यह बड़ी मीठी बात है।

द्रष्टा कह देते हैं, फिर उसे पूरा करना पड़ता है। इसका अर्थ कुल इतना ही है, जैसे कि नाटक की कथा तो पहले ही लिखी होती है, फिर कथा को पूरा करते हैं नाटक में। कथा पहले पैदा होती है, फिर कथा के अनुसार नाटक चलता है। किसको कहना है, वह सब तय होता हे।

जीवन का सारा खेल तय है। क्या होना है, तय है। तुम नाहक ही अपना बोझ उठाए चल रहे हो।

अगर तुम समझ लो कि सिर्फ नाटक है जीवन, तो तुम्हारा जीवन रामलीला हो गया, तुम पुराण-पुरुष हो गये, फिर तुम्हारा इतिहास से कोई नाता न रहा। फिर तुम इस भ्रांति में नहीं हो कि तुम कर रहे हो। फिर तुम जानते हो कि जो उसने कहा है, हो रहा है। उसकी मरजी पूरी कर रहे हैं। अगर वह रावण बनने को कहे, तो ठीक।

रावण को तुम मार तो नहीं डालते; जो आदमी रावण का पाठ करता है, रामलीला में, उसको तुम मार तो नहीं डालते—कि इसने रावण का पाठ किया है, इसको मार डालो। जैसे ही मंच के बाहर आया, बात खत्म हो गई। अगर उसने पार्ट अच्छा किया, तो उसे भी तगमे देते हो।

असली सवाल पार्ट अच्छा करने का है। राम का हो कि रावण का, यह बात अर्थ-पूर्ण नहीं है। ढंग से पूरा किया जाय, कुशलता से पूरा किया जाय।

अभिनय पूरा-पूरा हो, तो तुम पुराण-पुरुष हो गये। लड़ो—बिना वैमनस्य के; संघर्ष करो—बिना किसी अपने मन के; जहाँ जीवन ले जाए—बहो, तब तुम्हारे जीवन में लीला आ गई। लीला आते ही निर्भार हो जाता है मन। लीला आते ही चित्त की सब उलझनें कट जाती हैं।

जब खेल ही है, तो चिंता क्या रही ! फिर एक सपना हो जाता है। इसी अर्थ में हमने संसार को माया कहा है। माया का अर्थ इतना ही है कि तुम माया की तरह ही इसे लेना। अगर तुम इसे माया की तरह ले सको, तो भीतर तुम ब्रह्म को खोज लोगे। अगर तुमने इसे सत्य की तरह लिया, तो तुम भीतर के ब्रह्म को गँवा दोगे।

अब सूत्र।

'एवं इस अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य भगवत् प्राप्ति रूप परम सिद्धि को प्राप्त होता है। परन्तु जिस प्रकार से अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है, उस विधि को तू मेरे से सुन। हे अर्जुन, जिस परमात्मा से सर्व भूतों की उत्पति हुई है और जिससे यह सर्व जगत व्याप्त है, उस परमेश्वर को अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है।'

तुम्हारी जीवन-धारा ही तुम्हारी पूजा हो, उससे अन्यथा पूजा की कोई भी जरूरत नहीं है। तुम जो कर रहे हो, उसके ही फूल तुम उसके चरणों में चढ़ा दो। किन्हीं और





फूलों को तोड़कर लाने की जरूरत नहीं है। तुम्हारा कर्म ही तुम्हारा अर्घ्य, तुम्हारा कर्म ही तुम्हारी अर्चना हो जाय।

'हे अर्जुन, जिस परमात्मा से सर्व भूतों की उत्पत्ति हुई है, और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर को अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है।' इसलिए कर्मों को बदलने की व्यर्थ की झंझट में मत पड़ना। जो करते हो, उस करने को ही उसके चरणों में चढ़ा देना। कह देना कि 'अब तू ही कर; मैं तेरा उपकरण हुआ। अब मेरे हाथ में तेरे हाथ हों, मेरी आँख में तेरी आँख हो, मेरे हृदय में तू धड़क।'

वही धड़क रहा है। तुमने नाहक की नासमझी कर ली है। तुम बीच में अकारण आ गये हो।

'इसलिए अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित अपना धर्म श्रेष्ठ है। क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता है।'

और कृष्ण कहते हैं : दूर के ढोल सुहावने हैं, उनसे बचना।

यह सदा होता है कि दूसरा तुम्हें ज्यादा ठीक स्थिति में मालूम पड़ता है। ऐसा है नहीं कि वह ठीक स्थिति में है; मालूम पड़ता है। उसके कारण हैं।

दूसरे के भीतर को तो तुम देख नहीं पाते—न उसकी पीड़ा को, न उसके दंश को न उसके नरक को। तुम देख पाते हो—उसके ऊपर के व्यवहार को, उसकी परिधि को, आवरण को।

मुसकराता हुआ देखते हो—तुम अपने पड़ोसी को, तुम सोचते हो : पता नहीं, कितने आनन्द में है। वह भी तुम्हें मुसकराता हुआ देखता है। बाहर खड़ा हुआ, वह भी सोचता है : पता नहीं तुम कितने आनन्द में हो ! ऐसा धोखा चलता है। न तुम आनन्द में हो, न वह आनन्द में है।

हर आदमी को ऐसा ही लग रहा है कि 'सारी दुनिया सुखी दिखाई पड़ती है—एक मुझको छोड़कर। हे परमात्मा, मुझ ही को क्यों दुःख दिये चला जाता है।' क्योंकि तुम्हें अपने भीतर पीड़ा दिखाई पड़ती है; और दूसरे का बाहर का रूप दिखाई पड़ता है। बाहर तो सभी सज-संवर कर चल रहे हैं। तुम भी चल रहे हो।

तुम भी किसी की शादी में जाते हो, तो जाकर रोती शकल नहीं ले जाते; हँसते मुसकराते, सज कर, नहा धो कर, कपड़े पहनकर पहुँच जाते हो। वहाँ एक रौनक है। और ऐसा लगता है कि सारी दुनिया प्रसन्न है।

सड़कों पर चलते लोगों को देखो साँझ, सब हँसी-खुशी मालूम पड़ती है। लेकिन लोगों के जीवन में भीतर झांको और दुःख ही है।

जितने भीतर जाओगे, उतना दुःख पाओगे। इसलिए किसी के ऊपर के रूप और आवरण को देखकर मत भटक जाना; और यह मत सोचने लगना कि अच्छा होता कि मैं ब्राह्मण होता, कि देखो, ब्राह्मण कितने मजे में रह रहा है; कि अच्छा होता : मैं क्षत्रिय होता, कि क्षत्रिय कितने मजे में रह रहा है!

अब यह बहुत हैरानी की बात है कि सम्राट् भी ईर्ष्या से भर जाते हैं—साधारण आदमियों को देखकर, क्योंकि उनको लगता है; साधारण आदमी बड़े मजे में रह रहे हैं।

सुना है मैंने कि नेपोलियन लम्बा नहीं था, ऊँचाई उसकी ज्यादा नहीं थी, उसके सिपाही उससे बहुत लम्बे थे। इससे उसे बड़ी पीड़ा होती थी। वह सम्राट् भी हो गया —महा सम्राट हो गया, लेकिन जब भी कोई लम्बा आदमी देख लेता, उसके प्राण में दंश हो जाता।

एक दिन वह अपने कमरे में घड़ी को ठीक करना चाहता था, लेकिन घड़ी ऊँची लगी थी, और उसका हाथ नहीं पहुँच रहा था, तो उसके काया-रक्षक ने, बॉडीगार्ड ने कहा, 'रुकिये, मैं आपसे बड़ा हूँ, मैं ठीक किये देता हूँ।' नेपोलियन ने कहा, 'क्षमा माँगो इस वचन के लिये। तुम मुझसे लम्बे हो, बड़े नहीं।'

उसके मन में सदा पीड़ा थी कि लोग लम्बे हैं। वह छोटा था, जरा बौना था।

तुमने कभी पंडित नेहरु के चित्र देखे—माउंट बैटन और लेडी माउंट बैटन के साथ। तुम बहुत हैरान होओगे। मैंने जितने चित्र देखे, उनमें हमेशा वे सीढ़ियों पर खड़े हैं। माउंट बैटन दो सीढ़ियाँ नीचे खड़े हैं, वे सीढ़ी पर खड़े हैं। लेडी माउंट बैटन एक सीढ़ी नीचे खड़ी है। वे एक सीढ़ी ऊपर खड़े हैं। क्योंकि वे पाँच फिट पाँच इंच! और लेडी माउंट बैटन और माउंट बैटन जैसे लम्बे आदमी जरा मुश्किल से खोजे जा सकते हैं। वह अनजाना ही रहा होगा। जानकर वे हर बार जब फोटो उतरती है, ऐसा खड़े हो जाते हों, तो कभी चूक भी जाते। वह अनजाना ही रहा होगा, लेकिन भीतर अचेतन में कहीं कोई बात रही होगी।

सम्राट् भी राह पर चलते मस्त फकीर को देखकर ईर्ष्या से भर जाते हैं कि काश! इसकी मस्ती हमारे पास होती! अपने महल में रात—उदास, विषाद से भरे हुए, बाहर किसी भिखमंगे का गीत सुनने लगते हैं और प्राणों में ऐसा होने लगता है : 'काश, हम भी इतने स्वतंत्र होते और इस तरह राह पर गीत गाते और कोई चिंता न होती और वृक्ष के तले सो जाते!'

अगर ऐसा न होता, तो बुद्ध महल छोड़कर ही क्यों गये होते? महावीर ने क्यों महल छोड़े होते? जरूर भिखमंगों की मस्ती से ईर्ष्या आ गई होगी, नहीं तो जाने का कोई कारण न था।





कृष्ण कहते हैं : दूसरे से बहुत प्रलोभित मत हो जाना। और अगर तुम अपने ही नियत कर्म में—जो तुमने जन्मों-जन्मों में अर्जित किया है, जिसके लिए तुम्हारे संस्कार तैयार हैं, वहाँ तुम दुःखी हो, तो अपरिचित कर्म में तो तुम और भी दुःखी हो जाओगे, तुम और भी कष्ट पाओगे, क्योंकि उसके तो तुम आदी भी नहीं हो। इसलिए अपने स्वाभाविक कर्म और आचरण में रहते हुए, उस कर्म को नियति मानकर करते हुए, परमात्मा की मरजी है—ऐसा जानते हुए, व्यक्ति स्वधर्म को प्राप्त हो जाता है, पाप से मुक्त हो जाता है।

'अतएव हे कुन्ति पुत्र, दोष युक्त भी स्वाभाविक कर्म को नहीं त्यागना चाहिए।' और कभी ऐसा भी लगे कि यह कर्म तो दोषयुक्त है, तो भी इसे मत त्यागना। 'क्योंकि धुएँ से अग्नि के सदृश सभी कर्म किसी न किसी दोष से आवृत्त हैं।' यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है।

तुम ऐसा तो कोई कर्म खोज ही न सकोगे, जिसमें दोष न हो—अगर तुम दोष ही खोजने गये, तो तुम कुछ भी न कर पाओगे। तुम दोष भी न खोज पाओगे, क्योंकि उस खोज में भी कई दोष होंगे। श्वास लेने तक में हिंसा हो रही है। तो करोगे क्या?

कृष्ण कहते हैं : अगर तुम बधिक के घर में पैदा हुए हो और हत्या ही तुम्हारा काम है, तो भी तुम मत घबड़ाना; तुम इसको भी परमात्मा की मरजी मानना। तुम चुपचाप किये जाना—उसको ही सौंप कर, तुम अपने ऊपर जुम्मा ही मत लेना। तुम कर्ता मत बनना, फिर कोई कर्म तुम्हें नहीं घेरता है।

और तुम यह मत सोचना कि यह पापपूर्ण कर्म है, इसे छोड़ूँ। कोई ऐसा पुण्य कर्म करूँ, जिसमें पाप न हो। ऐसा कोई कर्म नहीं है।

क्या कर्म करोगे, जिसमें पाप न हो? यहाँ तो हाथ हिलाकर भी पाप हो जाता है, श्वास लेते भी प्राणी मर जाते हैं।

तुम जीओगे तो पाप होगा; चलोगे तो पाप होगा; उठोगे, बैठोगे, तो पाप होगा। और अगर इस तरह तुम सिकुड़ने लगे, तो तुम पाओगे कि जीवन एक बड़ी दुविधा हो गई। कहते हैं महावीर रात करवट भी नहीं बदलते हैं क्योंकि वे डरते हैं कि रात कहीं करवट बदली, कहीं कोई कीड़ा-मकोड़ा आ गया हो, रात सरक के पास बैठ गया हो, दब जाय, तो रात एक ही करवट सोये रहते। अब यह बड़ी अजीब-सी अवस्था हो जाएगी।

महावीर भोजन करने में भयभीत हैं, क्योंकि पाप होगा; खेती-बाड़ी करने में भयभीत हैं, क्योंकि पौधे मरेंगे, कटेंगे। चलने में डरते हैं, क्योंकि कहीं कोई कीड़ा-मकोड़ा न मर जाय। वर्षा में चलना रोक देते हैं, क्योंकि वर्षा में बहुत कीड़े-मकोड़े पैदा हो जाते हैं। रात नहीं निकलते, अँधेरे में बाहर नहीं जाते, क्योंकि अँधेरे में कोई दब जाय, अँधेरे में कोई हिंसा हो जाय। अब इतने भयमीत हो जाओगे, तो भी हिंसा होती ही रहेगी।

श्वास तो लोगे, पलक तो झपोगे, ओंठ तो खोलोगे। एक बार ओंठ के खुलने और बंद होने में कोई एक लाख कीटाणु मर जाते हैं। तो महावीर बारह साल मौन रह गये, कि ओंठ ही नहीं खोलेंगे!

अब महावीर के भक्तों का एक वर्ग है, जो मुँह पर पट्टी बाँधे हुए है। वह इसी डर से कि मुँह से जो गरम हवा निकलती है, वह जब दूर तक जाती है, तो कई कीटाणुओं को मार देती है। तो वह दूर तक न जाय, मगर फिर भी गरम हवा तो निकलती ही रहेगी।

स्नान न करो, क्योंकि जल के कीटाणु मर जाएँगे। क्या करोगे? ऐसे अगर जिये तो तुम नरक बना लोगे चारों तरफ। और फिर भी—फिर भी कर्म तो दोषयुक्त हैं ही। 'जैसे हर जगह जहाँ अग्नि है, वहाँ धुआँ है, ऐसे जहाँ कर्म है, वहाँ दोष हैं।' तो फिर क्या उपाय है?

एक ही उपाय है कि तुम कर्ता मत रहो। तुम उससे कह दो, तू जो करवाएगा, हम करते रहेंगे। हम तेरे संदेश-वाहक हैं। जैसे पोस्टमैन आता है—चिट्ठी लेकर। अब किसी ने गाली लिख दी चिट्ठी में, इसलिए पोस्टमैन जिम्मेवार नहीं, कि तुम उससे लड़ने लगते हो, कि उठा लेते हो लट्ठ कि खड़ा रह, कहाँ जाता है! तू यह चिट्ठी यहाँ क्यों लेकर आया! या कोई प्रेम-पत्र ले आया, तो तुम उसे कोई गले लगाकर और नाचने नहीं लगते हो। तुम जानते हो कि यह तो पोस्टमैन है। चिट्ठी कोई और भेज रहा है। यह तो सिर्फ बेचारा बोझा ढोता है। ले आता है, घर तक पहुँचा देता है।

परमात्मा कर्ता हो जाय और तुम केवल उसके उपकरण, इसलिए फिर जो भी कर्म नियति से, प्रकृति से, स्वभाव से, संयोग से तुम्हें मिल गया है, तुम चुपचाप उसे किये चले जाओ, कर्ता भाव छोड़ दो; जहाँ भी हो, वहीं कर्ता भाव छोड़ दो।

कृष्ण का सारा जोर है, कर्ता भाव छोड़ देने पर—कर्म को छोड़ने पर नहीं। क्योंकि छोड़-छोड़ कर भी कहाँ जाओगे! जहाँ जाओगे कर्म तुम्हें घेरे ही रहेगा।

'हे कुन्ति पुत्र, दोषयुक्त भी स्वाभाविक कर्मों को त्यागना नहीं, क्योंकि धुएँ से अग्नि के सदृश्य सभी कर्म किसी न किसी दोष से आवृत हैं।'



## अभिनय और अकर्ता-भाव • सब कुछ है महाभारत में करुणा का उद्रेक • पात्रता और प्रसाद

### चौदहवाँ प्रवचन

प्रातःकाल, दिनांक ३ अगस्त, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयास्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥



हे अर्जुन सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरण-वाला पुरुष संन्यास के द्वारा भी परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त होता है।

इसलिए हे कुंतीपुत्र, अन्तःकरण की शुद्धिरूप सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जैसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त होता है तथा जो तत्त्वज्ञान की परानिष्ठा है, उसको भी तू मेरे से संक्षेप से जान।

हे अर्जुन, विशुद्ध बुद्धि से युक्त, एकांत और शुद्ध देश का सेवन करने वाला, मिता-हारी, जीते हुए मन, वाणी व शरीरवाला और दृढ वैराग्य को भली प्रकार प्राप्त हुआ पुरुष निरन्तर ध्यान योग के परायण हुआ सात्त्विक धारणा से अन्तःकरण को वश में करके तथा शब्दादिक विषयों को त्याग कर और रागद्वेष नष्ट करके तथा अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रह को त्याग कर ममतारहित और शांत हुआ सच्चिदा-नन्दघन ब्रह्म में एकीभाव होने के लिए योग्य होता है।

**पहले कुछ प्रश्न।**

● पहला प्रश्न : आप कहते हैं कि जीवन ऐसे जीयो कि वह एक अभिनय हो, उस हालत में आध्यात्मिक साधना, धर्म और मोक्ष की खोज भी अभिनय से ज्यादा क्या रहेगी ?

अभिनय से ज्यादा कुछ है ही नहीं। अभिनय से ज्यादा की आकांक्षा ही दुःख का कारण है। अभिनय से ज्यादा तुम चाहते हो कुछ, वही मृग-मरीचिका है।

संसार में जो भी किया जा सकता है, वह चाहे बाजार में हो और चाहे मंदिर में हो, वह चाहे धन की दौड़ में हो और चाहे धर्म की दौड़ में हो, जो भी किया जा सकता है, जहाँ तक 'करने' की सीमा है, वहाँ तक अभिनय है। और इसे जो जान लेता है—कि सभी करना मात्र अभिनय है, उसका कर्ता-भाव गिर जाता है।

जब अभिनय ही है, तो कर्ता-भाव कैसे बचेगा ? कर्ता-भाव न हो, तो साक्षी मात्र शेष रह जाता है। करनेवाला तो खो जाता है, केवल देखनेवाला शेष रह जाता है। और वही ब्रह्म-ज्ञान की पराकाष्ठा है—जहाँ तुम सिर्फ देखने वाले ही रह गये। इसलिए ब्रह्म-ज्ञानियों ने सारे संसार को माया कहा है।

शंकराचार्य ने ईश्वर को भी माया का ही हिस्सा कहा है। क्योंकि ईश्वर को पाने की खोज, ईश्वर को पाने की आकांक्षा का अर्थ ही यही है कि ईश्वर भी वासना का विषय बन सकता है। इसलिए बुद्ध ने कहा है कि तुम मोक्ष को चाहना मत; चाहोगे तो चूक जाओगे। क्योंकि जो चाह का विषय बन जाय, वह मोक्ष ही नहीं है; वह संसार हो गया।

जिसको भी हम चाह सकते हैं, हमारी चाह के कारण ही वह संसार हो जाता है। चाह भ्रांति का सूत्र है, स्वप्न की जन्मदात्री है। तो तुमने अगर धर्म चाहा है, तो वह भी स्वप्न है। तुमने अगर संन्यास किया है, तो वह भी स्वप्न है। तुमने अगर साधना साधी है, तो वह भी स्वप्न है।

जहाँ तक तुम्हारा कर्ता बचा है, जहाँ तक तुम हो, वहाँ तक सत्य नहीं हो सकता।

अहंकार से तो सम्बन्ध ही असत्य का जुड़ता है; सत्य का नहीं जुड़ता। अँधेरे से अँधेरे का ही मिलन हो सकता है।

जब मैं कहता हूँ कि सभी कुछ अभिनय है . . .। वही कृष्ण कह रहे हैं। वे अर्जुन को इतना ही समझा रहे हैं कि 'तू कर्ता मत हो। तू अपने को करनेवाला मत समझ। तू जैसे उपकरण है, निमित्त है। परमात्मा जो करवाना चाहे, तू कर। न करवाना चाहे, उसकी मरजी। तू निर्णायक मत बन। क्योंकि जैसे ही तू निर्णायक बना, जैसे ही अहंकार आया, वैसे ही सब झूठ हो गया। तू अपने को दूर रख के, उसे जो करना है, करने दे। तू सिर्फ माध्यम बन जा, निमित्त मात्र हो जा।' तब तो जीवन अभिनय हो जाएगा, तुम कर्ता नहीं रह जाओगे। परमात्मा लिखेगा नाटक, तुम केवल उसे दोहराओगे।

अभिनय और जीवन में फर्क क्या है? अभिनय का अर्थ है : जो पूर्व-निर्धारित है। राम-कथा लिखी हुई रखी है। फिर तुम राम बने; तुम्हें कुछ करना नहीं है, सब तैयार ही है; एक-एक शब्द तैयार है। तुम्हें वही करना है, जो पूर्व से ही निर्णीत है। तुम्हें कुछ नया जोड़ना नहीं है। तुम्हें अपने को बीच में लाना नहीं है। तुम कुशलता से वही कर सकते हो जो करने को कहा गया है, तो अभिनय है।

जीवन में भ्रांति होती है, क्योंकि तुम सोचते हो : शायद जीवन में तुम कर रहे हो। मंच बहुत बड़ी है, तुम्हें दिखाई नहीं पड़ती है। नाटक बहुत अदृश्य ढंग से लिखा गया है, तुम पढ़ नहीं पाते। जो हाथ तुम्हारी कठपुतली को सम्हाले हैं, तुम्हारी आँखें बड़ी छोटी हैं, उन विराट हाथों को देख नहीं पातीं। जिन धागों से तुम बंधे हो और नाच रहे हो, वे धागे तुम्हारी पकड़ में नहीं आते। लेकिन अगर थोड़ा समझने की कोशिश करोगे, तो पकड़ में आने लगेंगे।

तुमने कभी भी कुछ अपने से किया है? प्रेम में पड़ गये किसी के। तुमने प्रेम किया था? अचानक पाया कि प्रेम हो गया है, जैसे किसी ने धागा खींचा; कठपुतली नाचने लगी। तुम प्रेम का गीत गाने लगे। तुम जीने-मरने को तैयार हो गये। तुमने कहा, 'यह स्त्री न मिलेगी, तो मैं बचूँगा नहीं।' एक क्षण पहले तक यह स्त्री नहीं थी; तुम भली प्रकार बचे थे। इसके न होने से कोई अड़चन न आ रही थी। क्षण पहले इसे तुमने न देखा था; सब ठीक चल रहा था। अचानक इस स्त्री का दिखाई पड़ जाना, तुमने कुछ किया नहीं, तुम्हारे भीतर किसी और ने कुछ किया। कोई वासना का धागा खींचा गया। अब तुम कहते हो, 'इसके बिना मैं जी न सकूँगा।' यह भी 'तुम' कह रहे हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि इसके बिना भी तुम जीते हुए पाये जाओगे। यह भी तुमसे कहलवाया जा रहा है। कल यह स्त्री मर जाएगी, रोओगे-धोओगे। 'तुम' रोओगे-धोओगे, ऐसा भी मैं नहीं कहता; वह भी होगा। वह भी तुम्हारे घाव से आँसू बहेंगे। फिर घाव भर जाएगा। फिर तुम किसी दूसरी स्त्री के पीछे दौड़ने लगोगे। तुम फिर-फिर यही कहोगे कि तेरे





बिना न जी सकूँगा।

तुम हर स्त्री से यही कहोगे कि 'तेरे बिना संसार में कोई अर्थ ही नहीं है। तू ही मेरे जीवन का अर्थ है।' और बिना जाने कहोगे कि जैसे 'तुम' कह रहे हो।

समझो; ऐसा कुछ है, जैसे किसी ने एक नाटक लिखा हो, और पात्रों को तैयार किया हो। लेकिन पात्रों को सम्मोहित करके तैयार किया हो; उन्हें सम्मोहित कर दिया हो। जिसे राम बनना है, उसे सम्मोहित करके मूर्च्छित कर दिया हो और फिर सारे राम का अभिनय उसे सिखा दिया हो—सम्मोहित अवस्था में, फिर वह जागा, होश में आया। अब वह राम का पाठ करेगा, लेकिन वह यही समझेगा कि मैं राम हूँ।

प्रकृति तुम्हें सम्मोहित किये है। उस सम्मोहन की शक्ति को हमने माया कहा है; माया का अर्थ है : प्रकृति का जादू। तुम उसमें खिंचे जी रहे हो। तुम बहुत कुछ करते मालूम पड़ते हो, करते तुम कुछ नहीं। तार कोई और खिंचता है। धागे बड़े अदृश्य हैं, छिपे हैं। कठ-पुतलियाँ सामने हैं, धागे पीछे हैं, पृष्ठभूमि में हैं।

जिनको तुम वासनाएँ कहते हो, वे धागों से ज्यादा नहीं हैं। उनके ही वशीभूत तुम काम किये चले जाते हो। न तो तुम पैदा हुए हो। किसने तुम्हें पैदा किया? न तुम जी रहे हो अपनी तरफ से, क्योंकि आज अगर श्वास बंद हो जाय, तो तुम क्या करोगे? एक दिन बंद हो ही जाएगी; फिर तुम शिकायत भी न कर सकोगे, क्योंकि श्वास बंद हो गई, शिकायत कौन करेगा?

जन्म होता है, जीवन होता है। प्रेम घटता है। हजार-हजार घटनाएँ होती हैं। मौत घट जाती है—और सब ऐसे मिट जाता है, जैसे पानी पर खिंची गई लकीर।

कितने लोग तुमसे पहले इस पृथ्वी पर रहे हैं! जहाँ तुम बैठे हो, वहाँ कम से कम एक-एक इंच जमीन पर तीस-तीस आदमियों की लाशें दबी हैं। और वे लोग रहे हैं तुम्हारी ही तरह। तुम्हारी ही तरह उनकी भी भ्रांति थी कि वे जी रहे हैं; कर्ता हैं!
बड़ी छोटी हैं, उन विराट हाथों को देख नहीं पातीं। जिन धागों से तुम बंधे हो और नाच
से कुछ समझदार भी हुए हैं। कोई बुद्ध हुआ है, कोई कृष्ण हुआ, जिसने देख लिया पीछे मुड़ के, कि 'धागे' हैं, मैं कुछ कर नहीं रहा हूँ, हो रहा है। उसने तत्क्षण कह दिया कि यह सब अभिनय है।

इसका यह अर्थ नहीं कि तुम भाग जाओ छोड़ कर। अभिनय को छोड़ कर भी क्या भागना! इसलिए कृष्ण कहते हैं : 'डँटे रहो, जिसके हाथ में धागे हैं, वही जाने। तुम अपने ऊपर सिर पर बोझ मत लो। वह लड़वाये, तो लड़ो।' इसलिए कृष्ण कहते हैं, 'जिन्हें तू अर्जुन सोचता है कि मारने वाला है, वह उसने पहले ही मार रखे हैं। बस, तेरे धक्के की जरूरत है। उसने उनके प्राण पहले ही खींच लिये हैं। वे मारे जा चुके हैं, वे मुरदा ही खड़े हैं। तू केवल निमित्त बनेगा। और तू निमित्त न बनेगा, तो कोई और

निमित्त बन जाएगा। इसलिए तू व्यर्थ अपने को बीच में मत ले।

अभिनय—सारा पूरा जीवन दिखाई पड़ने लगे, तो 'तुम' कहाँ रहोगे! सिर्फ साक्षी में तुम रह जाओगे। उतना भर अभिनय नहीं है। वह देखने वाला भर अभिनय नहीं है; वह सच है। क्योंकि झूठ को देखने के लिए भी सच देखने वाला चाहिए। इसे तुम थोड़ा समझो।

रात तुमने सपना देखा। सपना झूठ था। सुबह उठ कर पाया कि सब व्यर्थ था, कुछ सार न था। कहीं कुछ हुआ न था। बस; मन की ही कल्पना थी। मन में ही लहरें उठीं और खो गईं; तरंगें आईं और गईं। सुबह तुम पाते हो, कुछ भी हुआ नहीं। सिर्फ खयाल थे। लेकिन क्या तुम यह कह सकते हो कि जिसने रात सपना देखा, वह भी इतना ही झूठ है, जितना सपना झूठ था? यह तो तुम न कह सकोगे। क्योंकि अगर देखने वाला भी झूठ हो, तब तो कुछ देखा ही नहीं जा सकता; सपना भी नहीं देखा जा सकता।

झूठ को देखने के लिये भी कम से कम सच देखने वाला चाहिए। झूठ ही तो झूठ को नहीं देख सकता, क्योंकि तब तो दोनों ही अनस्तित्व हो जाएँगे।

यह हो सकता है कि एक रस्सी पड़ी है रास्ते पर, और तुमने भ्रांति से साँप देखा। भूल हो गई, यह बात पक्की है। लेकिन अगर रास्ते पर से कोई न गुजरे, तो भी क्या यह भूल हो सकेगी—कि रस्सी साँप जैसी देखी जा सके? कौन देखेगा? अगर रास्ते पर से गुजरने वाले भी इतने ही झूठ हों, जितना रस्सी का साँप होना झूठ है, तब तो कोई देखने वाला ही न होगा।

झूठ को देखने के लिये भी कोई सच चाहिए। इसलिए जिन्होंने जीवन को बहुत गहरे खोजा है, जो कर्म की सतह पर ही नहीं भटके, जो नीचे गहरे में डुबकी लिये हैं, जो अस्तित्व में परतों में उतरे हैं, उन्होंने पाया : 'सब झूठ हो सकता है, लेकिन यह जो भीतर बैठा साक्षी है, यह झूठ नहीं हो सकता।'

सब भ्रांतियाँ हो सकती हैं, लेकिन एक अस्तित्व—भीतर जो है, वह भ्रांत नहीं हो सकता। भ्रांतियों के लिये भी उसका सच होना जरूरी है। वही भर अभिनय नहीं है।

और अगर तुमने जीवन को जीवन समझा, अभिनय न समझा, तो साक्षी खो जाएगा, तुम उसको भूल जाओगे। तुम कर्ता बन जाओगे, जो कि सच नहीं है। अगर तुमने जीवन को अभिनय समझा—यथार्थ नहीं, तो कर्ता खो जाएगा और कर्ता की राख में छिपा भीतर साक्षी का अंगार प्रकट होने लगेगा।

साक्षी को जान लेना ब्रह्म-ज्ञान की पराकाष्ठा है। और जीवन को अभिनय कहना, केवल एक विधि है—उस साक्षी को खोज लेने की। क्योंकि जहाँ-जहाँ तुम्हें अभिनय समझ में आ जाता है, वहीं-वहीं पकड़ छूट जाती है। जब तक तुम सोचते हो, 'यह सच है', तब तक तुम मुट्ठी बाँधे रखते हो। जब तुम देखते हो, यह सच है ही नहीं, तो तुम





मुट्ठी नहीं बाँधते।

इसलिए कृष्ण की जीवन-दृष्टि में एक बड़ी अनूठी बात है। वे भागने के लिये भी नहीं कहते हैं। वे कहते हैं : 'संसार इतना झूठा है कि भागना भी क्या?'

अब जो रस्सी साँप जैसी दिखाई पड़ रही है, उसे मारना तो गलत है ही, क्योंकि मारोगे क्या। वहाँ कोई साँप है नहीं मारने को। तुम लकड़ी ले कर और बड़ी मशाल ले कर और बड़ा शोरगुल मचाते आ रहे हो! वहाँ कुछ है नहीं। और कोई आदमी रास्ते पर खड़ा तुमसे कहता है, 'कहाँ जा रहे हो, वहाँ कोई सार नहीं है, वहाँ सिर्फ रस्सी पड़ी है, साँप है नहीं; मारोगे किसको? अच्छा है, भाग खड़े होओ। त्याग ही कर दो इस माया का।' वह आदमी भी भ्रांत है, क्योंकि जिस साँप को मारा नहीं जा सकता, उसको छोड़ोगे भी क्या! जिसको मारा नहीं जा सकता, उससे भागोगे कैसे! भागते भी हम उससे हैं, जो सत् है। लड़ते भी हम उससे हैं, जो सत् है।

इसलिए कृष्ण का कहना है : 'जहाँ हो, वहीं जाग जाओ। भागने से कुछ भी न होगा। जागते ही पाओगे : सब सपना है।'

इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम्हारे जानने से कि यह सपना है, सपना टूट जाएगा। इसका यह अर्थ नहीं कि यह जानने से कि सपना है, अर्जुन के लिये युद्ध खो जाएगा। नहीं।

रात तुम फिल्म देखने बैठते हो, तुम भूल जाते हो—देखते-देखते, तुम्हें याद ही नहीं रहता कि जो तुम देख रहे हो, वह केवल धूप-छाया का खेल है।

परदे पर कुछ है नहीं। परदा बिलकुल खाली है। जो दिखायी पड़ रहा है, वह सरासर झूठ है। यह तुम जानते हो, लेकिन कई बार भूल जाते हो। जब कभी कोई फिल्म में ऐसे क्षण आते हैं, भावावेश के, तुम आविष्ट हो जाते हो।

कोई किसी की हत्या कर रहा है, तुम्हारे हृदय में भी पीड़ा होने लगती है। कोई किसी स्त्री को सता रहा है, परेशान कर रहा है, तुम भी रीढ़ ऊँची करके बैठ जाते हो। बचाने की उत्सुकता पैदा होने लगती है।

दो कारें भाग रही हैं—एक दूसरे के पीछे, पहाड़ों की कगारों से ; खतरा है; तुम तब कुर्सी पर टिके बैठे नहीं रहते; तुम सीधे बैठ जाते हो, जैसे तुम कार में बैठे हो, जैसे कि खुद का भी जीवन खतरे में है। तुम कंपने लगते हो, तुम्हारा हृदय जोर से धड़कने लगता है।

कोई मर गया है : तुम रोने लगते हो। अच्छा है कि सिनेमा-गृह में अँधेरा होता है। लोग अपने रुमाल निकाल कर, आँसू पोंछ कर, खीसे में रख लेते हैं।

आँसू भी आते हैं; तुम हँसते भी हो; तुम डरते भी हो; तुम प्रसन्न भी होते हो। ये सब घटनाएँ घटती हैं। और तुम भली-भाँति जानते कि वहाँ परदा है। और परदे पर कुछ भी नहीं हो रहा है, धूप-छाया का खेल है। लेकिन फिर भी भूल-भूल जाता है।

अगर तुम्हें पूरी तरह भी याद रहे—पूरे तीन घंटे, जब तुम सिनेमा-गृह में बैठे हो, पूरे समय याद रहे, कि वह सब झूठ है, तो भी परदे पर धूप-छाया का खेल तो जारी रहेगा, तुम्हारे जानने से खेल नहीं मिट जाएगा। तुम्हारे जानने से तुम्हारे भावावेश मिट जाएँगे। तुम्हारे जानने से अब तुम रोओगे नहीं, हँसोगे नहीं। या अगर तुम रोओगे भी तो अभिनय होगा; दूसरों को दिखाने को होगा, तुम्हारे लिये न होगा। अगर तुम हँसोगे भी, तो दूसरों के लिये होगा, क्योंकि दूसरे अभी नहीं जागे हैं। नाहक उनको कष्ट क्यों देना!

किसी के घर में कोई मर गया है, तुम जाकर शायद आँसू भी बहा आओगे, लेकिन भीतर तुम जानते रहोगे : सब धूप-छाया का खेल है। न कोई कभी मरता है, न कोई कभी मारा जाता है। शरीर के मरने से कभी कोई मरता है? यह तो परदा है। जो है, वह सदा है। लेकिन यह तुम्हारी प्रतीति है। जिसका पति मर गया है, जिसकी पत्नी मर गई है, जिसका बेटा मर गया है, उसको तो अभी इसका कोई बोध नहीं है। वह तो रस्सी को साँप ही समझ रहा है। तुम उसके लिये रो भी आते हो। तुम दो आँसू गिरा भी आते हो। लेकिन तुम्हारे भीतर कुछ भी घटता नहीं। तुम निर्विकार ही बने रहते हो। आँसू तुम्हारे भीतर गिरते नहीं। उसका घाव नहीं छूटता। उनका धब्बा नहीं लगता।

कोई हँसता है, तो तुम हँस भी लेते हो, लेकिन तुम जानते हो कि न अब हँसने को कुछ है, न अब रोने को कुछ है।

संसार चलता रहता है। तुम्हारे लिये स्वप्न हो गया, इससे संसार मिट नहीं जाता। वृक्षों में फूल लगेंगे, पक्षी गीत गायेंगे, लोग प्रेम में पड़ेंगे, मृत्युएँ होंगी, जन्म होंगे, बैंड-बाजे बजेंगे; विवाह होगा, शहनाई बजेगी; कोई मरेगा, रामनाम सत्त है का पाठ होगा—यह सब चलता रहेगा। तुम्हारे लिये यह मिट गया। तुम्हारे लिये मिट जाने का अर्थ यह है कि अब तुम इसमें कुछ भी आविष्ट नहीं होते। तुम्हारे लिये सब अभिनय हो गया। लेकिन सब जारी रहेगा।

भाग कर भी कहाँ जाना है! भाग कर भी क्या प्रयोजन है? क्योंकि भागे भी अगर तुम, तो कर्ता हो गये। इसलिए कृष्ण का सारा जोर यह है कि भागो मत, अन्यथा भागना भी कर्तृत्व है।

और भागने का यह अर्थ हुआ कि तुम जिससे भागे, उसको तुमने सच माना—रस्सी थी, तुमने साँप माना; तुम भाग खड़े हुए। कोई ना-समझा लट्ठ लेकर मारने चला गया, कोई ना-समझ पीठ करके भाग खड़ा हुआ! लेकिन समझदार न तो भागता है, न मारने जाता है वह सिर्फ देखता है।

समझ का नाम दर्शन है; वह सिर्फ देखता है। वह सिर्फ साक्षी हो जाता है। तब कुछ भी छूता नहीं; तब तुम नदी से निकल जाते हो, पैर में पानी नहीं छूता। तब कबीर





ठीक कहते हैं : तुम चदरिया वापस लौटा देते हो—जीवन की, वैसी की वैसी, जैसी पाई थी; एक धब्बा नहीं लगता।

इसलिए अभिनय का सूत्र खयाल में रखो। कृष्ण की सारी गीता उसमें समाई है। जीवन अभिनय है, तब तुम्हारे साक्षी का प्रादुर्भाव होगा।

और निश्चित ही भेद मत करना कि हमारा जीवन तो आध्यात्मिक है, इसलिए यह अभिनय नहीं है। यह अभिनय है; आध्यात्मिक अभिनय है।

कोई नीले, हरे कपड़े पहने हुए है; तुमने गेरुआ पहने हैं। यह आध्यात्मिक अभिनय है; यह आखिरी अभिनय है। इसके पार फिर पराकाष्ठा है। इसको भी अभिनय ही जानना।

संन्यास को भी बहुत गंभीरता से मत लेना अन्यथा उलझ गये। जहाँ गंभीर हुए वहीं फँसे! हल्के मन से लेना; जानते हुए लेना। संन्यास केवल इस बात की सूचना है कि अब हमारे लिये सब अभिनय है। लेकिन इस सब में संन्यास भी समाविष्ट है। यह इस बात की खबर है कि हमने अपनी दुकान समेट ली। अब अभिनय में हमें कोई रस न रहा।

वह तुम्हारा गैरिक रंग इस बात की खबर है कि लोग समझें कि अब अभिनय में रस नहीं रहा। अगर तुम वहाँ खड़े भी हो, तो इसीलिए कि कहीं और जाने को नहीं है। लेकिन तुमने कर्तृत्व परमात्मा पर छोड़ दिया। अब तुम कर्ता नहीं हो।

संन्यास लिया नहीं जा सकता; अगर लिया तो तुम कर्ता हो जाओगे। संन्यास घटित होता है, वह समझ का फूल है। जैसे-जैसे तुम समझते हो, वैसे घटित होता है। एक दिन घट जाता है; अचानक तुम पाते हो : संसार गया, संन्यास आ गया। यह प्रभु का प्रसाद है। वह तुम्हारे लिये भेंट है परमात्मा की, जैसे कि सभी कुछ भेंट थी। यह आखिरी भेंट है। यह तुम्हारी जीवन प्रौढता की सूचना है कि तुम जाग गये हो।

आध्यात्मिक खेल भी खेल है। कोई पूजा कर रहा है मंदिर में। कोई राम-राम जप रहा है। कोई राम-नाम की चदरिया ओढ़े हुए है, कोई तीर्थ-यात्रा को जा रहा है—अगर इनके भीतर कहीं भी कर्ता का भाव है, तो तुम चूक रहे हो; तब तुम गलती में पड़ रहे हो। अगर कर्ता का कोई भाव नहीं है, तो सब सुंदर है।

सार की बात इतनी है कि कर्ता का भाव ही इस जगत् में सब से कुरूप घटना है। और अकर्ता का भाव ही इस जगत् में सौंदर्य है।

कठिन होगा समझना, क्योंकि धार्मिक गुरु तो तुम्हें समझाते हैं कि संसार छोड़ो, धर्म को पकड़ो। वे तो कहते हैं कि संसार माया है; धर्म थोड़े ही माया है। वे कहते हैं : दुकान माया है, मंदिर थोड़े ही माया है!

बड़े मजे की बात है। उसी बाजार में मंदिर खड़ा है। जिस बाजार में दुकान खड़ी

है। जिन्होंने दुकानें चलाई हैं, उन्होंने ही मंदिर बनाया है। जो दुकान को चलाते हैं, वे ही मंदिर के भी ट्रस्टी हैं। दुकान पर कमाते हैं, उसी से मंदिर भी चलता है। वह मंदिर का पुजारी दुकानदारों का नौकर है। जो सोना-चाँदी बाजार में मूल्यवान है, वही सोना-चाँदी मंदिर में मूल्यवान है। जो सिक्के बाजार में चलते हैं, उन्हीं सिक्कों का चलन मंदिर में भी है।

मंदिर बाजार के बाहर नहीं है। मैं यह कह भी नहीं रहा हूँ कि होना चाहिए। हो भी नहीं सकता। मगर जानना चाहिए—मंदिर को भी—कि वह भी बाजार के भीतर है।

इस जगत् में जो भी किया जा सकता है, वह सभी संसार है। जो नहीं किया जा सकता, वही किरण—जो तुम्हारे अकर्ता भाव से उठती है—वही किरण संसार के बाहर ले जाती है।

कर्तृत्व संसार है, अहंकार संसार है। अकर्ता हो जाना, निमित्त हो जाना, अभिनेता हो जाना मोक्ष है, मुक्ति है।

●दूसरा प्रश्न : जीवन एक कथानक है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का अभिनय नियत है। और जिसे नियत ढंग से उसे अभिनीत भर करना है, क्या यही भाग्यवाद नहीं है?

शब्द बिगड़ गया; बहुत चल-चल कर खोटा हो गया अन्यथा बड़ा प्यारा शब्द है—भाग्य। भाग्य का अर्थ है : चीजें होती हैं, की नहीं जातीं। भाग्य का अर्थ है : कथानक तय है; तुम नाहक चिंता मत लो। भाग्य का अर्थ है : जो होना है, होगा। जो होना था, हुआ है। जो होना है—होता रहेगा; तुम सिर पर बोझ मत लो। तुम उत्तरदायी नहीं हो।

जैसे समझो : रामलीला का खेल हो रहा है; लीला हो रही है। राम भली-भाँति जानते हैं कि सीता चोरी जाएगी। अब इसमें कोई रात-रात भर जाग कर परेशान होने की जरूरत नहीं है। यह सब तय है। यह कथानक है। सीता चोरी जाएगी, राम भटकेंगे जंगल-जंगल, वृक्ष-वृक्ष से पूछेंगे : 'कहाँ मेरी सीता है।' और बड़े भाव से पूछेंगे। और फिर परदा गिरेगा और पीछे बैठ कर वे हँसेंगे और गपशप करेंगे। रावण भी वहीं बैठे होंगे। चाय पीयेंगे और घर चले जाएँगे।

इस जीवन के बड़े परदे के पीछे राम-रावण सब मिल जाते हैं; शत्रु और मित्र सब मिल जाते हैं। सब भेद परदे पर सामने हैं।

'भाग्य' बड़ा प्यारा शब्द था, लेकिन खराब हो गया। आदमी के हाथों में चलते-चलते सभी सिक्के खराब हो जाते हैं, बासे हो जाते हैं, घिस जाते हैं। बहुत दिन चलने के बाद शब्दों का माधुर्य खो जाता है।

भाग्य का अर्थ तुम्हारा निष्क्रिय होकर बैठ जाना नहीं है। लेकिन वही अर्थ हो





गया। भाग्य का अर्थ अकर्मण्यता नहीं है भाग्य का अर्थ अकर्ता-भाव है। दोनों में बड़ा फर्क है।

लेकिन आदमी कुशल है, चालबाज, चालक है; वह मतलब की बात निकाल लेता है। उसने भाग्य से अकर्ता-भाव तो नहीं निकाला, अकर्मण्यता निकाली। उसने कहा : 'फिर करना ही क्या है। जब सब अपने आप हो ही रहा है, तो करना क्या है? फिर होता रहेगा।' ऐसे वह बैठ गया—काहिल हो कर, सुस्त हो कर। इस सुस्ती और काहिलपन से तमस तो बढ़ा, सत्त्व का कोई प्रादुर्भाव न हुआ। इससे वह आलस्य में डूबा, अंधकार में गिरा; प्रकाश में न उठा। और उसे एक बहाना मिल गया कि सब भाग्य है।

पूरा भारत ऐसे ही तमस में गिरा कि 'भाग्य है; करना क्या है? जो होना है, वह होगा। हमारे किये क्या हो सकता है?' लेकिन जिन्होंने शब्द गढ़ा था, उनके प्रयोजन बड़े दूसरे थे। उनका प्रयोजन था—अकर्ता-भाव को उपलब्ध होना।

करने वाले तुम नहीं हो, परमात्मा है। वह जो करवाए—करना। तुम अकर्मण्य होकर मत बैठ जाना। भाग मत खड़े होना। तुम जीवन में चलते रहना, कहना, 'तू जो करवाएगा, हम करेंगे। जो तेरी मरजी। इसलिए अच्छा होगा, तो हम सुखी न होंगे; बुरा होगा, तो दुःखी न होंगे। क्योंकि हमारा कुछ किया नहीं है; सब तेरी मरजी है। तू जान। आखिरी हिसाब तेरे पास है। बीज तू बोता है; फसल तू काटता है; हम तो बीच के रखवाले हैं। हमारा कुछ भी नहीं है। लेना-देना हमारा नहीं है। पसारा तेरा है। थोड़ी देर को तूने बिठा दिया है, तो दुकान पर बैठ गये हैं। जब उठा लेगा, उठ जाएँगे। दुकान हमारी नहीं है। यहीं पड़ी रह जाएगी।' ऐसी भाव-दशा हो, तो अकर्मण्यता तो न आयेगी; कर्म बड़ा प्रखर हो जाएगा, शुद्ध हो जाएगा, तेजस्वी हो जाएगा।

और कर्म के पीछे से कर्ता हट गया, तो कर्म ही पूजा, कर्म ही योग, कर्म ही साधना हो जाती है। फिर कर्म तुम्हें निखारता है—सड़ाता नहीं। फिर कर्म तुम्हें अग्नि से गुजारता है, तुम्हें कंचन बनाता है।

भाग्य का अर्थ था : छोड़ दो परमात्मा पर और जो वह करवाये, किये जाओ। हमने मतलब लिया : 'जब वही कर रहा है; तो हम क्यों करें! छोड़ दिया उसी पर। हम बैठ रहें। अब हम न करेंगे। जब दुकान तेरी है, तो तू ही चला। हम चले।'

या तो दुकान हमारी हो, तो हम चलाने को राजी हैं। या दुकान तेरी है, तो तू जान; हम चले। दुकान हमारी है, तो हम चलायेंगे, तो चिंता पकड़ेगी। दुकान हमारी न हो, हम न चलायेंगे!

तो जीवन से अगर कर्म खो जाय, तो तेजस्विता खो जाती है। ऐसे ही जैसे झरना बहना बंद कर दे, तो सड़ जाता है। वृक्ष बढ़ना बंद कर दे, तो सड़ जाता है। जहाँ-जहाँ

गतिरोध आ जाता है, वहीं-वहीं सड़ांध हो जाती है।

अगर जीवन से कर्म खो जाय, तो तुम्हारा झरना बहता नहीं है। चेतना बहती नहीं है, यात्रा नहीं करती। तुम सड़ने लगोगे, तुम सरोवर बन जाओगे, डबरे हो जाओगे। उसमें कीचड़ ही कीचड़ होगा।

यह तो हम आलसी हो जाते है। और या हम कर्ता हो जाते हैं। और दोनों के बीच में होने की बात है। आलसी होना नहीं है, कर्ता बनना नहीं है। बस, उसको जिसने पकड़ लिया, उसने तलवार की धार पकड़ ली। उसके लिए मार्ग मिल गया।

कर्ता से बचना है, कर्म से भागना नहीं है, फिर तुमने कृष्ण का सार समझ लिया; फिर भाग्य शब्द बड़ा प्यारा है, तब उसमें बड़ी गरिमा है, बड़ी महिमा है। तब तुम इस छोटे शब्द की नाव पर बैठ कर पूरा भव-सागर तर जाओगे। लेकिन अगर तुमने चाल-बाजी की, तो जिस नाव से आदमी तरता है, उसको ही अगर उलटा ले, तो उसी से डूब भी जाता है। जो नाव तैराती है, वही डुबा भी देती है।

भाग्य के शब्द को तुमने उलटा कर रख लिया है अपने जीवन में, उलटी नाव पर यात्रा करना चाह रहे हो! वह डूब-डूब जाती है।

● तीसरा प्रश्न : महाभारत को आपने बहुत-बहुत महिमा दी है, उसे जीवन का पूरा काव्य कहा है। तब क्या यह दावा सही है कि जो महाभारत में नहीं है, वह कहीं भी नहीं है? और क्या यह दावा विराट् जीवन को सीमित नहीं करता है?

दो हिस्सों में समझें। पहली बात : दावा सही है। जो महाभारत में नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। महाभारत का जन्म हुआ––उस आत्यंतिक शिखर पर, जहाँ तक कोई भी सभ्यता पहुँच सकती है। जैसे ऋतुओं में वसंत है और वसंत में जो सौंदर्य जाना है, वह आत्यंतिक है। फिर वर्ष में बहुत बार उसकी भनक मिलेगी, लेकिन शिखर तो वसंत में ही छुआ जाएगा।

हर सभ्यता के जीवन में वसंत आता है, लेकिन फिर वसंत के बाद ही तो उतार शुरू हो जाते हैं। हर सभ्यता अपने ऊँचे शिखर पर पहुँचती है। फिर वहीं से उतार शुरू हो जाता है। क्योंकि जहाँ पूर्णता होती है, वहीं से मृत्यु घटने लगती है।

महाभारत भारत की सभ्यता का आत्यंतिक शिखर था; पर शिखर से पतन होता है। जैसे गाड़ी का चाक घूमता है; जो हिस्सा ऊपर पहुँचता है––ठीक ऊपर पहुँचता है, बस, फिर नीचे उतरना शुरू हो जाता है।

जैसे जीवन का चाक घूमता है; जैसे बच्चा है, जवान होता है, बूढ़ा होता है, मरता है। तुमने कभी खयाल किया : कब तुम बूढ़े होने शुरू हो जाते हो! पता तुम्हें शायद पचास साल की उम्र में चलता है, वह दूसरी बात है। लेकिन बूढ़े तो तुम पैंतीस साल के बाद होने लगते हो। अगर तुम सत्तर साल जीने वाले हो, तो वर्तुल सत्तर साल में





पूरा होगा, तो पैंतीस साल में आखिरी ऊँचाई छू लेगा। तो पैंतीस साल में तुम्हारी प्रतिमा अपने निखार पर होती है। शरीर अपनी स्वास्थ्य की आखिरी ऊँचाई पर होता है। फिर वहाँ से ऊर्जा गिरनी शुरू होती है। इसलिए कोई चालीस-पैंतालीस के बीच हार्ट अटैक और सब तरह की बीमारियाँ आनी शुरू होती हैं। ऊर्जा उतरने लगी है। मौत खबर देने लगी, द्वार पर दस्तक मारने लगी।

यह उचित ही है कि कृष्ण भारत के परम शिखर हैं। हमने उनको पूर्णावतार कहा है।

पूरब की सभ्यता ने अपनी आत्यंतिक ऊँचाई––गौरीशंकर को छुआ। महाभारत में वह सारा सार––निचोड़ है, जो पूरब ने जाना था––अपनी लम्बी यात्रा में––जीवन की; हजारों वर्षों का सार निचोड़ है उसमें। लेकिन फिर पतन हो गया, होना ही था।

तो महाभारत ऊँचाई भी है, और पतन भी है। वहीं से वर्तुल फिर नीचे उतरना शुरू हुआ। फिर उस ऊँचाई को हम दुबारा नहीं छू सके हैं––अभी तक; फिर हम भटक रहे हैं, फिर हम खोज रहे हैं।

और भारत का मन सदा ही पीछे की तरफ लगा है, क्योंकि जो ऊँचाई हमने एक दफा देख ली थी, जो स्वर्ण-शिखर हमने छू लिये थे, वे भूलते ही नहीं। वे हमारे स्वप्नों में आते हैं; हमारे काव्य में उतरते हैं; छाया की तरह हमें वे घेरे रहते हैं, उनका माधुर्य हमें बुलाता है।

इसलिए सारी दुनिया में, भारत शायद अकेला मुल्क है, जो पीछे की तरफ देखता है।

अमेरिका में लोग आगे की तरफ देखते हैं। उन्होंने अभी अपना आखिरी शिखर नहीं छुआ है। जैसे छोटा बच्चा भविष्य की तरफ देखता है; बूढ़ा पीछे की तरफ देखने लगता है। अमेरिका में लोग कल की सोचते हैं। भारत में हम गये, बीते कल की सोचते हैं। कारण है। हमने ऊँचाई देख ली; अब उससे और ऊँचे जाना संभव नहीं मालूम होता, असंभव मालूम होता है।

महाभारत उस सारी सभ्यता का सार-निचोड़ है, जो बिखर गई, खो गई। और भी सभ्यताएँ दुनिया में पैदा हुई हैं, बिखर गईं, खो गईं, लेकिन वे अपना सार-निचोड़ छोड़ नहीं पाईं।

जैसे कि बेबिलोन की सभ्यता खो गई। कुछ थोड़े से खंडहर रह गये हैं। कोई ऐसा महा-ग्रंथ नहीं छूटा, जो उनके पूरे गौरव की कथा कहता।

असीरिया की सभ्यता खो गई; ईजिप्त की सभ्यता खो गई; पिरामिड खड़े हैं––पत्थर के शिलालेख, लेकिन ज्ञान-गरिमा का कोई स्रोत नहीं छूट गया है, जिससे कि हम फिर से समझ लें की इजिप्त ने क्या छुआ था––अपनी जवानी में, अपनी पूर्णता

अवस्था में। यौवन की आखिरी ऊँचाई पर ईजिप्त ने क्या जाना था, कहना मुश्किल है; कल्पना की जा सकती है।

अकेला भारत ऐसा मुल्क है, कि उसने जो जाना था, वह महाभारत में छूट गया है। वह लिखा हुआ है। आज उस पर भरोसा भी नहीं आ सकता। बहुत-सी बातें गैर-भरोसे की हो गई हैं। क्योंकि उन्हें आज सिद्ध करना भी मुश्किल है। लेकिन जैसे-जैसे विज्ञान की खोज आगे बढ़ती है, वैसे-वैसे लगता है कि जो भी महाभारत में लिखा है, वह अब सही हुआ होगा, क्योंकि विज्ञान उन सब को प्रत्यक्ष किये दे रहा है।

अब यह थोड़ा सोचने जैसा है कि महाभारत में जिन अस्त्र-शस्त्रों की धारणा है, वे ठीक आणविक मालूम होते हैं। उनसे जैसा विराट् विध्वंस हुआ, वह केवल अणु-अस्त्रों से हो सकता है। पश्चिम फिर अणु-अस्त्रों के करीब पहुँच गया है। और इस बात की संभावना है, कि अगर कोई तीसरा महायुद्ध हुआ, तो सारी सभ्यता विनष्ट हो जाएगी। फिर जो उल्लेख रह जाएँगे, हजारों साल तक उन पर भरोसा न आयेगा—कि यह हो सकता है, क्योंकि उनका कोई प्रमाण न छूट जाएगा।

और आश्चर्य की बात यह है कि जब भी कोई सभ्यता नष्ट होती है, तो उसके महानगर—जहाँ सभ्यता केंद्रित होती है—पहले नष्ट होते हैं। छोटे गाँव, दूर आदिम कबीले बच जाते हैं। जैसे आज अगर भारत नष्ट हो जाय और बस्तर के आदिवासी बच जायें, तो उनकी कहानियों में यह बात रह जाएगी कि रेल गाड़ी चलती थी, हवाई जहाज उड़ते थे, लेकिन वे अपने बच्चों को यह समझा न सकेंगे। और अगर बच्चे पूछेंगे : 'कैसे उड़ते थे', तो बस्तर का आदिवासी कैसे समझायेगा कि हवाई जहाज कैसे उड़ता था! उसने देखा था उड़ते हुए, बाकी कैसे उड़ता था, यह बस्तर का आदिवासी कैसे समझायेगा। वह तो पूरा शास्त्र है—उसको समझना तो।

अगर तीसरा महायुद्ध हुआ, तो न्यूयार्क, लंदन, बम्बई, दिल्ली, पैरिस नष्ट हो जाएँगे; महानगरियाँ तो नष्ट हो जाएँगी; बचेंगे छोटे-मोटे गाँव—दूर पहाड़ों में दबे, उनकी कहानियों में याद रह जाएगी। और हजारों साल तक वे कहानियाँ दोहरायेंगे, और बड़े भाव से दोहरायेंगे कि हमने क्या-क्या जाना है। लेकिन बच्चों को संदेह होगा, क्योंकि सब कहानियाँ मालूम होती हैं; कोई प्रमाण उनके पास न होगा।

जब भी कोई महा सभ्यता खोती है, तो उसके सारे प्रमाण टूट जाते हैं।

यह जो कहा जाता है कि महाभारत में जो है, वह सब है। और जो वहाँ नहीं है, वह कहीं भी नहीं है, वह बहुत अर्थों में सही है। क्योंकि जब भी कोई एक सभ्यता अपनी ऊँचाई को छूती है, तो वह उन सभी बातों को छू लेती है, जो कोई भी सभ्यता अपनी ऊँचाई में छुएगी, थोड़े बहुत फर्क-फासले होंगे। लेकिन मौलिक बात एक ही होनेवाली है।





मैं भी कहता हूँ कि जो महाभारत में नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। अगर न मिले महाभारत में, तो जरा गौर से खोजना। बस, मिल जाएगा। जो भी तुम्हें कहीं मिल जाय, उसको तुम महाभारत में गौर से खोजना।

महाभारत हमारा इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका है। जैसे कि जो तुम्हें इन्सा-इक्लोपीडिया ब्रिटानिका में न मिले, वह समझना कि होगा ही नहीं। यह उनका सार संचय है। अगर योरोप की सभ्यता खो जाय और ब्रिटानिका रह जाय, तो जैसी हालत होगी, वैसा महाभारत रह गया, हमारी सभ्यता खो गई।

महाभारत हमारा शब्द-कोश, हमारा भाषा-कोश, ज्ञान-कोश, विश्व-कोश—सब कुछ है। यद्यपि उन दिनों चीजों को कहने के ढंग अलग थे। कथाओं में हमने कहा था, और वे कहने के ढंग भी सोचने जैसे हैं।

कथाओं को याद रखना आसान है; हजारों साल तक याद रख जा सकता है। क्योंकि कहानी में याददाश्त में उतर जाने की एक क्षमता है। इसलिए हमने कहानियों में लिखा था। और कहानी में हमने सब रख दिया था। जब भी किसी के पास आँख होगी, खोलने की समझ होगी, कुंजी होगी, वह खोल लेगा।

और महाभारत के मध्य में है : गीता।

महाभारत में सब है। जो महाभारत में नहीं है, वह कहीं भी नहीं। और जो भी महाभारत में है, उसका नवनीत गीता में है, और जो गीता में नहीं है, वह महाभारत में नहीं है। गीता हमारी सारी आध्यात्मिक खोज की नवनीत शृंखला है।

दूसरा सवाल है : तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि विराट् जीवन की हमने सीमा बाँध दी महाभारत से। नहीं। इससे केवल इतना ही साफ होता है कि विराट् भी क्षुद्र में समा सकता है; बड़ा वृक्ष भी बीज में समा सकता है। उसका इतना ही अर्थ हुआ कि क्षुद्र को क्षुद्र मत जानना, उसमें विराट् छिपा हो सकता है। उससे विराट् की सीमा नहीं बँधती, इससे क्षुद्र विराट् होता है। यह देखने के ढंग पर निर्भर है।

ऐसा भी तुम देख सकते हो कि यह तो विराट् की सीमा बँध गई, विराट् जीवन बस, महाभारत में हो गया! नहीं; इससे विराट् की सीमा नहीं बँधती, इससे केवल इतना ही पता चलता है कि क्षुद्र भी विराट् है; बीज भी वृक्ष है; अणु भी ब्रह्माण्ड है।

एक छोटी-सी बूँद में सागर का सारा राज समाया होता है। तब तुम नहीं कहते कि यह तो सागर की सीमा बँध गई! एक सागर की बूँद को तुम ठीक से जान लो, तो पूरा सागर जान लिया। कुछ जानने को बचता नहीं। अगर एक बूँद का विश्लेषण कर लिया और जान लिया कि एच-टू-ओ उसका सूत्र है, सारा सागर विश्लिष्ट हो गया। अब तुम्हें पूरे सागरों को विश्लिष्ट करने की जरूरत नहीं है। एक बूँद पहचान ली कि सब महासागर पहचान लिये।

ये सारे ग्रंथ सूत्रों में हैं, एक-एक सूत्र में हजारों-हजारों लोगों के अनुभव का सार समाया हुआ है। उन्हें बड़ा मन्थन करके, बड़ी चिन्तना से, बड़े ध्यान से निर्मित किया गया है। इसलिए हम उनको सूत्र कहते हैं। वे बीजरूप हैं।

एक छोटा-सा वचन है। उसको तुम छोटा मत समझना। उसके परिणाम विराट् हैं। एक छोटी-सी चिनगारी है, उसे तुम छोटी मत समझना। उस छोटी-सी चिनगारी से सारा ब्रह्माण्ड राख हो सकता है।

नहीं, विराट् की कोई सीमा नहीं बँधती, केवल क्षुद्र की सीमा टूट जाती है।

असल में क्षुद्र और विराट् दो तो हो ही नहीं सकते। अगर विराट् है, तो क्षुद्र है ही नहीं। क्योंकि क्षुद्र में भी विराट् ही होगा। और अगर क्षुद्र है, तो विराट् हो ही नहीं सकता। क्योंकि फिर क्षुद्र का ही जोड़ तो विराट् होगा; वह फिर कैसे विराट् हो सकेगा! इसे ठीक से खयाल में ले लो।

चूँकि सारा अस्तित्व असीम है, इसलिए इसका हर खण्ड भी असीम ही होगा। क्योंकि सीमित खण्डों से मिलकर असीम नहीं बन सकता। यह गणित की एक सीधी-सी धारणा है।

अगर हम सीमित खण्डों को जोड़ते जायँ, तो कितनी ही बड़ी चीज बन सकती है, लेकिन असीम नहीं बन सकती; क्योंकि सीमित टुकड़ों को जोड़ कर असीम कैसे बनेगा? ईंट पर ईंट रखते जाओ, तुम बड़ा महल बना सकते हो, लेकिन असीम नहीं बना सकते।

ठीक विपरीत चलो; अगर यह अस्तित्व असीम है, इसका कोई आदि नहीं, अंत नहीं, तो इसका खण्ड-खण्ड भी असीम होगा। नहीं तो खण्डित सीमाओं से बने हुए इस विराट् की भी सीमा हो जाएगी।

'क्षुद्र भी क्षुद्र नहीं है'—जानने वालों ने ऐसा ही जाना है। छोटा भी छोटा नहीं है; बूँद भी बूँद नहीं है—जाननेवालों नें ऐसा ही जाना है।

●चौथा प्रश्न: आपने कहा कि महावीर हिंसा के भय से अनेक कर्मों से बचते रहे। यह हिंसा का भय था अथवा अहिंसा और करुणा का उद्रेक?

महावीर के लिये तो अहिंसा और करुणा का उद्रेक ही था, लेकिन महावीर के अनुयायियों के लिये हिंसा का भय। वहीं सद्गुरु और अनुयायियों में फर्क पड़ जाता है। कारण बदल जाते हैं, कृत्य एक से मालूम पड़ते हैं।

अगर करुणा का उद्रेक हुआ हो, तो तुम—दूसरा मर न जाय, इससे चिंतित नहीं हो, क्योंकि तुम जानते ही हो मृत्यु तो घटती ही नहीं। तुम सिर्फ इससे चिंतित हो कि मेरे कारण पीड़ा न पहुँचे; अकारण मैं किसी की पीड़ा के लिये आधार न बनूँ। तुम्हारी ही करुणा के कारण तुम अपने को हटाते हो, उन-उन जगह से, जहाँ किसी के लिये





पीड़ा बन सकती थी, दुःख हो सकता था।

महावीर तो बचते हैं इसलिए कि महा करुणा का जन्म हुआ है। लेकिन महावीर के पीछे चलने वाला महा करुणा के जन्म के कारण नहीं बच रहा है, वह केवल हिंसा न हो जाय, हिंसा होकर कहीं पाप न लग जाय, पाप लग के कहीं नरक में न पड़ना पड़े कर्म बंध न हो जाय—वह हिसाब कर रहा है। उसे दूसरे से प्रयोजन नहीं है। उसे अपने से ही प्रयोजन है। वह हिसाब स्वार्थ का ही है। लेकिन दोनों के कृत्य एक जैसे हैं। पहचानना बहुत मुश्किल है। क्योंकि दोनों बचते हैं।

और बाहर से कोई भेद करना आसान नहीं है। इसलिए प्रत्येक को अपने भीतर ही भेद करने की क्षमता पैदा करनी चाहिए—कि मैं किस कारण बच रहा हूँ।

तुम किसी को दान देते हो, तुम दान इसलिए भी दे सकते हो कि देने में तुम्हें आनन्द आता है। तुम दान इसलिए भी दे सकते हो कि दान इन्व्हेस्टमेंट है। भविष्य में, मोक्ष में, स्वर्ग में, कहीं प्रतिकार, प्रत्युत्तर मिलेगा। तब तुम ब्याज सहित लेने की तैयारी रखोगे।

तुम दान इसलिए भी दे सकते हो कि यह आदमी सामने खड़ा है। मोहल्ले में परेशानी होती है, बेइज्जती होती है। यह माँगे चला जा रहा है और तुम दो पैसा नहीं दे रहे हो। तुम पड़ोस में प्रतिष्ठा बचाने के लिए दान दे सकते हो। हर हालत में कृत्य एक ही होगा कि तुमने कुछ दिया, लेकिन हर हालत में कृत्य का गुण-धर्म बदल जाएगा। अगर तुमने आनन्द भाव से दिया है, तो ही दिया। अगर तुम इससे छुटकारा पाना चाहते हो, तो तुमने रिश्वत दी—कि 'बाबा, क्षमा कर; यहाँ से हट; कहीं और जा। ये दो पैसे ले और छुटकारा कर।' तुमने रिश्वत दी।

अगर तुम पड़ोस के लोगों को दिखाना चाहते हो कि तुम महादानी हो; दो पैसे से महादानी होने में किसको लोभ नहीं सताता! तो तुमने पड़ोस के लोगों से अहंकार खरीदा; तुमने सौदा किया। अगर तुमने इसलिए दिया कि स्वर्ग में इसका प्रतिफल पाओगे और अपने हिसाब की किताब में लिख लोगे कि ब्याज सहित परमात्मा से वसूल करना है...।

मैंने सुना है: एक मारवाड़ी मरा; कुछ भूल-चूक हो गई; वह सीधा स्वर्ग पहुँच गया। द्वारपाल भी उसे देखकर घबड़ाया कि मारवाड़ी और स्वर्ग आ गया! उसने कहा, 'आप यहाँ कैसे?' उसने कहा, 'यहाँ क्यों न आऊँगा; दान दिया है।'

द्वारपाल भी डरा। खाते-बही खोले, देखा कि तीन पैसे उसने एक बुढ़िया को दिये हैं। तीन पैसों के बल वह स्वर्ग आ गया है और द्वार पर उसने ऐसे दस्तक दी है कि जैसे उसने सब जीवन लुटा दिया हो दान में। द्वारपाल ने अपने सहयोगी से पूछा कि 'अब क्या करना? यह छोड़ेगा नहीं। यह ब्याज सहित वसूल करेगा; यह जिस

अकड़ से खड़ा है। करना क्या है ?' सहयोगी ने खीसे में हाथ डाला; चार पैसे निकाल कर उसे दे दिये कि 'ले, यह तू चार पैसे ले और नरक जा। और कोई उपाय नहीं है। तू अपना दान ब्याज सहित वापस ले ले और नरक में निवास कर।'

कृत्य तो एक जैसे हो सकते हैं। कृत्य का सवाल ही नहीं है। वह भाव-दशा, वह अंतःस्त्रोत जिससे कृत्य डूब कर आता है, जिसमें से निकलता है, वही निर्णायक है। और उसके लिये तुम्हारे सिवाय कोई नहीं जाँच सकता कि तुम कैसे कर रहे हो।

महावीर की फिक्र छोड़ो। महावीर भय के कारण कर रहे हैं, कि करुणा के कारण कर रहे हैं, महावीर जानें। तुम अपने जीवन को जाँच कर चलो। तुम जो भी करो वह नकारात्मक न हो, विधायक हो। वह प्रेम से निकले, करुणा से निकले, देने के भाव से निकले, बाँटने से निकले, तो तुम्हें अहोभाव उपलब्ध होगा। स्वर्ग में नहीं, क्योंकि इतनी देर नहीं है। यहीं और अभी। प्रेम से किये गये कृत्य में ही तुम्हें आनन्द की झलक मिल जाएगी। फल दूर थोड़े ही है।

मैं उन लोगों में भरोसा नहीं करता, जो कहते हैं, तुम करोगे अभी, और स्वर्ग में या नरक में फल पाओगे या अगले जन्म में फल पाओगे ! हाथ तो तुम आग में अभी डालोगे, अगले जन्म में जलोगे। मैं नहीं मानता। हाथ आग में अभी डालोगे, अभी जलोगे। फूलों के बगीचे से अभी गुजरोगे, अभी सुगंध लोगे।

जीवन तो बहुत नगद है। उधार की बात ही कुछ शरारत की मालूम पड़ती है; उसमें कुछ चाल-बाजी है। कुछ चालाक लोगों का हाथ है। वे तुम्हें भरमा रहे हैं।

जीवन बिलकुल नगद है; होना भी चाहिए। जीवन कल के क्षण पर अपने को छोड़ता ही नहीं। तुमने प्रेम किया, तुम इसी क्षण आनन्द से मगन हुए। तुमने घृणा की, तुम इसी क्षण नरक की अग्नि में जले। तुमने क्रोध किया, तुमने विष पिया। तुमने क्षमा की, तुमने अमृत चखा। इसी क्षण। कृत्य में ही छिपा है फल। उससे दूर जाने की कोई भी जरूरत नहीं है।

आखिरी दो छोटे प्रश्न :

● क्या बुद्धत्व को उपलब्ध होना भी नियत है ? अगर ऐसा है, तो फिर कुछ करने या न करने से क्या फर्क पड़ता है ?

कोई भी फर्क नहीं पड़ता; लेकिन करना जारी रखना। करना-अभिनय की तरह, बुद्धत्व तुम्हारे द्वार अपने आप आ जाएगा। बुद्धत्व का किसी करने, न करने से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। बुद्धत्व का सम्बन्ध साक्षी-भाव से है। जाग गया जो, उसे हम बुद्ध कहते हैं।

अहंकार सुलाये हुए है। वह तुम्हारी नींद है। बस, अहंकार टूट जाय, करने का





भाव गिर जाय। करना जारी रखना, क्योंकि तुम्हारी जल्दी है—करना ही छोड़ने की, करने का भाव गिराने की जल्दी नहीं है। तुम चाहते हो, जब कोई फर्क ही नहीं पड़ता; बुद्धत्व नियत ही है, तो बस, आँख बंद करो, चादर ओढ़ो और सो जाओ। तो बुद्ध कोई पागल नहीं थे, नहीं तो वे भी चादर ओढ़ कर सो गये होते !

बुद्धत्व नियत है, वह होगा ही, वह घटेगा ही। देर कितनी ही कर सकते हो। कितने ही भटको, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। क्योंकि बुद्धत्व तुम्हारा स्वभाव है। लेकिन अगर चादर ओढ़ कर सोये रहे, तो बहुत लम्बा हो जाएगा—भटकाव।

बुद्धत्व तो मिलेगा, आखिर में, जब भी चादर से उठोगे, आँख खोलोगे; पाओगे तुम बुद्धत्व को उपलब्ध हो। आँख खोलने की कला है : साक्षी हो जाना; कर्ता न होना। इसलिये कर्म छोड़ने की जल्दी मत करना, कर्ता-भाव को गिराने की फिक्र करो।

और दूसरा प्रश्न है : साक्षी-भाव से अभिनय की कला तो आती दिखती है, पर आनन्द-भाव क्यों कर नहीं जुड़ पाता ?

तब तुम अभिनय का भी अभिनय ही कर रहे हो। वह असली नहीं है। अभिनय असली होना चाहिए। अगर तुमने अभिनय का भी अभिनय किया, कि भीतर तो तुम जानते हो कि कर्ता हो, मगर अब क्या करें, ये कृष्ण पीछे पड़े हैं; चलो अभिनय करो। तो आनन्द का भाव उदय नहीं होगा।

आनन्द का भाव तो कसौटी होगी, तुमने अगर अभिनय अभिनय की तरह किया तो आनन्द-भाव घटता ही है, उसमें कभी कोई अंतर नहीं पड़ता। वह होता ही नहीं उससे विपरीत; तो वह परीक्षा है।

अगर आनन्द न घटे, तो समझना : अभिनय भी झूठा है। अगर आनन्द घटे, तो समझना, कि तुमने अभिनय का सूत्र पकड़ लिया है। तुम राह पर हो, ठीक मार्ग पर हो। मंदिर दूर भला हो, बहुत दूर नहीं है। कलश उसके दिखाई पड़ने लगेंगे। आनन्द थिरकने लगेगा। सच्चिदानंद ज्यादा दूर नहीं है, जब आनन्द थिरकने लगे।

अब सूत्र।

'तथा हे अर्जुन, आसक्तिरहित बुद्धि वाला, स्पृहारहित और जीते हुए अंतःकरण वाला पुरुष संन्यास के द्वारा भी परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त होता है। अर्थात् क्रिया-रहित हुआ शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा की प्राप्तिरूप परम सिद्धि को प्राप्त होता है।'

कृष्ण को सभी स्वीकार है। स्वीकार पर कोई शर्त और सीमा नहीं है। वे बड़े बेशर्त आदमी हैं। वे कहते हैं : 'संन्यास की कोई जरूरत नहीं है अर्जुन। जहाँ है वहीं, कर्म को करते हुए, फलाकांक्षा के त्याग से त्याग सिद्ध हो जाता है।' लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि जो संन्यास ले लेते हैं, दूर हिमालय में खो जाते हैं, एकांत में चले जाते हैं, उन्हें परमात्मा नहीं मिलता।

हम जल्दी ही धारणाएँ खड़ी कर लेते हैं। एक तरफ लोग हैं, जो कहते हैं : जब तक संन्यस्थ होकर सब न छोड़ दोगे, तब तक मोक्ष न मिलेगा। इनके विपरीत दूसरी तरफ लोग हैं, वे कहते हैं : संन्यस्थ होने का सवाल ही क्या है। संसार में ही रहना है। कर्म करना है, परमात्मा पर कर्ता-भाव छोड़ देना है। बस, मोक्ष मिल जाएगा।

जो दूसरी बात मानते हैं, उनको संन्यासी गलत मालूम होता है। जो पहली बात मानते हैं, उनको दूसरा आदमी—गृहस्थ गलत मालूम होता है।

कृष्ण का कोई भी पक्षपात नहीं है। कृष्ण कहते हैं, 'कुछ लोग ऐसे भी होंगे, जिनसे परमात्मा संन्यास ही करवाना चाहता है।' इसे थोड़ा समझना, यह थोड़ा नाजुक है। क्योंकि कुछ लोग जरूर ऐसे होंगे।

अब जैसे कि अर्जुन समझ गया, उसके संदेह क्षीण हो गये, वह युद्ध में उतर गया। क्या तुम समझते हो, अर्जुन की जगह सिद्धार्थ गौतम होते—बुद्ध होते या वर्धमान महावीर होते, तो भी ऐसी ही घटना घटती? नहीं। महावीर के होने में ही कुछ ऐसा है कि उसमें से संन्यास का फूल ही निकलेगा। महावीर ने संन्यास अपने पर थोपा थोड़े ही है। वह संन्यास भी परमात्मा ने ही करवाया है।

तो कृष्ण कहते हैं, 'संन्यासी भी उपलब्ध हो जाता है।' वे ऐसा नहीं कह रहे हैं कि तू ऐसा मत सोच लेना कि संन्यासी उपलब्ध होता ही नहीं। उपलब्ध होने का सूत्र न तो संन्यास है, न गृहस्थी है। उपलब्ध होने का सूत्र फलाकांक्षा का त्याग है। फिर चाहे तुम घर में फलाकांक्षा का त्याग कर दो; अगर तुम्हें घर मौजू आये।

कुछ लोग हैं, जिन्हें बे-घर होना ही मौजू आता है। वह उनके स्वभाव में है। वह उनका स्वधर्म है। उनको भी रोकना उचित नहीं है। वे जब तक बे-घर न हो जायें, तब तक उन्हें ठीक ही न लगेगा। वे स्वभाव से बे-घर, स्वभाव से परिव्राजक—भटकने वाले हैं। उनको घर में बाँध लोगे, तो मौत हो जाएगी। उनके लिये घर कारागृह मालूम होगा।

जैसे संसार में स्त्रियाँ हैं और पुरुष हैं; दोनों विपरीत हैं, दोनों भिन्न हैं, दोनों के जीवन-कोण और मनस अलग-अलग है। ऐसे ही जीवन के हर पहलू पर विपरीत लोग हैं।

कुछ हैं, जो गृहस्थ हैं। कुछ हैं, जो संन्यस्थ हैं। वह उनके स्वभाव में है। तो सारे लोगों को जबरदस्ती संन्यासी बना दो, तो उपद्रव होगा, क्योंकि उसमें कई गृहस्थ फँस जाएँगे। अगर गृहस्थ को तुमने संन्यासी बना दिया, तो वह जल्दी ही संन्यास में भी गृहस्थ-धर्म को उपलब्ध हो जाएगा। वह जल्दी ही अपने संन्यास को भी घर बना लेगा। वहाँ भी सारी दुनिया धीरे-धीरे, धीरे-धीरे आ जाएगी; बच न सकेगा। बचने का कोई उपाय नहीं है। उसके गृहस्थ का सूत्र उसके भीतर है। बचने की कोई जरूरत





भी नहीं है। तुम उसे जहाँ बिठा दोगे, वहीं वह अपना काम शुरू कर देगा।

मैंने सुना है : एक जहाज से कुछ यात्री यात्रा कर रहे थे। एक बड़ी भयंकर मछली ने हमला किया। कोई उपाय न था। जहाज छोटी थी, और मछली डुबा सकती थी। तो उन्होंने मछली के मुँह में भोजन फेंका, ताकि वह भोजन कर ले, शांत हो जाय। वह थोड़ी देर शांत रहती; फिर आ जाती। फिर उन्होंने सामान भी फेंकना शुरू किया। फिर ऐसी हालत आ गई कि उससे भी काम न चला। भोजन फेंक चुके, फर्नीचर भी फेंक दिया। फिर आदमियों को फेंकने की नौबत आ गई! तो नाम डाले, क्योंकि कोई फिंकने को राजी नहीं। एक यहूदी फँस गया। उसको फेंक दिया। फिर उन्होंने देखा, उससे भी कोई हल नहीं। तो उन्होंने सोचा : 'ऐसे तो सब के प्राण जाएँगे; अब इससे संघर्ष ही कर लेना चाहिए।' तो भाले लेकर वे कूद पड़े। मछली उन्होंने मार डाली। जब मछली का पेट फाड़ा, तो कहानी यह कहती है कि वह जो फर्नीचर उन्होंने फेंका था, उसमें से एक कुर्सी पर यहूदी बैठा था; टेबल उसने सामने रख ली थी, और जो भोजन फेंका था उसकी दुकान लगा ली थी। और मछली जिन लोगों को पहले खा चुकी थी, उनको वह आने, दो-दो आने में सामान बेच रहा था।

कुछ आप कर नहीं सकते। यहूदी यानी यहूदी! उसको मारो, कहीं भी भेजो, क्या करोगे। वह जहाँ जाएगा, वहाँ दुकान बना लेगा। कहानी मुझे ठीक लगती है। लोगों का स्वभाव है!

संसार में दो तरह के लोग हैं। एक, जिनको हम गृहस्थ कहें; और एक जिनको हम संन्यस्थ। वे स्त्री पुरुषों जैसे ही हैं। उन दोनों का ताल-मेल है।

और संन्यस्थ को भी अगर जीना हो, तो उसको भी कुछ गृहस्थ चाहिए। महावीर बिलकुल संन्यस्थ हैं। लेकिन जीना तो पड़ेगा, गृहस्थों के सहारे पर ही। हाथ में लोटा भी नहीं रखते, भिक्षापात्र भी नहीं रखते, पर इससे क्या फर्क पड़ता है। दूसरे हैं, जो उनके लिये भोजन तैयार कर रहे हैं।

जैन मुनि चलते हैं, तो उनके पीछे 'चौका' चलता है। मैं बड़ा हैरान हुआ कि यह 'चौका' क्या मामला है! क्योंकि जैन मुनि चलता है, तो वह हर गाँव में सिर्फ जैन के घर ही भोजन ले सकता है। हर किसी के घर तो भोजन ले नहीं सकता। और उसके योग्य शुद्ध आहार मिले, न मिले, तो भक्त उसके, चौका लेकर साथ चलते हैं।

और एक चौका नहीं चलता। जितना बड़ा मुनि हो, उतने ज्यादा चौके चलते हैं। मुनि की प्रतिष्ठा पर निर्भर है। साधारण मुनि हुआ, तो एक महिला एक पुरुष—ऐसे दो-तीन लोग चलते हैं। वे कहीं भी जंगल में, गाँव में चौका लगा देते हैं। मुनि आकर अपना भोजन ग्रहण कर लेता है।

लेकिन अगर बड़ा मुनि हो, तो मुनि-धर्म का यह नियम है कि वह माँग कर न

खाये। तो मुनि सुबह ही प्रतिज्ञा ले लेता है, अपने मन में कि जिस घर के सामने दो केले लटके होंगे, वहीं भोजन लूंगा। यह उसके भाग्य पर छोड़ने का ढंग है। यह उसने भाग्य पर छोड़ दिया। 'न लटके होंगे केले—किसी के घर के सामने, बात खत्म हो गई, आज भोजन नहीं लूंगा।'

यह जब शुरू हुई थी बात, तो बड़ी महत्वपूर्ण थी, बड़ी गहरी थी। इसका मतलब था कि अब इतना भी कर्ता भाव उसने अपने लिये नहीं रखा है। अगर परमात्मा को देना ही है, तो लटकायेगा दो केले। कभी-कभी मुनि इस तरह की धारणा कर लेते थे कि महीनों लग जाते थे, पूरी न होती थी।

महावीर कई बार गाँव में आते और वापस लौटे जाते और वे किसी को बताते न थे, क्योंकि बता दिया तो बात ही खत्म हो गई। वह तो भीतर ही रखनी है। सुबह की प्रार्थना के वक्त, ध्यान के वक्त तय कर लेना है कि आज क्या—एक प्रतीक।

महावीर ने एक बार ऐसा कर लिया कि प्रतीक आ गया कि जिस घर के सामने गाय खड़ी हो—काले रंग की गाय हो, सफेद चिट्टे हों, सींग में गुड़ लगा हो। खूब दूर की सोची उन्होंने भी। वे कई दिनों तक गाँव में गये और नहीं भोजन मिला, क्योंकि अब यह कोई रोज-मर्रा की बात तो नहीं है, कि गाय खड़ी हो और . . . ! लेकिन एक दिन ऐसा हुआ, बैलगाड़ी में गुड़ भरा निकलता था, एक गाय नें सींग मार दिया होगा; उसके सींग में गुड़ लग गया। वह घर के सामने खड़ी थी, पर इतने से हल नहीं होता।

घर के लोग प्रार्थना करें कि आप भोजन स्वीकार करें, अगर घर के लोग प्रार्थना न करें, तो गाय के खड़े होने से क्या होने वाला है! क्योंकि महावीर की धारणा यह थी कि अगर मेरे लिये भोजन बनाया गया है, तो ही स्वीकार करने योग्य है। माँग कर क्या लेना! अगर देना है परमात्मा को, तो बनवा कर रखेगा, और सब आयोजन कर देगा। जो भी मेरी शर्त है—सब पूरी कर देगा।

तीन महीने लगे, तब यह पूरी हुई घटना।

तो जो जैन मुनि थोड़े ज्यादा प्रसिद्ध हैं, तो वह एक ही चौके में जँचता नहीं, तो दस-बीस चौके चलते हैं उनके साथ। दस-बीस चौके का मतलब है, सौ-पचास स्त्री पुरुष पीछे उनके चलेंगे। जहाँ वे रुकेंगे, ये दस-बीस चौके लगेंगे। दस-बीस तम्बुओं में भोजन बनेगा। फिर वे आकर तम्बुओं के सामने खड़े होंगे और उन्होंने जो नियम लिया है सुबह, वह पूरा होगा। और वह अब पूरा होता है सदा, क्योंकि अब उनके सब बँधे हुए नियम हैं। जैसे 'केला' एक खास नियम है। 'दो केले लटके हों।' अब वह सबको मालूम है, तो सभी लटका लेते हैं। प्रतीक है कि 'महिला बच्चे को लेकर द्वार पर खड़ी हो', तो महिलाएँ वैसे ही खड़ी हैं बच्चों को लिये द्वार पर! उसमें कोई भारत में तो कोई अड़चन है ही नहीं; सभी जगह खड़ी हैं। या प्रतीक है कि हाथ जोड़कर गृहस्थ





प्रार्थना करे; तो वह करता ही है। इस तरह के दो-चार सीधे नियम बना लिये हैं। अब वह सबको मालूम है। उनके भक्तों को मालूम है। पर बीस चौके लगते हैं!

अब यह बड़ी हैरानी की बात है। एक साधारण गृहस्थ के लिये एक ही चौका लगता है। और एक मुनि के लिये बीस चौके लगते हैं! यह तो गृहस्थी बीस गुनी हो गई। जो काम दो रोटी से एक ही चौके में बनने से चल जाता, अब बीस चौके लगते हैं। और वह सब भोजन फिजूल जाता है। क्योंकि वे लेते तो एक जगह से हैं।

खयाल रखें: जब नियमों का जन्म होता है, तब तो बात उनमें कुछ और होती है। जल्द ही आदमी की चालें उनमें प्रविष्ट हो जाती हैं। सब विकृत हो जाता है।

मेरे देखे संसार में दो तरह के लोग हैं: संन्यस्थ और गृहस्थ। अगर तुम संन्यासी को घर में भी रख दो, तो थोड़े दिन में घर आश्रम जैसा हो जाएगा क्योंकि वह ज्यादा धन कमा नहीं सकता; वह दौड़ ही उसके भीतर नहीं है, वह स्पृहा ही नहीं है। कुछ मिल भी जाएगा, तो बाँट आयेगा। बाँटने में ज्यादा रस है; इकट्ठा करने में रस कम।

संन्यासी को घर में रख दो, तो घर थोड़े दिनों में आश्रम और धर्मशाला की शकल ले लेगा। गृहस्थ को तुम मंदिर में बिठा दो, थोड़े दिन में पाओगे मंदिर दुकान हो गया। क्योंकि हमारे भीतर बीज हैं।

और बड़ी कठिनाई यह है कि अकसर विपरीत में आकर्षण होता है। जो गृहस्थ है, उसको आकर्षक लगता है: संन्यासी। जो संन्यस्थ है, उसको आकर्षक लगता है: गृहस्थ। और विपरीत का आकर्षण भटका देता है।

अपने को ठीक से पहचानना जरूरी है कि मेरी वृत्ति क्या है, मेरा स्वभाव क्या है, मेरा गुण-धर्म क्या है, इसको ही कृष्ण स्वधर्म की पहचान कहते हैं।

कृष्ण कहते हैं, 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः—अपने धर्म में मर जाना बेहतर है।' इसका अर्थ यह मत समझना कि हिन्दू रह कर मर जाना बेहतर, कि मुसलमान रह कर मर जाना बेहतर। स्वधर्म से इन धर्मों का कोई संबंध नहीं है। स्वधर्म का अर्थ है जो तुम्हारा स्वभाव है, जो तुम्हारी प्रकृति है, उसमें मर जाना भी बेहतर है। क्योंकि प्रकृति को तृप्त करके तुम मरे, तो मृत्यु भी महा शांति और महा संतोष और महा समाधि बन जाती है।

और परधर्म बहुत भयावह है। कृष्ण कहते हैं, कि दूसरे के धर्म में चाहे कितना ही आकर्षण मालूम पड़े, वह तुम्हारा नहीं है, तुम्हारे स्वभाव से मेल नहीं खाता। उसमें उलझना मत अन्यथा तुम अड़चन में पड़ जाओगे। तब तो जियो भी, तो भी कष्ट ही रहेगा। पूरा जीवन नरक हो जाएगा।

लेकिन कृष्ण पक्षपाती नहीं हैं। वे कहते हैं, जहाँ तुम हो, जैसा तुम्हारा भाव है; अगर तुम कर्म में रहना सरल पाते हो, सुगम पाते हो, तो फलाकांक्षा छोड़ दो; काफी है। अगर तुम कर्म का त्याग ही सुगम पाते हो, तो कर्म का त्याग भी कर दो। लेकिन

ध्यान रखना : कर्म के त्याग में भी फलाकांक्षा पैदा न हो, क्योंकि मूल बात फलाकांक्षा है।

कहीं संसार को त्याग कर मत बैठ जाना। यह सोचते हुए कि 'अब मोक्ष मिला, अब मोक्ष मिला; अब मिलना चाहिए। फल मिलने में देर हो रही है! परमात्मा अभी तक क्यों द्वार पर नहीं आया। मैं सब त्याग कर भी चला आ रहा हूँ!'

सूत्र है : फलाकांक्षा का त्याग—चाहे घर में, चाहे संन्यास में; चाहे कर्म में, चाहे अकर्म में; चाहे बाजार में, चाहे हिमालय में—एक बात ध्यान रखना कि फलाकांक्षा छूट जाय, कर्ता का भाव छूट जाय।

'हे अर्जुन, आसक्तिरहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष संन्यास के द्वारा भी परम नैषकर्म्य सिद्धि को प्राप्त होता है।

'हे कुन्तिपुत्र, अंतःकरण की शुद्धिरूप सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जैसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त होता है, तथा जो तत्त्वज्ञान की परा निष्ठा है, उसको भी तू मुझसे जान।

'विशुद्ध बुद्धि से युक्त, एकांत और शुद्ध देश का सेवन करनेवाला, मिताहारी, जीते हुए मन, वाणी व शरीर वाला और दृढ वैराग्य को भली प्रकार प्राप्त हुआ पुरुष निरंतर ध्यान-योग के परायण हुआ सात्त्विक धारणा से अंतःकरण को वश में करके तथा शब्दादिक विषयों को त्यागकर और रागद्वेषों को नष्ट करके, अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रह को त्याग कर ममतारहित और शांत हुआ, सच्चिदानंदघन ब्रह्म में एकीभाव होने के योग्य होता है।'

बहुत-सी बातें कृष्ण इस सूत्र में कहे हैं। जो आधारभूत हैं, उन्हें खयाल ले लें। 'स्पृहा रहित'; जिसकी दूसरे से कोई ईर्ष्या नहीं है। जब तक तुम्हारी दूसरे से कोई स्पृहा है, प्रतिस्पर्धा है, तब तक तुम इसी संसार की किसी चीज की खोज कर रहे हो, क्योंकि इस संसार में चीजें कम हैं, चाहने वाले ज्यादा हैं। इसलिए हर चीज पर संघर्ष है।

परमात्मा में संघर्ष की कोई जरूरत नहीं है। चाहने वाले हैं ही नहीं; और परमात्मा बहुत है। और परमात्मा को एक चाहे, हजार चाहें, इससे परमात्मा खण्डित नहीं होता, इसीलिए स्पृहा की वहाँ कोई भी जरूरत नहीं है।

जहाँ तक स्पृहा है, वहाँ तक संसार है। तुम परमात्मा को सीधा ही चाहना। किसी दूसरे से प्रतिस्पर्धा का कोई प्रश्न मत उठाना। वहाँ इतना है कि सभी चाहें, तो भी पूरा न होगा। उपनिषद् कहते हैं : उस पूर्ण से हम पूर्ण को भी निकाल लें, तो भी पीछे पूर्ण ही शेष रह जाता है।

कितना ही उसमें से लेते जाओ, चुकेगा नहीं। इसलिए घबड़ाना मत और स्पृहा





मत करना।

'विशुद्ध बुद्धि से युक्त'; विचार से भरी बुद्धि अशुद्ध बुद्धि है। बुद्धि तो है, लेकिन धुएँ से दबी है। जैसे ज्योति जलती हो दीये की, और धुएँ से घिरी हो। विशुद्ध का अर्थ है : जहाँ धुआँ खो गया—विचार न रहे। सिर्फ ज्योति रह गई, सिर्फ बुद्धि का शुद्ध स्वरूप रह गया।

'एकांत और शुद्ध देश का सेवन करनेवाला', और जैसे-जैसे व्यक्ति कर्ता का भाव छोड़ता है, वैसे-वैसे उसके भीतर एकांत का उदय होता है।

अभी तो तुम सदा चाहते हो—दूसरा, भीड़, समाज। अकेले हुए कि डरे। अकेले हुए कि लगता है : क्या करें, क्या न करें! अकेले में ऊब आती है। अपने से एक होने को तुम राजी ही नहीं हो। और जो अपने साथ होने को राजी नहीं है, वह परमात्मा के साथ न हो सकेगा। क्योंकि अन्ततः अपने साथ होना ही परमात्मा के साथ होना है। क्योंकि वह तुम्हारे आत्यंतिक जीवन का सारभूत अंग है। वह तुम्हारा केंद्र है।

'एकांत, शुद्ध देश का सेवन करनेवाला, मिताहारी, जीते हुए मन, वाणी और शरीर वाला, दृढ वैराग्य को भली प्रकार प्राप्त हुआ पुरुष . . .।'

क्या है : दृढ वैराग्य? कच्चा वैराग्य ऐसा वैराग्य है कि अभी तुमने राग की पीड़ा भी न पाई थी और छोड़ दिया संसार। जरा-सी कुछ अड़चन हुई और भाग खड़े हुए संसार से। यह कच्चा वैराग्य काम न आयेगा। तुम वापस लौट आओगे। संसार तुम्हें बुलाता रहेगा।

जीवन को ठीक से जान लेना, उसकी पीड़ा को पूरा ही भोग लेना, उसके दुःख को रोएँ रोएँ में उतर जाने देना, ताकि उसकी आकांक्षा शून्य हो जाय। जब कोई ठीक से जल जाता है—संसार में, तभी वह परमात्मा के योग्य होता है।

'दृढ वैराग्य को भली प्रकार प्राप्त हुआ पुरुष निरंतर ध्यान-योग के परायण हुआ . . .।' और करो तुम कुछ भी : उठो, बैठो, सोओ, चलो, चुप रहो, बोलो—पर ध्यान की सतत धारा भीतर बहती रहे, होश बना रहे। भोजन करो—तो होशपूर्वक, राह पर चलो—तो होशपूर्वक। ऐसे शराबी की तरह तुम्हारा जीवन न हो; मूर्च्छित नहीं—जागा हुआ हो; जो भी तुम करो, तुम्हारे प्रत्येक कृत्य के मनके में ध्यान समा जाय—ध्यान का धागा पिरो जाय, तो ही वह जो तत्त्वज्ञान की पराकाष्ठा है—सच्चिदानंदघन ब्रह्म, वह उपलब्ध होता है।

'अहंकार बल, घमंड, काम, क्रोध, और परिग्रह को त्याग कर ममतारहित और शांत हुआ सच्चिदानंदघन ब्रह्म में एकीभाव होने के योग्य होता है।'

परमात्मा तो इसी क्षण मिल सकता है; तुम तैयार नहीं हो।

लोग मुझसे पूछते हैं : परमात्मा को कैसे पायें? मैं उनसे कहता हूँ : यह पूछो ही

मत। तुम इतना ही पूछो कि 'हम परमात्मा के योग्य कैसे बनें।' तुम जिस क्षण योग्य हो जाओगे, वह मिला ही हुआ है।

लेकिन यह कोई पूछता ही नहीं कि हम परमात्मा के योग्य कैसे बनें। ऐसा तो हम मान कर ही चलते हैं कि हम तो योग्य ही हैं; परमात्मा कैसे मिले ! और अगर नहीं मिलता, तो हम कहते हैं : 'परमात्मा है ही नहीं। होता तो मिलता।'

परमात्मा के न मिलने से हमें यह बोध नहीं होता कि हो सकता है, हम पात्र न हों, योग्य न हों। अंधा कहता है : प्रकाश होगा ही नहीं, इसलिए मुझे दिखाई नहीं पड़ता। बहरा कहता है : शब्द होते ही नहीं होंगे; संगीत है ही नहीं; इसीलिए तो मुझे सुनाई नहीं पड़ता।

तुम भी कहते हो, परमात्मा होगा ही नहीं, इसलिए तो मुझे मिलता नहीं।

अपने को तो तुम मान ही लेते हो कि आँख वाले हो, कान वाले हो; पात्र हो। वहीं भूल हो जाती है।

अगर परमात्मा न मिले, तो पूछना कि 'कैसे मैं पात्र बनूँ।' अगर आनन्द न मिले, तो पूछना : 'कैसे मैं पात्र बनूँ।' अगर जीवन में अमृत का स्वाद न आये, तो पूछना कि 'कैसे मैं पात्र बनूँ।' यहीं से शुरू हो जाता है—दर्शन और धर्म का भेद।

दार्शनिक खोज में निकल जाता है कि परमात्मा है या नहीं। और धार्मिक व्यक्ति अपनी पात्रता को निर्मित करने लगता है कि 'मैं पात्र हूँ या नहीं।' और दार्शनिक खोजता ही रहता है। कभी पाता नहीं; धार्मिक पा लेता है।

तुम्हारी पात्रता ही अंततः परमात्मा का मिलन बनेगी। वह तो मौजूद ही है। शायद तुम्हारी आँख के सामने, आँख के पीछे—आसपास, सब तरफ उसने ही तुम्हें घेरा है।

कबीर ने कहा है कि मुझे बड़ी हँसी आती है, यह देखकर कि मछली पानी में प्यासी है। चारों तरफ पानी ने घेरा हुआ है, फिर भी मछली प्यासी है।

तुम्हारे चारों तरफ वही है—जिसको तुम खोज रहे हो। तुम हाथ हिलाते हो, तो उसी में। तुम बोलते हो, तो उसी में। तुम चलते हो, तो उसी में। तुम सोते हो तो उसी में। तुम उसी से आये हो; उसी में खो जाओगे। और पूछते हो : वह कहाँ है। निश्चित ही तुम्हारे पास वह संवेदनशील हृदय नहीं है, जो उसे पहचान ले; वह संवेदनशील आँख नहीं है, जो उसे देख ले; वह संवेदनशील हाथ नहीं है, जो उसे छू ले।

इसलिए तुम परमात्मा के सम्बन्ध में प्रश्न ही मत उठाना; अपनी पात्रता के सम्बन्ध में ही प्रश्न उठाना। और जिसने भी अपनी पात्रता के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया, वह एक दिन परमात्मा को पाने वाला हो ही गया। और जो परमात्मा के सम्बन्ध में पूछता रहा, एक न एक दिन उसे यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि परमात्मा नहीं है।





क्योंकि जब तुम खोजोगे, न पाओगे; खोजोगे, न पाओगे; अंततः नास्तिकता हाथ लगेगी। ईश्वर पर ध्यान दिया, तो नास्तिक हो जाओगे। अपने पर ध्यान दिया, तो आस्तिक होना सुनिश्चित है।

इसलिए कुछ ऐसे आस्तिक भी पृथ्वी पर हुए, जिन्होंने ईश्वर की बात ही नहीं उठाई; उसकी कोई बात उठानी ही बेकार है। उन्होंने तो सिर्फ अपनी ही बात की; अपने को ही शुद्ध किया, निर्विकार किया, अपने ही भीतरी कुँवारेपन को उपलब्ध किया; उसी क्षण सब मिल गया।

बुद्ध से जब भी कोई पूछता है, ईश्वर के सम्बन्ध में, तो वे कहते, 'व्यर्थ के प्रश्न मत उठाओ। यह बकवास छोड़ो। यह बात करने की ही नहीं है। अपनी बात करो। तुम्हारे पात्र को कैसे शुद्ध किया जाय, यही पूछना काफी है।'

यहाँ पात्र तैयार हुआ नहीं कि वहाँ घन घिरे नहीं, वर्षा हुई नहीं। क्षण भर की भी देरी नहीं होती।

## मार्ग का चुनाव • अपात्रता और अहंकार
## गीता-पाठ और कृष्ण-पूजा • मांग शून्य पराभक्ति

**पन्द्रहवाँ प्रवचन**

प्रातःकाल, दिनांक ४ अगस्त, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते परम् ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

चेतसा सर्व कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ॥ ५७ ॥

मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यति ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥



फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव से स्थित हुआ प्रसन्नचित्तवाला पुरुष न तो किसी वस्तु के लिए शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है एवं सब भूतों में समभाव हुआ मेरी परा-भक्ति को प्राप्त होता है।

और उस परा-भक्ति के द्वारा मेरे को तत्त्व से भली प्रकार जानता है कि मैं जो और जिस प्रभाववाला हूँ तथा उस भक्ति से मेरे को तत्त्व से जानकर तत्काल ही मेरे में प्रविष्ट हो जाता है।

और मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परमपद को प्राप्त हो जाता है।

इसलिए हे अर्जुन, तू सब कर्मों को मन से मेरे में अर्पण करके, मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोग को आलम्बन करके निरन्तर मेरे में चित्तवाला हो।

इस प्रकार तू मेरे में निरन्तर मन वाला हुआ, मेरी कृपा से जन्म-मृत्यु आदि सब संकटों को अनायास ही तर जाएगा। और यदि अहंकार के कारण मेरे वचनों को नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जाएगा अर्थात् परमार्थ से भ्रष्ट हो जाएगा।

पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : ब्रह्म में एकीभाव के लिए कल के सूत्र में विशुद्ध बुद्धि, एकांत, मनोविजय, दृढ वैराग्य, ध्यान-योग की परायणता, आदि अनेक शर्तें बतायी गयी हैं, जबकि उनमें से किसी एक के भी ठीक से सध जाने से सब सध जा सकता है। ऐसा क्यों है?

निश्चित ही, एक के सध जाने से सब सध जाएगा, लेकिन वह एक प्रत्येक के लिए अलग-अलग होगा। किसी के लिए दृढ वैराग्य होगा वह एक; किसी के लिए ध्यान-योग होगा; किसी के लिए समत्व; किसी के लिए कुछ और। इसलिए कृष्ण ने सारी बातें गिना दी हैं। उनमें से एक ही तुमने साध लिया, तो सब सध जाएगा।

सब साधना नहीं है। लेकिन अनेक प्रकार के लोग हैं; भिन्न-भिन्न उनकी जीवन व्यवस्था है, भिन्न-भिन्न उनके प्रकार हैं; उन सबके लिए एक मार्ग नहीं हो सकता। इसलिए तुम इस चिंतना में मत पड़ना कि इतने सब कैसे सधेंगे! तुम इन सब में उस एक को चुन लेना, जिससे तुम्हारी हृदय की वीणा बजती हो। इसमें से एक को चुन लेना, जिससे तुम्हारा तालमेल बैठता हो। जैसे, हो सकता है, तुम अगर बुद्धि-केन्द्रित व्यक्ति हो, तो भक्ति की बात तुम्हें न जमेगी। किसी के परायण होना, किसी के लिए समर्पित होना, किसी के चरणों में अपने को डाल देना, तुम्हें जँचेगा ही नहीं। तुम डाल भी दोगे, तो भी अधूरा-अधूरा होगा, और अधूरे से कभी भी पूरे को नहीं पाया जा सकता। और तुम जबरदस्ती अपने को समझा कर अपने से विपरीत कुछ कर भी लोगे, तो वह सतह पर ही होगा। ऊपर से रंग-रोगन हो जाएगा; भीतर तुम वही रहोगे, जो तुम थे।

इसलिए भूल कर भी ऐसी कोई बात मत करना जो तुम्हें जँचती ही न हो। जो तुम्हें प्रथम से ही न जँचे, अंततः उससे तुम कहीं पहुँच न पाओगे। उसे तुम पहले ही

छोड़ देना।

और घबड़ाने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि और मार्ग हैं, जिनमें से कोई तुम्हें जम जाएगा, जँच जाएगा।

अगर तुम बुद्धिवादी व्यक्ति हो, तो हृदय की बात तुम्हें बेतुकी मालूम होगी। तो तुम्हारे लिए तो उपाय यही होगा कि तुम बुद्धि को शुद्ध करने में लग जाओ। तुम बुद्धि के सोने को ही निखारो। तुम विचार का सब कूड़ा-करकट छोड़ दो; तुम निर्मल बुद्धि हो जाओ। तुम्हारी बुद्धि एक दर्पण बन जाय, जिसमें कोई तरंग न उठती हो, जैसे शांत झील हो और पूर्णिमा का चाँद उसमें झलके—ऐसी तुम्हारी बुद्धि हो जाय। वही विशुद्ध बुद्धि है। और ऐसा करके तुम वही पा लोगे, जो हृदयवाला व्यक्ति भक्ति से पाता है, पूजा प्रार्थना से पाता है। प्रेमी जिसे प्रेम से पाता है, उसे तुम ऐसे शुद्ध बुद्धि के द्वारा भी पा लोगे।

वह अगर एक ही द्वार से मिलता होता, तो बड़ी मुश्किल हो जाती। अनंत उसके द्वार हैं। वस्तुतः जितने व्यक्ति हैं, उतने ही उसके द्वार हैं। तुम जहाँ खड़े हो, वहीं से उसका मार्ग है। तुम्हें किसी दूसरे व्यक्ति जैसा नहीं होना है। न तुम्हें किसी और के वस्त्र ओढ़ने हैं, न किसी और के विचार धारणा करने हैं। तुम्हें तो अपने को समझना है और तुम्हारी उस समझ से ही तुम्हारा द्वार खुल जाएगा।

लेकिन हो सकता है, तुम बुद्धिवादी व्यक्ति न हो, तो चिंता का कारण नहीं है, तो तुम भक्ति को चुनना, प्रेम-प्रार्थना-पूजा को चुनना; अर्चना तुम्हारा जीवन बन जाय, आराधना तुम्हारे भाव की दशा बने। वहाँ से भी तुम वहीं पहुँच जाओगे।

तुम्हारा हृदय शुद्ध हो जाय, तो बुद्धि शुद्ध हो जाती है। तुम्हारी बुद्धि शुद्ध हो जाय, तो हृदय शुद्ध हो जाता है। तुम्हारे भीतर कहीं से भी शुद्धि की किरण उतर आये। कहाँ से उतरती है, यह बात गौण है। बस, उतर आये, तो तुम्हारे भीतर का अंधकार टूट जाएगा।

ऐसा समझो कि तुम्हारे भवन के बहुत द्वार हैं, बहुत वातायन, खिड़कियाँ हैं। कमरे में अँधेरा भरा है। अब पूरब की खिड़की से सूरज की किरण आये, कि पश्चिम की खिड़की से सूरज की किरण आये, कि दक्षिण की खिड़की से सूरज की किरण आये, इससे क्या फर्क पड़ता है। किरण किसी भी खिड़की से आये, भीतर का अंधकार मिट जाएगा।

तो तुम ध्यान—भीतर का अंधकार मिटे, इस पर देना। इसलिए कृष्ण ने सारे मार्ग कहे हैं।

दो तरह के व्यक्ति हैं। एक हैं, जो जीवन के अंतर्-संबंधों में ही परमात्मा की झलक पाते हैं। एकांत में होते ही वे मरुस्थल जैसे हो जाते हैं। उनके भीतर सब सूख





जाता है। उनके लिए तो अंतर्-संबंध में ही झरना बहता है जीवन का। तो ऐसे व्यक्ति अगर महावीर जैसे पर्वत-पहाड़ों में खड़े हो जाएँगे, तो सिर्फ सूखेंगे, मुरझायेंगे। उनके जीवन का कमल खिलेगा नहीं। वह बात उनके लिए थी ही नहीं। उनके जीवन में प्रफुल्लता न आयेगी। तुम पाओगे कि वे कुम्हला गये। वे जितने बाजार में थे, उससे भी कम हो गये— जंगल में जाकर। उनके भीतर कुछ नष्ट हो गया, टूट गया। उनके लिए तो उचित था कि वे जीवन के संघर्ष में ही, लोगों की भीड़ में ही, अंतर्-संबंधों में ही खोजते उसे। एकांत उन्हें न जमेगा।

पर दूसरे तरह के लोग भी हैं कि भीड़ में जाते ही उन्हें लगता है कि उनका जीवन संकट में पड़ गया। दूसरे की मौजूदगी काँटे की तरह चुभने लगती है। अंतर्-संबंध सिर्फ दुःख देते हैं। भीड़ सिर्फ उपद्रव मालूम पड़ती है। समाज में उन्हें रस नहीं है। जब भी वे कभी खोज लेते हैं एक कोना, एकांत—जहाँ थोड़ी देर को अकेले में हो जाते हैं, वहीं उनके जीवन का वैभव खिलता है। तो उनके लिए कोई जरूरत नहीं है कि वे संबंधों में खोजें।

कृष्णमूर्ति निरंतर लोगों से कहते हैं: 'अंतर्-संबंध दर्पण है। उस अंतर्-संबंध में ही तुम अपने ध्यान को खोजना।' कुछ लोगों के लिए यह बात ठीक है; सभी के लिए ठीक नहीं। जिनके लिए यह ठीक नहीं है, उन्हें तो एकांत ही खोजना पड़ेगा। वे तो जब बिलकुल अकेले हो जाएँगे, उस परम एकाकीपन में ही उनके भीतर का नाद उन्हें सुनायी पड़ेगा। उन्हें दूसरे के माध्यम से जाने की जरूरत नहीं है।

पर कुछ लोग हैं, जिन्हें एकांत में कुछ भी सुनायी न पड़ेगा, जिन्हें एकांत भयावना मालूम होगा, जो अकेले में सिर्फ मृत्यु का अनुभव करेंगे, जीवन की कोई भी झलक न आयेगी। इसलिए कृष्ण कहते हैं विशुद्ध बुद्धि, एकांत, मनोविजय, दृढ़ वैराग्य, ध्यान-योग की परायणता; कुछ भी—जो तुम्हें ठीक लग जाय।

और इसलिए भी वे कहते हैं कि तुम्हें ठीक-ठीक पता भी नहीं है कि कौन-सी बात ठीक जमेगी। तुम्हें प्रयोग करने पड़ेंगे। जीवन तो एक निरंतर प्रयोग है। उसमें गणित के फार्मूले नहीं हैं कि तुमने पकड़ ली लकीर—और चल पड़े।

पहले तो तुम्हें खोजना ही होगा कि कौन-सा मार्ग तुम्हें जमेगा। बहुत बार भटकोगे, बहुत बार गलत मार्ग पर चलोगे, लौटोगे, वापस आओगे। अनेक भूलें होंगी, चूकें होंगी, तब कहीं ठीक से साज बैठेगा। तो इसलिए अगर एक ही मार्ग बता दिया जाय, तो डर है कि तुम पहुँच ही न पाओगे।

ऐसा हुआ, एक मजे की घटना घटी। मैं वर्धा में बजाजवाड़ी में मेहमान था। जमनालाल जी का अतिथिगृह। जमनालालजी के पुराने मुनीम, वृद्ध, बड़े अनुभवी और अनूठे सज्जन चिरंजीलाल बड़जात्या मेरी देख-रेख करते थे। जिस दिन मुझे

बजाजवाड़ी छोड़नी थी, जाना था वर्धा से, ट्रेन मेरी रात तीन बजे जाती थी। तो मैंने उन्हें कहा कि 'तीन बजे मुझे जाना है।' तो उन्होंने कहा, 'आप चिंता न करें। मैं सभी इन्तजाम किये देता हूँ।' मैंने उनसे पूछा, 'सभी इन्तजाम?' उन्होंने कहा, 'आप रुकें, आप देखेंगे।'

उन्होंने ड्राइवर को बुलाया, कहा कि कार ठीक दो बजे यहाँ द्वार पर लग जानी चाहिए। फिर तांगेवाले को बुलाया और उसे कहा, ठीक दो बजे तांगा खड़ा कर देना। फिर एक रिक्शेवाले को बुलाया और कहा कि तू तो रिक्शा अभी ले आ और यहीं सो जा।

मैंने उनसे पूछा, 'मुझ अकेले के लिए तीन बहुत ज्यादा हो जाएँगे। कोई जरूरत नहीं है।' उन्होंने कहा कि 'जमनालाल जी से मैंने कुछ बातें सीखीं, उनमें एक यह है कि एक काम करना हो, तो तीन इन्तजाम करने चाहिए। अगर कार आ गयी, तो ठीक; क्या भरोसा, आदमी सो जाय, झपकी लग जाय; सर्द रात है, कार स्टार्ट ही न हो। तो तांगावाला आ जाएगा। अगर घोड़ा बीमार पड़ जाय; तांगावाला किसी और काम में उलझ जाय, भूल जाय, न आ सके, तो यह रिक्शेवाला यहाँ सोया ही हुआ है। और अगर कोई भी न रहा, तो मैं तो यहाँ हूँ ही। सामान मैं ढोऊँगा; हम पैदल चलेंगे। तो मैंने सब इन्तजाम कर लिए हैं!'

कृष्ण सारे इन्तजाम किये दे रहे हैं। इसलिए कृष्ण बार-बार बहुत से शब्द दोहराते हैं। तुम कहोगे, 'एक से ही कहने से काम चल जाता है, इतने शब्द क्यों दोहराते हैं? क्यों बार-बार दोहराते हैं?' वे सब इन्तजाम कर रहे हैं, ताकि कोई भी संभावना शेष न रह जाय—जिससे तुम पहुँच सकते थे और जिसका तुम्हें पता न हो। सब द्वार खोल देते हैं। फिर तुम्हें जिससे आना हो, जिससे आना तुम्हें जमे, रास पड़े, तुम उसी से आ जाना।

मार्ग सब उसी के हैं। सब मार्ग उसी की तरफ ले जाते हैं। लेकिन कोई मार्ग किसी को ले जाएगा, कोई मार्ग किसी और को ले जाएगा।

● दूसरा प्रश्न : आपने कहा कि भगवत्ता हमें घेर कर खड़ी है; उसकी अहर्निश वर्षा हो रही है; सिर्फ हमारी पात्रता नहीं है। हमें हमारी अपात्रता का बोध आत्म-हीनता के भाव से भरने लगता है। उससे बचकर कोई पात्रता को कैसे उपलब्ध हो?

अगर आत्महीनता का भाव पैदा हो गया, तो पात्रता तो बढ़ेगी नहीं, अपात्रता मजबूत हो जाएगी। उसे पाने चले हो, तो हीन-भाव से उसे न पा सकोगे। हीन-भाव में तो आदमी सिकुड़ जाता है। हीन-भाव में तो आदमी अपने पर ही आस्था खो देता है। हीन-भाव में तो आदमी डर जाता है कि 'मैं न पा सकूँगा, मेरी योग्यता नहीं है।' परमात्मा मिलने को भी राजी हो तो ऐसा व्यक्ति भाग खड़ा होता है कि 'यह हो ही





नहीं सकता : मैं, और परमात्मा को पा लूँ? यह नहीं हो सकता। मैं तो अपात्र, मैं तो महापापी, मैं तो दीनहीन, अपराधी!'

जब मैं तुमसे कहता हूँ, कि 'उसकी अहर्निश वर्षा हो रही है', तो सत्य की कह रहा हूँ, क्योंकि उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। हवाओं में वही बहता है, फूलों में वही खिलता है। चाँद-तारों में उसी की रोशनी है; झरनों में उसी का नाद है। मैं बोलता हूँ, तो वही बोलता है; तुम सुनते हो, तो वही सुनता है। उसके अतिरिक्त और कुछ है नहीं। इसलिए वह तो निरंतर ही बरस रहा है; अपने पर ही बरस रहा है; क्योंकि उसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। अपने को ही अपने को दिये जा रहा है, क्योंकि कोई दूसरा भी लेनेवाला नहीं है।

लेकिन यह भी मैं जानता हूँ कि तुम उससे चूकते जा रहे हो। उसकी वर्षा हो रही है, लेकिन तुम पहचान नहीं पाते। वह द्वार पर दस्तक देता है, लेकिन तुम कुछ समझ नहीं पाते। तुम अपनी नींद में हो, अपनी तंद्रा में हो। वह सामने भी खड़ा हो जाता है, तो तुम्हें प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। फूल के पास से तुम गुजर जाते हो—फूल ही दिखता है, वह नहीं दिखाई पड़ता। झरने में नाद हो रहा है; पानी की आवाज सुनाई पड़ती है, वह नहीं सुनाई पड़ता।

मैंने सुना है : दो ईसाई फकीर एक पहाड़ी रास्ते से गुजरते थे। दूर पहाड़ के शिखर पर बने एक चर्च की संध्या घंटियाँ बजने लगीं। बड़ी मधुर घंटियों का नाद था। सारा पहाड़ अनुगूँज से भर गया। घाटियाँ प्रतिध्वनि से भर गयीं। एक फकीर ने आह्लादित होकर दूसरे से कहा, 'सुनते हो, कितना मधुर नाद है। इससे प्यारी घंटियाँ मैंने कभी नहीं सुनीं! और घाटियों ने भी किस स्वागत से प्रतिध्वनि की है!' उस आदमी ने कहा, 'जब तक यह घंटियों का उपद्रव बंद नहीं होता, तब तक मैं कुछ भी सुन नहीं पाऊँगा। तुम क्या कह रहे हो, यह भी मुझे सुनाई नहीं पड़ रहा है। इन घंटियों को बंद हो जाने दो।'

झरने में तुम्हें नाद सुनाई पड़ता है—नदी का, पानी का। और अगर मैं तुमसे कहूँ, 'सुनो, परमात्मा का नाद', तो तुम कहोगे, 'पहले यह पानी की बकवास तो बंद हो जाने दो। फिर ही मैं सुन सकूँगा।' और वही बकवास उसका नाद है।

जहाँ भी तुम देखते हो, तुम उसी को देखते हो; पहचान नहीं पाते। देखते तो उसी को हो, भूल अगर है, तो पहचान की है। लेकिन इससे तुम यह मत समझ लेना कि तुम अपात्र हो। पात्र तुम पूरे हो, जरा से होश की जरूरत है। आँखें तुम्हारे पास हैं, जरा खोलने की बात है। हाथ तुम्हारे पास है, जरा फैलाने की बात है। हृदय तुम्हारे पास है, जरा धड़कने की बात है।

सब तुम्हारे पास है। जरा-सा संयोग बिठाना है और संगीत का जन्म हो जाएगा।

इसलिए जब मैं कहता हूँ कि तुम्हारी पात्रता के कारण ही तुम परमात्मा से मिलते हो, या नहीं मिलते हो, तो इससे तुम अपराध-भाव से मत भर जाना कि मैं अपात्र हूँ, अन्यथा मेरी बात का तुमने उलटा ही अर्थ लिया। क्योंकि जितनी ग्लानि पैदा हो जाएगी, उतनी ही अपात्रता सुनिश्चित हो जाएगी।

मैं जब कह रहा हूँ कि अहर्निश उसकी वर्षा हो रही है, तो तुम नाचो, कि 'कोई फिक्र नहीं। मैं पात्र नहीं हूँ, लेकिन वह तो बरस रहा है; पात्रता पैदा कर लेंगे। मैं पात्र भी होता और उसकी वर्षा सदा न होती, तो फिर मैं क्या करता? वह ज्यादा दुःखद होती। अभी तो बरस रहा है, है मौजूद। हम नहीं पहचान रहे। पहचान लेंगे; आज नहीं कल।' देखने की दृष्टि पर निर्भर करता है।

आनंदित हो जाओ कि सिर्फ तुम्हारी ही पात्रता का सवाल है। उसकी तरफ से कोई बाधा नहीं है।

थोड़ा सोचो, बाधा उसकी तरफ से होती और तुम पात्र भी होते, तो क्या करते!

मैंने सुना है: एक जापानी कंपनी ने—एक जूता बनानेवाली कंपनी ने अपने एजेंट को आफ्रिका भेजा। कोई सौ वर्ष पहले की बात है। और एक अमेरिकी कंपनी ने भी अपने जूता बनाने वाले, जूता बेचने वाले एजेंट को आफ्रिका भेजा। दोनों एक ही दिन जहाज से उतरे। दोनों ने साथ ही जाकर बाजार की तलाश की। दोनों साथ ही लौटे। पोस्ट ऑफिस में जाकर दोनों नें तार किये—अपने-अपने मालिकों को।

अमेरिकन एजेंट ने लिखा कि 'तत्काल दूसरे हवाई जहाज़ से वापस आ रहा हूँ, क्योंकि यहाँ जूते बिकने की कोई संभावना नहीं। कोई जूता पहनता ही नहीं।' जापानी ने लिखा कि 'यहाँ दो-तीन महीने लगेंगे। धंधे की बड़ी संभावना है। जूते इतने बिक सकते हैं, जितना कि आप कल्पना ही नहीं कर सकते, क्योंकि जूते किसी के पास भी नहीं हैं।'

तथ्य एक ही था कि 'लोग जूता नहीं पहनते थे'। एक ने देखा कि जब पहनते ही नहीं हैं, तो खरीदेगा कौन! बात खतम हो गयी। वह निराश हो गया। वह लौटने की तैयारी करने लगा। एक ने देखा कि जब किसी के पास भी जूते नहीं हैं, सभी बिना जूते के घूम रहे हैं, तो बाजार की पूरी संभावना है। इससे बड़ा बाजार कहाँ मिलेगा! तो जरा वक्त लगेगा। लोगों को समझाना पड़ेगा कि तुम नंगे पैर हो। लेकिन जूते की बिकने की बड़ी संभावना है।

तथ्य तो एक ही होता है, देखने के ढंग अलग-अलग होते हैं। तुम्हारी अपात्रता को तुम ग्लानि मत बनाओ। तुम्हारी अपात्रता को तुम प्रसन्नता समझो। क्योंकि परमात्मा मौजूद है, सिर्फ तुम्हारी जरा-सी भूल से चूक रहा है। तो भूल सुधार लेंगे। जैसे ही भूल सुधर जाएगी, सब ठीक हो जाएगा।





और ध्यान रखना: तुम कोई पाप नहीं कर रहे हो, सिर्फ भूल कर रहे हो। यहीं भारतीय जीवन-दृष्टि में और ईसाइयत और यहूदी जीवन-दृष्टि में भेद है।

यहूदी और ईसाई कहते हैं: 'आदमी पापी है।' हम कहते हैं: 'आदमी अज्ञानी है।' इसमें बड़ा फर्क है। जब हमने किसी को पापी कह दिया, तो हमने निर्णय ले लिया। हमने सुधार का द्वार बंद कर दिया। हमने घोषणा ही कर दी कि अब कोई संभावना नहीं है। हमने वक्तव्य दे दिया मूल्य का, कि तुम पापी हो। हमने गाली दे दी। लेकिन भारत में हम इतना ही कहते हैं कि 'आदमी से भूलें होती हैं, पाप नहीं होता।'

एक छोटा बच्चा दो और दो जोड़ रहा है और पाँच लिख देता है, इसको तुम पाप कहोगे या भूल? दो और दो चार होते हैं; माना। छोटा बच्चा जोड़ता है, दो और दो पाँच लिख देता है; यह पाप है या भूल? इसको तुम कहोगे, 'यह भूल है।' पाप कहना जरा जरूरत से ज्यादा हो जाएगा। इसमें पाप जैसा कुछ भी नहीं है। और भूल भी कोई बहुत बड़ी नहीं है, क्योंकि चार और पाँच में फासला कितना है? जरा ही सा फासला है। बच्चा काफी करीब पहुँच गया है। जरा एक कदम इधर-उधर और, कि सब ठीक हो जाएगा।

हम कहते हैं: जीवन में आदमी की भूलें हैं, पाप कुछ भी नहीं है। भूलें सुधारी जा सकती हैं। पाप को सुधार भी लो, तो भी कचोट रह जाती है। पाप को सुधार भी लो, तो भी दाग छूट जाता है। पाप को सुधार भी लो, तो भी यह खयाल रह जाता है कि कभी मैं पापी था। भूल ऐसे मिट जाती है, जैसे पानी पर खिंची रेखाएँ मिट जाती हैं। पाप ऐसा है, जैसा पत्थर पर खींची गयी रेखा हो।

यदि तुम पूरब की मनोभावना को समझो, तो हमने पूरब में पाप माना ही नहीं है। पाप को हम भूल ही कहते हैं। बस, भूल है; छोटे बच्चे हैं, होंगी ही, स्वाभाविक है। इसमें छोटे बच्चों को कोई बहुत आत्मग्लानि से भरने की जरूरत नहीं है।

अगर तुम परमात्मा को चूक रहे हो, तो बिलकुल स्वाभाविक है। इससे कोई दंश मत लो, सिर पर बोझ मत लो।

अगर तुम अहोभाव से भरकर चलो, विधायक दृष्टि से भरकर चलो, तो पात्रता पैदा होने लगेगी। जितने ही तुम हलके हो जाओगे बोझ से, उतने ही पात्र हो जाओगे, उतने ही तुम्हें पंख लग जाएँगे। तब तुम उड़ सकते हो।

नहीं; मेरी बातों को सुनकर अगर आत्महीनता का भाव आने लगा, तो तुम चूक ही गये—मेरी बात को ही। तुम कुछ और ही समझ गये, जो मैंने कहा ही न था।

यही तो मुझमें और तुम्हारे और महात्माओं में फर्क है। उनकी चेष्टा है कि वे तुम्हें अपराधी सिद्ध करें। उनकी चेष्टा है कि वे तुम्हें दीन सिद्ध करें। उनकी चेष्टा है कि वे तुम्हें ग्लानि से भर दें, तुम्हें नरक भेज दें।

मैं तुमसे कहता हूँ कि नरक कहीं है ही नहीं; स्वर्ग को ही गलत ढंग से देखना है। नरक तुम्हारी भ्रांत दृष्टि है। ऐसे जैसे गुलाब की झाड़ी के पास तुम गये। बड़े फूल खिले हैं और तुम फूलों को तो न देखे और काँटों से उलझ गये और काँटे गिनने लगे। और तब काँटे गिनने में कोई काँटा चुभ गया। फिर तुम डर गये। फिर तुम डर गये कि इस फूल के पास जाना भी उचित नहीं है। तुम घबड़ा गये। न तो तुम फूल की सुगंध जान पाये, न उसका सुकुमार, कुँवारापन जान पाये; न फूल की ताजगी जान पाये, न फूल का गीत सुन पाये। काँटे से उलझ गये।

जैसे गुलाब के फूल मे काँटे हैं, ऐसे स्वर्ग में गलत ढंग से प्रवेश कोई कर जाय, तो नरक है।

तुम सुख को भी दुःख बना लेते हो—अपनी ही दृष्टि के कारण। दुःख भी सुख बन जाता है, दृष्टि के रूपांतरण से।

मुसलमान फकीर बायजीद एक रास्ते से गुजरता था। चोट लग गयी। एक पत्थर से पैर टकरा गया। आकाश की तरफ देख कर प्रार्थना कर रहा था—चलते-चलते। स्मरण कर रहा था प्रभु का। चोट लग गई। पैर लहू-लुहान हो गया। वहीं घुटने टेक कर बैठ गया। लेकिन उसकी आँखों से खुशी के आँसू बहने लगे। उसके भक्तों ने कहा, 'यह जरा जरूरत से ज्यादा है। जिसकी तुम प्रार्थना करते हो, वह तुम्हारी इतनी भी फिक्र नहीं करता कि तुम आकाश की तरफ देख रहे थे, तो वह कम से कम तुम्हारे पैर को बचाये! उसको कुछ पड़ी ही नहीं है। तुम खाली आकाश में ही अपनी बातें किये चले जा रहे हो। यह सब प्रार्थना बेकार है। कोई है नहीं वहाँ। और अब तुम किसलिए प्रसन्न हो रहे हो! पैर से खून बह रहा है!'

बायजीद ने कहा, 'नासमझो, तुम्हें पता नहीं; फाँसी हो सकती थी; उसने बचा दी। बुराइयाँ और भूलें तो मैंने इतनी की हैं कि अगर आज फाँसी भी लगती, तो भी कम थी। लेकिन सिर्फ पैर में थोड़ी-सी पत्थर की चोट लगी; थोड़ा-सा खून बहा; उसकी बड़ी कृपा है। प्रार्थना सुन ली गयी।' बायजीद ने कहा, 'तुम्हें पता नहीं है, क्या हो सकता था। मुझे पता है : क्या हो सकता था। प्रार्थना न होती आज बचाने को, तो फाँसी लगती। प्रार्थना ने छाते की तरह ढाँक लिया, बचा लिया। जरा-सी चोट लगी, बच गये। धन्यवाद न दूँ, प्रसन्नता से नाचूं न!'

अगर देखने की दृष्टि विधायक हो, तो तुम शिकायत में से भी धन्यवाद खोज लोगे। देखने की दृष्टि निषेधात्मक हो तो तुम अहोभाव में भी शिकायत खोज लोगे। तुम पर निर्भर है।

स्वर्ग तुम्हारी दृष्टि है, नरक तुम्हारी दृष्टि है।

मेरी बातों को सुन कर तुम अपात्रता के भाव से मत भर जाना, अपात्रता की ग्लानि





से मत भर जाना। मेरी बात को सुन कर तो तुम इस आनंद से भरना कि परमात्मा अहर्निश बरस रहा है। जरा-सी भूल है।

बुद्ध कहते थे : वर्षा हो रही हो, तुम घड़े को उलटा रख दो; पानी गिरता रहेगा, घड़ा खाली का खाली रह जाएगा। जरा-सी ही बात थी। ऐसा न रख के, वैसा रख दिया होता; उलटा न रखा होता। कोई बहुत बड़ी भूल नहीं हो रही थी; लेकिन इतनी-सी भूल और घड़ा खाली रह जाएगा। उलटा रख दिया।

तुम्हारी अपात्रता भी इतनी ही है, जैसे घड़ा उलटा हो। कोई बहुत बड़ी समस्या मत बनाओ।

मेरे अनुभव में ऐसा है कि तुम छोटी-छोटी समस्याओं को भी बड़ा बना लेते हो, क्योंकि तुम्हारा अहंकार हर चीज को बड़ा बनाने में कुशल हो गया है; छोटी बातें मानता ही नहीं। फोड़ा-फुंसी हो जाय, तुम कैंसर की बात शुरू कर देते हो। तुम्हारा अहंकार मानता ही नहीं कि तुम जैसे महापुरुष को फोड़ा-फुंसी हो सकता है! होगा, तो कैंसर ही होगा।

मैं एक कॉलेज में प्रोफेसर था। एक महिला भी वहाँ प्रोफेसर थी। उसकी बकवास मुझे रोज ही सुननी पड़ती। जब भी मैं उसके आसपास कहीं पड़ जाता, वह अपना रोना शुरू कर देती। उसके पति ने एक दिन मुझे फोन किया कि 'आप मेरी पत्नी की बातों को ज्यादा गंभीरता से मत लेना। वह बढ़ा-चढ़ा कर कहती है।' तो मैंने उसको कहा कि 'आज ही वे मुझे कह रही थीं कि उसको कैंसर की बीमारी है!' उसका पति हँसने लगा। उसने कहा कि 'कोई बीमारी वगैरह नहीं है।' लेकिन उसके अहंकार को छोटी चीजें जँचती ही नहीं। छोटी-मोटी बीमारी उसे होती ही नहीं। उसे बड़ी बीमारियाँ होती हैं।

तुम्हारा अहंकार ऐसा है कि तुम हर चीज को बड़ी कर लेते हो। बुराई को भी बड़ा कर लेते हो। बड़ी हैरानी की बात है।

संत अगस्तीन ने कनफेशन्स लिखे हैं—अपने जीवन के, उनको पढ़ते वक्त बहुत बार ऐसा लगता है कि वह बढ़ा-चढ़ा कर कह रहा है। इतने पाप आदमी कर नहीं सकता। यह आदमी की हैसियत के बाहर है। यह मुझे सदा से शक था कि इसमें कुछ बढ़ा-चढ़ा कर इसने कहा है। लेकिन कोई पापों को क्यों बढ़ा-चढ़ा कर कहेगा! अब मनोवैज्ञानिक भी मुझसे राजी हैं। जितना वे अध्ययन कर रहे हैं कनफेशन्स का, उतना ही वे कहते हैं : इस आदमी ने बढा-चढ़ा कर बात कही है।

गांधी ने अपनी आत्मकथा में जिन पापों का उल्लेख किया है, वह काफी बढ़ा-चढ़ा कर किया है। उतने पाप किये नहीं। अब तुम कहोगे कि आदमी अच्छाइयों को बढ़ा-चढ़ा कर कहे, यह तो समझ में आता है। बुराइयों को क्यों कोई बढ़ा-चढ़ा कर कहेगा?

बुराइयों को तो आदमी ढांकता है।

यह बात सच है कि बुराइयों को आदमी ढांकता है। वह भी अहंकार के लिए, ताकि किसी को पता न चले। बुराइयों को वह उघाड़ता भी है, वह भी अहंकार के लिए, ताकि किसी को पता चले कि इतनी बुराइयाँ मैंने कीं और उनको मैं पार भी कर गया और अब मैंने सब छोड़ दिया है।

एक संत के संबंध में मैं पढ़ रहा था। कहते हैं, वह बड़ा विनम्र आदमी था। लेकिन मरते वक्त जो वचन उसने कहे . . . ! उसके भक्त तो ऐसा ही मानते हैं कि बड़ी विनम्रता में कहे, लेकिन मैं थोड़ा हैरान हुआ। मरते वक्त उसने परमात्मा की तरफ आँखें उठायीं और कहा कि 'देख, मुझसे बड़ा पापी कोई भी नहीं।' भक्त तो सोचते हैं कि उसने कहा कि मुझसे बड़ा पापी कोई भी नहीं। कैसा विनम्र आदमी है। लेकिन वह यह कह रहा है कि 'मुझसे' बड़ा पापी कोई भी नहीं। पापियों में भी मैं प्रमुख हूँ। मुझे कोई मात नहीं कर सकता।

अहंकार अद्‌भुत है। वह पुण्य में भी आगे खड़ा होना चाहता है, पाप में भी आगे खड़ा होना चाहता है! असल में अहंकार को मजा सिर्फ आगे खड़े होने का है। कहीं भी खड़ा करो, आगे खड़ा करो।

बर्नार्ड शॉ ने कहा है कि 'मैं मर के स्वर्ग जाना पसंद न करूँगा––अगर मुझे नम्बर दो खड़ा होना पड़े। मैं मर के भी नरक जाना ही पसंद करूँगा, अगर मुझे नम्बर एक खड़ा होना मिल जाय तो।' नरक भी तैयार है, जाने को लेकिन नम्बर एक। दोयम, दूसरे नम्बर का होना पड़े स्वर्ग में—कि जीसस आगे खड़े हों, बर्नार्ड शॉ पीछे खड़ा हो; नहीं जँचता। इससे तो नरक ही बेहतर। कम से कम वहाँ आगे तो खड़े होंगे; नम्बर एक तो खड़े होंगे।

अहंकार नम्बर एक होना चाहता है, कुछ भी उपाय से। इसे थोड़ा खयाल रखो।

आत्मग्लानि का अतिशय रूप कहीं अहंकार का ही एक ढंग न हो। कहीं अपने पाप को ज्यादा समझ कर तुम अपने अहंकार को मत भर लेना। ऐसी जटिलता है।

इसलिए जब मैं कहता हूँ कि परमात्मा बरस रहा है, तब तुम वर्षा पर ध्यान दो और तुम्हारी पात्रता अगर नहीं बैठ रही है, तो कुल मतलब इतना है कि इरछा-तिरछा रखा है पात्र; उलटा है, मुँह ढँका है। बस, ऐसी कोई छोटी-मोटी भूलें हैं, जिनमें कोई बड़े गौरव की जरूरत नहीं है। इनको ऐसे ही ठीक किया जा सकता है, जैसे कोई दो और दो को पाँच जोड़ता हो; फिर दो और दो को चार जोड़ ले और सब ठीक हो जाता है।

अपने को ज्यादा मूल्य मत दो—अपात्रता के लिए भी मत दो।

● तीसरा प्रश्न : गीता में जगह-जगह परमात्म-प्राप्ति के लिए आसक्ति और





ममत्व से रहित बुद्धि की माँग है—साथ-साथ प्रेम और भक्ति की भी। क्या आसक्ति और लगाव के बिना प्रेम और भक्ति संभव है?

तभी संभव है। अगर प्रेम में आसक्ति है, तो वह मोह हो गया। अगर प्रेम में आसक्ति नहीं है, तो वह भक्ति हो गयी। प्रेम तो दोनों के मध्य में है—मोह और भक्ति के। अगर प्रेम आसक्ति में गिर जाय, तो मोह हो जाता है। अगर प्रेम आसक्ति से मुक्त हो जाय, तो भक्ति हो जाता है। और प्रेम दोनों के मध्य में है।

अगर ठीक से समझो तो प्रेम कोई अवस्था नहीं है, संक्रमण है। अगर तुमने जल्दी न की, तो प्रेम नीचे गिरेगा और मोह बन जाएगा। अगर तुमने जल्दी की, तो प्रेम भक्ति बन जाएगा।

प्रेम अपने-आप में एक यात्रा है। प्रेम कोई स्थिर स्थिति नहीं है, संक्रमण है; मोह और भक्ति के बीच की यात्रा है। और अगर तुमने किसी को भी प्रेम किया है—किसी को भी, तो तुमने दोनों बातें जानी होंगी। अगर तुमने अपने बेटे को प्रेम किया है, अगर तुम माँ हो, और अपने बेटे को प्रेम किया है या पत्नी हो और पति को प्रेम किया है या पति हो और अपनी पत्नी को प्रेम किया है या मित्र को प्रेम किया है; अगर तुमने प्रेम किया है, तो तुमने ये बातें जानी होंगी। कभी-कभी तुमने पाया होगा कि प्रेम मोह बन जाता है और तब दुःख देता है। और कभी-कभी तुमने यह भी पाया होगा कि प्रेम अचानक भक्ति बन जाता और तब परम प्रसाद रूप हो जाता है।

माँ अपने बेटे को अगर प्रेम कर सके—ऐसा कि उसमें आसक्ति न हो, तो बेटे में उसे कृष्ण ही दिखाई पड़ने लगेंगे; वह बेटा चलेगा, उसकी पायल बजेगी और उसे कृष्ण का स्मरण आने लगेगा। उसे बेटे की उस छोटी-सी छबि में परमात्मा विराजमान दिखाई पड़ेगा।

जहाँ भी तुम्हारा प्रेम आसक्ति से मुक्त होता है, वहीं परमात्मा को देखने के लिए द्वार खुल जाता है। अगर तुमने अपनी पत्नी को भी प्रेम किया है और उसमें आसक्ति धीरे-धीरे समाप्त हो गयी है, तो पत्नी की चेतना में तुम्हें परमात्मा दिखाई पड़ना शुरू हो जाएगा।

प्रेम जब ऊँचाई पर उठता है, उसको पंख लगते हैं, आसक्ति के पत्थर उससे हट जाते हैं, फंदा छूट जाता है, तब वह भक्ति की तरफ उड़ने लगता है। और जब प्रेम का पक्षी दब जाता है पत्थरों से, गले में फाँसी लग जाती है, आसक्ति से घिर जाता है, तो मोह हो जाता है।

प्रेम दोनों के बीच में है। और ध्यान रखना, अगर तुमने कुछ न किया तो प्रेम तो अपने-आप तो नीचे गिरता है, क्योंकि सभी चीजें अपने-आप नीचे की तरफ जाती हैं। स्वाभाविक है; जैसे पानी नीचे की तरफ जाता है। छोड़ दो, बहता रहेगा। जहाँ भी

नीचाई पायेगा, वहीं चला जाएगा। गड्ढों में पहुँच जाएगा—अपने आप। गड्ढों में जाने के लिए कोई आयोजन न करना पड़ेगा, लेकिन ऊपर चढ़ाना हो, पहाड़ पर ले जाना हो, तो फिर पानी को चढ़ाने का आयोजन करना पड़ेगा। फिर शक्ति लगानी पड़ेगी। वहीं साधना शुरू होती है। वहीं तप का प्रारंभ है।

कृष्ण ठीक कहते हैं : प्रेम और भक्ति—उनसे ही परमात्मा को कोई पाता है। और आसक्ति और ममत्व से ही कोई परमात्मा से चूकता है। एक से लगते हैं। तुम्हें तो कोई फर्क ही नहीं लगता। तुम तो सोचते हो : प्रेम, मोह, भक्ति, इनमें कोई फर्क दिखाई नहीं पड़ता। असल में तुम न तो प्रेम को जानते हो न भक्ति को। तुम सिर्फ मोह को जानते हो। तुमने निम्नतम दशा जानी है प्रेम की।

तुम्हारी अवस्था ऐसी है, जैसे किसी आदमी ने बर्फ जाना हो। न तो पानी जाना, न भाप जानी। बर्फ जाना—सख्त पत्थर की तरह, जमा हुआ। अगर तुम उसे समझाओ भी कि एक ऐसी भी दशा है, जब बर्फ पानी बन जाता है; पिघलता है, बहता है। तो वह मानेगा नहीं कि यह पत्थर जैसी चीज कैसे पिघलेगी, कैसे बहेगी! लेकिन तुमने अगर पानी जाना है, तो तुम पाते हो कि पानी बहता है।

बर्फ तो जमा है, सख्त, मृत; पानी में जीवन है। और भी एक दशा है, वह भाप की है कि पानी वाष्पीभूत हो जाता है। आकाश की तरफ उठने लगता है, अदृश्य में खो जाता है; वह भक्ति है।

और जीवन में प्रत्येक चीज के तीन रूप होते हैं। ऐसा कोई वैज्ञानिक कहते हों, ऐसा ही नहीं है, आध्यात्मिक भी ऐसा ही कहते हैं कि जीवन में हर चीज के तीन रूप होते हैं : एक तो बर्फ की तरह जमा हुआ, एक पानी की तरह पिघला हुआ, एक भाप की तरह उड़ता हुआ। मोह बर्फ, प्रेम पानी, भक्ति भाप है।

● चौथा प्रश्न : गीता इस मुल्क में सर्वाधिक पढ़ी और सुनी गयी और कृष्ण भी सर्वाधिक पूजे गये। फिर ऐसा कैसे हुआ कि इस देश से गीत और उत्सव खो गया और संन्यास-सड़ांध से भर गया?

गीता को पढ़ने से कोई जीवन में गीत नहीं आता। गीता को पढ़ना, गीतामय हो जाना नहीं है। वहीं भूल हो गयी।

कृष्ण से सुनकर—इन अनूठे शब्दों को, अर्जुन जागा। हमने सोचा इन शब्दों में कुछ जादू है। हमने सोचा, इन शब्दों में कुछ कुंजियाँ हैं। हमने सोचा, ये शब्द अर्जुन के हृदय के ताले को खोल दिये, तो हमारे हृदयों के ताले भी इन शब्दों से खुल जायेंगे; तो गीता का पाठ शुरू हुआ। पाँच हजार साल से हम गीता का पाठ कर रहे हैं। किसी का ताला खुलता नहीं। लगता है : शब्दों में कोई चाबी नहीं है। न केवल ताला खुलता नहीं, बल्कि गीता को दोहरा-दोहरा कर ताला और जंग खा जाता है। खुलता तो है





ही नहीं, खुलने की आशा भी टूट जाती है। इस भ्रांति के पीछे कारण है।

पहली बार घटना घटी थी, ताला खुला था। हमने देखा था कि अर्जुन जागा, अनूठा हो गया, नया हो गया, अद्वितीय हो गया। उठ गया गर्त से, अंधकार से और प्रकाश हो गया। निश्चित ही उसके संदेह मिट गये और उसने परमात्मभाव को पाया; वह कृष्णमय हो गया; यह हमने देखा था। स्वभावतः देख कर हमें लगा कि इन्हीं शब्दों को हम भी दोहराये जायें।

लेकिन जो घटना घटी थी, वह शब्दों की नहीं थी। कृष्ण जो कह रहे थे, वह तो बहाना था। कृष्ण का होना असली चीज थी।

अर्जुन जो जागा, वह कृष्ण के कहने से नहीं जागा। वह कृष्ण के होने से जागा। अर्जुन जो जागा, वह कृष्ण के शब्दों के कारण नहीं जागा, कृष्ण को पी कर जागा। शब्द तो बहाना था। शब्द की यात्रा तो ऊपर-ऊपर थी, भीतर एक गहरा लेन-देन चल रहा था—हृदय का हृदय से, प्राणों का प्राणों से। असली गीता वहाँ संवादित हो रही थी। वह तो हमारे हाथ से चूक गयी।

मैं यहाँ बोल रहा हूँ। कुछ होंगे, जो केवल मेरे शब्दों को सुन कर चले जाएँगे। उन के हाथ में कचरा ही रहेगा। शब्द कितने ही सुंदर क्यों न हों, कचरा ही हैं। मूल्य तो निःशब्द का है, मौन का है। लेकिन कुछ निश्चित यहाँ हैं, जो सुनते वक्त शब्दों पर चिंतित नहीं हैं। शब्द के बहाने तो वे यहाँ बैठे हैं। सुन वे मुझे रहे हैं। अगर मैं बोलना बंद कर दूँ, तो जो लोग शब्द सुन रहे थे, वे आना बंद कर देंगे। फिर तो केवल वे ही बच रहेंगे—दो-चार—जो मौन सुन रहे थे। उनके जीवन में ही क्रांति घटित होगी।

शब्द तो तुम्हारे मन को दिया गया खिलौना है। मन चुप नहीं होता; मैं बोलता हूँ, उतनी देर को चुप हो जाता है; लग जाता है। इधर मन लग गया, मन उलझ गया, तो हृदय से संबंध जोड़ने की सुविधा हो जाती है।

एक हाथ से बोलता चला जाता हूँ, ताकि तुम्हारा मन उलझा रहे, दूसरे हाथ से तुम्हारे हृदय को स्पर्श करता हूँ। वह तो दिखाई नहीं पड़ता। वह तो जिसका हृदय स्पर्शित होगा, वही जानेगा। वह अनुभव ही ऐसा है कि जाननेवाला ही जानता है। वह गूंगे का गुड़ है; वह प्रतीति है।

कृष्ण ने अर्जुन से जो कहा, वह तो गौण है। जो नहीं कहा—और दिया, वही मूल है। उससे अर्जुन जागा। लेकिन हम को तो सिर्फ शब्द ही सुनाई पड़े थे।

यह गीता की कथा बड़ी अनूठी है। इसे तुम समझने की कोशिश करो।

कौरवों के पिता अंधे हैं। वे अंधे हैं, युद्ध पर जा नहीं सकते। वे घर बैठे हैं। लेकिन आँखें अंधी भी क्यों न हों, पिता की आकांक्षा : उसके पुत्र जीत जायें, राज्य को उपलब्ध हों—वह महत्वाकांक्षा तो पीछे खड़ी है। अंधा पिता बेचैन है—जानने को कि क्या

हो रहा है। जा नहीं सकता खुद, आँख नहीं है देखने की, लेकिन जानने की आतुरता है कि क्या हो रहा है। वह पूछता है संजय को।

संजय भी, वहाँ मौजूद नहीं है। बड़े दूर से, सैकड़ों मील के फासले से संजय देखता है, जो वहाँ हो रहा है। क्या अर्जुन ने पूछा, क्या कृष्ण ने कहा; वह संजय धृतराष्ट्र को दोहराता है। ये प्रतीक बड़े कीमती हैं।

कृष्ण ने अर्जुन से कुछ कहा; जो कहा, वह तो ऊपर-ऊपर है, जो नहीं कहा वही असली है। जो बिना कहे उंडेला, वही असली है। अर्जुन के पात्र को सीधा रख लिया और खुद उसमें उंडल गये। यह तो सिर्फ समझाना था कि पात्र सीधा बैठने को राजी हो जाय। यह तो फुसलाना था। यह तो राजी करना था, ताकि वह अपने संदेह छोड़ दे, डाँवाडोल होना छोड़ दे, बैठ जाय, तो कृष्ण पूरे उसमें उतर जायँ।

यह घटना तो अदृश्य में घटी। यह तो आँख वालों को भी दिखाई नहीं पड़ेगी। अंधे की तो बात ही छोड़ दो। यह तो वहाँ युद्ध के मैदान पर जो लोग खड़े थे, उनको भी दिखाई नहीं पड़ी।

सैकड़ों मील दूर संजय ने ये शब्द सुने, टेलिपैथी से सुने होंगे या हो सकता है, रेडियो से सुने हों। दोनों एक-सी बातें हैं। पर बड़े दूर से सुने, यह बात महत्वपूर्ण है।

कृष्ण जैसे व्यक्ति जब बोलते हैं तो एक तो अर्जुन है, जो पास से सुनता है। पास का अर्थ है हृदय से सुनता है। और एक संजय है, जो दूर से सुनता है—सैकड़ों मील फासले से। उसके पास शब्द ही पहुँचते हैं।

और फिर संजय अंधे को बता रहा है—अंधे धृतराष्ट्र को, कि क्या हुआ। सब उधार होता जा रहा है। हजारों मील का फासला, सुने गये शब्द; और संजय टेकनिकल आदमी है। वह कोई हृदय का आदमी नहीं है; वैज्ञानिक रहा होगा, रेडियो-विद् रहा होगा, टैलिपैथी में कुशल रहा होगा; विशेषज्ञ है, एक्सपर्ट है। उसके पास तकनीक है। वह जानता है कि सैकड़ों मील दूर से कैसे सुना जा सके। लेकिन उसके पास पास होने की कला नहीं है। नहीं तो संजय ही स्वयं ज्ञान को उपलब्ध हो जाता। वह तो सिर्फ रिपोर्टर है—अखबार नवीस। उसको कुछ भी नहीं हुआ। वह अछूता ही रह गया। उसके चिकने घड़े पर कोई परिणाम न हुआ। इधर अर्जुन सोया था, जाग भी गया। इधर कृष्ण ने अर्जुन में अपने को उंडेल दिया। इस पृथ्वी पर घटने वाली कुछ अनूठी घटनाओं में एक घट गयी।

संजय को सारी खबर मिल रही है, मगर सब तकनीकी है। संजय पर ही दूर हो गयी बहुत, शब्दों की हो गयी, फासले की हो गयी, हृदय की न रही, मस्तिष्क की हो गयी। फिर संजय ने धृतराष्ट्र को कहा। फिर अंधे धृतराष्ट्र ने क्या समझा? कोरे शब्द रह गये, जिनमें से निःशब्द की ध्वनि भी खो गयी।





और फिर अंधे धृतराष्ट्र हजारों साल से गीता रट रहे हैं। आँखें नहीं हैं—देखने की, कान नहीं हैं—सुनने के, हृदय नहीं है—अनुभव करने का; लिए हैं गीता, रखे बैठे हैं। रटे जा रहे हैं, दोहराये जा रहे हैं। कण्ठस्थ हो जाता है, लेकिन आत्मस्थ नहीं होता।

ऐसा सदा ही हुआ है और सदा ही होगा। क्योंकि बहुत कम होंगे, जो अपने हृदय को, पात्र को सीधा रख कर सुन पायेंगे। बड़े साहस की जरूरत है, क्योंकि बड़े से बड़ा खतरा है; दुस्साहस है: किसी दूसरे व्यक्ति को अपने में निमंत्रित कर लेना, किसी दूसरे से आविष्ट हो जाना, किसी दूसरे के हाथ में अपने को सर्वांगीण रूप से छोड़ देना।

वही तो कृष्ण चाहते थे अर्जुन से: 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। सब छोड़, और मेरी शरण आ जा।' बड़े साहस की बात है, क्योंकि बेईमान मन, चालाक मन कहे चला जाता है: कहीं धोखा न हो; पता नहीं, इस आदमी को कुछ पता भी है या नहीं है; और हम कहीं ऐसे ही ठगे न जायँ। और तुम्हारे पास कुछ है भी नहीं ठगे जाने को। मगर फिर भी डर लगता है: कहीं चोरी न हो जाय। जो है ही नहीं, वह खो न जाय, इसका का भी डर लगता है!

अर्जुन ने हिम्मत की। उतनी हिम्मत तुम्हारे पास नहीं है, तो तुम गीता को याद करते रहो, तो तुम पंडित हो जाओगे, गीत पैदा न होगा और पंडित के जीवन में तो गीत होता ही नहीं। उसके जीवन में कितना ही गद्य हो, पद्य नहीं होता। उसके जीवन में कविता नहीं होती, गीत नहीं होता, सुर नहीं होता, संगीत नहीं होता। व्याकरण होगी, गणित होगा, तर्क होगा, काव्य नहीं होता।

काव्य के लिए तो प्रेमी चाहिए, पंडित नहीं। और काव्य के लिए तो एक और ही तरह की संवेदनशीलता चाहिए, जो सौंदर्य की पारखी है। इसलिए गीता इस मुल्क में सर्वाधिक पढ़ी गयी, सुनी गयी, लेकिन कुछ हुआ नहीं। गीत खोता चला गया। हमारे हाथ में धुएँ की लकीर रह गयी। जैसे आकाश से जेट निकल जाता है और पीछे धुएँ की लकीर छूट जाती है, ऐसे गीता का प्राण तो निकल गया कभी का, एक धुएँ की लकीर छूट गयी। उस लकीर को ही हम पकड़े बैठे हैं।

और तुमने पूछा है कि कृष्ण सर्वाधिक पूजे भी गये। वह भी झूठ है पूजा। कृष्ण को पूजना सर्वाधिक कठिन बात है। महावीर को पूजना आसान, बुद्ध को भी पूजना आसान, क्राइस्ट को भी पूजना आसान, मोहम्मद को भी पूजना आसान, लेकिन कृष्ण को पूजना बहुत कठिन है। क्योंकि महावीर के जीवन में एक व्यवस्था है। तुम भी उस व्यवस्था को समझ सकते हो। एक नीति है, एक नियम है, एक अनुशासन है, एक मर्यादा है।

कृष्ण तो अमर्याद हैं। उनके जीवन में कोई मर्यादा नहीं है। वे तो मुक्त हवा हैं,

अनप्रिडिक्टेबल हैं, उनके संबंध में कोई भविष्यवाणी नहीं हो सकती। तुम यह नहीं कह सकते कि कृष्ण क्या करेंगे। एक क्षण बाद क्या करेंगे, इसका भी कुछ पक्का नहीं है। उनके वचन तक का भरोसा नहीं किया जा सकता। वे अपना वचन भी तोड़ दे सकते हैं। क्योंकि वे क्षण-क्षण जीते हैं; उनके जीवन में कोई ढांचा नहीं है। वे कोई नहर की तरह नहीं हैं, नदी की तरह हैं। बाढ़ भी आती है; गरमी में सूख भी जाती है। गरमी में सूख जाती है, तो पतली धार हो जाती है। बाढ़ आती है, तो गाँव को बहा ले जाती है, मार्ग छोड़ देती है।

कृष्ण का जीवन रेलगाड़ी की पटरियों जैसा नहीं है कि उस बँधी हुई लकीर पर दौड़ रहे हैं। इसलिए कृष्ण बहुत बेबूझ हैं।

कृष्ण को पूजना आसान नहीं है। ऐसे तुम ठीक कहते हो कि लोगों ने कृष्ण को पूजा, लेकिन बिना समझे। बिना समझे की गयी पूजा का क्या मूल्य हो सकता है!

मेरी अपनी समझ ऐसी है कि तुम दो कारणों से पूजते हो। एक तो छुटकारा पाने को। जिससे भी तुम छुटकारा पाना चाहते हो, तुम कहते हो, 'अच्छा बाबा, हाथ जोड़े, पैर छुए; रास्ते पर जाने दो।'

कृष्ण की पूजा कुछ ऐसी ही है: 'अच्छा बाबा वाली' पूजा—कि क्षमा करो; आप भले, एकदम ठीक हैं; विवाद भी करना उचित नहीं आपसे, क्योंकि ज्यादा देर पास खड़े होना भी ठीक नहीं।

तुम थोड़ा सोचो—कृष्ण के जीवन को—ठीक शुरू से लेकर अंत तक। तुम इतने कंट्राडिक्शन्स, इतनी असंगतियाँ पाओगे कि तुम्हारा मन कहेगा: यह आदमी पूजा योग्य है? यह आदमी धार्मिक है, यह भी संदेह की बात मालूम पड़ती है। कूटनीतिज्ञ मालूम होता है; राजनीतिज्ञ मालूम होता है; अनैतिक मालूम होता है। कोई मर्यादा नहीं है इस आदमी की। कोई भरोसा नहीं किया जा सकता। लेकिन फिर भी तुम कहते हो, कि पूजा है, तो उसमें थोड़ी बात तो है। पूजा है: छुटकारा पाने को—कि ठीक है। हाथ जोड़ लिए; छूटे! ऐसा सदा हुआ है।

अगर कृष्ण जीवित मिल जायँ, तो तुम भाग खड़े होओगे। क्योंकि तुम्हारी सब धारणाएँ खंडित हो जाएँगी।

तुम थोड़ा सोचो। कृष्ण बाँसुरी बजाते तुम्हें कहीं मिल जायँ। राधा, जो उनकी पत्नी नहीं है, पास खड़ी हो। दूसरों की पत्नियाँ आसपास नाच रही हों, रास-लीला चल रही हो; तुम पुलिस में खबर करोगे, कि पूजा करोगे? तुम पुलिस में खबर करोगे। तुम कहोगे: 'यह कृष्ण कहानियों में ठीक है।' यह तुम्हारे घर में आ कर मेहमान हो जाय—मोर-मुकुट बाँधे हुए आज। तुम कहोगे: 'कहीं और ठहर जाओ, तो अच्छा होगा। आखिर हमें इस संसार में रहना है और पड़ोस के लोग भी हैं। कोई देख ले,





किसी को पता चल जाय कि आप आ गये।'

इस व्यक्ति को जिन्होंने जाना, उन्होंने पूर्ण-अवतार कहा है। पूर्ण-अवतार अमर्याद होगा। सब मर्यादा आदमी की है। परमात्मा के लिए क्या मर्यादा हो सकती है? सब सीमा आदमी की है। परमात्मा के लिए क्या सीमा हो सकती है? सब नियम आदमी के हैं; परमात्मा के लिए क्या नियम हो सकता है?

इसलिए इसमें बड़ा रहस्य है कि कृष्ण के जीवन को हमने अमर्याद बनाया है, अमर्याद जाना है, क्योंकि परमात्मा नियम के ऊपर होगा। अगर परमात्मा नियम के नीचे है, तो परमात्मा की कोई जरूरत ही नहीं है।

परमात्मा नियम के ऊपर होना चाहिए। इसलिए तो जैनों ने परमात्मा को इनकार कर दिया। उनके इनकार में बड़ा अर्थ है। वे कहते हैं: अगर परमात्मा को स्वीकार किया, तो नियम का क्या होगा? उनका तर्क यह है कि अगर परमात्मा भी नियम ही मान कर चलता है, तो वह व्यर्थ है; उसकी कोई जरूरत नहीं है। नियम काफी है। और परमात्मा नियम तोड़ सकता, तब तो उसकी बिलकुल भी जरूरत नहीं है, क्योंकि तब तो सब अनियम हो जाएगा। जीवन अराजक हो जाएगा। तब तो जो पाप करता है, वह स्वर्ग भेजा जा सकता है; जो पुण्य करता है, वह नरक में सड़ाया जा सकता है। तब तो त्यागी संसार में फेंका जा सकता है; भोगी मोक्ष में डाला जा सकता है—अगर परमात्मा नियम के ऊपर है।

तो जैनों ने कहा, 'यह खतरा मोल लेने जैसा नहीं है। परमात्मा को हम बीच में रखते नहीं हैं। नियम काफी हैं। और नियम के ऊपर कोई भी नहीं है।'

लेकिन हिन्दुओं ने यह खतरा मोल लिया है।

सिर्फ हिन्दू अकेली जाति है संसार में, जिसने परमात्मा की एक छबि कृष्ण में बाँधी है—अमर्याद। बड़ी गहरी बात है। समझ के पार जाती है।

समझ तो कहेगी, 'कुछ मर्यादा तो होनी ही चाहिए, नहीं तो हम सबका क्या होगा! लेकिन एक घड़ी तो ऐसी आनी ही चाहिए, जहाँ सब मर्यादाएँ खो जायँ, जहाँ नदी सब कूल-किनारे तोड़ दे और सागर में लीन हो जाय। सागर का कोई कूल-किनारा नहीं होना चाहिए।

तो कृष्ण उस अमर्याद दशा की बात है। वह हमारा संकेत है—आत्यंतिक, आखिरी सत्य की तरफ। उसकी तुम पूजा करते हो—बिना समझे। अगर समझ के तुम पूजा करोगे, तो तुम रूपांतरित हो जाओगे। लेकिन तुम्हारी पूजा अंधी है। तुम आँख बंद करके घंटी हिला के, फूल-पत्ती रख कर भाग खड़े होते हो। तुमने गौर से कभी कृष्ण के साथ आँखें नहीं मिलायीं। अन्यथा या तो तुम बदलते या कृष्ण को उठाकर फेंक देते। दो में से कुछ होता।

तुम पूजा करते हो—बिना आँख उठाये। ठीक से देखते भी नहीं; किसकी पूजा कर रहे हो! क्योंकि तुम खुद भी डरते हो कि अगर ठीक से आँख उठायी, तो निपटारा करना पड़ेगा। या तो यह कृष्ण जाएँगे और या फिर मुझे बदलना होगा। फिर सब तर्क छोड़ना पड़ेगा।

कृष्ण तो पागलों की दुनिया है—अतर्क्य की, दीवानों की। मीरा ने कहा है, 'सब लोक लाज खोयी।' चैतन्य नाचने लगे सड़कों पर—जब कृष्ण की चैतन्य-धारा से उनका सम्बन्ध हुआ।

चैतन्य ने की है पूजा, तो वे कृष्ण-रूप हो गये। मीरा ने की है पूजा, तो वह कृष्णरूप हो गयी। लेकिन बाकी लोग तो धोखा दे रहे हैं; खुद को धोखा दे रहे हैं। पूजा नहीं है; सब बहाना है। करनी चाहिये; एक औपचारिक कृत्य है। हिन्दू घर में पैदा हुए हो; कृष्ण की पूजा चलती रही है; कर लेनी चाहिए, कौन जाने वक्त-बेवक्त काम पड़ जाय!

मैंने सुना है: एक बूढ़ी स्त्री चर्च में जब भी शैतान का नाम लिया जाता तो जल्दी से सिर झुकाती थी। शैतान का जब भी नाम लिया जाय, पादरी जब भी शैतान के संबंध में बोले, जल्दी से सिर झुकाती। पादरी भी चकित हुआ। उसकी उत्सुकता बढ़ती गयी। एक दिन उसने चर्च के बाहर पकड़ा उस बुढ़िया को और कहा कि 'मैं कुछ समझ ही नहीं पाता। परमात्मा का जब नाम लेता हूँ, तब तू सिर झुकाती है, ठीक। मगर जब शैतान का नाम लेता हूँ, तब भी तू सिर झुकाती है!' उसने कहा कि 'कौन जाने, वक्त पर काम पड़ जाय। कुछ कहा नहीं जा सकता!'

तो तुम पूजा किये जाते हो। कौन जाने वक्त पर काम पड़ जाय। लेकिन यह कोई हृदय की आराधना नहीं है। औपाचरिकता है, चली आती है। लकीर को पीटे जाते हो, क्योंकि तुम्हारे पिता भी करते थे, उनके पिता भी करते थे। पूजा का कहीं कोई किसी के पिता से संबंध जुड़ता है? पूजा तो अपने हृदय का भाव है। जब उठती है, तो सब बाँध तोड़ देती है। फिर तुम हिसाब-किताब न रख पाओगे। जैसा प्रेम पागल है, भक्ति तो और भी बहुत पागल है। वह तो बहुत बावली है।

बंगाल में भक्तों का एक संप्रदाय है, उसका नाम है: बाऊल। 'बाउल' का अर्थ होता है: बावले। वे सिर्फ नाचते हैं, गाते हैं। वे कृष्ण पर फूल नहीं चढ़ाते हैं। उन्होंने अपने को चढ़ाया है। वे कृष्ण की मूर्ति भी नहीं रखते। वे कहते हैं: 'क्या मूर्ति रखनी! जहाँ नाचते हैं, वहीं कृष्ण साकार हो जाते हैं।' उनके पूजा-पाठ का कोई नियम, विधि-विधान नहीं है। क्योंकि वे कहते हैं: 'कृष्ण की पूजा-पाठ का क्या विधि-विधान! जिस आदमी के जीवन में ही कोई विधि-विधान न था, हम क्या उसकी पूजा में विधि-विधान बनायें। जब उठती है मौज, जब पकड़ लेती है मौज, तो पूजा हो जाती है।'





पढ़ी भी गयी गीता, सुनी भी गयी, पूजा भी तुमने की है, सब ऊपर-ऊपर है। सब दो कौड़ी की है। इसीलिए ऐसा हुआ कि इस देश से गीत भी खो गया, नृत्य भी खो गया, उत्सव भी खो गया और संन्यास में वह सुगंध न रही, जो कृष्ण चाहते थे कि उसमें हो।

कृष्ण का संन्यास संसार के विरोध में नहीं है। कृष्ण का संन्यास संसार के मध्य में है। जो संन्यास भी संसार के विरोध में होगा, वह आज नहीं कल सड़ जाएगा; उसकी जड़ें उखड़ जाएँगी, वह बहुत व्यापक नहीं हो सकता, क्योंकि उसे दूसरों पर निर्भर होना पड़ेगा।

और संन्यासी को गृहस्थ पर निर्भर होना पड़े, ऐसा संन्यास कितने दिन टिक सकता है? संन्यासी को बाजार पर निर्भर होना पड़े, दुकान पर निर्भर होना पड़े, वह कितने दिन टिक सकता है! इसलिए सभी संन्यास की परंपराएँ धीरे-धीरे सड़ जाती हैं, क्योंकि उन्हें अपने से विपरीत पर निर्भर रहना पड़ता है, मोहताज होना पड़ता है।

कृष्ण ने एक और ही संन्यास की धारणा दी थी—करते हुए, जीते हुए, सिर्फ फलाकांक्षा को तोड़ दो, छोड़ दो। कर्म को करते जाओ, कर्म की फलाकांक्षा भर न रह जाय। किसी को कानोकान पता भी न चलेगा कि तुम संन्यस्थ हो गये हो। यह एक भीतरी भाव-दशा होगी। ऐसा संन्यास कभी न सड़ेगा, क्योंकि ऐसे संन्यास की जड़ें संसार की भूमि में होंगी।

संन्यास ऐसा वृक्ष होना चाहिए जिसकी जड़ें तो संसार में हों और जिसकी शाखाएँ आकाश में; जो पृथ्वी को और स्वर्ग को जोड़ता हो, तब नहीं सड़ता है। तब नये फूल आते चले जाते हैं।

अब सूत्र।

'फिर वह सच्चिदानंदघन ब्रह्म में एकीभाव से स्थित हुआ, प्रसन्न चित्त वाला पुरुष न तो किसी वस्तु के लिए शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है, एवं सब भूतों में समभाव हुआ मेरी परा-भक्ति को प्राप्त होता है।'

परा-भक्ति भक्ति की ऐसी अवस्था है, जहाँ कुछ भी माँगने को शेष न रह जाय। जहाँ भक्ति ही अपने-आप में अपना आनंद हो, जहाँ भक्ति साधन न हो, साध्य हो जाय, वहाँ परा-भक्ति हो जाती है।

अगर तुम कुछ भी माँगते हो, तो भक्ति अभी परा-भक्ति नहीं है। अगर तुमने कहा: मोक्ष मिल जाय; तुमने अगर इतना भी कहा कि आनंद मिल जाय, सत्य मिल जाय, तो भी अभी भक्ति परा-भक्ति नहीं है। अभी माँग जारी है। अभी तुम भिखारी की तरह ही भगवान् के द्वार पर आये हो। और वहाँ तो स्वागत उन्हीं का है, जो सम्राट् की तरह आते हों, कुछ भी न माँगते हों। इतना ही है कि बस, भक्ति करने का अवसर मिल जाय, काफी है।

भक्ति ही अपने-आप में इतना महा-आनंद है, इतना बड़ा सत्य है, कि कुछ और चाह नहीं; तब परा-भक्ति। 'उस परा-भक्ति के द्वारा मेरे को तत्त्व से भली प्रकार जानता है कि मैं जो और जिस प्रभाव वाला हूँ तथा जिस भक्ति से मेरे को तत्त्व से जानकर तत्काल ही मेरे में प्रविष्ट हो जाता है।'

और परा-भक्ति के क्षण में भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं। भक्ति में अलग रहते हैं। भक्ति में भक्त भक्त है, भगवान् भगवान् हैं। भक्त की कुछ आकांक्षा है अभी। और आकांक्षा ही दोनों को विभाजित करती है। अभी भक्त पूरा नहीं खुला है; अभी अपनी माँग है। अभी अपने मन की कोई सूक्ष्म रेखा शेष रह गयी है। अभी कोई अपनी आकांक्षा का बारीक बीज बचा है, जल नहीं गया।

अभी भगवान् मिल जायें . . .। अगर तुम अपने से पूछो : 'अभी भगवान् मिल जायें, तो तुम उससे क्या माँगोगे, क्या कहोगे ?' अगर तुम गौर से देखोगे, तो तुम्हारी सब वासनाओं के बीज उभरने लगेंगे। मन कहने लगेगा, 'यह माँग लेंगे, वह माँग लेंगे।' तुम मुश्किल में पड़ जाओगे। हजार बातें मन माँगने लगेगा। तो अभी तो भक्ति भी पैदा नहीं हुई।

भक्ति तब पैदा होती है, जब मन मुक्ति माँगे, कि इस संसार से उब गया, थक गया। अब और जन्म-जीवन नहीं चाहता। अब परम विश्राम में लीन हो जाना चाहता हूँ—मोक्ष, निर्वाण, मुक्ति; तब भक्ति। लेकिन माँग अभी है। जब यह माँग भी खो जाती है, जब तुम मुक्ति भी नहीं माँगते; तब तुम कहते हो, 'जो है, बिलकुल ठीक है; जैसा है बिलकुल ठीक है।' तुम्हारे मन में अस्वीकार की कोई रेखा भी नहीं रही। इस क्षण तुम जैसे हो, परिपूर्ण हो। ऐसी परम तृप्ति का क्षण परा-भक्ति है।

उस क्षण परमात्मा और भक्त में कोई फासला नहीं रह जाता। सब सीमाएँ टूट जाती हैं। उसकी तरफ से तो कोई सीमा कभी है ही नहीं। तुम्हारी तरफ से थी, वह तुमने हटा ली। ऐसे क्षण में 'मेरे में तत्क्षण प्रवेश कर जाता है।' एक क्षण भी नहीं खोता।

'और मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी संपूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परमपद को प्राप्त होता है।'

कुछ छोड़ना नहीं पड़ता, कोई कर्म त्यागना नहीं पड़ता। सब करते हुए . . .। और यही सौंदर्य है कि सब करते हुए मुक्त हो जाओ।

भागकर मुक्त हुए, वह कायर की मुक्ति है, डरे हुए की मुक्ति है, भयभीत की मुक्ति है। और भागकर मुक्त हुए, तो पूरे मुक्त कभी भी न हो पाओगे। जिससे तुम भागे हो, उससे थोड़ा बंधन बना ही रहेगा।

एक जैन मुनि की मृत्यु हुई। उन्होंने कोई तीस साल पहले अपनी पत्नी को त्यागा, घर-बार छोड़ दिया। उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी जैनों में। प्रतिष्ठा का बड़ा कारण तो





यही था कि वे मूलतः हिन्दू थे और फिर जैन हो गये।

अब यह बड़े मजे की बात है। अगर कोई मुसलमान हिन्दू हो जाय, तो उसको बहुत सम्मान मिलेगा। मुसलमान अपमान करेंगे। अगर कोई हिन्दू मुसलमान हो जाय, तो हिन्दू अपमान करेंगे, मुसलमान बहुत सम्मान करेंगे।

तो हिन्दुओं में तो उनकी कोई प्रतिष्ठा न थी, लेकिन जैनों में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। क्योंकि जब भी कोई व्यक्ति अपने धर्म को छोड़ कर किसी और धर्म को स्वीकार करता है, तो उस धर्म के मानने वालों को यह प्रमाण मिलता है कि हमारा धर्म दूसरे धर्म से श्रेष्ठ है अन्यथा इस आदमी ने छोड़ा क्यों !

तो उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी, बड़ा सम्मान था। आदमी भी ऐसे सरल थे, साधु थे। निष्ठा से अपने को साधा था, लेकिन कहीं कोई बात चूकती गयी थी। संत नहीं थे, साधु ही थे; सज्जन थे।

पत्नी मरी; खबर आयी, तो उनके मुँह से निकला कि 'चलो, झंझट मिटी।' तो उनकी जिन्होंने आत्म-कथा लिखी है, जीवन-कथा लिखी है, उन्होंने बड़े गौरव से यह लिखा है : पत्नी के मरने पर कैसा वीतराग भाव कि उन्होंने कहा कि 'चलो झंझट मिटी !'

जिसने लिखी है, वे मेरे पास किताब लेकर आये थे—भेंट करने। मैंने किताब उलट-पुलट कर देखी। मैंने उनसे कहा कि यह तुमने सम्मान से लिखा है, कि 'चलो झंझट मिटी।' मेरे लिए तो यह बड़ी हैरानी की बात है। तीस साल पहले जिस पत्नी को तुम छोड़कर चले आये थे, अभी उसकी झंझट बाकी थी ! वह मरी और तुम कहते हो : झंझट मिटी। झंझट जरूर कहीं बाकी रही होगी। भीतर कहीं मन में लगाव बना रहा होगा।

और मैंने कहा, 'यह तो बड़ी हिंसात्मक बात है : किसी के मरने पर कहना कि झंझट मिटी। इसका मतलब है : तुम्हारे मन में कभी उसे मारने की भी आकांक्षा रही होगी; मर जाय, ऐसा भाव रहा होगा। उसकी मृत्यु से तुम्हें हल्कापन लगा है। तो उसकी मृत्यु की आकांक्षा तुममें सोयी ही रही होगी—ज्ञात-अज्ञात।

'और झंझट क्या थी तुम्हें ? जिस पत्नी को तीस साल पहले छोड़ आये, कभी मिलने नहीं गये कि वह भूखी है, कि मरती है। तुम को तो बहुत सम्मान मिलता रहा। लाखों रुपये आसपास लुटते रहे। बड़े मंदिर बने, धर्मशालाएँ खड़ी हुई और पत्नी पीस-पीस के अपना जीवन चलाती रही। और झंझट थी तुम्हें ! ' थोड़ी हैरानी की बात है।

लेकिन कभी-कभी आकस्मिक क्षणों में सच्चाईयाँ बाहर आ जाती हैं। पत्नी मरी, उस वक्त एक सच्चाई बाहर आ गयी कि 'झंझट मिटी'। झंझट थी। मेरे देखे बात ठीक है।

जिसको भी तुम छोड़कर जाओगे, उससे तुम्हारी झंझट बनी रहेगी। छोड़ कर जाने

का मतलब ही है कि डर कर भाग गये, समझ कर मुक्त नहीं हुए।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, जिसने जीवन में भक्ति के सूत्र को समझ लिया और मेरे ऊपर सब छोड़ दिया, वह सब कर्म करता हुआ परम पद को प्राप्त हो जाता है। उसे कुछ छोड़ना नहीं पड़ता, उससे सब छूट जाता है।

छोड़ना और छूट जाना—बड़ा फासला है दोनों में। छोड़ने में तो तुम होते हो, छूट जाने में तुम नहीं होते। और जहाँ तुम होते हो, वहाँ अहंकार निर्मित होता ही रहेगा। त्यागी हो जाओगे, तो त्याग का अहंकार आ जाता है।

'इसलिए हे अर्जुन, तू सब कर्मों को मन से मेरे में अर्पण करके, मेरे परायण हुआ समत्व बुद्धिरूप निष्काम कर्मयोग को अवलम्बन करके निरंतर मेरे में चित्त वाला हो।

'इस प्रकार तू मेरे में निरंतर मन वाला हुआ, मेरी कृपा से जन्म, मृत्यु आदि सब संकटों को अनायास ही तर जाएगा और यदि अहंकार के कारण मेरे वचनों को नहीं सुनेगा, तो नष्ट हो जाएगा अर्थात् परमार्थ से भ्रष्ट हो जाएगा।'

एक ही कारण है न सुनने का, बहरा होने का, वह अहंकार है। अगर तुम्हें पहले से ही पता है कि तुम जानते हो, तो फिर तुम सुन नहीं सकते। तुम ज्ञानी हो, तो सुन नहीं सकते।

अहंकार बहरापन है। वह एकमात्र बधिरता है। बहरे भी सुन लें, अहंकारी नहीं सुन सकता। कोई बहरा हो तो जरा जोर से बोल के बोल दो, चिल्ला के बोल दो। लेकिन अहंकारी की बधिरता ऐसी है कि कोई भी चीज प्रवेश नहीं कर सकती। अहंकार लौह-कवच है।

तो कृष्ण कहते हैं, 'अगर तू केवल अहंकार में घिरा रहा, समर्पण न कर सका, और मेरी बात तुझे सुनायी न पड़ी, तो तू नष्ट हो जाएगा।' नष्ट होने का इतना ही अर्थ है : यह जीवन फिर व्यर्थ हो जाएगा। ऐसे बहुत जीवन व्यर्थ और नष्ट हुए। अगर इस बार तू सुन ले, तो यह जीवन सार्थक हो जाय, सुकृत हो जाय, नष्ट न हो।

जिस दिन भी तुम अहंकार को छोड़कर देख पाओ, सुन पाओ, हो पाओ, उसी दिन जीवन सार्थक हो जाता है। उसी दिन तुम्हें जीवन का शास्त्र समझ में आ जाता है। फिर गीता पढ़ी हो, न पढ़ी हो; कुरान सुना हो, न सुना हो, कोई अंतर नहीं पड़ता। तुम्हारे भीतर ही वह भगवद् गीता का नाद शुरू हो जाता है।

कृष्ण तुम्हारे भीतर हैं। वहाँ से अभी गीता फिर पैदा हो सकती है। सिर्फ तुम्हारे अहंकार के टूटने की बात है।

समर्पण सूत्र है, अहंकार बाधा है।



## संसार ही मोक्ष बन जाय • झुकना सीखो • बुद्धि को छोड़ो समर्पण संन्यास है

**सोलहवाँ प्रवचन**

प्रात:काल, दिनांक ५ अगस्त, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुंनेच्छसि यन्मोहात् करिष्य वशोऽपितत् ॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥



और जो तू अहंकार को आलम्बन करके ऐसे मानता है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', तो यह तेरा निश्चय—मिथ्या है, क्योंकि क्षत्रियपन का स्वभाव तेरे को जबरदस्ती युद्ध में लगा देगा।

हे अर्जुन, जिस कर्म को तू मोह से नहीं करना चाहता है, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बंधा हुआ परवश हो कर करेगा।

क्योंकि हे अर्जुन, शरीररूप यंत्र में आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को परमेश्वर अपनी माया से, उनके कर्मों के अनुसार भ्रमाता हुआ, सब भूत-प्राणियों के हृदय में स्थित है।

इसलिए हे भारत, सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो, उस परमात्मा की कृपा से ही परम शान्ति को और सनातन परम धाम को प्राप्त होगा।

इस प्रकार यह गोपनीय से भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिए कहा है। इस रहस्ययुक्त ज्ञान को सम्पूर्णता से अच्छी प्रकार विचार करके फिर तू जैसा चाहता है, वैसा ही कर।

**पहले कुछ प्रश्न।**

● पहला प्रश्न : निष्काम कर्म-योगी संपूर्ण कर्मों को करता हुआ अविनाशी पद को उपलब्ध हो, यह गीता की साहसी परिकल्पना थी। आपने शायद पहली बार व्यापक पैमाने पर संन्यास को संसार के बीच खड़ा कर उस परिकल्पना को साकार किया है। गीता-दर्शन के समापन सत्र में इस कठिन साधना में हमारा मार्ग दर्शन करें।

निश्चय ही, गीता की परिकल्पना जितनी महत् है, उतनी ही दुस्साहसपूर्ण भी। संसार आसान है—संन्यास के बिना। संन्यास भी आसान है—संसार के बिना। दोनों को अलग रखें, तो गणित सीधा-साफ है। लेकिन अलग-अलग दोनों ही अधूरे हैं।

संन्यासी जो संसार को छोड़कर संन्यासी है, पंगु है, लंगड़ा है, आधा है। यदि कुछ छोड़ना पड़े, तो परिपूर्ण परमात्मा स्वीकार नहीं हुआ। यदि कुछ छोड़ना पड़े, तो समर्पण पूरा नहीं हुआ। यदि कुछ छोड़ना पड़े, तो कुछ 'छोड़ने योग्य' था; परमात्मा पूरा का पूरा वरणीय न था; अस्तित्व समग्र का समग्र ही स्वीकार न था, इस बात की घोषणा है।

जो संसार को छोड़ता है, वह परमात्मा को भी पूरा स्वीकार नहीं करता; उसने अपने विचार को परमात्मा के ऊपर रखा; उसने अपनी चिंतना को परमात्मा से भी श्रेयस्कर समझा। वह निर्णय कैसे लेता है—संसार को छोड़ने का?

परमात्मा ने अब तक संसार छोड़ा नहीं! छोड़ दे, तो संसार तिरोहित हो जाय। परमात्मा बनाये ही जाता है। महात्मा कहे जाते हैं : 'संसार व्यर्थ है, असार है।' परमात्मा संसार बनाये ही चला जाता है। उस खेल से वह थकता नहीं; उस खेल से वह विरत नहीं होता!

एक बात तय है : कितने ही महात्माओं ने संन्यास लिया हो—संसार छोड़कर, परमात्मा ने अभी तक संन्यास नहीं लिया है—संसार छोड़ कर। अब भी उसका रस कायम है। वह उसी आनंद से अब भी सृजन किये जाता है, जैसा कभी अतीत में किया हो

या कभी वह भविष्य में करे। उसके रस में एक बूंद भी कमी नहीं हुई है। उसकी रस-धार वैसी ही बही चली जाती है। अब भी फूलों को बनाते समय वह बेमन से नहीं बना रहा है। अब भी पक्षियों के कण्ठ में गाते समय, वह बेमन से नहीं गा रहा है! अभी भी तुम्हारे हृदय में वह वैसा ही धड़कता है—उसी ताजगी, उसी आशा, उसी स्वप्न से—जैसा सदा धड़का है!

गुरजिएफ ने कहा है और महत्वपूर्ण रूप से कहा है कि सभी धर्म परमात्मा के विरोध में हैं। इस बात में थोड़ी सचाई है, क्योंकि जो भी सिखाता है : 'संसार छोड़ दो', वह कहता है, 'परमात्मा को आधा छोड़ दो। बनाने वाले को स्वीकार करो, लेकिन जो उसने बनाया है—उसे इनकार कर दो।' यह तो ऐसे ही हुआ कि तुमने कवि की प्रशंसा की और उसकी कविता की निन्दा की। अब यह थोड़ा समझने जैसा है।

अगर कविता की निन्दा कर रहे हो, तो कवि की प्रशंसा असंभव है, क्योंकि वह कवि है—कविता के कारण। उसके काव्य में ही प्रकट हुआ है उसके भीतर का महिमावान स्वर; उसके प्राणों का गीत पंक्तिबद्ध हुआ है। उन पंक्तियों को तुम अस्वीकार करते हो!

यह ऐसे ही है, जैसे गीतांजलि को तो कचरे में फेंक दो और रवींद्रनाथ का गुणगान करो। यह बात बड़ी बेहूदी है, असंगत है; क्योंकि रवींद्रनाथ का मूल्य ही क्या है। मूल्य ही प्रकट हुआ है गीतांजलि से। यह बात जरूर सच है कि रवींद्रनाथ पूरे-पूरे गीतांजलि में नहीं समा गये हैं। और बड़ी गीतांजलियाँ पैदा हो सकती हैं। लेकिन गीतांजलि में भी उन्हीं के हाथ हैं, उन्हीं के हस्ताक्षर हैं।

परमात्मा संसार से विराट् है, बड़ा है। स्वभावतः कवि सदा बड़ा होगा—अपनी कविता से, क्योंकि कविता तो उसकी अनंत संभावनाओं में से एक है। अनंत कविताएँ पैदा हो सकती हैं। किसी कविता पर उसका काव्य-धर्म चुक नहीं जाता है। वस्तुतः हर कविता के द्वारा उसका काव्य-धर्म और निखरता है; झरना और बहता है; पत्थर और हट जाते हैं द्वार से।

जैसे-जैसे काव्य में कवि उतरता है, वैसे-वैसे उसकी कविता ज्यादा गरिमापूर्ण, गर्भवती होने लगती है। तो कोई कवि कविता पर चुक नहीं जाता। लेकिन कोई कवि—अगर तुम उसकी कविता को ही अस्वीकार कर दो—तो सार्थक भी नहीं रह जाता। मूर्ति को तो इनकार कर दो और मूर्तिकार को स्वीकार करो, तो तुमने बड़ी तरकीब से मूर्तिकार को अस्वीकार कर दिया।

दोस्तोवस्की का एक पात्र, उसकी बड़ी अनूठी पुस्तक : 'ब्रदर्स कर्माजोव' में परमात्मा से कहता है कि 'तू तो मुझे स्वीकार है; तेरा संसार नहीं।' लेकिन यह स्वीकृति कैसी है! फिर परमात्मा क्यों स्वीकार है, अगर उसका संसार स्वीकार नहीं?

संसार के अतिरिक्त तुमने परमात्मा की छबि कहाँ देखी है? संसार के अतिरिक्त





तुमने पद-चाप कहाँ सुने हैं, कहाँ देखे हैं? संसार के अतिरिक्त . . . अगर संसार बिलकुल ही खो जाय, तो क्या तुम्हें परमात्मा की परिकल्पना भी पैदा हो सकती है? संसार में ही तो तुमने उसका आभास पाया है; उसकी छाया देखी है, उसका प्रतिबिंब पकड़ा है। संसार ही तो दर्पण बना है, जिसमें तुमने पहली बार उसे पहचाना है; धुंधला सही, साफ नहीं; लेकिन उसके अतिरिक्त तो कोई पहचान ही नहीं है।

और जब भी कोई कहता है : 'तू तो मुझे स्वीकार है, तेरा संसार नहीं', तब वह बड़ी चालबाजी कर रहा है। हो सकता है, उसे स्वयं पता ही न हो कि वह क्या कह रहा है। यह चालबाजी अचेतन हो। शायद वह खुद भी चौंके—अगर हम उसे कहें कि 'तू यह क्या कह रहा है! तू बड़े होशियार ढंग से परमात्मा को अस्वीकार कर रहा है।' इससे तो वह नास्तिक ही बेहतर, जो कहता है : 'कोई परमात्मा नहीं है, यही संसार सब कुछ है।' इसे जरा सोचो।

जो कहता है, 'कवि का तो हमें कुछ पता नहीं है, यह कविता मधुर है।' यह भी कवि का थोड़ा गुणगान कर रहा है। उस आस्तिक से तो बेहतर है, जो कहता है, 'तेरा संसार अस्वीकार; तू स्वीकार है।' तब तो तुम परमात्मा के ऊपर अपने को रखते हो। तुम निर्णायक हो, तुम न्यायाधीश हो। तुम निर्णय लेते हो : क्या ठीक है, क्या गलत है। और तुम परमात्मा को प्रमाण-पत्र देते हो कि 'तू ठीक है। तेरे संसार में कुछ ठीक दिखाई पड़ता नहीं।'

बहुत आसान है संसार को छोड़कर भाग जाना। संसार को छोड़कर संन्यास आसान है। आसान इसलिए है कि तुमने विरोधाभास छोड़ दिया। तुमने जो पहेली थी, वह छोड़ दी, उसका हल नहीं किया है।

ध्यान रखना : पहेली को छोड़ देने और उसे हल करने में बड़ा फर्क है। छोड़ कर भाग जाना—हल करना नहीं है। वह तो हल करने के प्रयास से भी बच जाना है।

तो दुनिया में संन्यासी हुए—जिन्होंने संसार छोड़ दिया। उनके जीवन में एक तरह की सरलता आ जाएगी। मेरे मन में उस सरलता की बहुत प्रशंसा नहीं है, क्योंकि वह सरलता अनुभव-पकी नहीं है। वह सरलता संसार की मट्टी से गुजरी नहीं है। वह सरलता छोटे बच्चे की भाँति हो सकती है, लेकिन संत की भाँति नहीं।

छोटे बच्चे सरल होते हैं; इसलिए नहीं कि सरलता उन्होंने अर्जित की है। इसलिए कि जीवन का अनुभव नहीं हुआ है। उनकी सरलता खो जाएगी। आज नहीं कल, जीवन का अनुभव उनके कुँवारेपन को छीन लेगा। उनकी अनलिखी किताब जल्दी ही जीवन के अनुभव से लिख जाएगी, गन्दी हो जाएगी। वे बचा न पायेंगे अपनी सरलता को। वे जानते भी नहीं हैं कि सरलता क्या है। उनकी सरलता बेहोश है; उनकी सरलता अचेतन है।

जिन्होंने संसार छोड़ा, पहाड़ों पर भाग गये, उन्होंने भी एक तरह की सरलता

पा ली। वह बचपन जैसी सरलता है। फिर उन्हें भी डर लगता है—संसार में वापस लौट आने का; क्योंकि वे जानते हैं भली-भाँति कि संसार में गये कि उनकी सरलता खो जाएगी।

विनोबा के सामने कोई रुपया रखे, तो वे आँख बंद कर लेते हैं। रुपये से इतना डर क्या हो सकता है! रुपये जैसी कमजोर चीज से इतना भय? रुपया छूते नहीं। रुपया अगर मिट्टी ही है, तो मिट्टी को तो छूने से इनकार नहीं करते हो। रुपया अगर धातु ही है, तो और धातुओं को तो छूने से इनकार नहीं करते हो! रुपये से ही ऐसी क्या नाराजगी है!

नहीं; रुपये में भय है; नाराजगी नहीं है, डर है। रुपये में संसार है। रुपये में संसार बीज की तरह छिपा है। रुपये के पीछे पूरा संसार चला आता है। रुपये को जगह दो, कि तुमने पूरे संसार को आमंत्रण दे दिया। फिर सब चीजें धीरे-धीरे चली आयेंगी। तुमने बीज सम्हाला कि वृक्ष हो जाएगा। भय है।

आखिर हिमालय पर जाने से क्या सार होता होगा? भय है। संसार में रहते हैं, तो संसार कलुषित करता है। संसार में रहते हैं, तो भूल-भूल जाते हैं सरलता को; जटिल हो जाते हैं। बेईमानी, धोखा, प्रवंचना—सब पकड़ लेते हैं।

अगर बेईमानी, धोखा और प्रवंचना पकड़ लेते हैं, इस कारण कोई भाग गया है, तो वह इनसे मुक्त नहीं हुआ है। जब भी लौटेगा, फिर पकड़ा जाएगा। इस जन्म में भाग जाओगे, फिर गर्भ बनेगा, फिर संसार में आओगे। इससे कुछ सार नहीं है।

जीवन की समस्या का समाधान खोजना है; और पलायन समाधान नहीं है। सरल है; इसलिए समाधान मत समझ लेना। सरल होने से कोई चीज श्रेयस्कर नहीं हो जाती। यद्यपि जब परम समाधान फलित होता है, तब भी एक सरलता बरसती है, लेकिन वह सरलता बड़ी और है। उसका गुण और, उसका सौंदर्य और, उसका आनंद और। और फर्क क्या है? फर्क यही है कि वह अनुभव कसी है। उसको ही कृष्ण दृढ़ वैराग्य कहते हैं। वह अनुभव पका है। वह कच्चा फल नहीं है, जो तोड़ लिया गया हो। वह पक्का फल है, जो अपने से गिर जाता है। उसने सब ले लिया, जो वृक्ष से लेना था; पा लिया, जो पाना था। अब वह राजी है, तैयार है। अब गिर जाने को प्रतिपल तैयार है। हवा का जरा-सा झोका, या झोका न भी हो, तो भी गिरेगा।

संसार से पक कर जो संन्यास आविर्भूत होता है, वह पका फल है। वह दृढ़ वैराग्य है।

कठिन लगेगा, क्योंकि कठिनाई से गुजरना होगा। पर ध्यान रखना, जीवन में कुछ भी मुफ्त नहीं मिलता। हर चीज के लिए चुकाना पड़ता है। और वास्तविक संन्यास पाना हो, तो बड़ी कठिनाइयों से गुजरना पड़ता है। भागना कोई कठिनाई है? वह कायर की जीवन-दृष्टि है। उससे कुछ भी हल नहीं होता। शुतुर्मुर्ग का तर्क है। शुतुर्मुर्ग देखता है :





कोई हमला करने आ रहा है, सिर रेत में गड़ा कर खड़ा हो जाता है। दुश्मन दिखाई नहीं पड़ता; शुतुर्मुर्ग प्रसन्न हो जाता है, कि झंझट मिटी। न दिखेगा, न है।

तुम भाग जाओगे जंगल में; संसार रहेगा, मिट नहीं गया। बीज में रहेगा, तुम्हारे भीतर रहेगा, तुम्हारी वासना में रहेगा, तुम्हारी आकांक्षा में रहेगा, तुम्हारे भय में रहेगा। तुम कैसे दूर-दूर भागते रहोगे? कब तक भागते रहोगे? तुम्हें वापस बार-बार लौट आना पड़ेगा। और तुम्हारे मन में भी संसार के ही विचार चलेंगे, संसार की ही हवाएँ बहेंगी। तुम उनसे ही जूझोगे, उनसे ही लड़ोगे।

तुमने संतों की जीवन-कथाएँ पढ़ी हैं, जो भाग गये हैं—संसार छोड़कर; तो उनकी कल्पना में संसार कैसे हमले करता है! ईसाई महात्माओं के जीवन-संस्मरण हैं; तो शैतान हजार तरह के हमले करता है। वह शैतान कोई भी नहीं है। वह तुम्हारी ही विचार-वासनाएँ हैं, जो अधूरी रह गयी हैं, विकृत हो गयी हैं, विकराल हो गयी हैं। पक नहीं पायी हैं, घाव बन गयी हैं; उनका ही हमला होता है।

बुद्ध की जीवन-कथा है कि बुद्ध जब ध्यान के लिए बैठते हैं, तब मार (कामदेव) सताता है। वह आता है हजार रूपों में; डिगाता है। कोई कामदेव कहीं है नहीं। अगर कहीं कामना अधूरी रह गयी है, तो ही सतायेगी।

जो अधूरा रह गया, वही दुःख-स्वप्न बन जाता है। जो पक गया, उसमें से तो सोना निकल आता है। जो अधूरा रह गया, वह घाव हो जाता है। वह रिसता है, उसमें मवाद बनती है, उसमें पीड़ा पलती है।

पर सरल दिखता है पलायन, हमेशा सरल दिखता है पलायन। घर में पत्नी बीमार पड़ी है, इलाज करना है, दवा लानी है; तुम भाग गये, सिनेमा में बैठ गये। तीन घंटे के लिए भूल गये, सही। बच्चा मर रहा है, इलाज करना है, चिकित्सा करनी है, तुम मंदिर चले गये। घड़ी भर अपने को भजन-कीर्तन में डुबा लिया; भूल गये। पर इससे कुछ हल नहीं होता। बच्चा मर रहा है, पत्नी बीमार पड़ी है, घर में भूख है; भाग-भाग कर तुम कहाँ जाओगे? यही भगोड़ा तो शराबखाने पहुँच जाता है, शराब पी लेता है। जीवन में समस्याएँ हैं, शराब पी कर बैठ जाता है!

अगर तुम ठीक से समझो, तो भागने वाले संन्यासी का ढंग और शराबी का ढंग एक ही है; अलग-अलग नहीं है। वे दोनों यह कह रहे हैं कि किसी तरह भाग जाना है। संन्यासी भौगोलिक रूप से भागता है, शराबी मानसिक रूप से भागता है, लेकिन दोनों भाग रहे हैं। जीवन की स्थिति घबड़ाने वाली है। वह दिखाई न पड़े, आँख बंद हो जाय।

सूरदास की कथा है। मैं नहीं जानता कहाँ तक सही है। सही हो, तो सूरदास बिलकुल बेकार हो जाते हैं। सही न हो, तो ही कुछ सार है। कथा है कि आँखें फोड़ लीं, क्योंकि आँखों से सुंदर स्त्रियाँ दिखाई पड़ती हैं। सुंदर स्त्रियाँ दिखाई पड़ती हैं, तो वासना उठती

है। वासना उठती है, तो मन विकारग्रस्त होता है। मन विकारग्रस्त होता है, तो परमात्मा का स्मरण नहीं हो पाता। आँखें फोड़ लीं!

क्या तुम सोचते हो: आँख फोड़ लेने से वासना चली गयी होगी? और भी प्रगाढ़ हो गयी होगी। आँख बंद करके देख लो। आँख बंद करने से वासना चली जाएगी? तो आँख फोड़ने से कैसी चली जाएगी?

वासना आँख के कारण थोड़े ही पैदा होती है; वासना के कारण आँख पैदा होती है। वासना गहरी है—आँख से ज्यादा गहरी है। आँख तोड़ दो, हाथ काट दो, इससे कुछ फर्क न पड़ेगा। कान बहरे कर लो, इससे कुछ फर्क न पड़ेगा। सब इंद्रियों को जला डालो, लेकिन तुम जब तक हो, सारी वासना रहेगी।

वासना तुममें है। इंद्रियाँ तो उपकरण हैं, जो तुम्हारी भीतर की वासना ने निर्मित किये हैं; अपने को पूरा करने के लिए उसने उपकरण बनाये हैं।

उपकरणों को तोड़ने से क्या होगा! फिर तुम नये उपकरण बना लोगे। इसलिए तो हर जन्म में तुम बार-बार उपकरण बनाते हो।

तो सरल भला दिखाई पड़े, भगोड़ा संन्यास संन्यास ही नहीं है।

अगर कभी भागे हुए लोगों में से कुछ लोग उपलब्ध हो गये हैं, तो तुम इससे यह मत समझ लेना कि वे भागने के कारण उपलब्ध हो गये हैं। वे भागने के बावजूद उपलब्ध हो गये हैं।

मेरा मतलब ठीक से समझ लेना; क्योंकि बुद्ध और महावीर भी भागे हैं। फिर भी वे उपलब्ध हो गये हैं, इसमें कोई शक नहीं है। लेकिन भागने के कारण उपलब्ध नहीं हो गये हैं। भागने के बावजूद उपलब्ध हो गये हैं।

ऐसा समझो कि तुम यहाँ चल के आये हो और एक दूसरा आदमी सड़क पर लोटता हुआ आया है। वह लोटने के कारण यहाँ तक नहीं आ गया है; लोटने के बावजूद आ गया है। तुम चलते हुए आ गये हो, वह लोटता आया है, कोई घसिटता आया है। किसी ने अपने पैर काट डाले हैं। वह बिना पैर के सरकता हुआ आया है। इससे तुम यह मत सोचना कि सरकने के कारण यहाँ आ गया है, पैर काटने के कारण यहाँ आ गया है; पैर काटने के बावजूद आ गया है। यह चमत्कार है कि वह आ गया है। यह अपवाद है कि वह आ गया है।

जिन लोगों ने संसार छोड़कर संन्यास लिया और संन्यास से सत्य को पाया, वे अपवाद स्वरूप हैं; उनको तुम नियम मत बनाना। ऐसे कुछ लोग हैं वे महाशक्तिशाली हैं। शायद इसीलिए विपरीत मार्ग से भी पहुँच गये हैं।

ऐसा समझो कि तुम्हें मेरे पास आना है, तो तुम पूरब चल के आते हो। और कोई आदमी पूरब तो नहीं चलता—मेरे पास आने के लिए—पश्चिम चलता है। वह भी आ जाएगा—अगर चलता ही रहा। लेकिन सारी पृथ्वी का चक्कर लगा कर आ पायेगा।





इससे तुम यह मत समझना कि पश्चिम चलना मार्ग है—यहाँ आने का। पूरब चल कर दस कदम में जो घटना घट जाती थी, पश्चिम चल कर हजारों मील में घटेगी। लेकिन अगर कोई चलता ही रहा, चलता ही रहा, तो पहुँच जाएगा। हजार चलेंगे, एक पहुँचेगा। नौ सौ निन्यानबे रास्ते में गिरेंगे और खो जाएँगे।

इसलिए तो महावीर और बुद्ध के पीछे हजारों लोग चले, लेकिन बहुत कम लोग पहुँच पाये। महावीर और बुद्ध पहुँच गये, वे बड़े असाधारण पुरुष हैं। वे चलते ही रहे। कितनी ही लम्बी यात्रा थी, लेकिन वे करते ही रहे। वे नहीं पहुँचे: ऐसा मैं नहीं कहता हूँ, लेकिन उनके पहुँचने को तुम नियम मत मानना। वह अपवाद है, चमत्कार है। होना नहीं चाहिए था और हुआ है। उससे गणित नहीं बनता। उससे सामान्य यात्री के लिए सूत्र नहीं मिलते।

भागना सरल दिखाई पड़ता है। ऐसे बहुत कठिन है वह भी, क्योंकि भागने की वजह से पहुँचना बहुत मुश्किल हो जाता है। ऊपर से सरल दिखाई पड़ता है। दिखावे के धोखे में मत पड़ना। समस्या को हल ही करना उचित है। कितनी ही कठिनाई लगे हल करने में, हल कर लेना ही उचित है; क्योंकि उस हल करने के माध्यम से ही तुम बढ़ोगे, विकसित होओगे। तुम्हारी जीवन संपदा खुलेगी। तुम अपनी अंतरआत्मा के मालिक बनोगे।

भागना ऊपर से सरल दिखाई पड़े, पीछे बहुत कठिनाइयों में ले जाएगा। और पहुँचना असंभव हो जाएगा।

तो एक तो सरल बात दिखाई पड़ती है: संन्यास ले लो, छोड़ दो संसार। और अकसर गलत लोग ही छोड़ते हैं। जो यहाँ हार जाते हैं, उदास हो जाते हैं, जिनकी अपेक्षाएँ पूरी नहीं होतीं, जो बड़ी महत्वाकांक्षा से भरे थे और महत्वाकांक्षा पराजित हो जाती है, टूट जाती है। जो खंडहर की भाँति हो जाते हैं, वे भाग जाते हैं। वे संसार को छोड़ते हैं—ऐसा नहीं है। उन्होंने जो चाहा था, वह संसार में नहीं पाया; भागते हैं। चाह को नयी तरफ लगाते हैं। जो उन्होंने संसार में पाना चाहा था, अब वह ईश्वर में पाना चाहते हैं, मोक्ष में पाना चाहते हैं। उनका मोक्ष भी संसार का ही फैलाव है। क्योंकि वे कच्चे हैं।

मोक्ष तो पकी हुई चेतना को हो सकता है। कच्ची चेतना तो वही माँगती रहेगी—जो वह संसार में माँग रही थी। इसलिए इन्हीं तरह के लोगों ने स्वर्ग की कल्पना की है, जहाँ, संसार में जो नहीं मिला, उस सब सुख का आयोजन कर लिया है। यहाँ सुंदर स्त्रियाँ नहीं मिलीं, तो स्वर्ग में अप्सराएँ बना लीं। यहाँ शराब नहीं पी पाये, तो स्वर्ग में शराब के चश्मे बहा लिये हैं।

जो यहाँ नहीं मिला, वह स्वर्ग में बना लिया। स्वर्ग इसी तरह के असफल लोगों की कामना है। स्वर्ग कहीं है नहीं। वह हारे हुए मनों का स्वप्न है। और इन्हीं लोगों ने

नरक की कल्पना की है—दूसरों के लिए, जो जीत गये हैं, जिनसे ये हार गये हैं।

तुम पद की दौड़ में थे और दिल्ली नहीं पहुँच पाये। दूसरा पहुँच गया। तो अपने लिए तुम स्वर्ग बना लोगे, क्योंकि तुमने संसार त्याग दिया; और जो दिल्ली पहुँच गया, उसे तुम नरक में डालोगे, क्योंकि संसार की सफलता नरक में ले जाती है : ऐसी तुम धारणा करोगे।

तुम अपने से विपरीत को नरक में डाल दोगे, आग में जलाओगे, तेल की कड़ाहों में भूनोगे, तलोगे और अपने को स्वर्ग में रखोगे; अप्सराएँ नाचेंगी चारों तरफ। यह घाव भरा मन है। यह कच्चा फल है।

जो वस्तुतः संसार से पक के जाते हैं, उनके लिए स्वर्ग और नरक दोनों नहीं हैं। उनके लिए दो और चीजें हैं : संसार और मोक्ष।

संसार है : तुम्हारा अंधा होना; संसार है : तुम्हारी आँख का बंद होना। मोक्ष है : तुम्हारी आँख का खुल जाना। संसार है—अँधेरा; मोक्ष है—प्रकाश।

संसार और मोक्ष दो हैं, ऐसा कहना शायद ठीक नहीं। संसार और मोक्ष तो एक ही हैं, तुम्हारे देखने के ढंग दो हैं। जब तुम अज्ञान से भरे हुए देखते हो, तो वही संसार है। और जब तुम ज्ञान से भर कर देखते हो, तो वही मोक्ष है। जीवन तो एक है। इसलिए झेन फकीरों ने कहा है : 'संसार और मोक्ष दो नहीं हैं। संसार ही मोक्ष है।'

दूसरा वर्ग है, जो संसार को पकड़ कर बैठा रहता है। एक भागता है, एक पकड़ कर बैठा रहता है, वह ईश्वर को इनकार करता है। यह थोड़ा समझ लेने जैसा है। इनकार दोनों करते हैं।

भागने वाला संसार को इनकार करता है, स्रष्टा को स्वीकार करता है। संसार को पकड़ने वाला सृष्टि को स्वीकार करता है, स्रष्टा को इनकार करता है। पर दोनों के भीतर इनकार है, दोनों आधे-आधे को मानते हैं।

संसार को पकड़ने वाला कहता है : 'कहाँ का धर्म, कहाँ का मोक्ष, कहाँ का संन्यास? सब धोखा है, सब पाखण्ड है। सब हारे हुए लोगों के मन की सांत्वना है।' मार्क्स ने कहा है : 'अफीम का नशा है धर्म। कुछ है नहीं; हारे-थके लोगों को अपने-आप को भूला लेने का उपाय है; शराब है, अफीम है, नशा है। कोई परमात्मा नहीं है।'

जो संसार को पकड़ना चाहता है, वह कहता है, 'कोई परमात्मा नहीं।' उसे परमात्मा से डर लगता है, क्योंकि अगर परमात्मा है, तो संसार को ठीक से पकड़ न पायेगा।

अगर परमात्मा है, तो संसार काफी नहीं है : यह बात बेचैनी पैदा करेगी। अगर परमात्मा है, तो संसार से ऊपर उठना है। तो यात्रा जारी रखनी पड़ेगी। तो फिर अभी मंजिल नहीं आ गयी है।

जिसको संसार पकड़ना है, वह परमात्मा से भयभीत है। जिसको परमात्मा पकड़ना





है, वह संसार से भयभीत है। लेकिन दोनों भयातुर हैं।

संसार पकड़ना भी आसान मालूम पड़ता है, आसान है नहीं। तुम सभी जानते हो। संसार में हो, जानते हो; कितना ऊपर से आसान दिखता है, भीतर कितना कठिन है। हमने धोखा दिया है—ऊपर से आसान बना लेने का।

किसी की शादी होती है। बैंड-बाजे बजाते हैं; फूल, गीत-गान—ऐसा ढंग देते हैं, जैसा कि स्वर्ग का द्वार खुल रहा है। खुलता नरक का द्वार है। लेकिन एक बार शादी हो गयी किसी की, लोग आशीर्वाद देकर विदा हो गये। जो आशीर्वाद देकर विदा हो जाते हैं, वे भी भली भाँति जानते हैं, क्योंकि यह दुःखद घटना उनके साथ भी घट चुकी है। लेकिन फिर भी चेहरेसे मुसकरा रहे हैं, आशीर्वाद दे रहे हैं!

और हमारी कहानियाँ हैं, जो कहती हैं : युवक-युवती की शादी हो गयी; फिर वे दोनों सुख से रहने लगे। कहानियाँ यहीं खतम हो जाती हैं। फिल्मे हैं, जिनमें यहीं परदा गिर जाता है; नाटक यहीं समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि इसके बाद जो असली चीज शुरू होती है, वह दिखाने योग्य नहीं है। वह बहुत दुःखपूर्ण है। उसको बताना क्या? उसको तुम जिंदगी में ही देख लोगे। जिंदगी ही उसे बहुत दिखा देगी।

तो कहानी को तो हम मधुर रखते हैं। बस, शहनाई बजती है, फूल-माला डलती है और परदा गिर जाता है। और फिर हम कहते हैं : 'वे दोनों सुख से रहने लगे!' उसके बाद ही असली दुःख शुरू होता है। उसके पहले शायद थोड़ा-बहुत सुख रहा हो; कम से कम आशा में तो रहा ही होगा; कल्पना में रहा होगा; स्वप्न में रहा होगा। फिर सब स्वप्न बिखर जाते हैं।

और ऐसा ढंग पूरे जीवन का है।

कोई धनी हो जाता है, तो हम कहते हैं, 'कैसा सौभाग्यशाली है।' शुभ कामनाएँ करते हैं। और हम कभी धनी के मन से नहीं पूछते कि 'तेरे भीतर कैसे नरक खुल रहे हैं। तू कैसी पीड़ा में पड़ गया है।' न वह भोजन कर सकता है, क्योंकि धन कमाने में भूख मर गयी। धन इतना कमा लिया, कि भोजन करने की सुविधा ही न रही—जीवन में। धन इतना कमा लिया, उसकी दौड़-धूप में इतने व्यस्त हो गये कि शरीर की कौन फिक्र करे? कौन भोजन करे ठीक से? कौन ठीक से सोये? सदा सोचा कि जब धन कमा लेंगे, करोड़पति हो जाएँगे, तब ठीक से सोयेंगे—बिस्तर लगाकर, चादर तान कर। लेकिन इस बीच सोना ही भूल गये। धन तो हाथ में आ गया, लेकिन नींद नहीं आती। धन तो हाथ में आ गया, लेकिन भूख नहीं लगती। धन तो हाथ में आ गया, लेकिन अब इसका क्या करें? क्योंकि जीवन की सारी की सारी शैली विकृत हो गयी।

धनी से पूछो—उसका दुःख। न वह सो सकता है, न वह ठीक से भोजन कर सकता है; न वह ठीक से हँस सकता है, न रो सकता है। तुम उसके कारागृह को समझ ही नहीं

पाते। तुम शुभकामनाएँ लेकर जाते हो। तुम कहते हो, 'धन्यभाग हैं, किये होंगे पिछले जन्म में पुण्य कर्म, उनका फलभोग रहे हो।' वह इसी जन्म के पाप कर्मों का फल भोग रहा है। तुम बता रहे हो कि पिछले जन्म में पुण्य कर्म किये होंगे, उसका फल भोग रहे हो। लेकिन वह भी ऊपर से चेहरा बनाता है। क्या सार है, अपने भीतर के घाव खोलने से। ऊपर मुसकुराता है, भीतर काँटे गढ़ते चले जाते हैं। ऊपर झूठे फूल लगाये चला जाता है!

राजनीतिज्ञ से पूछो; सफल हो जाता है, पद पर पहुँच जाता है। हिटलर से पूछो, मुसोलिनी से पूछो, क्या पाया है? सिवाय पीड़ा के कुछ भी नहीं पाया, सिवाय विक्षिप्तता के कुछ भी नहीं पाया। जीवन एक महा नरक हो गया—एक बड़ा दुःखस्वप्न—जिसका कोई अंत आता नहीं मालूम होता। और अंततः आत्मघात हाथ में रह जाता है। लेकिन इतिहास इनकी कहानियाँ लिखेगा और नये बच्चों को भरमायेगा। इनको इतिहास सफल पुरुषों में गिनगा, विजेता कहेगा। इतिहास-पुरुष बन जाएँगे ये पागल लोग, जिनका नाम भी पोंछ दिया जाना चाहिए, कि भविष्य में किसी को याद भी न रहे कि हिटलर और मुसोलिनी जैसे लोग भी हुए हैं।

लेकिन अगर तुम ऐसे इतिहास को पोंछने लगो, तो तुम्हारा पूरा इतिहास ही पुछ जाएगा, क्योंकि सिवाय युद्धों के—युद्ध में जीतने और हारने वालों के और तो तुम्हारा इतिहास कुछ भी नहीं है। बुद्ध पुरुषों की तो भनक भी उसमें सुनाई नहीं पड़ती। उसमें तो पागलों का ही शोरगुल मालूम पड़ता है! और पागल इतने जोर से चीखते, पुकारते, चिल्लाते हैं कि बुद्ध पुरुषों के वचन कहाँ खो जाते हैं, पता ही नहीं चलता।

एक तरफ संसार है। वह सरल लगता है, ऊपर से पकड़ लेना। ऐसा भीतर से इतना सरल नहीं है। इसलिए जो भी संसार में है, उसके मन में संन्यास का आकर्षण पैदा होता है। वह सोचता है: यहाँ तो दुःख पा रहा हूँ, शायद वहाँ सुख मिले। विपरीत का आकर्षण पैदा होता है। यह तो देख लिया, यहाँ दुःख पाया; शायद सुख वहाँ हो। इसलिए तुम धनपतियों को, संसारियों को, राजनेताओं को, संन्यासियों के चरणों में बैठे देखोगे। ज्ञान-चर्चा सुनने गये हैं! सत्संग करने गये हैं!

दिल्ली में जितने नेता हैं, सबके गुरु हैं। जरूरी है। वह गुरु बिलकुल आवश्यक है, वह सहारा है। उससे यह लगता है कि कोई फिक्र नहीं, अभी दुःख झेल रहे हैं, जल्दी हम भी इस यात्रा पर चले जाएँगे। और जब कोई राजनेता हार जाता है, तब तो वह निश्चित किसी गुरु की तलाश में निकल जाता है। जब तक जीतता है, तब तक फुरसत न भी मिले, हारते ही फुरसत मिलती है। वह भागता है। खोजो, किसी बाबा को, किसी के चरण को पकड़ो। अब सम्हालो दूसरा सत्य; यह तो नहीं सम्हाला, और इसमें तो दुःख पाया।

संसारी के मन में संन्यास का आकर्षण बना रहता है। बादशाहों के मन में भी—





भिखारी में मस्ती है—इसका आकर्षण बना रहता है।

महलों में जो रहते हैं, वे ईर्ष्या करते हैं—उनसे, जो झोपड़ों में सोते हैं, क्योंकि वे सोते हैं। उनकी नींद देखने जैसी है, उसका सौंदर्य अनूठा है। घोड़े बेच कर सोते हैं। घोड़े नहीं हैं—उनके पास। यह कहावत उनके लिए लागू है, जिनके पास घोड़े हैं ही नहीं। वे घोड़े बेच कर सोते हैं। जिनके पास घोड़े हैं, वे तो सोते ही नहीं। घोड़े इतने हिनहिनाते हैं, सोयें कैसे?

गरीब सोता है, अमीर के मन में ईर्ष्या आती है।

गरीब को भोजन करते देखो। जिस उत्साह, जिस आवेश और जिस आनंद से भूख उसे पकड़ती है, उसके लिए अमीर ईर्ष्या से मर जाता है। हजार चिकित्साएँ करवाता है; उपवास करता है, प्राकृतिक चिकित्सकों तक के चक्कर में पड़ जाता है, कि किसी तरह भूख लग आये। भूख नहीं लगती। भूख मर गयी। ईर्ष्या से देखता है भिखमंगे को, जिसके हाथ में रूखी रोटी है, लेकिन जिसका पेट अभी जवान है; और जिसके प्राण अभी पचाते हैं।

स्वाभाविक है कि विपरीत का आकर्षण बना रहे।

भिखमंगा बड़ी आशा और आकांक्षा से देखता है—महलों की तरफ। जरूर वहाँ सुख बरस रहा होगा! महलों में रहनेवाले लोग भिखमंगे की तरफ देखते हैं। इसकी ताजगी, इसके चलने की रौनक, इसकी मस्ती। कमा लिये दो-चार रोटी दिन में, बस, बात खतम हो गयी। संसार समाप्त हुआ। फिर यह संन्यासी है। फिर यह बैठ कर अपनी ढपली पर गीत गाता है। यह रात देर तक नाचता है। कल जैसे है ही नहीं। क्या फिक्र, कल फिर माँग लेंगे; कल फिर भीख मिल जाएगी। भिक्षा-पात्र काफी संपदा है। उसको ही सिर के नीचे तकिया बना कर रात को सो जाता है। ईर्ष्या लगती है।

तो जो संसार को पकड़े हुए है, वह संन्यास के लिए हमेशा ईर्ष्यातुर रहेगा। उसके मन में संन्यास की आकांक्षा रहेगी। वह हमेशा खोजेगा—अपने से विपरीत को और सोचेगा कि विपरीत में आनंद है। और यही हालत संन्यासियों की है।

मेरे पास बुजुर्ग से बुजुर्ग संन्यासियों का मिलना हुआ है। वे भी मुझसे एकांत में यही कहे हैं कि कभी-कभी हमें शक होने लगता है कि हमने भूल तो नहीं की—सब छोड़ कर! सब छोड़ तो दिया, पाया कुछ भी नहीं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि संसार से हट कर हमने गलती कर ली। कहीं ऐसा तो नही है कि संसार ही सब कुछ था। कुछ और है ही नहीं, मन की वंचना है, धोखा है।

और संन्यासी देखता है, तो उसे लगता है कि संसारी सुखी मालूम पड़ते हैं। हँसते भी हैं, नाचते भी हैं, गीत भी गाते हैं, उत्सव भी होता है। तुम समझ नहीं सकते कि संन्यासी

के मन में तुम्हारे प्रति ईर्ष्या जगती है ! वह भी भीतर-भीतर रस लेता है कि शायद वहीं सब कुछ घट रहा है ।

मैंने सुना है कि एक वेश्या और संन्यासी आमने-सामने रहते थे । एक ही दिन मरे । देव-दूत इकट्ठे हुए और संन्यासी को नरक ले जाने लगे और वेश्या को स्वर्ग । फिर किसी को संदेह पैदा हुआ, क्योंकि संन्यासी चिल्लाया, 'यह क्या कर रहे हो ? कुछ गलती हो गयी ! मुझे स्वर्ग ले जाओ, मैं संन्यासी हूँ ; इस वेश्या को ले जा रहे हो ! इससे ज्यादा पापिनी, व्यभिचारणी कोई स्त्री न थी । जरूर साथ हम मरे हैं, साथ ही ऑर्डर निकले हैं ; कहीं भूल-चूक हो गयी है, दफ्तरों में अकसर हो जाती है । तुम गलत जगह ले जा रहे हो ।'

यात्रा रोक दी गयी । देवदूत भागे । उनको भी शक हुआ कि हो सकता है ; गलती तो दिखती है । लौट कर आये, कहा कि 'कोई गलती नहीं है । हमने पूछा तो पता चला कि संन्यासी ऊपर-ऊपर संन्यासी था और भीतर उसके मन में ऐसा ही होता था । निरंतर जब वह परमात्मा की पूजा भी करता था—सुबह अपने मंदिर में, तो घंटी तो परमात्मा की प्रार्थना में बजती थी ; उसके हृदय की घंटी वेश्या के घर ही बजती रहती थी । पूजा करता था, प्रार्थना करता था, लेकिन रस उसका वेश्या में लगा था । रात राम-राम जपता था, लेकिन मन में यही भाव होता था कि वेश्या के घर जो लोग इकट्ठे हैं, आनंद ले रहे होंगे ! वहाँ गीत होता है, नाच होता है, वे जरूर आनंदित हो रहे हैं । मैं यहाँ दुःख में मरा व्यर्थ ही राम-राम जप रहा हूँ । मैंने अपने हाथ से रेगिस्तान चुन लिया । राम-राम जपो और रेगिस्तान में रहो ! कोई मरुद्यान भी पता नहीं चलता ; न कहीं राम मिलते हैं । वेश्या मजा लूट रही है । वेश्या के घर से उठते हुए आनंद के, हँसी के झोके, और ईर्ष्या मर जाती ।

'और वेश्या थी जो कि निरंतर—जब भी मंदिर की घंटी बजती, संन्यासी की पूजा-प्रार्थना का शोर उठता, उसके राम-राम का नाद गूँजता, तो रोती, कि मैंने जीवन ऐसे ही गँवा दिया । काश, मैं भी किसी मंदिर में प्रविष्ट हो जाती ! मैं शरीर में ही रही ; मैंने कभी आत्मा की खोज न की । धन्यभागी है, यह संन्यासी ।'

ऐसे जो संन्यासी था, वह वेश्या के घर रहा—मन से । ऐसे जो वेश्या थी, वह संन्यासी के मंदिर में रही—मन से । 'इसलिए', उन्होंने कहा, 'भूल-चूक नहीं हुई है । हम पता लगा कर आ गये । ठीक ही है । वेश्या को स्वर्ग आना है, क्योंकि जहाँ तुम मन से हो, वहीं तुम हो ।'

शरीर से होना भी कोई होना है ! शरीर मंदिर में हो सकता है ; अगर मन वहाँ नहीं; तो उसको क्या मंदिर कहते हो । मंदिर तो वहीं है, जहाँ मन हो, इसलिए तो हमने उसे मंदिर कहा है । अगर मन ही वहाँ नहीं है, तो लाश पड़ी है । उस लाश के होने से कुछ भी न होगा ।





संन्यासी अगर अधूरा भाग जाय, तो संसार खींचता है ; आकर्षण कायम रहता है । रहना ही चाहिए, यह नियम है ; सीधी बात है ।

संसारी अगर भय के कारण परमात्मा को इनकार कर दे, भय के कारण कह दे : 'कोई धर्म नहीं, कोई मोक्ष नहीं, कोई आत्मा नहीं', तो ऐसा अपने को ज्यादा देर समझा न पायेगा । जल्दी ही ये तर्क जो ऊपर-ऊपर से थोपे हैं, हटने लगेंगे, गिरने लगेंगे । जीवन इन्हें धक्के देगा, डाँवाडोल करेगा और मन में एक गहन आकांक्षा संन्यास की पैदा होगी ।

ये दो तरह के लोग तो दुनिया में सदा से रहे हैं । कृष्ण ने एक तीसरे आदमी की कल्पना की—वह जो संसार में है, और संन्यासी है । जो संन्यासी है, और संसार में है । जो परमात्मा को स्रष्टा के रूप में भी स्वीकार करता है, सृष्टि के रूप में भी । जो परमात्मा को अस्वीकार ही नहीं करता । जो कहता है : तुम जिस रूप में जाओ, मैं राजी हूँ । तुम पत्नी के रूप में आये हो ; भले आये, स्वागत है । तुम बेटे के रूप में आये हो ; भले आये, स्वागत है । तुम ग्राहक के रूप में भी आये हो, स्वीकार हो । तुम मुझे धोखा न दे सकोगे । तुम विपरीत रूप में भी आओ, तो भी मैं तुम्हें पहचान लूँगा ।

एक झेन फकीर को मारा गया । जब हत्यारे ने उसे छुरा भोंका, तो उसने झुक के नमस्कार किया, और मरते हुए शरीर, कंपते हुए हाथ से उसने हत्यारे के पैर छुये । हत्यारा घबड़ा गया । उसने कहा, 'तुम यह क्या करते हो !'

उस फकीर ने कहा, 'तू बीच में मत पड़ । तेरा कुछ लेना-देना नहीं । तेरे हम पैर छूते भी नहीं । यह तो मैं उससे कह रहा हूँ कि तू किसी भी रूप में आ, तू मुझे धोखा न दे सकेगा । मैं तुझे पहचान ही लूँगा । यह तो मेरे उसके बीच बात है, तू परेशान न हो । तुझे जो करना है, तू कर । लेकिन आखिरी वक्त भी मेरी साँस यही कहते हुए समाप्त हो कि तू जिस रूप में भी आया, मैंने तुझे चाहा । मैंने कोई रूप की शर्त न लगायी थी । मैंने तुझ पर कुछ नियम न बाँधे थे कि ऐसे तू आयेगा, तो ही मैं राजी होऊँगा । तू जैसे भी आयेगा, हम तुझे देख ही लेंगे, क्योंकि तेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है ।'

संसार मोक्ष है ; सृष्टि स्रष्टा है : कृष्ण का यह महासूत्र है । कृष्ण का यह सूत्र फलित नहीं हुआ । होना तो चाहिए था, क्योंकि बिलकुल ही ठीक है । लेकिन 'बिलकुल ठीक' फलित नहीं हो पाता, क्योंकि हम बहुत गलत हैं । हमसे उसका मेल नहीं बैठता ।

मैं जो प्रयास कर रहा हूँ, वह कृष्ण के ही सूत्र को फलित करने का प्रयास है ।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं : 'आप क्या कर रहे हैं ? आप संन्यास को भ्रष्ट किये दे रहे हैं । गृहस्थों को संन्यासी बना रहे हैं !' और किसको बना दूँ ? गृहस्थ ही होते हैं दुनिया में । जिनको तुम संन्यासी बनाते हो, वे भी गृहस्थों के बेटे-बेटियाँ होते हैं । और संन्यासी होकर भी क्या हो जाएगा । लेकिन पुरानी धारणा है, वह कहती है : संन्यासी

का अर्थ है, वह छोड़कर भाग जाय। दुकान में न बैठे, दफ्तर में न पाया जाय। और मैं कह रहा हूँ कि हमने वह धारणा प्रयोग करके देख ली, वह सफल नहीं हुई।

संन्यास एक असफल प्रयोग सिद्ध हुआ है। संन्यासी संन्यासी होकर सड़ गये, क्योंकि उनके जीवन में ऊर्जा न रही, प्रवाह न रहा। अवरूद्ध हो गयी सब धारा। पलायन से कहीं प्रवाह हो सकता है ? भागने से कहीं ऊर्जा का आविर्भाव हो सकता है ? भयभीत और कायर की तरह जाने से कहीं जीवन के वरदान मिल सकते हैं ?

संसार को जिसने पीठ दिखायी, उसने परमात्मा को भी पीठ दिखा दी। उसने कह दिया कि 'नहीं, तुम पूरे के पूरे मुझे स्वीकार नहीं हो।' और अगर परमात्मा स्वीकृत होता है, तो पूरा ही स्वीकृत होता है। आधा भी कहीं कोई परमात्मा हो सकता है !

वह संन्यास हार गया। और उस संन्यास की वजह से संसार भी सड़ गया, क्योंकि जो संसार में है, वह सोचने लगा, 'अभी तो हम संसारी हैं, तो संसारी के ढंग से रहें। फिर संन्यास ले लेंगे, तब संन्यासी का ढंग सोचेंगे।'

संसारी ने सोचा : 'धर्म हमारे लिए नहीं, वह संन्यासी के लिए है।' संन्यासी ने सोचा कि 'संसार हमारे लिए नहीं है, वह गृहस्थ के लिए है।' धर्म और संसार का संबंध टूट गया।

फिर बड़े मजे की बात है : संन्यासी गाली दिये जाता है, निन्दा किये जाता है लोगों की कि तुम धार्मिक क्यों नहीं हो। उसी ने तोड़ा है संबंध। लोग भी सिर हिलाते हैं, लेकिन वे जानते हैं, 'हम हो भी कैसे सकते हैं ! हम संसार में हैं। समझो। घरगृहस्थी है, बाल-बच्चे हैं, दुकानदारी है। अभी हम कैसे धार्मिक हो सकते हैं। हमें तो झूठ में रहना ही होगा।'

संसार को ही संन्यास बना लेना जीवन को धर्म बना लेना है। तुम जहाँ हो, जैसे हो, वहीं जीवन के हो। रूपांतरित करो। धर्म को पाने कहीं जाओ मत, धर्म को वहीं बुलाओ, निमंत्रण दो। तीर्थ की यात्रा मत करो, तीर्थ को बुलावा दो। खुलो, ताकि परमात्मा तुम में आये। तुम्हें उसे खोजने कहीं जाना न पड़े। तुम जाओगे भी कहाँ ? उसका पता-ठिकाना भी नहीं है। पुराने पतों पर तुम जाते हो, वहाँ वह अब रहता नहीं है। हिमालय जा रहे हो, वहाँ वह रहता ही नहीं। थोड़े दिन में वहाँ माओत्से तुंग मिलेगा और कोई नहीं मिलेगा।

तुम जाओ कहीं भी, पुराने घरों को उसने छोड़ दिया है; अब वहाँ नहीं है। अब तो तुम अगर उसे कहीं पा सकते हो, तो वह तुम्हारा अपना ही घर है। वह तुम ही हो।

इसलिए बड़ी दुस्साहस की कल्पना है कृष्ण की कि घर मंदिर हो जाय; कर्म कर्म-त्याग हो जाय; युद्ध भी धर्म-युद्ध हो जाय। संघर्ष भी समर्पण बन जाय। कुछ त्यागना न पड़े और त्याग फलित हो। बारीक है, सूक्ष्म है, नाजुक है। पूरी नहीं हो सकी, लेकिन होनी चाहिये।

इसलिए मैं तुम्हें संन्यास दे रहा हूँ और तुमसे कहता नहीं कि तुम भागो। तुमसे कहता हूँ, 'टिके रहो'। कठिनाइयाँ आयेंगी। तालमेल बिठाना बड़ा मुश्किल होगा,





क्योंकि हजारों साल से विरोध पड़ गया, खाई बढ़ गयी, पुल बनाने पड़ेंगे। हर व्यक्ति को अपना-अपना सेतु निर्मित करना पड़ेगा। लेकिन जिस दिन तुम उस सेतु को निर्मित कर लोगे, तुम अहोभागी होओगे।

इसको तुम मूल बीज-मंत्र समझ लो कि 'स्वीकार करना है अगर परमात्मा को, तो उसकी सृष्टि ही उसके स्वीकार का द्वार है। तुम उसमें चुनाव मत करो, चुनावरहित उसे स्वीकार कर लो। और तभी तुम्हारे जीवन में धन्यता शुरू हो जाती है।'

संसार मोक्ष बन जाय, इस महापरिकल्पना के साथ जीयो। कर्म अकर्म बन जाय, इस अनूठे सूत्र को अपने हृदय में ले कर चलो। और पदार्थ में ही उसे खोजेंगे; जहाँ हैं, वहीं उसे पायेंगे; इस महाआशा से तुम्हारा हृदय धड़कता रहे, तो दूर नहीं है, परमात्मा पास ही है। तुम जरा धड़के, तुम इस आशा से भरे कि मिलन हो जाएगा।

● प्रश्न दूसरा : आप पुकार-पुकार कर हमें कह रहे हैं कि अपना बोझ, अपना दुःख, अपनी चिंता मुझे सौंप कर निर्भार और निश्चित जीयो। और हम हैं, कि उससे भी बचते रहते हैं। हम इतने नादान क्यों हैं ?

नादान नहीं हो; बहुत समझदार हो। नादान ही होते फिर तो कहना ही क्या। नादान होते तो बचने की कोशिश न करते। नादान कैसे बचेगा—होशियार बचता है।

मन तर्कयुक्त है, विचार से भरा है। 'कैसे छोड़ दें। हिफाजत करनी है; रक्षा करनी है।' है कुछ भी नहीं—रक्षा करने को।

क्या है तुम्हारे पास—जिसे तुम बचा रहे हो ? सिवाय दुःख के और क्या है तुम्हारी गाँठ में, जिसे तुम सम्हाल-सम्हाल कर रख रहे हो ? कबीर कहते हैं, 'हीरा पायो, गाँठे गठियायो।' तुम किस चीज को गठिया रहे हो ? हीरा पा लो, फिर गाँठ गठिया लेना। फिर मैं तुमसे कितना ही कहूँ : 'छोड़ दो मुझ पर', मत छोड़ना। मगर अभी तो तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है; पर गाँठ गठिया रहे हो ! अगर दूसरों को धोखा देने के लिए गठिया रहे हो कि दूसरे समझें कि गाँठ में कुछ है, तो भी ठीक है, लेकिन धीरे-धीरे दूसरों को धोखा देते-देते खुद को धोखा हो जाता है कि जब गाँठ को इतना गठिया रहे हैं, तो जरूर कुछ होगा। भीतर हीरा होना ही चाहिए, नहीं तो हम इतने नासमझ थोड़े ही हैं कि गाँठ को गठियाते। फिर तुम उसकी रक्षा में लगे हो।

और जीवन ने तुम्हें तर्क सिखाया है। समाज ने तुम्हें विचार सिखाया है। अनुभव ने 'दूसरे पर भरोसा न करना', इसकी तुम्हें शिक्षा दी है, क्योंकि कहीं धोखा हो जाय, कहीं कोई धोखा न दे दे, कहीं कोई लूट न ले। इसलिए जहाँ भी तुम सुनते हो, यह स्वर—समर्पण—वहीं तुम चौक कर तत्पर हो जाते हो कि खतरा है। तुम्हारी होशियारी

नादान होते, तो चौंकते नहीं, राजी हो जाते। होशियार हो। तुम्हारी होशियारी ही तुम्हारी नादानी है। तुम्हारा अति समझदार होना ही तुम्हारी नासमझी है। इसे

गौर से देखने की कोशिश करो।

जब मैं कहता हूँ : 'छोड़ दो', तो तुम एकदम यह सोचने लगते हो कि जरूर तुम्हारे पास कुछ होगा, जिसे मैं तुमसे कह रहा हूँ, छोड़ दो। स्वभावतः तुम्हारे मन में डर पैदा होता है।

जब मैं तुमसे कहता हूँ : छोड़ दो, तब तुम मेरी फिक्र छोड़ो। तुम यह देखो कि तुम्हारे पास कुछ है ? कुछ भी तो नहीं है।

जिस दिन तुम्हें यह भान होगा कि कुछ भी तो नहीं है छोड़ने को, उसी दिन छूट जाएगा। उस भान में ही गाँठ खुल जाती है। उस भान में ही तुम झुक जाते हो। कुछ भी तो नहीं है, बचाने को। कोई लूट भी लेगा, तो क्या है : लुट जाने को। और जैसे ही तुम छोड़ना सीख लेते . . .।

मेरे पास तो तुम्हें मैं छोड़ना सिखा रहा हूँ, ताकि तुम आखिरी छोड़ने के लिए राजी हो जाओ। नहीं तो तुम परमात्मा पर भी न छोड़ पाओगे। गुरु के माध्यम से परमात्मा को सीखना है। गुरु तो सिर्फ एक रिहर्सल है, एक तैयारी है, ताकि तुम झुकने की कला सीख जाओ। और किसी दिन परमात्मा मिले, तो वहाँ तुम अकड़े न खड़े रह जाओ।

गुरु दो बात की तैयारी है। तुम झुकना सीख जाओ; और गुरु के भीतर जो महिमा-वान प्रकट हुआ है, उससे तुम्हारी थोड़ी पहचान हो जाय, ताकि जब परम महिमा घटित हो—परमात्मा तुम्हारे सामने आ जाय—तो तुम उसे पहचान लो, 'रेकग्निशन' हो, प्रत्यभिज्ञा हो जाय।

गुरु से जो स्वाद मिला है, जो बूँद मिली है, उसका सागर जब तुम्हें दिखाई पड़ेगा, तुम पहचान लोगे। और गुरु के सामने जो थोड़ा झुकना सीखा था, उस झुकने का अभ्यास हो जाएगा, तो उस महामहिमा के सामने तुम अपने को डाल दोगे—साष्टांग, सारे अंगों को तुम उसके सामने डाल दोगे, सिर झुका लोगे। उस झुकने में ही मिलन है—महामिलन है।

नादान ही तुम होते तो अच्छा था। तुम समझदार हो गये हो— बिना 'समझदार' हुए। तुम पंडित हो गये हो, बिना प्रज्ञावान हुए। तुमने तर्क सीख लिया है; और तर्क नासमझ के हाथ में ऐसा है, जैसा छोटे बच्चे के हाथ में तलवार हो। वह खुद को ही काट लेगा। वह खुद के ही अंगों को नुकसान पहुँचा लेगा।

तुम अपने तर्क से अपने को ही काट रहे हो, अपने को ही नुकसान पहुँचा रहे हो। इसे थोड़ा समझो और इसे थोड़ा पहचानो कि तुम क्या कर रहे हो। तुमने अब तक क्या किया है ? तुमने जो भी किया है, वह तुम्हें कहाँ ले गया है ? तो अगर, कोई नया स्वर तुम्हें सुनायी पड़ता है, वह प्रयोग करने जैसा है।

मार्क्स ने कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में एक अनूठा वचन लिखा है—आखिरी वचन—





कि 'दुनिया के मजदूरों, एक हो जाओ, तुम्हारे पास खोने को कुछ भी नहीं है—सिवाय जंजीरों के।' यह शायद मजदूरों के संबंध में सच न भी हो, लेकिन हर आदमी के संबंध में धर्म की यात्रा में सच है।

तुम्हारे पास खोने को कुछ भी नहीं है—सिवाय जंजीरों के, सिवाय दुःख पीड़ा और नरक के। लेकिन तुमसे मैं एक होने को नहीं कहता, क्योंकि एक होने की बात तो राजनीति की है, संघर्ष की है, युद्ध की है। मैं तुमसे कहता हूँ : 'झुक जाओ'। तुम्हारे पास खोने को कुछ भी नहीं है—सिवाय जंजीरों के। पाने को सब कुछ है, पाने को पूरा परमात्मा पड़ा है।

लेकिन तुम अकड़े खड़े हो। नदी बही जाती है; तुम प्यासे खड़े हो, लेकिन तुम झुक नहीं सकते। झुकना पड़ेगा, अंजुलि में जल भरना पड़ेगा, तभी तुम कण्ठ तक जल को ला सकोगे।

कण्ठ और नदी की धार में ज्यादा फासला नहीं है, थोड़ा झुकना पड़ेगा। प्यास और परमात्मा बहुत पास हैं, सिर्फ न-झुकना दूर किये हुए है। झुके—कि पास हो गये; न झुके, कि दूर रहे।

● आखिरी प्रश्न : यह कोई कैसे जाने कि परमात्मा किस रूप में मेरा उपयोग करना चाहता है कि वह अपने को उसके हाथ उसी रूप में छोड़ दे ?

इसकी भी चिंता क्या करनी है ! और अगर इसकी भी चिंता तुम्हीं करोगे, कि 'पहले हम पक्का कर लें कि वह किस भाँति उपयोग करना चाहता है, तब हम छोड़ेंगे', तब तो तुम छोड़ ही नहीं रहे हो। छोड़ने का मतलब यह है कि जिस भाँति उसे उपयोग करना हो, कर लेगा; और न करना होगा उपयोग, तो न करेगा। फेंक देना होगा कूड़े-करकट में, तो फेंक देगा। जहाँ लगाना होगा, लगा देगा।

छोड़ने का मतलब अपनी बुद्धि छोड़ना है। लेकिन अगर तुम पूछते हो कि 'क्या उपयोग करेगा, उसका पक्का हो जाय, तो हम छोड़ने का विचार करें। कैसे उपयोग करेगा ?' तो तुम छोड़ ही नहीं रहे हो। तब तो तुम उन्हीं बातों के लिए छोड़ोगे, जो बातें तुम्हारे मन के अनुकूल हैं। तो तुमने परमात्मा पर छोड़ा ही नहीं। अच्छा तो यह होगा कि तुम कहो कि तुमने परमात्मा का अपने मन के अनुकूल उपयोग कर लिया।

और अकसर ऐसा होता है कि जो छोड़ने वाले भी सोचते हैं कि हम छोड़ रहे हैं, वे भी छोड़ते नहीं।

मैंने एक कहानी सुनी है, पता नहीं, कहाँ तक सच है। डर लगता है कि सच होगी। कहते हैं कि तुलसीदास मथुरा गये। तो उन्हें कृष्ण के मंदिर में ले जाया गया। उन्होंने झुकने से इनकार कर दिया। उन्होंने कहा कि 'जब तक धनुष-बाण हाथ न लोगे, मैं न झुकूंगा।' वहाँ कृष्ण खड़े हैं बाँसुरी लिये। लेकिन तुलसी हैं—राम के भक्त; तो उन्होंने

कहा, 'जब तक धनुष-बाण हाथ न लोगे, राम न बनोगे, तब तक मैं न झुकूँगा। मैं राम के लिए झुकता हूँ। मैं धनुर्धारी राम का भक्त हूँ।'

यह भी कोई झुकना हुआ! अगर बाँसुरी वाले में भी तुम धनुर्धारी को न पहचान पाये, तो यह भी कोई आँखें हुई? यह तो तुम्हारा झुकना न हुआ, परमात्मा को झुकाने का आयोजन हुआ। यह तो बड़ी चालबाजी हुई। यह तो स्त्रैण ढंग की राजनीति हुई।

स्त्रियों की एक राजनीति होती है। वे कहती हैं, 'हम आप की दासी', और गरदन पकड़ लेती हैं। उनका यह ढंग है। यह स्त्रैण मनोविज्ञान है। वे ऐसा नहीं कहतीं कि 'हम आपके मालिक'। न; यह कोई स्त्री नहीं कहती। लेकिन प्रत्येक स्त्री जानती है कि वह मालिक है। वह पैर पकड़ती है; वह कहती है, 'मैं आपकी दासी'। स्त्री कहती है, 'मैं आपकी दासी' और पुरुष को दास बना लेती है।

ये जो तुलसीदास हैं, पक्के दास हैं। ये कहते हैं, 'धनुष-बाण हाथ लो, मैं तो झुका ही हुआ हूँ—तुम्हारे लिए। बाकी तुम अपने असली रूप में आओ। मेरा चुना हुआ रूप है, वही ग्रहण करो।'

मैं नहीं जानता कि यह कहाँ तक सच है। लेकिन डर होता है कि सच होगा, क्योंकि कथाकथित धार्मिक लोग इस तरह की बातें करते हुए देखे गये हैं।

मैं एक यात्रा पर था और एक जैन महिला मेरे साथ थी। तो जब तक मंदिर में जाकर नमस्कार न कर आये, तब तक भोजन न करे। एक दिन ऐसा हुआ कि उस गाँव में कोई जैन मंदिर न था, तो वह भोजन न कर पायी। तो मैं भी परेशान हुआ।

दूसरे गाँव हम पहुँचे, तो मैंने गाँव जाने के पहले ही पता लगा लिया कि वहाँ कोई जैन मंदिर है। वहाँ मंदिर था। पर मुझसे भूल हो गयी। गये। मैंने उसको कहा कि 'अब तू बिलकुल निश्चिंत हो कर, स्नान करके मंदिर हो आ।' वह गयी और वापस आ गयी। उसने कहा, 'वह तो श्वेताम्बर जैन मंदिर है। मुझे दिगम्बर जैन मंदिर चाहिए।'

अब दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन मंदिर में एक ही महावीर की प्रतिमा है। जरा-सा फर्क है। और फर्क ऐसा कि फर्क कहा नहीं जा सकता। श्वेताम्बर, महावीर की खुली आँख रखते हैं—प्रतिमा में और दिगम्बर बंद आँख रखते हैं। बस, इतना ही फर्क है। और महावीर ने दोनों ही काम किये होंगे। कभी आँख बंद भी की होगी; कभी आँख खोली भी होगी। अगर आँख खोली ही रही हो—चौबीस घंटे, तो पागल हो गये होते। आँख बंद ही रखी होती चौबीस घंटे, तो भी पागलपन में चले जाते।

वह 'श्वेताम्बर महावीर' चौबीस घंटे आँख खोले बैठे हैं! उनका दिमाग खराब हो जाय। मगर यह महिला वहाँ न झुक सकी। यह गयी, इसने देखा; लौट आयी। मैंने कहा, 'तूने नमस्कार तो किया?' उसने कहा, 'कैसे करें! अपने महावीर हैं ही नहीं।'





तुम यह पूछो ही मत कि कोई कैसे जाने। जानना भी छोड़ दो। तुम जानोगे भी कैसे? उसी को जानने दो। अंग जानेगा भी कैसे, हिस्सा जानेगा भी कैसे? वह पूर्ण है, उसी को जानने दो।

'कोई कैसे जाने कि परमात्मा किस रूप में मेरा उपयोग करना चाहता है?' उसी पर छोड़ दो, वही जाने। और जैसा उपयोग करना चाहे, वैसा तुम करते जाओ।

तुम बात ही नहीं समझ रहे। तुम समझ रहे हो, शायद कोई बहुत बड़ा उपयोग करना चाहता है तुम्हारा। तो पक्का साफ हो जाना चाहिए। सारा सूत्र इतना है कि तुम अपने ऊपर चिंता मत लो। वह करना चाहे, कर ले; न करना चाहे, न करे। वह भूल जाय; उसकी मरजी। तुम ऐसे ही बैठे रहो। और वह उपयोग ही न करे, तो भी उसकी मरजी।

असली सूत्र इतना है कि तुम अपने अहंकार को हटा दो। मैं न रहूँ। वही बहे मुझमें; वही चले, वही उठे, वही बोले। 'मैं' समाप्त हो गया। फिर उसकी मरजी हो—युद्ध में लड़ाना हो—तो लड़ा ले। और मरजी हो कि संन्यासी बनाना है, हिमालय पहुँचाना है, तो हिमालय पहुँचा दे। लेकिन तुम ऐसे चलते जाना, जैसे कि कोई कठ-पुतली धागे से बँधी नाचती है।

नाच उसका है, फल उसका है, नियति उसकी है, उत्तरदायित्व उसका है। तुम अपने को बीच से बिलकुल हटा लेते हो। तुम सिफर हो जाते हो। तुम एक शून्य हो जाते हो।

तुमने कभी खयाल किया: शून्य का कोई भी मूल्य नहीं होता, लेकिन शून्य के सामने आँकड़े रखते जाओ, मूल्य बदलता जाता है। एक रखो, शून्य दस हो जाता है। दो रखो, शून्य बीस हो जाता है। तुम शून्य हो जाओ, तुम सिफर हो जाओ और उससे कहो, 'जो तुझे आँकड़ा रखना हो; न रखना हो, तेरी मरजी। हम शून्य ही रहेंगे। तुझे दस बनाना हो, दस बना दे। तुझे हजार बनाना है, हजार बना दे; लाख बनाना हो, लाख बना दे। न बनाना हो कुछ, हम बड़े प्रसन्न हैं।

प्रसन्नता हमारी इसमें है कि हमने तुझ पर छोड़ दिया। तूने सम्हाल लिया, तूने लगाम अपने हाथ में ले ली, अब हम क्यों फिक्र करें।

अब सूत्र।

'और जो तू अहंकार को अवलम्बन करके ऐसे मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो अर्जुन, यह तेरा निश्चय—मिथ्या है।'

मनुष्य के सभी निश्चय मिथ्या हैं। तुम निश्चय कैसे करोगे? तुमने अपने जन्म का निश्चय नहीं किया, जीवन का निश्चय नहीं किया, तुमने अपनी मृत्यु का निश्चय नहीं किया। तुम हो, अपने निश्चय से नहीं। तुम हो, विराट् की लीला के एक अंग।

तुम हो, उस सागर की एक ऊर्मि, एक लहर।

तुम्हारे सभी निश्चय मिथ्या हैं।

कृष्ण ने कहा, 'जो तू अहंकार को अवलम्बन करके ऐसा मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा . . .' ध्यान रखना, सवाल युद्ध का नहीं है, सवाल मैं का है; 'मैं' युद्ध नहीं करूँगा। युद्ध कर या न कर, यह कृष्ण का जोर ही नहीं है। मैं को कृपा कर बीच में मत ला।

'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है। 'क्योंकि क्षत्रियपन का स्वभाव तेरे को जबरदस्ती युद्ध में लगा देगा।' तेरा होने का ढंग क्षत्रिय का है। तेरा शिक्षण, तेरे संस्कार, तेरी वृत्तियाँ, तेरे मनोभाव क्षत्रिय के हैं। लड़ना ही तू जानता है और भागने की कला तूने कभी सीखी भी नहीं है। तू भागेगा, तो बड़ा बेहूदा लगेगा।

अगर अर्जुन भाग ही जाता; समझ लो, न सुनता कृष्ण की . . .। वह तो सुन लिया; अधिकतर अर्जुन तो सुनते नहीं। अगर यह भाग ही जाता, तो क्या तुम सोचते हो, यह संन्यस्थ हो जाता। यह असंभव था। यह ध्यान भी लगा कर बैठता और इसे एक शेर आता हुआ दिखाई पड़ता, तो यह उठा लेता गाण्डीव अपना। यह भूल जाता कि यह संन्यस्थ है, इसको गाण्डीव नहीं उठाना है। यह बैठा होता ध्यान करने और कोई चुनौती दे देता। कोई पास से निकल जाता। यह उबल पड़ता।

कृष्ण यह कह रहे हैं कि तेरा सारा ढाँचा युद्ध के लिए तैयार किया गया है। 'उसने' तैयार किया है। तुझे गहन से गहन युद्ध की शिक्षा दी गयी है। तेरा रोआँ-रोआँ लड़ने में कुशल है। तू लड़ने के सिवाय कुछ जानता नहीं है। अगर तू शांत भी होकर बैठेगा, तो शांति के लिए युद्ध करेगा, लेकिन युद्ध करेगा। युद्ध करना, तेरी नियति है। इसलिए तू यह मत सोच कि मैं युद्ध न करूँगा। यह तेरा 'मैं' तेरे युद्ध का ही हिस्सा है।

अहंकार युद्ध का स्रोत है। यह तेरा निश्चय मिथ्या है।

'और हे अर्जुन, जिस कर्म को तू मोह से नहीं करना चाहता है, उसको भी अपने पूर्व-कृत स्वाभाविक कर्म से बँधा हुआ परवश होकर करेगा।'

यह तेरा सिर्फ मोह है, जो तू कहता है, कि 'मेरे प्रियजन खड़े हैं चारों तरफ। इस तरफ, उस तरफ, मेरे गुरु हैं, मेरे दादा हैं, मेरे भाई हैं, मेरे चचेरे भाई हैं, मेरे मित्र हैं। यह सब मेरे ही परिवार का फैलाव खड़ा है।' यह तू मोहग्रस्त है। अगर सोच ले, इसमें तेरे परिवार के लोग न होते, उस तरफ गुरु न होते, भीष्म न होते, तेरे चचेरे भाई न होते; तेरा सारा परिवार तेरी तरफ होता और उस तरफ विपरीत लोग होते—जिनसे तेरा कोई संबंध न होता, तो तू उन्हें ऐसे काट देता जैसे लोग मूलियों को काट देते हैं। तेरे मन में जरा भी सवाल न उठता : 'हिंसा, अहिंसा का'। वह तेरा सवाल भी नहीं है।





यह मोह है। तू कुछ अहिंसक नहीं हो गया है। तू यह कह रहा है, 'ये मेरे हैं, इन्हें कैसे काटूँ?' काटने से तुझे कोई विरोध नहीं है। 'मेरे', ममत्व का आग्रह है, जो तू डाँवा-डोल हो रहा है। तेरे मन में अहिंसा का कोई उदय नहीं हुआ है—जैसे बुद्ध और महावीर के मन में हुआ था। तेरे मन में कोई महाकरुणा नहीं आ गयी है। तेरे भीतर सिर्फ मोह पैदा हुआ है कि 'मेरे कट जायेंगे, अपने कट जायेंगे। इससे क्या लड़ना। भोग लेने दो इन्हीं को; मैं जंगल चला जाता हूँ।' लेकिन तू जा न पायेगा। तू जंगल में भी जाएगा तो तू क्षत्रिय ही रहेगा।

मोह से कहीं कोई मोक्ष को उपलब्ध हुआ है? और मोह से कहीं कोई संन्यस्थ हुआ है? मोह ही तो संसार है। तो तू उलटी बातें कर रहा है। तू गंगा को उलटी बहाने की कोशिश कर रहा है। यह तेरा निश्चय मिथ्या है।

'क्योंकि हे अर्जुन, शरीर रूप यंत्र में आरूढ़ हुए, संपूर्ण प्राणियों को परमेश्वर अपनी माया से, उनके कर्मों के अनुसार भ्रमाता हुआ, सब भूत-प्राणियों के हृदय में स्थित है।'

यह तू बात ही मत उठा—मेरे और तेरे की। एक ही उपस्थित है—तेरे में भी और उनमें भी। मेरा और तेरा सब झूठ है, मिथ्या है।

एक ही मौजूद है। सारा खेल उसका है। वह लड़ाना चाहता है, तो लड़ायेगा। उसकी मरजी होगी—इस युद्ध से कुछ फलित करने की। वह बचाना चाहता है, तो बचायेगा। तू उस पर छोड़ दे।

'हे भारत, सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो, उस परमात्मा की कृपा से ही परम शांति को, और सनातन परम धाम को प्राप्त होगा।'

अहंकार से, मोह से, मिथ्या से कभी कोई उस शांति को उपलब्ध नहीं हुआ, न उस परम धाम को किसी ने पाया है। अपने को हटा ले; तू ही अड़चन है। तेरे कारण ही तेरे मन में अशांति है। युद्ध के कारण नहीं है अशांति; तेरे कारण है।

यह भीतर मैं है, जो कहता है : बाहर जो हैं, वे मेरे हैं। अगर 'मैं' भीतर गिर जाय, तो कौन मेरा है, कौन तेरा है! फिर सभी उसके हैं। यह भी कहना ठीक नहीं कि 'सभी उसके हैं', सभी वही है।

'इस प्रकार यह गोपनीय से अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिए कहा। इस रहस्ययुक्त ज्ञान को संपूर्णता से अच्छी प्रकार विचार करके, फिर तू जैसे चाहता है, वैसे ही कर।'

कृष्ण कहते हैं, 'गोपनीय से अति गोपनीय . . .।' यह अत्यंत गुप्त बात है, जो साधारणतः कहा नहीं जाता, क्योंकि साधारणतः इसे समझना बहुत मुश्किल है।

जो बातें कही जाती हैं, वे हैं : या तो 'संसार में रहो'—नास्तिक समझाते हैं, अधार्मिक समझाते हैं। या 'संन्यस्थ हो जाओ'—धार्मिक समझाते हैं, आस्तिक समझाते हैं। वह

साधारण धर्म है। वह बातचीत समझ में आती है। वह तर्क सीधा-सीधा है।

'मैंने तुझे गोपनीय बात कही—बड़ी गुह्य, गुप्त, एसोटेरिक; ऐसी बात कही है, जो अत्यंत आत्मीयता में ही कही जा सकती है। जहां गुरु और शिष्य का हार्दिक मिलन होता है, वहीं कही जा सकती है। मैंने तुझसे उपनिषद् कहा।'

उपनिषद् का अर्थ होता है: गुप्त ज्ञान। इसलिए गीता का हर अध्याय अंत में कहता है: 'गीता का अठारहवां संवाद उपनिषद् समाप्त।' उपनिषद् का अर्थ होता है, जहाँ गुरु और शिष्य इतने आत्मीय हैं कि दो नहीं हैं। जहाँ एक ही चेतना दोनों में बहती है, वहीं जीवन की गुह्यतम बातें कही जा सकती हैं।

गहन श्रद्धा और प्रेम में मैंने तुझसे गोपनीय से गोपनीय ज्ञान कहा। 'इस रहस्य-युक्त ज्ञान को संपूर्णता से विचार करके . . .।' इसमें जल्दी मत करना। और जो मैंने कहा है, उसे उसकी समग्रता में देखना। कोई एक हिस्सा मत चुन लेना, जो कि हमारे मन की आदत है।

तुम्हें जो ठीक लगता है, वह चुन लेते हो; जो ठीक नहीं लगता, वह छोड़ देते हो। तब भ्रांति होगी, मिथ्या हो जाएगा निर्णय।

'जो मैंने कहा है, उसको उसकी पूरी समग्रता में, अच्छी प्रकार से विचार के फिर तू जैसा चाहता है, वैसा ही कर।'

कृष्ण यह नहीं कह रहे हैं कि जो मैं कहता हूँ, वह तू कर। कोई गुरु नहीं कहता। सारा नक्शा साफ कर दिया है। पर कृष्ण कहते हैं, 'ठीक से विचार करके'; क्योंकि 'बहुत संभावना यह है कि तू बिना विचार किये जो तू कहे चला जा रहा है, बिना सोचे, बिना मनन किये, बिना ध्यान किये, अगर तूने उस पर ही आग्रह रखा, तो तू पूरी दृष्टि को न फैला सकेगा और स्थिति को उसकी समग्रता में न देख सकेगा। सारी बात मैंने तुझसे कह दी, अब तू पूरी बात को ठीक से विचार कर ले।'

यह बड़ा मजेदार शब्द है 'विचार'। जब मन में बहुत विचार होते हैं, तब तुम विचार कर ही नहीं सकते। जब मन में कोई विचार नहीं होता, तभी विचार कर सकते हो। जब मन में ही विचार होते हैं, तो विचार कैसे करोगे? यह तो ऐसा हुआ कि दर्पण में बहुत से चित्र पहले से ही बने हैं, और तुम भी उसमें खड़े हो गये। सब अस्त-व्यस्त, अराजक होगा। दर्पण खाली है, तुम सामने खड़े हुए, तो प्रतिबिम्ब बनता है।

विचार की दशा विचारों की दशा नहीं है। विचार की दशा ध्यान की दशा है। विचारों की दशा तो तरंगों की दशा है। झील पर तरंगें ही तरंगें हैं, चाँद टूट-टूट जाता है। प्रतिबिम्ब बनता नहीं। हजार चाँद होकर बिखर जाते हैं। चाँदी फैल जाती है पूरी झील पर। लेकिन चाँद कहीं दिखाई नहीं पड़ता। फिर तरंगें सो गयीं, लहरें खो गयीं, हवायें बंद हो गयीं, झील मौन हुई, चाँदी सिकुड़ने लगी—चाँद की। खण्ड जुड़ने





लगे। एक प्रतिबिम्ब रह गया। झील दर्पण बन गयी।

विचार तो तभी संभव है, जब सारे विचार खो जायें। यह बड़ी उलटी बात लगेगी सुनकर; क्योंकि तुम सोचते हो: बहुत विचार हों, तभी विचार होता है। बहुत विचारों के कारण ही 'विचार' नहीं होता।

विचार की अवस्था 'विचारों की' दशा नहीं है। विचार की अवस्था निर्विचार अवस्था है। तब अंतर-दृष्टि होती है, तब दर्शन होता है, दिखाई पड़ता है।

तो कृष्ण ने कहा कि सब मैंने तुझसे कह दिया। कुछ कहने से बचाया नहीं, मुट्ठी पूरी खोल दी है। जो नहीं कहा जाना चाहिए, वह भी कहा है।

क्यों ऐसा कृष्ण कहते हैं कि गुप्त है यह ज्ञान। यह नहीं कहा जाना चाहिए, ऐसा ज्ञान है। क्योंकि इसमें खतरे हैं।

खतरे ये हैं कि आदमी संसार में रहे—हो संसारी ही—और समझने लगे कि मैं संन्यासी हो गया। करे तो कर्म वासना से, लेकिन अपने को धोखा दे कि मेरी कोई फलाकांक्षा नहीं है। हत्या तो करे खुद, और कहे परमात्मा ने करवाई! चोरी करने खुद जाय; और कहे, 'मैं क्या करूँ; सब उसी पर छोड़ दिया है। अब वह जो करवाता है . . .।' इसलिए यह ज्ञान गुप्त है और नहीं कहने योग्य है। वह भी मैंने तुझसे कहा, ताकि सारी स्थिति तुझे साफ हो जाय। फिर तू विचार से देख ले। फिर तू ध्यान से देख ले। और, फिर तू जैसा चाहे, वैसा कर।

गुरु तो सारी बात स्पष्ट कर देता है और हट जाता है। असद्गुरु, स्पष्ट तो कुछ नहीं करता, छाती पर सवार हो जाता है। सद्गुरु सारी बातें साफ कर देता है, फिर हट जाता है। फिर कोई सवाल न रहा। वह कहता है, 'अब तेरे पास आँख दे दी, देखने का ढंग दे दिया, अब तू देख ले। और उस देखने से, उस दृष्टि से ही, जो तेरे भीतर आविर्भूत हो जाय, उसके अनुसार चल।'

लोग सोचते हैं, कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में उतरवा दिया; गलती बात है। लोग सोचते हैं, कृष्ण ने समझा-समझा के युद्ध में डलवा दिया; गलती बात है। कृष्ण ने सिर्फ स्थिति साफ कर दी। दोनों मुट्ठियाँ खुली खोल दीं; कुछ छिपाया नहीं। और फिर अर्जुन को परिपूर्ण रूप से स्वतंत्र कर दिया कि 'अब तू निर्णय कर ले।' अगर अर्जुन यह तय करता कि मैं युद्ध से हट जाता हूँ, तो भी कृष्ण प्रसन्न होते। अर्जुन ने अगर यह तय किया कि मैं युद्ध करता हूँ, तो भी कृष्ण प्रसन्न हैं।

कृष्ण की प्रसन्नता इसमें है कि अर्जुन ने देखने की क्षमता पा ली। और जब अर्जुन ने गौर से देखा होगा, तो पाया होगा कि अपने किये कुछ भी तो नहीं होता। कभी नहीं हुआ है। वह बड़ी भ्रांति है कि 'मेरे किये कुछ होता है'। सब बिना किये हो रहा है, समग्र के किये हो रहा है। जैसा यह देखा होगा, यह दृष्टि उठी होगी, फिर अर्जुन ने कहा,

'अब जो हो, तेरी मरजी।'

मरजी युद्ध की थी, युद्ध हुआ। मरजी युद्ध की न होती, अर्जुन संन्यस्थ हो जाता। लेकिन अर्जुन की मरजी से नहीं हुआ, अर्जुन मुक्त है। अर्जुन ने उसकी मरजी पर अपने को छोड़ दिया। यही उसका संन्यास है।

संन्यास यानी परमात्मा के प्रति समर्पण। वह संसार में रखे, तो संसार ही संन्यास। वह संसार से हटा दे, तो हट जाना संन्यास। उसके साथ कोई ऐसे चलने लगे, जैसे नदी में कोई बहने लगे—तैरे न। किसी घाट पर पहुँचने की आकांक्षा न रही। जहाँ पहुँचा दे। न पहुँचा दे, तो वही घाट। मझधार में डुबा दे, तो वही मंजिल है।

समर्पण संन्यास है।



## संकल्प या समर्पण • निर्विचार में निर्णय का जन्म
## कसौटी पर—अर्जुन का समर्पण

**सत्रहवाँ प्रवचन**

प्रातःकाल, दिनांक ६ अगस्त, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥



इतना कहने पर भी अर्जुन का कोई उत्तर नहीं मिलने के कारण कृष्ण फिर बोले कि हे अर्जुन, सम्पूर्ण गोपनीयों से भी अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचन को तू फिर भी सुन, क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तेरे लिए कहूँगा !

हे अर्जुन, तू केवल मुझ परमात्मा में ही अनन्य प्रेम से नित्य अचल मन वाला हो और मुझ परमेश्वर को ही अतिशय श्रद्धा भक्ति सहित निरन्तर भजनेवाला हो तथा मन, वाणी और शरीर द्वारा सर्वस्व अर्पण करके मेरा पूजन करने वाला हो, और सर्वगुण-सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेव को नमस्कार कर; ऐसा करने से तू मेरे को ही प्राप्त होगा, यह मैं तेरे लिए सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यंत प्रिय है।

इसलिए सब धर्मों को अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के आश्रय को त्याग कर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मा की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो, मैं तेरे को सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा; तू शोक मत कर।
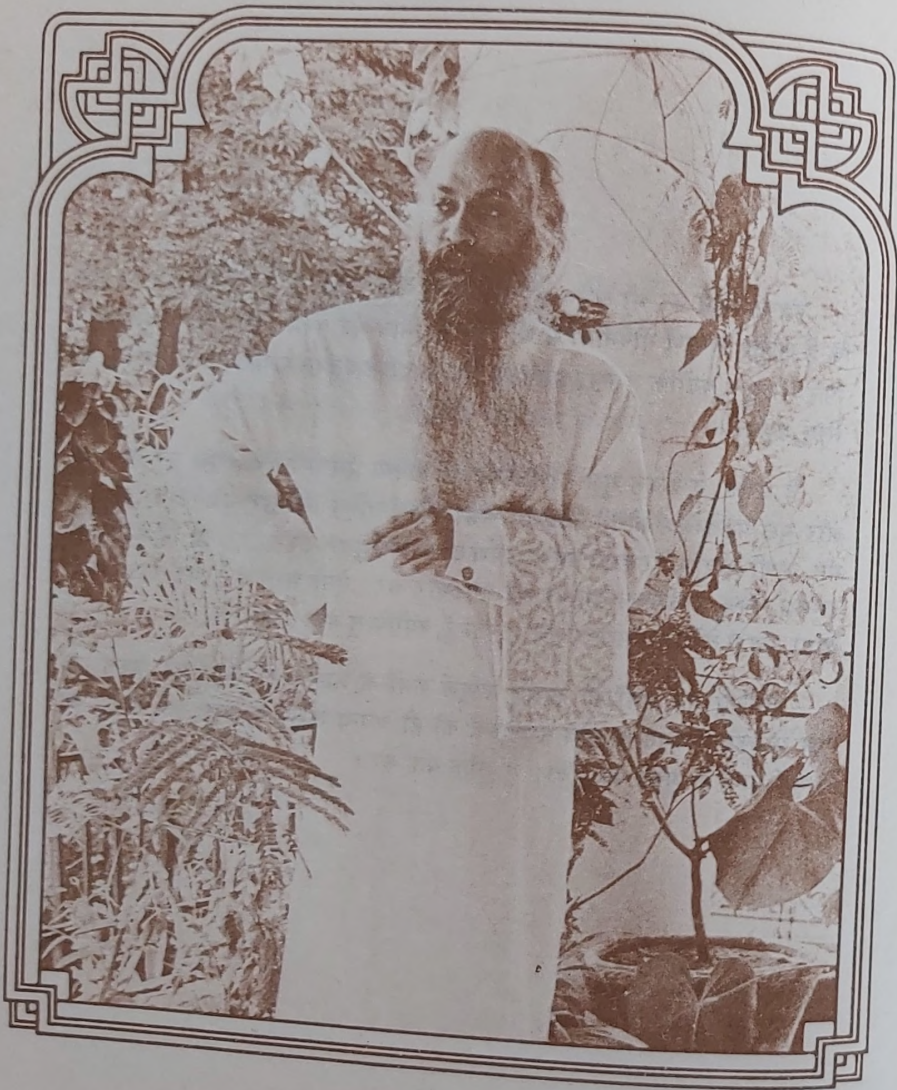
**पहले कुछ प्रश्न।**

● पहला प्रश्न : कृष्ण कहते हैं, तू मेरे में निरंतर मनवाला हुआ, मेरी कृपा से जन्म, मृत्यु आदि सब संकटों को अनायास ही तर जाएगा। कृष्ण ने 'कृपा' के साथ 'अनायास' क्यों कर जोड़ा है?

सकारण जोड़ा है, सोच विचार कर जोड़ा है।

तरने की दो संभावनाएँ हैं। एक संभावना है कि व्यक्ति अपने प्रयास से तरे। तब प्रभु-प्रसाद की कोई जरूरत नहीं, तब परमात्मा की कृपा का कोई कारण नहीं। वह मार्ग संकल्प का है। व्यक्ति अपनी ही चेष्टा से तरता है; कोई सहारा नहीं माँगता।

दूसरा मार्ग समर्पण का है। कृष्ण समर्पण के मार्ग की ही बात कर रहे हैं। वहाँ साधक सिर्फ समर्पण करता है; शेष सब अनायास होता है। उस शेष के लिए कोई भी प्रयास साधक को नहीं करना है। एक ही प्रयास साधक कर ले कि वह छोड़ दे—परमात्मा पर सब। फिर सब अनायास हो जाता है।

ये दो मार्ग हैं। पहले मार्ग पर परमात्मा की कोई जरूरत भी नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि परमात्मा नहीं है। इसका यही अर्थ है कि परमात्मा को साधक अपनी ही चेष्टा से पाता है; अपनी चेष्टा के अतिरिक्त वह कोई सहारा नहीं माँगता। जैन और बौद्धों का मार्ग वही है। न कोई पूजा है, न कोई प्रार्थना है, मात्र साधना है, मात्र ध्यान है। प्रार्थना की एक बूँद भी नहीं। स्वभावतः मार्ग बहुत सूखा-सूखा है, मरुस्थल जैसा है। कहीं कोई हरियाली नहीं आती। क्योंकि जहाँ प्रार्थना ही न आती हो, वहाँ मरुद्यान कैसे? जहाँ प्रार्थना ही न आए, वहाँ प्रेम का उपाय कहाँ? जहाँ प्रार्थना न हो, वहाँ रस-धार नहीं बहती। इसलिए जैनों के शास्त्रों को पढ़ते समय ऐसा लगेगा, जैसे गणित की कोई किताब पढ़ी जा रही है।

मुझे निरंतर जैन शास्त्रों को प्रेम करने वाले कहते हैं कि मैं कभी कुन्दकुन्द पर बोलूँ या कभी उमास्वाति पर बोलूँ। बहुत बार मैं सोचता भी हूँ, लेकिन फिर रुक जाता हूँ,

क्योंकि कुन्दकुन्द पर बोलने में कोई भी काव्य नहीं है। कुन्दकुन्द जो कहते हैं, बिलकुल ठीक ही कहते हैं, लेकिन कहने का जो मार्ग है, वह पद्य का नहीं गद्य का है; वह कविता का नहीं है, गणित का है। तर्क है वहाँ, स्वभावतः तर्क का सूखापन है। कहीं कोई हृदय को छूने वाली बात नहीं है, न प्रेम है—न प्रार्थना, न प्रसाद।

बोला जा सकता है, लेकिन बोलना बहुत सूखा-सूखा होगा, इसलिए अपने को रोक लेता हूँ। तत्त्व-ज्ञान है, तत्त्व-रस नहीं। हो भी नहीं सकता, क्योंकि सारी दृष्टि संकल्प की है।

साधक को अपने ही हाथ, अपने ही पैर सब करना है। कुछ हैं, जो उसी मार्ग से पहुँचेंगे। कुछ हैं, जो हृदय से नहीं पहुँचेंगे; विचार से ही पहुँचेंगे। लेकिन थोड़े से ही लोग होंगे ऐसे। बहुत अधिक लोगों पर वैसा मार्ग प्रभावी नहीं हो सकता, क्योंकि अधिक लोग हृदय से धड़कते हैं। और अच्छा ही है कि अधिक लोग हृदय से धड़कते हैं। इससे जीवन में सौंदर्य है, इससे जीवन में नृत्य है, उत्सव है।

यह जो हृदय से चलने वाला साधक है, यह साधक नहीं है, भक्त है। इसकी साधना कुल इतनी है कि इसने छोड़ दिया। इसे भी तुम छोटी साधना मत समझ लेना। यह भी बड़ी कठिन बात है : छोड़ देना। लेकिन प्रेमी छोड़ सकता है, क्योंकि दूसरे पर इतना भरोसा है, इतनी श्रद्धा है कि आँख बंद करके भी किसी का हाथ पकड़ कर चल सकता है।

पश्चिम में मनोवैज्ञानिक एक छोटा-सा प्रयोग कर रहे हैं। पति-पत्नियों में कलह हो, तो पश्चिम में मनोवैज्ञानिक के पास जाना जरूरी हो जाता है। वही हल कर सकता है! लेकिन पति-पत्नी कलह को प्रकट भी नहीं करते, छिपाते भी हैं। तो मनोवैज्ञानिक एक छोटा-सा प्रयोग करवाते हैं।

जब भी कोई पति-पत्नी जाते हैं—उलझन सुलझाने, तो वे कहते हैं, 'पति आँख बंद कर ले, आँख पर पट्टियाँ बाँध ले और पत्नी का हाथ पकड़ ले, और पत्नी जहाँ ले जाय—बगीचे में, मकान में; चले। इससे उलटा भी करते हैं कि पत्नी पति का हाथ पकड़ ले, पत्नी की आँखें बंद—पट्टी बंधी। जिन लोगों के बीच प्रेम नहीं है, वे झिझकते हैं। छोटी-सी बात है। कोई पति किसी कुएँ में नहीं गिरा देगा ले जा कर, न पत्नी किसी पत्थर से टकरवा देगी। लेकिन जिनको एक-दूसरे पर भरोसा नहीं है, वे ऊपर से कितने ही दिखाते हों, वे इस छोटे से प्रयोग को करने में झिझकते हैं।

और अगर यह छोटा-सा प्रयोग भी जीवन में न हो पाय, कि तुम किसी पर इतना भरोसा कर सको कि आँख बंद कर लो और हाथ पकड़ लो और वह जहाँ ले जाए, चले जाओ—तो आखिरी प्रयोग समर्पण का तो कैसे हो पाएगा! वह तो उस परमात्मा के हाथ पकड़ने हैं, जो दिखाई भी नहीं पड़ता; जो है या नहीं, वह भी सुनिश्चित रूप से





नहीं कहा जा सकता।

उसका होना भी हृदय की आस्था में ही है। बाहर तो कोई प्रमाण मिलता नहीं। उसके हाथ पकड़ कर कोई चल पड़ता है। अपनी आँख बंद कर लेता है। कहता है, 'मेरी आँख की जरूरत क्या है; तुम हो, काफी हो। और मैं क्यों चिंता करूँ—नक्शों की, मार्गों की? मैं क्यों फिक्र करूँ : पहुँचूँगा, नहीं पहुँचूँगा? कौन-सी विधि कारगर होगी, कौन-सी नहीं होगी? तुम हो, काफी हो; हाथ पकड़ लेता हूँ।' जैसे छोटा बच्चा अपने बाप का हाथ पकड़ कर चल पड़ता है। भला बाप चिंतित हो, लेकिन छोटा बेटा हाथ पकड़ के प्रसन्नता से नाचता हुआ, गुनगुनाता हुआ चलता है। उसे कोई चिंता नहीं है। पिता साथ है, बात समाप्त हो गई। अब चिंता की जरूरत क्या है।

समर्पण का मार्ग सब कुछ परमात्मा पर छोड़ देना है।

जो संदेह से भरे हैं, उन्हें शायद समर्पण संभव न होगा। उनके लिए संकल्प का ही रास्ता रहेगा। बहुत भटकेंगे, जो काम क्षण में हो सकता था, अनायास हो सकता था, उसके लिए वे व्यर्थ ही प्रयास करेंगे। पहुँच जाएँ—सौभाग्य। हजार चलते हैं, एक पहुँचता है, क्योंकि अपने ही पैर चलना इस बीहड़ वन में!

जीवन के इस अनंत फैलाव में, बिना किसी सहारे के चलना—मनुष्य की इस असहाय अवस्था में—संभव नहीं मालूम होता।

लेकिन जिनके जीवन में संदेह की छाया बहुत गहरी है, संदेह के बादल घिरे हैं, उनके लिए वही उपाय है। शायद वे वहाँ से थक कर, परेशान होकर लौट पड़ें, तो समर्पण भी संभव हो जाए।

यहाँ कृष्ण पूरी समर्पण की ही बात कर रहे हैं। और कृष्ण मौजूद हैं—साक्षात्, साकार, फिर भी अर्जुन छोड़ नहीं पा रहा है। तो तुम्हारी कठिनाई मैं समझ सकता हूँ, करोड़ों लोगों की कठिनाई समझ सकता हूँ कि जिनके लिए साक्षात् कोई भी मौजूद न हो, या मौजूद हो, तो आस्था न आती हो; मौजूद हो, तो प्रेम न जगता हो।

और अर्जुन तो प्रेम से भरा है—कृष्ण के प्रति। कृष्ण बचपन के सखा हैं, फिर भी अर्जुन भरोसा नहीं कर पाता। जिन कृष्ण को युद्ध की भीषण अवस्था में, संकट के समय में सारथी बना लिया है, उन्हें भी जीवन की अंतर्यात्रा में सारथी बनाने की हिम्मत अर्जुन नहीं कर पाता है। युद्ध के लिए उन पर आस्था कर ली है कि जहाँ ले जाएँगे, ठीक ही ले जाएँगे। लेकिन और भी गहरे युद्ध हैं जीवन के, जहाँ कृष्ण पर भी आस्था नहीं बैठती। यहाँ तो सारथी बना लिया है—इस कुरुक्षेत्र में होने वाले युद्ध के लिए। लेकिन जो जीवन का अनंत-अनंत काल से चलता हुआ महायुद्ध है, अंतर्युद्ध है, वहाँ कृष्ण के हाथ में बागडोर देने में अर्जुन डरता है।

प्रेम है, सखाभाव है। पुराने परिचित हैं। ऐसी कोई स्मरण नहीं है घटना, जब कि

कृष्ण ने कोई धोखा अर्जुन को दिया हो। जब भी जरूरत पड़ी है, काम आए हैं, जब भी संकट आया है, साथ दिया है। हर मुश्किल की घड़ी में सुलझाव का मार्ग खोजा है। फिर भी भरोसा नहीं आता।

कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि 'तू अगर छोड़ दे सब मेरे ऊपर, तो मेरी कृपा से अनायास ही तर जाएगा।' अनायास का अर्थ है कि फिर तुझे प्रयास न करना पड़ेगा। ऐसे ही तर जाएगा, जैसे कुछ किया ही नहीं—और हो गया। तर जाना एक घटना होगी—कृत्य नहीं। लेकिन उसके पहले एक बहुत बड़ी शर्त है, महाशर्त है, वह समर्पण की है।

अगर हृदय में प्रेम हो, थोड़ी-सी भी प्रेम की संभावना हो, तो समर्पण को चुन लेना। समर्पण का अर्थ होगा : संदेह को छोड़ना, अहंकार को छोड़ना; और अहंकार और संदेह में शक्ति तुम्हारी उलझी है जीवन की, उस सब को भी समर्पण के ही मार्ग पर समाहित करना। बँटी हुई शक्ति न रह जाए, सारी जीवन-धारा समर्पण में और श्रद्धा में लग जाय, तो धीरे-धीरे जो गंगा बड़ी छोटी-सी निकलती है, गंगोत्री में, वह बड़ी होने लगती है।

अगर थोड़ी-सी संभावना प्रेम की है—जो कि निश्चित है, क्योंकि ऐसा आदमी भी खोजना कठिन है, जिसके भीतर गंगोत्री-जैसी गंगा भी न हो। उतनी है, चाहे तुम्हें उसका कलकल नाद भी न सुनाई पड़ता हो, इतना छोटा झरना है; शायद तुम इतने विचार, ऊहापोह से भरे हो, कि अपनी ही आवाज में उस नदी की छोटी-सी दीन पुकार, क्षीण पुकार सुनाई नहीं पड़ती। लेकिन थोड़ा समझोगे, सम्हलोगे, झाँकोगे, सुनाई पड़ने लगेगी।

अभी जो बूँद-बूँद टप-टप हो रही हो गंगा, वह महानद बन सकती है, अगर तुम बँटी हुई ऊर्जाओं को उसी ओर समाहित कर दो और तब, कृष्ण कहते हैं, अनायास ही सब हो जाएगा।

दोनों मार्ग खुले हैं। अगर तुम्हें ऐसा लगता हो कि यह संभव नहीं है कि अपने संदेह को प्रेम के प्रति समर्पित कर पाएँ, कि हम अपने अहंकार को परमात्मा के प्रति झुका पाएँ, तो फिर दूसरा उपाय है। तुम परमात्मा को बिलकुल भूल ही जाओ। तुम्हारा अहंकार ही सब कुछ रह जाय। तुम ही बचो।

इसलिए तो जैन परमात्मा की बात नहीं करते, सिर्फ आत्मा की बात करते हैं। तुम ही हो, परमात्मा नहीं है। यह ठीक है। फिर तुम सारे संदेह को उठा लो—जितना उठा सकते हो, और अपने प्रेम में भी जो थोड़ी-सी जलधार बह रही है, वह भी सुखा लो। उस प्रेम की जलधार को भी तर्क बना दो। तुम्हारा पूरा जीवन तर्क, विचार, संदेह, संकल्प बन जाय। तो भी तुम पहुँच जाओगे।

मगर आधा-आधा कोई भी नहीं पहुँचता है—एक बात सुनिश्चित है। पूरा-पूरा





—या इस पार, या उस पार। या इस नाव पर सवार या उस नाव पर सवार। लेकिन दो नावों पर यात्रा मत करना। और तुम सभी को मैं दो नावों पर खड़े देखता हूँ। तुम समर्पण भी नहीं करते, अपने को बचा लेते हो। तुम परमात्मा का आशीर्वाद लेने की आकांक्षा भी नहीं छोड़ते। उसके प्रसाद से हो जाय—यह भाव भी नहीं छूटता। और मैं ही कर के दिखा दूँ, यह अस्मिता भी नहीं जाती, ऐसी दो नावों पर तुम सवार हो।

आधा संदेह, आधी श्रद्धा—इससे ज्यादा विडम्बना की अवस्था नहीं है। आधा समर्पण, आधा संकल्प—इससे ज्यादा खंडित और चित्त क्या होगा! ऐसे तुम दो हो जाते हो। तुम्हारे भीतर की एकता, सुरतान टूट जाता है। तुम्हारे भीतर बहुत से सुर बजने लगते हैं—जिनमें कोई तालमेल नहीं होता। यही तो विक्षिप्तता की दशा है। इसे बदलना होगा।

कृष्ण कहते हैं, 'तू सब कुछ मुझ पर ही छोड़ दे, अर्जुन।' यह कृष्ण का मार्ग है। लेकिन इससे तुम निराश मत हो जाना। अगर न छोड़ सको, तो घबड़ाहट की कोई जरूरत नहीं है। तुम्हारे लिए महावीर हैं। निराश होने का किसी को भी कारण नहीं है।

जिस तरह के भी तुम हो, तुम्हारे योग्य कोई नाव कहीं है। लेकिन अपनी नाव ठीक से चुन लेना। नहीं तो तुम चलोगे भी और पहुँचोगे नहीं।

दूसरे की नाव में कोई कहीं भी नहीं पहुँचता है। वह कितनी ही सुंदर दिखाई पड़ती हो। दूसरे की यात्रा को अपनी यात्रा मत बनाना। इसलिए कृष्ण कितनी बार दोहराते हैं : 'स्वधर्मे निधनं श्रेय :—अपने धर्म में मर जाना बेहतर है।' अपनी ही नाव में डूब जाना उचित है; दूसरे की नाव में पहुँचना भी उचित नहीं। इसलिए बहुत गौर से अपने भीतर परीक्षण करो, निरीक्षण करो, निदान करो।

और एक बात तो तय कर ही लेनी है : या तो संकल्प, या समर्पण। या तो तर्क या प्रेम। बस, वहाँ अगर तुम ने निर्णय ले लिया और फिर तुम उस निर्णय के अनुसार चल पड़े और दूसरी तरफ झुके नहीं, बीच-बीच में बदले नहीं, तो तुम निश्चित पहुँच जाओगे।

● दूसरा प्रश्न : क्या कृष्ण की भाँति आप भी हमसे कहते हैं कि 'तुम्हारे सभी निश्चय मिथ्या हैं?'

निश्चय ही; क्योंकि तुम मिथ्या हो। अभी तुम्हारा सत्य स्वरूप प्रकट नहीं हुआ। इसलिए तुम इस विक्षिप्त अवस्था में जो भी निर्णय करोगे, वह निर्णय भी विक्षिप्त होगा।

ऐसे ही जैसे शराब पीये हुए किसी आदमी से हम कहें, 'करो निर्णय।' वह कुछ निर्णय भी कर ले, पर इसका क्या मूल्य हो सकता है। यह, सुबह जब होश आयेगा,

तब तक भी न टिकेगा। सुबह यह आदमी बदल जाएगा। सुबह यह मानेगा ही नहीं कि कभी मैंने यह कहा था।

तुम्हारी जैसी चित्त की अभी दशा है, तुम्हारे सभी निर्णय मिथ्या होंगे; क्योंकि तुम मिथ्या हो। तुम्हारे मिथ्या होने से तुम्हारे निर्णय मिथ्या निकलेंगे; वे सत्य कैसे हो सकते हैं? इसलिए किसी भी निर्णय लेने के पूर्व तुम्हें अपने 'होने' की प्रामाणिकता खोज लेनी चाहिए। रत्ती भर भी तुम अपनी प्रामाणिकता को पकड़ लो, तो उससे जो निर्णय आएगा, सत्य होगा।

बहुत सोच-विचार का सवाल नहीं है, शांत दृष्टि का सवाल है।

तुम सोचेगे भी क्या? सोच-सोच के तो तुम अब तक चलते ही रहे हो। सोच-सोच के तो ही तुम उलझे हो। सोचने से तुम सुलझोगे नहीं। विचार से कोई समाधान न होगा। विचार से ही तो समस्याएँ खड़ी हुई हैं। विचार ने ही तो तुम्हें बांधा, सताया है। विचार ने ही तो तुम्हें रोग दिया है। विचार औषधि नहीं बन सकता।

तुम्हें अगर उस निर्णय को पाना है—जो मिथ्या न हो, तो तुम विचार को त्यागो, थोड़े शांत और निर्विचार होना सीखो। वही ध्यान है। उस ध्यान में जो निर्णय आएगा, वह तुम्हारा किया हुआ नहीं है। वह तुम्हारे स्वधर्म से उठेगा; वह तुम्हारे स्वभाव में उठेगा।

जैसे बीज से अंकुर फूटता है, ऐसे तुम्हारे स्वधर्म से निर्णय का जन्म होगा। वह निर्णय मिथ्या नहीं होगा। मगर ध्यान रखना : वह निर्णय 'तुम्हारा' नहीं होगा। तब तुम कह सकते हो : परमात्मा ने मेरे भीतर यह निर्णय लिया। तुम कह सकते हो : समष्टि ने मेरे भीतर यह निष्कर्ष लिया; क्योंकि उस निर्विचार क्षण में तुम कहाँ रहोगे! तुम तो विचारों का जोड़ हो, भीड़ हो। और उन विचारों के जोड़ को ही अब तक तुमने अपना होना समझा है। तुम्हारा होना नहीं है। उन विचारों की परतों के नीचे दबा है—तुम्हारा होना।

तुम अपने शांत होने को पा लो और उसी से उठने दो निर्णय, और जीवन में कभी भूल न होगी।

यह बड़े आश्चर्य की बात है। विचार करते समय तो विकल्प होते हैं। यह करूँ, न करूँ; कैसे करूँ, इस विधि करूँ या उस विधि करूँ; पूरब जाऊँ कि पश्चिम; जाऊँ या न जाऊँ; उठूँ या बैठा रहूँ। विचार में विकल्प होते हैं। निर्विचार में कोई विकल्प नहीं होता है, सिर्फ निर्णय होता है।

निर्विचार में एक भाव उठता है, तुम्हारे पूरे प्राणों को पकड़ लेता है। ऐसा सवाल नहीं होता कि चलूँ या न चलूँ। बस, तुम अचानक पाते हो : तुम चल रहे हो। या अचानक पाते हो कि तुम बैठे हो, चलना खो गया।





निर्णय है निर्विचार में। और वहाँ कोई विकल्प नहीं है। वहाँ तो निर्विकल्प दशा है। एक ही उठता है और इतने समग्र भाव से उठता है कि तुम्हारे रोयें-रोयें को आविष्ट कर लेता है। तुम्हारा तन-मन सब उसमें समर्पित हो जाता है। तुम अचानक पाते हो कि तुम्हारा लिया हुआ निर्णय नहीं है। ज्यादा उचित होगा कि निर्णय ही ने तुम्हें ले लिया। तुमने कहाँ लिया? तुम निर्णय से ऊपर नहीं हो। निर्णय ने ही तुम्हें ले लिया। तुम निर्णय के भीतर घिर गए हो। और ऐसा जब कोई निर्णय होता है, तो फिर कोई पछतावा नहीं। वह तुम्हें जहाँ भी ले जाय, तुम सदा अपने को धन्यभागी पाओगे।

विचार से सोचकर, विकल्पों के बीच चुनकर लिया गया निर्णय मिथ्या होगा, क्योंकि वह विक्षिप्त मन ने लिया है। निर्विचार में, स्वभाव में आविर्भूत, उठा हुआ निर्णय खण्डित नहीं होगा; दो नहीं होंगे। वह तुम्हें पूरे प्राण-पण से पकड़ लेगा। तुम कभी पछताओगे न। तुम कभी पीछे लौटकर न देखोगे, क्योंकि अन्यथा उपाय ही न था—करने का। जो तुमने किया है, वही हो सकता था। दूसरा कोई स्वर ही न था भीतर, जो अब कह सके कि देखो, मैंने कहा था ऐसा मत करो।

अभी तुम्हारी दशा ऐसी है, कि तुम जो भी करो, पछताते हो। करो तो पछताते हो, न करो तो पछताते हो।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं : बड़ी मुश्किल में पड़े हैं। संन्यास नहीं लेते हैं, तो दिन-रात पछतावा चलता है कि हम पीछे पड़े जा रहे हैं; दूसरे आगे निकले जा रहे हैं। और दूसरे हिम्मतवर हैं; हम कमजोर, कायर, दूसरे साहसी। तो मन में ग्लानि बनी रहती है, पीड़ा होती है। अगर ले लेते हैं, तो झंझटें खड़ी हो जाती हैं कि क्या भूल कर ली! जग-हँसाई होती है। लोग कुछ कुछ कहते हैं। लोग कहते हैं, 'यह भी पागल हुआ। तुमने भी दिमाग छोड़ दिया अपना! बुद्धि खो दी!' नहीं लेते, तो पछतावा पकड़ता है; लेते हैं तो पछतावा पकड़ता है। तो फिर तुम करोगे क्या?

तुम कुछ भी करोगे, पछतावा पकड़ेगा। पछतावे का अर्थ यही है कि तुम बँटे हो। एक मन का हिस्सा कहता है : लो; दूसरा मन का हिस्सा कहता है : मत लो। तो तुम दो में से किसी की भी सुनोगे, तो जो नहीं जिसकी तुमने सुनी है, वह बैठा है भीतर, प्रतीक्षा कर रहा है—ठीक समय की—कि तुम्हें कहेगा कि 'लो! पहले कहा था, नहीं सुना, नहीं माना; अब भोगो।' पर ये दो हैं इसलिए हमेशा ही तुम पछताओगे।

मेरे देखे, तुम सिवाय पछतावे के और कुछ करते ही नहीं। सदा तुम्हारा जीवन एक गहरे पश्चात्ताप के धुएँ से भरा रहता है।

जिस दिन तुम जानोगे निर्विचार का निर्णय, उस दिन तुम पछताओगे न, क्योंकि वहाँ कोई दूसरा स्वर ही न था। तुम कुछ और करना भी चाहते, तो कर ही न सकते थे। ऐसी अवस्था में ही नियति का अर्थ प्रकट होता है। तभी तुम कह सकते हो, 'जो

होना था—हुआ। भाग्य था; अन्यथा कुछ हो ही न सकता था। बुरा किया; किया। भला किया; किया। कुछ और हो ही न सकता था; जो परमात्मा ने चाहा वह हुआ।'

जिस दिन तुम निर्विचार हो, उसी दिन परमात्मा तुम्हारे भीतर सक्रिय हो जाता है। उसे थोड़ा मौका दो।

मगर तुम बहुत होशियार हो। तुम निर्णय खुद लेना चाहते हो। तुम्हारे सभी निर्णय मिथ्या होंगे। निर्णय तो 'उसका' ही सत्य होगा। तुम मार्ग दो; हटो बीच से। आने दो उसकी आवाज को; उठने दो उसकी अंतर्ध्वनि। वही तुम्हारे भीतर निर्णय ले; तुम चुपचाप उसके साथ चलो। तुम छाया बन जाओ। तुम आगे मत डोलो, तुम पीछे-पीछे हो रहो। फिर वह जहां ले जाय—जाओ। और तुम्हारे जीवन में पश्चात्ताप से कभी भी मिलन न होगा। और ऐसा जीवन ही पुण्य का जीवन है, जिसमें पश्चात्ताप न हो।

अगर तुम मुझसे पूछो कि किस जीवन को मैं पुण्य का जीवन कहता हूँ, तो उस जीवन को, जिसमें पश्चात्ताप न हो। जहाँ पश्चात्ताप है, वहाँ पाप है।

लोग कहते हैं कि पाप के लिए पछताना पड़ता है। मैं तुमसे कहता कहता हूँ, जिस चीज के लिए भी पछताना पड़ा है, वह पाप है। तुमने चाहे दान ही क्यों न दिया हो और देकर पछताने लगे कि 'न दिया होता तो अच्छा था', तो वह भी पाप हो गया। जिस के लिए पछताना पड़े, वह पाप है; और जिसके न पछताना पड़े, वह पुण्य है।

मगर कैसे वह घड़ी आएगी, जब तुम न पछताओगे?

विचार से निर्णय लोगे, पछताओगे ही। निर्विचार से उठने दो निर्णय, तब, कृष्ण कहते हैं, 'कृपा से अनायास ही, जो कर-कर के नहीं होता, वह बिना किए हो जाता है।'

● तीसरा प्रश्न : कृष्ण ने पूरी गीता में अर्जुन को निमित्त होने और प्रभु की इच्छानुसार चलने को कहा है; पर अंत-अंत में 'जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा ही कर', यह भी जोड़ दिया है। क्या अर्जुन इस क्षण में इच्छा कर सकता है? या कि कृष्ण ने कुछ जानने के लिए उसे जानबूझ कर जोड़ा है?

जानबूझ कर जोड़ा है।

अगर अर्जुन कृष्ण को समझ गया है, तो कहेगा, 'इच्छा भी तुम्हीं सम्हालो। यह बोझ मुझे क्यों देते हो! जब मैं तरकीब ही सीख गया—निर्बोझ होने की, तो अब तुम मुझे न फँसा सकोगे। यह भी तुम्हीं सम्हालो।'

अगर अर्जुन समझ गया है, तो वह कहेगा, 'अब तुम्हारी तो मरजी।' अर्जुन हँसेगा और कहेगा, 'यह भी खूब रही! यह भी खूब रही कि पूरे समय समझाया—छोड़ने को और अब आखीर में कहते हो, जो तेरी इच्छा। ऐसा मजाक मत करो।'





लेकिन अर्जुन नहीं समझ पाया। वह विचार में पड़ गया। वह सोचने लगा।

कृष्ण जैसे लोगों के साथ जरा सोच-समझ के बातचीत करना जरूरी है, बड़ा होश रखना जरूरी है। क्योंकि वे क्या कहते हैं, उसका अर्थ इतना सीधा-सीधा नहीं है कि तुम भाषा से ही समझ लो। उसमें दाँव-पेंच हैं। दाँव-पेंच होने स्वाभाविक हैं, क्योंकि वे तुम्हारे मन की गहराइयों में उतरने की चेष्टा कर रहे हैं।

वे कई जगह तुम्हें धोखा देंगे; और उनका धोखा इसीलिए होगा कि तुम पकड़ पाते हो, नहीं पकड़ पाते हो। पहचान पाते हो, नहीं पहचान पाते हो? अगर तुम नहीं पहचान पाये, तो चूक गए। फिर से समझना पड़ेगा। सारी बात ही व्यर्थ हो गई। अर्जुन को एक ऐसी जगह कृष्ण ले आए हैं, जहाँ अर्जुन को भी लग रहा है कि समझ में आ रहा है। एक ऐसी घड़ी आ गई है चर्चा की, संवाद वहाँ पहुँच गया है, जहाँ अर्जुन शांत हुआ दिखता है। जहाँ उसका ऊहा-पोह क्षीण हो रहा है, लहरें बैठ गयी हैं। वह तूफान नहीं रहा, वह आंधी नहीं रही, जहाँ से कथा शुरू हुई थी, वह विषाद नहीं रहा। चिंता के बादल छँट गए हैं, सूरज की किरणें दिखाई पड़ने लगी हैं। यह घड़ी है।

कृष्ण जैसे व्यक्ति एक - एक कदम होशपूर्वक लेते हैं। बहुत कुछ उनके कदम पर निर्भर है। इस घड़ी में अर्जुन को ऐसा खयाल हो सकता है कि 'समझ गया। आ गई बात—समझ में।'

कितनी बार मुझे सुनते-सुनते तुम्हें नहीं लगता है कि आ गई बात समझ में। वह भी, हो सकता है, अहंकार का आखिरी उपाय हो कि मैं समझ गया; 'मैं' बचने की कोशिश कर रहा हो—अब समझ के द्वारा कि 'देखो, मैं समझ गया। देखो, कोई भी नहीं समझ पाया। देखो, कितने समझने की कोशिश कर रहे हैं और भटक गए और मैं समझ गया।'

अर्जुन में उठी होगी वैसी सूक्ष्म लहर—कि समझ गया। वह लहर अर्जुन को भी साफ नहीं है। अर्जुन को भी अपने अचेतन का पता नहीं है : वहाँ क्या संगठित हो रहा है। लेकिन कृष्ण से बच के जाना मुश्किल है।

कृष्ण की आँखें तुम्हें तुम्हारी आखिरी गहराई तक भेदती हैं। ऐसी कोई परत नहीं है—तुम्हारे चेतन-अचेतन की, जहाँ कृष्ण की दृष्टि नहीं पहुँच पाती। कृष्ण ने तत्क्षण जाल फेंका और कहा कि 'देख, अब सब तुझे कह दिया। सब तू समझ भी गया। अब तू खुद ही सोच ले, जो तेरी इच्छा हो, वैसा कर।'

अर्जुन जाल को नहीं पहचान पाया। सोचने लगा। शायद उसने आँख बंद कर ली हो, विचार करने लगा कि क्या करूँ, क्या न करूँ। चूक गया। क्योंकि यही तो पूरी बात समझायी थी।

यह तो वही हुआ कि रात भर समझाया—राम की कथा को; और सुबह तुम पूछने लगे कि सीता राम की कौन?

यह पूरा—अब तक—गीता का सारा शास्त्र समर्पण की कथा है और आखिर में कृष्ण ने पासा फेंका और अर्जुन फँस गया। वह सोचने लगा, विचार करने लगा; चूक गया। कृष्ण को फिर कथा शुरू करनी पड़ेगी। फिर से कहना पड़ेगा। फिर किसी और द्वार से खट-खटाना पड़ेगा। फिर कहीं और से मार्ग बनाना पड़ेगा। इस बार भी बात चूक गयी।

अगर अर्जुन समझ ही गया, तो कहता, 'अब बंद करो। अब यह चाल मत खेलो। समझ गया मैं। अब क्या मेरी मरजी ? अब उसकी ही मरजी। अब तेरी ही मरजी। अब जो तुम्हारी मरजी, मैं राजी हूँ। अब और न उलझाओ। अब तुम मुझे न फाँस सकोगे।' और गीता यहीं समाप्त हो गयी होती। लेकिन एक बार अर्जुन और चूक गया। स्वाभाविक है।

जीवन का जाल बहुत जटिल है। तुम पाते-पाते भी चूक जाते हो। पास पहुँचते-पहुँचते छिटक जाते हो। हाथ पहुँच ही रहा था—पहुँच ही रहा था कि फासला बड़ा हो जाता है। जरा-सी भूल!

तुमने बच्चों का खेल देखा है : सीढ़ी और साँप। बस, वैसा ही जीवन है। उसमें पासे फेंको, सीढ़ियों पर नम्बर पड़ जाय, तो चढ़ो, और साँपों पर नम्बर आ जाय तो उतर जाओ। चढ़ते-चढ़ते—पहुँचने के करीब ही थे, आखिरी मंजिल पास ही थी, दो-चार खाने और रह गए थे कि पड़ गये साँप के मुँह में। फिर नीचे—जहाँ साँप की पूँछ है, वहाँ आ गये। फिर यात्रा शुरू!

जीवन साँप-सीढ़ी का खेल है।

कृष्ण सीढ़ी लगाते हैं। अर्जुन को चढ़ाते हैं, लेकिन जब तक तुम साँप को ठीक से न पहचानने लगो, तब तक सीढ़ी से ही चढ़ कर कोई चढ़ नहीं सकता। साँप को भी पहचानना जरूरी है, क्योंकि वह हर सीढ़ी के साथ खानो में बैठा हुआ है। हर सीढ़ी के साथ साँप का मुँह भी है।

हर ऊँचे शिखर के साथ गहरी खाई भी है। हर समझ के पास ही गड्ढ है—नासमझी का। जरा-सी चूक, जरा-सी भूल, और तुम अतल खाई में पाओगे अपने को। बहुत दिनों का श्रम व्यर्थ हो जाता है। मगर यह भी शायद जरूरी है, प्रौढता के लिए—बहुत बार हारना, उठ-उठ के गिरना, गिर-गिर के उठना।

सीढ़ी भी जरूरी है, साँप भी जरूरी है, तभी तुम पकते हो। सीढ़ी सफलता देती है, आशा बँधाती है। साँप असफल करता है, निराशा देता है। संतुलन बना रहता है।

यह साँप था, जो कृष्ण ने कहा कि 'अब तेरी जो मरजी। सब मैंने तुझे कह दिया।' सीढ़ी लगा दी। 'अब कुछ भी बचा नहीं कहने को, बात सब साफ हो गयी, अर्जुन।'

और अर्जुन विचार करने लगा। बस, चूक गया। वह हँसने लगा होता; उसने





उठा लिया होता गाण्डीव, और उसने कृष्ण से कहा होता, 'ले चलो रथ को, जहाँ तुम्हारी मरजी। संन्यास का इरादा हो—ले चलो हिमालय की तरफ। युद्ध का इरादा हो—बजाओ शंख, बज जाने दो पांचजन्य; उतर जाने दो युद्ध में। अब जो तुम्हारी मरजी। अब और मुझे मत धोखा दो। बहुत सीढ़ियाँ, बहुत साँप देखे। अब पहचान गया हूँ।'

नहीं पहचान पाया। वह आँखें बंद करके फिर सोचने लगा—कि क्या निर्णय करूँ! सब विकल्प उठने लगे। 'लड़ूँ, न लड़ूँ?' फिर बात वहीं की वहीं पहुँच गयी, जहाँ पहले अध्याय में थी : 'लड़ूँ, या न लड़ूँ? अपने प्रियजन हैं, इनको मारूँ, न मारूँ? यह राज्य पाने योग्य है, युद्ध के योग्य है, इतने बलिदान के योग्य है?' सारा झंझावात फिर खड़ा हो गया। फिर बादल घिर गये, सूरज फिर खो गया।

● **चौथा प्रश्न :** जब मन पूरी तरह विचार-शून्य हो जाएगा, तब वह फिर विचार किसका करेगा? विचार करने के लिए भी समस्या के रूप में कुछ विचार तो चाहिए ही न?

जब मन पूरी तरह शून्य हो जाता है, तब किसी का विचार नहीं करता; दृष्टि उपलब्ध होती है। तुम विचार करते हो, क्योंकि दृष्टि नहीं है। इसे थोड़ा समझो।

अगर दृष्टि हो, तो तुम विचार न करोगे। विचार करना पड़ता है—दृष्टि की कमी है, उसको पूरा करने के लिए।

अंधे आदमी को जाना है; पूछता है : 'कहाँ जाऊँ; रास्ता कहाँ है; पूरब जाऊँ, पश्चिम जाऊँ?' फिर लकड़ी उठा कर टटोलता है। विचार ऐसा ही है। वह अंधे आदमी के हाथ की लकड़ी है। उससे तुम टटोलते हो। पर जिसके पास आँख है, वह लकड़ी से टटोलता है? उसे जाना है, उठा और चला। वह एक बार सोचता भी नहीं कि किस तरफ जाऊँ; द्वार कहाँ है। तो द्वार दिखाई ही पड़ता है। वह टटोलता भी नहीं, क्योंकि टटोलने की बात ही बेमानी है।

विचार टटोलना है, ध्यान आँख है। निर्विकार आँख है और विचार अंधे की लकड़ी।

तुम खूब-खूब विचार करते हो, क्योंकि तुम्हें कुछ दिखाई नहीं पड़ता, सूझता नहीं। सूझता नहीं, तो विचार से कमी पूरी करनी है। सोच-सोच कर निर्णय करते हो कि कहीं भूल न हो जाय। फिर भी होती है। अंधा कितना ही सम्हल कर चले, फिर भी टकराता है।

बड़ी पुरानी झेन कथा है। एक अंधा आदमी एक मित्र के घर से रात विदा होता था। मित्र ने कहा, 'लालटेन साथ ले जाओ। रास्ता अंधेरा है, और घर दूर।' अंधा हँसने लगा। उसने कहा, 'मजाक करते हो! मुझ अंधे को क्या फर्क पड़ता है लालटेन से। लालटेन हो तो, न हो तो, रास्ता अंधेरा ही रहेगा। मुझे तो टटोलना ही पड़ेगा।'

पर मित्र बड़ा तार्किक था, एक महापंडित था। उसने कहा कि 'वह मुझे पता है कि तुम अंधे हो। तुम मुझे मत समझाने की कोशिश करो। यह भी मुझे पता है कि तुम्हारे

हाथ में लालटेन से तुम्हें कोई फर्क नहीं पड़ता, लेकिन दूसरों को फर्क पड़ेगा। वे तुमसे टकराने से बच जाएँगे। और उससे तुम्हें भी लाभ होगा। अँधेरे में कोई तुमसे टकरा जाएगा। 'हाथ में लालटेन होगी, तो कोई तुमसे टकरायेगा नहीं।'

तर्क तो वजनी था। अंधा भी इनकार न कर सका। तर्कों के साथ यही मुश्किल है कि उनमें वजन होता है। और वजन में बड़ा धोखा होता है।

अंधे ने कहा, 'यह बात तो ठीक है। आज तक कभी लालटेन लेकर चला नहीं, लेकिन अब तुम कहते हो, तो बात जँचती भी है, गलत भी नहीं कह सकता। लेकर जाता हूँ।'

लालटेन लेकर गया। दस कदम ही गया होगा मुश्किल से, कि एक आदमी जोर से आ कर टकराया। अंधे ने कहा, 'यह क्या मामला है! यह तर्क कहीं ऐसे गलत हो सकता है! क्या तुम भी अंधे हो भाई?' एक ही बात हो सकती है कि यह आदमी भी अंधा हो और इसको भी लालटेन का पता न चल रहा हो।

उस आदमी ने कहा, 'मैं अंधा नहीं हूँ। आँखें हैं मेरी। तुम अंधे हो, दुनिया को अंधा समझते हो?' अंधे ने कहा, 'अगर तुम्हारे पास आँख है, तो मेरे हाथ की लालटेन नहीं दिखाई पड़ती?' उस आदमी ने कहा, 'लालटेन के भीतर की बत्ती कभी की बुझ गयी। तुम बुझी लालटेन लिए हो।'

और खतरा हो गया। अंधा आदमी जिंदगी भर चलता रहा था; कभी कोई इससे टकराया न था, क्योंकि वह सम्हलकर चलता था, अंधे के हिसाब से चलता था। लकड़ी बजा कर चलता था। जरा आवाज होती, तो आवाज कर देता कि भाई मैं अंधा आदमी हूँ। आज अकड़ कर चल रहा था। हाथ में लालटेन थी, फिक्र क्या है! इस अकड़ ने और मुश्किल में डाल दिया। और लालटेन तो बुझ गई थी।

तुम्हारा विचार अंधे के हाथ की लकड़ी है। और तुम्हारे भीतर जो बहुत बड़े विचारक हैं, उनके हाथ में लालटेन है, जो बुझी हुई है। और तुम्हारे भीतर जो आत्यंतिक विचारक हैं, वे पागल हो जाते हैं। पागलखानों में उनसे मिलो, वे बड़े विचारक हैं। वे विचार ही विचार करते हैं। वे इतने बड़े विचारक हैं, कि वे निर्णय तक पहुँच ही नहीं पाते! तुम पहुँच जाते हो, क्योंकि तुम बड़े विचारक नहीं हो।

तुम्हारे सोचने का अंत आ जाता है। तुम कुछ निष्कर्ष ले लेते हो। पर बड़े विचारक सोचते ही चले जाते हैं, सोचते ही चले जाते हैं। वे कभी निर्णय तक पहुँचते ही नहीं। विचार की श्रृंखला उनकी बड़ी है।

निर्विचार, समस्या के कारण नहीं सोचता। निर्विचार में सोचना तो घटता ही नहीं। निर्विचार देखता है।

अगर तुम ठीक से समझो तो निर्विचार को समस्या नहीं दिखाई पड़ती, समाधान





दिखाई पड़ता है। और विचार को समस्या दिखाई पड़ती है, समाधान सोचना पड़ता है। समाधान बना-बनाया, खुद का होता है। समस्या बाहर होती है।

विचार भरे चित्त को समस्या बाहर होती है, समाधान अपना मनोकल्पित होता है। निर्विचार चित्त को समस्या दिखाई ही नहीं पड़ती, समाधान ही दिखाई पड़ता है। इसलिए सोचने की कोई जरूरत नहीं होती।

लेकिन इसे ही तुम चाहो तो सम्यक् विचार कह सकते हो। यही वस्तुतः विचार है—जहाँ दिखाई पड़ जाय; समस्या न हो, समाधान हो।

ऐसा समझो, पहले समस्या दिखाई पड़े, फिर समाधान करना पड़े तो विचार। समस्या को देखते ही समाधान दिखाई पड़ जाय, क्षण का अंतराल न पड़े—समस्या और समाधान में, सोच-विचार के लिए क्षण भर की भी जगह न खोनी पड़े, तो समझना कि निर्विचार।

इसलिए बुद्ध, महावीर और कृष्ण को विचारक मत कहना। वे विचारक नहीं हैं। जैसे अरिस्टोटल विचारक है—प्लेटो विचारक है—ऐसे बुद्ध, महावीर विचारक नहीं हैं।

प्लेटो महान विचारक है, अरिस्टोटल महान विचारक है। महावीर और बुद्ध विचारक हैं ही नहीं। निर्विचार को उपलब्ध हैं। उन्हें समस्या मिलती ही नहीं। वे जहाँ भी जाते हैं, समाधान ही पाते हैं। इस स्थिति को ही हम समाधि कहते हैं।

जिसके भीतर समाधि है, उसके जीवन में बाहर सदा समाधान होता है। और जिसके भीतर विचार की विक्षिप्तता है, उसे बाहर सिर्फ समस्याएँ होती हैं।

वह जो कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि 'अब तू ही विचार कर ले', अगर निश्चित समझ आ गयी होती, प्रज्ञा का उदय हुआ होता, अगर बातचीत न समझी होती, तत्त्व समझ लिया होता, तो अर्जुन आलोकित हो जाता।

उस 'विचार' के क्षण में निर्णय की वर्षा हो जाती, निष्कर्ष आ जाता। वह अर्जुन कहता कृष्ण से कि 'अब क्या सोचना है। दिखाई पड़ने लगा। अब मुझे सोचने के लिए क्यों कहते हो, मेरी आँख खुल गयी। अब लकड़ी से क्यों टटोलूँ? मेरा समर्पण हुआ। अब मैं क्यों चिंता सिर पर लूँ; जो उसकी मरजी।'

मगर बात को समझ लेना आसान है। बात के भीतर छिपी हुई 'बात' को समझना मुश्किल है।

तुलसी की एक पंक्ति है, बड़ी मधुर है। पंक्ति है: 'निशिग्रह मध्य, दीप की बातन तम निवृत्त नहीं होई।' अँधेरी रात हो, घर में अँधेरा घिरा हो, तो प्रकाश की बातचीत से अँधेरा नहीं मिटता; दीप की बातन, तम निवृत्त नहीं होई। तो तुम कितनी ही चर्चा करो प्रकाश की, इससे कोई अँधेरा नहीं मिटता। दीया जलाओ। चाहे बातचीत दीये की बातचीत से नहीं मिटता अँधेरा, दीया जलाने से मिटता है।

न भी करो, दीया जलाओ।

कृष्ण तो जलाने की कोशिश कर रहे हैं दीया, अर्जुन समझ रहा है बातचीत को। और बातचीत की समझ को वह सोचता है कि अंधकार हट जाएगा।

वह फिर सोचने लगा, फिर विचारने लगा! उसने सोचा कि 'ठीक है।' शायद अभी तक डर भी पैदा हुआ हो कि कृष्ण कहे ही चले जा रहे हैं : समर्पण, समर्पण, समर्पण; शायद करना पड़ेगा। अब आश्वस्त हुआ होगा कि नहीं। अहंकार ने कहा होगा, 'मत घबड़ा, यह आदमी भला है। यह कहता है, 'अब तेरी जो इच्छा, तू कर ले।'

अहंकार प्रसन्न हुआ होगा। फिर से पैर जमा के खड़ा हो गया होगा। और अहंकार ने कहा होगा, कि ठीक। नहीं; हम गलती में थे। हम सोचते थे, यह आदमी उलझा ही देगा—समर्पण में। लगाये जा रहा है कि 'छोड़ो, सब छोड़ो, सिर झुकाओ; उसी को करने दो, तुम बीच में मत जाओ। यह इतनी बातचीत चला रहा है कि कहीं ऐसा न हो कि फाँस ही दे। नहीं, गलती सोचा था हमने। यह आदमी भला है। अब इसने आखिरी बात कह दी कि अब तू खुद सोच ले।'

● पाँचवाँ प्रश्न : गीता का प्रारंभ है विषाद योग से और अंत है मोक्ष-संन्यास-योग पर। क्या जीवन में विषाद अंततः मोक्ष-संन्यास पर पहुँचा देता है?

निश्चित ही। लेकिन विषाद समग्र होना चाहिए। थोड़ा-थोड़ा विषाद काम न देगा। थोड़ा-थोड़ा विषाद होगा, तो तुम कोई न कोई सांत्वना खोज लोगे; कोई न कोई आशा का तंबू खींच लोगे और विषाद उसमें छिप रहेगा।

विषाद अगर पूर्ण होगा, विषाद ऐसा होगा कि पूरा जीवन दाँव पर लगा है, मरना या जीना—ऐसी स्थिति आ गई है, तो ही विषाद से मोक्ष की यात्रा शुरू होगी।

विषाद प्राथमिक चरण है। दुःख का बोध पहला चरण है।

बुद्ध ने चार आर्य सत्य कहे कि चार—बस, चार सत्यों में सब शास्त्र आ जाते हैं। पहला सत्य है दुःख का बोध—कि जीवन दुःख है। दूसरा सत्य है कि दुःख से मुक्त हुआ जा सकता है। तो आशा बनेगी। अगर मुक्त ही नहीं हुआ जा सकता, तो तुम विषाद में डूब कर विक्षिप्त हो जाओगे।

बुद्ध पुरुषों से आशा बँधती है कि नहीं, दुःख से मुक्त हुआ जा सकता है। ऐसे लोग भी हैं, जिनको हमने नाचते देखा है आनंद से। ऐसे लोग भी हैं, जिनके होठों पर हमने उत्सव की बंसी बजती सुनी है।

कृष्ण की और बुद्ध की चाल हमने देखी है। उनके बैठने, उठने का ढंग हमने देखा है। उनके जीवन का महोत्सव हमने जाना है।

तो दुःख है, यह तो पहली बात है। जिसको अभी इसका ही पता नहीं चला, उसकी तो यात्रा ही शुरू नहीं हुई; विषाद-योग ही शुरू नहीं हुआ। अभी तो वह बचकाना है, प्रौढ





नहीं हुआ। अभी उसने जीवन के परम सत्य को भी नहीं देखा कि 'दुःख है, सब तरफ दुःख घिरा है।'

लेकिन अगर किसी ने दुःख ही देख लिया, और उसको दूसरी बात न दिखाई पड़ी; अँधेरे बादल तो दिखाई पड़े, लेकिन शुभ्र चमकती हुई बिजली की रेखा न दिखाई पड़ी; अँधेरी रात तो दिखाई पड़ी, लेकिन हर रात के गर्भ में सुबह दिखाई न पड़ी, तो वह विषाद से दबकर मर जाएगा, मुक्त नहीं हो पाएगा। आत्महत्या कर लेगा।

पश्चिम में यही हो रहा है, विषाद-योग पैदा हुआ है। सार्त्र विषाद-योग से घिरा है। पूरे जीवन वह विषाद की ही बात कर रहा है। लेकिन उससे मुक्ति नहीं आ रही है, न मोक्ष का स्वर आ रहा है। इतना ही बोध आ रहा है कि जीवन दुःख है। और ज्यादा से ज्यादा महत्वपूर्ण बात जो वह कह सका है—अपने जीवन भर की खोज में, वह यह कि 'आदमी को साहसी होना चाहिए। दुःख के बावजूद जीने की कोशिश करनी चाहिए। बस। विषाद है तो है।'

पूरा अस्तित्ववाद का आन्दोलन पश्चिम में विषाद-योग है। बड़े विचारक पैदा हुए हैं, लेकिन वे बस, अर्जुन तक अटक गए हैं। कृष्ण कहीं दिखाई नहीं पड़ता उन्हें। तो उनका गाण्डीव तो ढीला होकर हाथ से छूट गया है; गात शिथिल हो गए हैं। लेकिन सार्त्र इतनी ही आशा बँधाता है कि कुछ और किया नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति है कि जीवन दुःख है। बस, ज्यादा से ज्यादा इतना ही हो सकता है कि तुम साहसपूर्वक लड़े जाओ, यद्यपि पराजय निश्चित है।

तो इसको वह कहता है कि 'बहादुर आदमी का लक्षण है : जानते हुए, पराजय होगी, मृत्यु होगी, वह लड़ता जाय। कोई सांत्वना नहीं है, दुःख ही दुःख है। लेकिन कोई उपाय भी नहीं है। निरुपाय दुःख को झेलने की क्षमता बढ़ानी है।'

अर्जुन तो मौजूद है, कृष्ण की कहीं कोई खबर नहीं मिलती। अँधेरी रात तो दिखाई पड़ रही है, सुबह की कोई खबर नहीं मिलती। कोई मुर्गा बाँग नहीं देता। आकाश मेघों से घिरा है; मेघ तो दिखाई पड़ते हैं, चमकती हुई दामिनी दिखाई नहीं पड़ती। और अगर दिखाई भी पड़ती है, तो उससे भरोसा नहीं बँधता कि यह बिजली भी क्या कोई प्रकाश बन सकती है। चमक जाती है कभी—अनायास। इससे हम कोई स्थिर प्रकाश का स्रोत थोड़े ही बना सकते हैं।

कृष्ण और बुद्ध ऐसे ही हैं; कभी-कभी बिजलियों की भाँति चमक जाते हैं। लेकिन बिजली को अगर तुम ठीक से समझ लो तो तुम्हारे घर का दिया बिजली बन सकती है; तुम्हारे जीवन के मार्ग पर प्रकाश बन सकती है। अगर तुम बिजली को क्षणभंगुर कौंध समझो, तो फिर अँधेरे मेघों से घिर जाओगे। फिर तुम्हारा जीवन विषाद तो होगा, लेकिन मोक्ष की यात्रा नहीं।

तो बुद्ध कहते हैं, दूसरी बात है : दुःख से मुक्त हुआ जा सकता है—इसकी संभावना की तरफ आँख का उठना।

विषाद पैदा हो जाय, तो गुरु की तलाश शुरू होती है। गुरु की प्रत्यभिज्ञा हो जाय—कहीं श्रद्धा का जन्म हो जाय—किसी के चरण में परमात्मा के चरणों की धीमी-सी भी आहट मिल जाय, तो दूसरा सत्य समझ में आया कि दुःख से मुक्ति की संभावना है।

विषाद है, लेकिन उदास होने का कोई कारण नहीं। विषाद है, पर पार होने की गुंजाइश भी है। माना अँधेरी रात है, लेकिन सुबह होगी। देर कितनी ही लगे, सुबह होगी।

और सुबह का भरोसा जैसे-जैसे सघन होने लगता है, देर अर्थहीन हो जाती है। और सुबह का भरोसा जब प्रगाढ़ हो जाता है, तो ऐसे लोग भी हुए हैं कि मध्य अँधेरी रात्रि में उनके लिए सुबह हो गयी। उनके हृदय में ही सुबह हो गयी। बाहर रात भी घिरी रही, तो कोई फर्क न पड़ा। बाहर दुःख भी रहा, तो कोई फर्क न पड़ा, वे नाचने लगे। भीतर की वीणा बजने लगी। बाहर का बाजार सुना-अनसुना हो गया। बाहर की आवाजें धीरे-धीरे दूर होने लगीं। खोने लगीं। भीतर की आवाज सारा जीवन बन गयी।

तीसरा सत्य है कि दुःख से मुक्त होने के उपाय हैं। क्योंकि यह भी हो सकता है कि तुम्हें ऐसा व्यक्ति मिल जाय, जो आनंद को उपलब्ध हुआ है। तुम्हें यह भी प्रतीति हो जाय कि तुम दुःख में हो, विषाद में हो, कोई आनंद में है, लेकिन यह भी हो सकता है कि तुम्हें उपाय समझ में न आये। तो तुम कहो कि यह भी दुर्घटना मात्र है कि मैं दुःख में हूँ, तुम आनंद में हो; लेकिन कोई सेतु नहीं है। मैंने पाया कि मैं इस पार हूँ, तुमने पाया कि तुम उस पार हो; यह सिर्फ दुर्घटना की बात है। अनायास है, आकस्मिक है, इसका कोई विज्ञान नहीं है, कोई विधि नहीं है कि मैं दुःख से सुख में आ जाऊँ।

बहुत लोग ऐसा भी सोचते हैं। और कई बार तुम्हें भी ऐसा लगता होगा कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि ये बुद्ध और महावीर, कृष्ण और जरथुस्त्र, ये अंगुली पर गिने जाने वाले थोड़े से लोग प्रकृति की भूल भी तो हो सकते हैं ! ये भूल-चूक भी तो हो सकते हैं। इन तक पहुँचने का कोई विज्ञान है ? अपने को कोई रूपांतरित कर सके, ऐसी कोई विधि है ? कहते हैं ये लोग कि विधि है। लेकिन पाया ऐसा जाता है—साधारण समझ को ऐसा दिखाई पड़ता है—कि कुछ लोग जन्म से ही हँसते हुए पैदा होते हैं और प्रसन्न होते हैं और कुछ लोग दुःख को साथ लेकर पैदा होते हैं।

डॉक्टर कहते हैं—जो बच्चों को जन्म दिलवाते हैं, जो उनके जन्म-क्षण के समय करीब होते हैं—वे कहते हैं : बच्चा पहले ही क्षण से भिन्न-भिन्न व्यवहार करता है। कुछ बच्चे मुसकराते पैदा होते हैं। उनके जीवन में जैसे सुख सहज होता है। पहले ही क्षण बच्चा आँख खोलता है और तुम उसकी आँख में देख सकते हो, वह प्रफुल्लित चित्त है और कुछ पहले से ही लंबे चेहरेवाले होते हैं। जीवन उनके लिए पहले क्षण से बोझ





होता है, दुःख होता है।

तो कहीं ऐसा तो नहीं है कि कोई कंकड़ है, कोई हीरा है। लेकिन हीरा के कंकड़ बनने का कोई उपाय तो है नहीं। कंकड़ के हीरा बनने का कोई उपाय नहीं है।

तो यह भी हो सकता है कि तुम्हें किसी सद्गुरु का दर्शन भी हो जाय, लेकिन मन में यह खयाल बना रहे कि होगी—एक दुर्घटना। होगा।

मेरे पास लोग आते हैं। वे मुझ से पूछते हैं कि 'ठीक; हम यह भी मान लें कि आप जाग गये, लेकिन आपके शिष्यों में कोई जागा ?' मैं उनसे पूछता हूँ कि 'तुम्हें मुझे देख कर भरोसा नहीं आता ?' वे कहते हैं कि 'आप को हो गया, मान लिया। लेकिन जब तक आपके शिष्यों को न हो जाय, तब तक यह भरोसा कैसे आये कि हमें भी हो सकेगा !'

उनकी बात में अर्थ है, उनकी बात में सार्थकता है। वे यह कह रहे हैं कि 'आप को हो सकता है कि जन्म से रहा हो। कोई विधि से न हुआ हो; ऐसा आपने पाया हो अपने को—कि ऐसा है। लेकिन जब तक हम उस आदमी को न देख लें, जो दुःख में था—महादुःख में था, और विधियों के द्वारा पार हुआ और महासुख को पहुँचा, तब तक भरोसा न आयेगा।'

तो तीसरी बुद्ध ने बात कही है—तीसरा आर्य-सत्य—कि दुःख से मुक्त होने की विधि है। लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ कि मेरा कोई शिष्य भी मुक्त हो जाय, तो भी क्या फर्क पड़ेगा। तुम यह कहोगे, 'आपको हुआ; माना। एक शिष्य को भी हो गया। बाकी को—किसी को हुआ ? क्योंकि जब तक बहुतों को न हो जाय, तब तक मुझे यह भरोसा न आयेगा कि मुझे हो सकता है। मैं भी भीड़ में हूँ। किसी एक-दो को हो गया होगा, वह भी आप जैसा ही रहा होगा।'

यह भरोसा कब आयेगा ! वस्तुतः यह भरोसा तभी आयेगा, जब तुम विधि का उपयोग करोगे और तुम्हारे भीतर अँधेरे की कोर थोड़ी पीछे हटने लगेगी; रोशनी थोड़ी बढ़ने लगेगी; अशांति थोड़ी मिटेगी और शांति का आविर्भाव होगा। तुम्हारे भीतर ही थोड़ी आनंद की पुलक आयेगी। कभी-कभी थर्राहट से भर जाओगे आनंद की, रोआँ-रोआँ नाचने लगेगा।

क्षण भर को ही सही, कोई विधि जब तुम्हें जीवन का स्पर्श देगी, तभी भरोसा आयेगा।

तो तीसरा आर्य-सत्य तभी समझ में आता है, जब तुम विधियों का उपयोग करते हो। विधियाँ हैं, ऐसा बुद्ध पुरुष कहते हैं, लेकिन तुम्हें भरोसा तभी आयेगा।

फिर बुद्ध कहते हैं, चौथा आर्य-सत्य है—कि दुःख मिट जाता है। विधियों से आदमी महादुःख के पार हो जाता है। बुद्ध पुरुषों के साथ चल कर, उनकी छाया बनकर, विधियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। विधियों से व्यक्ति दुःख के पार हो जाता है।

चौथा आर्य-सत्य है : दुःख निरोध की अवस्था है। क्योंकि सवाल यह है कि दुःख आज मिट जाय, पर क्या पक्का पता है कि कल फिर वापस न आएगा। क्योंकि कई बार तुम भी सुखी हो गए हो, थोड़े बहुत ही सही। फिर खो जाता है सुख। कभी-कभी शांति आती लगती है, कि गयी। आयी भी नहीं कि गयी। कभी-कभी ऐसा लगता है : सब ठीक है। लग भी नहीं पाता और सब गड़बड़ हो जाता है।

तो बुद्ध कहते हैं : चौथी बड़ी बात जानने की है, वह यह है कि एक ऐसी अवस्था है, जहाँ दुःख गया, तो गया, फिर लौटता नहीं। सुबह हुई तो हुई; फिर कोई रात नहीं होती। मगर वह तो अनुभव से ही होगी।

अधिक लोग विषाद पर ही मर जाते हैं। कृष्ण कोशिश कर रहे हैं कि अर्जुन विषाद से मोक्ष तक पहुँच जाय—चौथी अवस्था तक, बुद्ध का जो चौथा आर्य सत्य है।

विषाद जिनके जीवन में अनुभव होने लगा, वे धन्यभागी हैं। उनकी बजाय धन्यभागी हैं—जिन्हें यह भी पता नहीं कि जीवन में दुःख है, जिन्हें यह भी पता नहीं कि अँधेरा है। उनसे ज्यादा धन्यभागी हैं।

फिर जिन्हें किसी ऐसे पुरुष का स्पर्श हो गया, निकटता मिल गयी, सामीप्य मिल गया, जिसके जीवन में वह घटना घटी है, वे और भी धन्यभागी हैं। उनके लिए सुबह का प्रमाण मिल गया।

फिर वे और भी धन्यभागी हैं, जो ऐसी सुबह के पीछे चल कर थोड़े से प्रकाश का अनुभव करने लगे, स्वाद लेने लगे। उन्हें स्वाद आ गया कि विधियाँ हैं।

फिर उनसे भी महा धन्यभागी वे हैं, जो उस अवस्था को उपलब्ध हो गये, जहाँ दुःख सदा को खो जाता है; क्योंकि दुःख तुम्हारा स्वभाव नहीं, मोक्ष तुम्हारा स्वभाव है।

अब सूत्र।

इतना कहने पर भी, अर्जुन का कोई उत्तर नहीं मिलने के कारण कृष्ण फिर बोले कि 'हे अर्जुन, संपूर्ण गोपनीयों से भी अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचन को तू फिर भी सुन। क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं फिर तेरे लिए कहूँगा।'

अर्जुन चुप हो कर बैठ गया; सोचने लगा : क्या करूँ, क्या न करूँ। खोजने लगा : क्या है मेरी इच्छा। उतर गया—साँप से—फिर नीचे।

चढ़ने में वर्षों लग जाते हैं, उतरने में क्षण भर लगता है। बनाने में वर्षों लग जाते हैं, गिराने में वर्षों नहीं लगते; मिटाने में वर्षों नहीं लगते।

और यह जीवन की तो इतनी बारीक यात्रा है, इतनी सूक्ष्म यात्रा है कि तुम पहुँचते तो इंच-इंच मुश्किल से हो; यात्रा करते हो और जब खोता है, तो मीलों खो जाते हैं—एक साथ खो जाते हैं, क्योंकि नीचे उतरना सुगम है, ऊपर जाना दूभर है!





कृष्ण ने कहा कि 'तू अब कह; तेरी जो मरजी हो, तू बोल दे। अब तुझे जो करना हो, चुन ले।'

अगर अर्जुन समझ गया होता, तो वह हँसता और कहता, 'अब बस; खेल बंद करो। मुझे पक्का पता है, तुम पुराने खिलाड़ी हो; पर अब बहुत हो गया। अब मुझे और न भरमाओ, और न भटकाओ। अब मेरी क्या मरजी? अब उसकी मरजी।'

कृष्ण ने प्रतीक्षा की होगी कि वह उत्तर दे, लेकिन वह सोचने लगा। और सोचने से कहीं उत्तर आया है? सोचने से ही उत्तर आता होता, तो बुद्ध पुरुष पागल थे कि न सोचने की शिक्षा देते!

अर्जुन विचार में पड़ गया; वह चूक गया; वह फिर उलझ गया जाल में। कृष्ण देखते रहे होंगे; प्रतीक्षा की होगी। इतना कहने पर भी जब कोई उत्तर न मिला, और अर्जुन फिर खो गया विचारों के जाल में, तो उन्होंने फिर से कहा कि 'हे अर्जुन...!'

यह गीता की पूरी कथा गुरु के अथक् होने की कथा है। शिष्य थक-थक जाय, गुरु नहीं थकता। शिष्य बार-बार चूक जाय, गुरु उसे फिर-फिर बुलाने लगता है, क्योंकि गुरु इस बात को भली-भाँति जानता है कि यह स्वाभाविक है; बहुत बार भटक जाना स्वाभाविक है। अनंत बार भी कोई भटक के अंततः वापस आ जाय मार्ग पर, तो भी जल्दी आ गया।

कृष्ण बोले, 'हे अर्जुन, फिर से तुझ से कहूँगा। गोपनीयों में भी गोपनीय, परम रहस्य युक्त वचन को तू फिर से सुन।'

फिर उसे जगाया, फिर सीढ़ी पकड़ायी।

'...क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है।' यह क्यों कृष्ण बार-बार अर्जुन को दोहराते हैं कि 'तू मेरा अतिशय प्रिय है'? यह कृष्ण बार-बार अर्जुन को अपने प्रेम के प्रति सचेत क्यों करते हैं?—ताकि उसका प्रेम आविर्भूत हो सके। वे अपने प्रेम को बार-बार उसे कहते हैं, ताकि उसके भीतर भी श्रद्धा का ऐसा ही जन्म हो सके।

गुरु की तरफ से शिष्य के लिए जो प्रेम है, शिष्य की तरफ से गुरु के प्रति वही श्रद्धा है। गुरु प्रेम के बीज बोता है—शिष्य के हृदय में, ताकि शिष्य श्रद्धा की फसल काट सके।

इसलिए कृष्ण बार-बार यह बात डाले चले जाते हैं—मौके-बेमौके, जब भी उन्हें अवसर मिलता है, वे कहते हैं, 'क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है।' प्रेम को दोहराते हैं, ताकि अर्जुन को भरोसा आ जाय।

प्रेम ही भरोसा ला सकता है। प्रेम ही श्रद्धा को जनमा सकता है। और प्रेम ही समर्पण की संभावना खोल सकता है।

'इससे यह परम हितकारक वचन मैं तेरे लिए कहूँगा।' तुम ऐसा मत सोचना—जैसा कि भूल शिष्यों को अकसर हो जाती है—कि ऐसा कृष्ण अर्जुन से ही कह रहे हैं। उनके

और शिष्य रहे होंगे, तो सब से उन्होंने यही कहा होगा कि 'तू मेरा अतिशय प्रिय है। यह परम हितकारक वचन मैं तुझ से फिर-फिर कह रहा हूँ, क्योंकि मेरा प्रेम तेरे प्रति गहन है, न चुकने वाला है।'

यह गुरु हर शिष्य को यही कहता है। इससे तुम यह मत समझ लेना कि गुरु किसी एक शिष्य को विशेष प्रेम करता है और किसी दूसरे शिष्य को कम विशेष प्रेम करता है। किसी को ज्यादा, किसी को कम, ऐसा सवाल नहीं है। लेकिन गुरु हर शिष्य से यही कहता है कि 'तुझ से मेरा प्रेम अतिशय है।' क्योंकि जब तक शिष्य को ऐसा भरोसा न आ जाय, कि प्रेम गुरु का अतिशय है, असाधारण है; बस, उसके प्रति है, तब तक उसके भीतर की श्रद्धा का उभार न आ पायेगा; तब तक उसकी श्रद्धा दबी पड़ी रहेगी। वह अतिशय और असाधारण प्रेम में ही उठ सकती है।

'हे अर्जुन, तू केवल मुझ परमात्मा में ही अनन्य प्रेम से नित्य अचल मन वाला हो और मुझ परमेश्वर को ही अतिशय श्रद्धा भक्ति सहित निरंतर भजने वाला हो, तथा मन, वाणी और शरीर के द्वार सर्वस्व अर्पण करके मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वगुण संपन्न सबके आश्रयरूप वासुदेव को नमस्कार कर। ऐसा करने से तू मुझ को ही प्राप्त होगा। यह मैं तेरे लिए सत्य प्रतिज्ञा कहता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यंत प्रिय सखा है।'

देखकर कि अर्जुन फिर सोचने लगा . . .। समर्पण कहीं सोचा जाता है! समर्पण किया जाता है। सोचना तो होशियारी है। सोचने में भरोसा तुम्हारा अपने ही ऊपर है।

सोचकर भी समर्पण करोगे, वह समर्पण होगा? अगर सोचकर किया तो तुमने समर्पण किया ही नहीं। क्योंकि सोच-सोच के पाया कि ठीक है। यह ठीक 'तुमने' पाया, इसलिए समर्पण किया, लेकिन अंततः निर्णायक तुम ही रहे; अहंकार ही अंततः निर्णायक रहा। और ऐसे समर्पण को तुम किसी दिन वापस लेना चाहो, तो वापस भी ले लोगे। तुम जा कर कहोगे कि 'बस, समर्पण समाप्त। अब मुझे नहीं करना है।' क्योंकि तुम बच ही रहे थे। पहले ही दिन बच गये थे।

तुम समर्पण के पीछे खड़े रहे थे। तुमने समर्पण किया था, वह तुम्हारा कृत्य था; कर्ता तो पीछे खड़ा रहा था। और समर्पण तो तभी होता है, जब कर्ता मिट जाय। इसलिए समर्पण को वापस नहीं ले सकते हो। अगर वापस ले लिया, तो वह कोई समर्पण है!

समर्पण से पीछे नहीं लौट सकते हो, वह कमिटमेंट, प्रतिबद्धता आखिरी है। उससे कैसे वापस लौटोगे? कौन वापस लौटेगा? क्योंकि जो वापस लौट सकता था, उसे तो तुमने समर्पित कर दिया।

जब अर्जुन फिर सोचने लगा, कृष्ण के मन में बड़ी दया और करुणा उपजी होगी कि यह पागल फिर विचार करने लगा! यह फिर चूक गया। एक अवसर दिया था कि बिना सोचे कह देता अब, कि 'बस, ठीक है, अब सोच लिया बहुत। सोच-सोच कर





तो विषाद में पड़ा हूँ। अब और मत भरमाओ मुझे। अब 'जो तुम्हारी मरजी। तुम्हारे शरण आया हूँ, अनन्य भाव से आया हूँ; अब तुम ही मेरे प्राण हो; तुम ही मेरी आत्मा हो। तुम ही जहाँ चलाओगे, चलूँगा; न चलाओगे, न चलूँगा।'

समर्पण तो अहंकार की आत्मघात अवस्था है। जैसे कोई अपनी गरदन काट दे, फिर जोड़ने का उपाय नहीं।

नहीं, लेकिन अर्जुन को सोचते देखकर कृष्ण को फिर कहना पड़ा, 'मन, वाणी और शरीर के द्वारा, सर्वस्व को तू मुझ में अर्पण कर दे, ऐसा करने से तू मुझ को प्राप्त होगा।'

और कोई उपाय नहीं है। नदी गिरे सागर में तो ही सागर हो सकती है। बीज टूटे भूमि में तो ही अंकुरित होगा।

'यह मैं तेरे लिए सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ।' गुरु को ऐसी बातें भी शिष्य से कहनी पड़ती हैं, जिन्हें कहने की कोई जरूरत न थी। लेकिन शिष्य की अपनी दुनिया है। गुरु को शिष्य की भाषा में बोलना पड़ता है। कृष्ण जैसे व्यक्ति को भी प्रतिज्ञा करनी पड़ती है—शिष्य के सामने, कि मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम केवल इसी तरह की बातें समझ सकते हो।

भरोसा तुम्हें नहीं है। अन्यथा प्रतिज्ञा करवाते? अन्यथा तुम कृष्ण को यह कहने का मौका दिलवाते कि मैं तुझे आश्वासन देता हूँ।

तुम्हारा बस चले, तो तुम जाकर कृष्ण को रजिस्ट्री ऑफिस में दस्तखत करवा लो—स्टैम्प पर कि लिख दो इस पर कि अगर न किया पूरा, तो अदालत से हरजाना वसूल कर लूँगा।

'मैं तेरे लिए सत्य प्रतिज्ञा कहता हूँ . .।' महा करुणा, तुम्हारी भूल के कारण, तुम्हारी नासमझी के कारण, तुम्हें खोजने के लिए तुम्हारे अँधेरे में भी उतरती है। तुम्हारी भाषा का भी सहारा लेती है। तुम्हारे ही शब्दों का उपयोग करती है।

तुम्हें पाने के लिए कृष्ण जैसे व्यक्ति को तुम्हारी जगह आना पड़ता है, ताकि तुम्हें ले जाया जा सके।

'इसलिए सब धर्मों को अर्थात् संपूर्ण कर्मों के आश्रय को त्यागकर मुझ सच्चिदानंदघन वासुदेव परमात्मा की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो। मैं तेरे को संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।'

अर्जुन सोचने लगा। फिर शोकग्रस्त हो गया। सोचने से विषाद आ जाता है। न सोचने से आनंद की वर्षा होती है। सोचने से विषाद घिर जाता है। सोचना ही विषाद है।

वह फिर सोचने लगा, फिर शोक चारों तरफ छा गया : पाप का भय, पुण्य का लोभ, पुण्य की आकांक्षा। 'मारूँ, न मारूँ; करूँ, न करूँ; अपने हैं, पराये हैं।' सब जाल

फिर से खड़ा हो गया।

अंत-अंत तक, जब तक कि तुम छलाँग ही नहीं ले लेते, संसार तुम्हें आखिरी दम तक पकड़ता चला जाता है।

अठारहवाँ अध्याय आ गया। गीता का अंत करीब है। और थोड़े से सूत्र बचे हैं। और अर्जुन अभी भी चूकता चला जा रहा है!

'मैं तुझे संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।' तू विषाद में मत उलझ, तू चिंता मत कर। 'तू सब धर्मों को छोड़कर सब कर्मों के आश्रय को छोड़कर, सब धारणाएँ छोड़कर, अनन्य भाव से मेरी शरण आ जा।'

कृष्ण का निमंत्रण समर्पण का निमंत्रण है; मिटने की, पूरी तरह मिट जाने की, सब भाँति खो जाने की पुकार है।

जब तक 'तू' है, तब तक संसार है। जब तक तू है, तब तक मेरा है, पराया है। जब तक तू है, तब तक जन्म है, मृत्यु है। जब तक तू है, तब तक पाप और पुण्य है। वहाँ भीतर टूट गया मैं—'तू' मिटा—फिर न कोई पाप है, न कोई पुण्य है।

इसलिए कृष्ण कह सकते हैं कि 'मेरा पूजन कर, मेरी शरण आ।' ठीक ही कहते हैं। इससे तुम यह मतलब मत समझ लेना, जो लोगों ने समझा है...। लोग हमेशा गलत ही समझते हैं। लोगों ने यह समझा है कि 'बिलकुल ठीक। तो हम कृष्ण का नाम गुणगान करते रहें। वह सब पापों से हमें मुक्त कर देंगे। और पाप भी किये चले जायँ, क्योंकि जब मुक्त करनेवाला ही मिल गया, तो अब पाप से क्या बचना!'

तुम चालबाजी कर रहे हो; तुम कृष्ण का अर्थ ही न समझे। कृष्ण का कुल अर्थ इतना है कि अगर समर्पण पूरा है, तो पाप मिट गये; कोई मिटाता थोड़े ही है। वह तो तुम्हारी भाषा के कारण कहना पड़ रहा है कि, 'मैं तुम्हारे पापों को मिटा दूँगा। तू शोक मत कर।'

कोई और ढंग कहने का नहीं है, अन्यथा कोई पाप मिटाता है! पाप बचते ही नहीं।

अहंकार के जाते ही पाप भी गये। वह तो अहंकार के ही संगी-साथी हैं, अहंकार के बिना बच ही नहीं सकते। और अहंकार के जाते ही सारा संसार रूपांतरित हो जाता है। वहाँ फिर एक ही बचता है। कौन करेगा पाप? किसके साथ करेगा पाप? वही मारने वाला, वही जिलाने वाला। वही मरनेवाले में बैठा है, वही मारनेवाले में बैठा है। सब हाथ उसके हैं। जिस हाथ में तलवार है, वह भी हाथ उसका है। और जिस गरदन पर तलवार गिरती है, वह गरदन भी उसकी है। फिर कैसा पाप? कैसा पुण्य?

एक 'मैं' के जाते ही सब खो जाता है। वह पुरानी शब्दों की दुनिया—पाप की, पुण्य की, विभाजन की, द्वंद्व की; अच्छे की, बुरे की; शुभ की, अशुभ की—सब खो जाती है। निर्द्वन्द्व भाव उत्पन्न होता है।





यह अर्थ है कृष्ण का कि मैं तुझे संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। इसका यह मतलब नहीं है कि 'तू मजे से पाप कर। मैं तुझे मुक्त कर दूँगा!' इसका कुल मतलब इतना ही है कि तू 'मैं' को छोड़ दे। तू पायेगा कि पाप बचे ही नहीं। तभी तू समझ पायेगा कि न तो कोई माफ करता है, न कोई मिटाता है। पाप थे ही नहीं; तुम्हारी भ्रांति में तुमने उन्हें माना था कि वे हैं।

एक मित्र को बुखार चढ़ा था। मैं उन्हें देखने गया। वे सन्निपात में थे। कोई एक सौ सात-आठ डिग्री बुखार था। बस, मरने के करीब थे। वे अनर्गल बातें पूछ रहे थे। घर के लोग परेशान थे। मैं पड़ोस में ही था, मुझे बुला लाये कि 'आप को अनर्गल प्रश्नों का उत्तर देने की काफी आदत है; आप चलो।'

मैंने कहा कि 'यह मेरा धंधा है। सन्निपातग्रस्त लोगों से ही मेरा सारा संबंध है। वे पूछते हैं, मैं समझता हूँ।'

मैं गया। वह आदमी पूछ रहा था और घर के लोग परेशान थे। वह कह रहा था, 'मेरी खाट क्यों उड़ रही है? मुझे पंख क्यों लग गये हैं?' घर के लोगों ने कहा, 'अब हम क्या कहें!'

सन्निपात में जो आदमी है, वह जो पूछ रहा है, वह है ही नहीं। न तो उड़ रहा है, न पंख लग गये हैं, न खाट आकाश में जा रही है।

तुम्हें कभी गहरा बुखार चढ़ा है, तो तुम को भी लगा होगा कि उड़े; चली खाट आकाश में। यहाँ जा रहे हैं, वहाँ जा रहे हैं; भूत-प्रेत खड़े हैं।

उस आदमी ने कहा, 'देखो इस कोने में एक बड़ा भूत खड़ा हुआ है। यह मुझे मारना चाहता है।' मैंने उससे कहा, 'तू फिक्र मत कर। इसको हम मार डालते हैं।' मेरी यह बात सुन कर—कि इसको हम मारे डालते हैं—वह तो आश्वस्त हुआ, उसकी पत्नी बहुत चौंकी। उसने कहा, 'आप क्या कह रहे हैं? क्या वहाँ कोई खड़ा है!' वह डरी कि हो सकता है, वहाँ कोई खड़ा हो, हमको दिखाई नहीं पड़ता और पति को दिखाई पड़ता है। मैंने कहा, 'वहाँ कोई खड़ा नहीं है। लेकिन अभी इसको समझाना संभव नहीं है। अभी इसको समझाने बैठना कि वहाँ कोई खड़ा नहीं है, असंभव है। इसकी सन्निपात की भाषा में उसका कोई मेल ही नहीं होगा। इसको दिखाई पड़ रहा है। इसको मैं कह रहा हूँ, 'तू फिक्र मत कर, तू यह दवा पी ले। इससे हम निपट लेते हैं, इन भूत-प्रेतों को हम साफ कर डालेंगे। तू तो आँख बंद करके मजे से सो; तू हम पर छोड़ दे। तू शोक मत कर, तू उनकी चिंता मत कर। इनसे हम निपट लेते हैं। तू वैसे ही बुखार में पड़ा है, इनसे लड़ाई-झगड़ा करेगा और झंझट होगी।'

वह आदमी राजी हो गया—दवा पीने को। उसने जब देखा कि मैं निपट लूँगा भूत-प्रेतों से, तो वह दवा पी कर शांति से सो गया। जब बुखार उसका नीचे उतरा—कोई

एक सौ चार डिग्री पर आ गया, तब मैंने उससे कहा कि 'देख, मैंने सब भूत-प्रेत समाप्त कर दिये।' उसने चारों तरफ देखा; उसने कहा, हाँ, अब कोई भी नहीं है। आपने अपना आश्वासन पूरा किया। मगर ये घर के मेरे लोग सुनते ही न थे!'

अर्जुन एक अहंकार के सन्निपात में है। कृष्ण उसे कहते हैं, 'तू फिक्र मत कर; मैं तेरे संपूर्ण पापों से तुझे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।' वे उसे सन्निपात से नीचे उतारना चाहते हैं—कि 'तू यह अहंकार का बुखार भर छोड़ दे; तू जरा शांत हो, शीतल हो; शेष सब मैं कर लूँगा।'

कोई कृष्ण को करना न पड़ेगा; वहाँ करने को कोई है नहीं।

मुझे कोई भूत-प्रेत मारने नहीं पड़े; वे थे ही नहीं। मुझे उसकी खाट—कोई आकाश से उड़ते हुए—पकड़ कर नीचे नहीं लानी पड़ी। वह उड़ ही नहीं रही थी। पर सन्निपात में दिखाई पड़ती हो कि उड़ रही है, तो उसके अनुभव को खण्डित करना मुश्किल है।

अर्जुन को दिखाई पड़ रहा है जो, उसे खण्डित करना मुश्किल है। इसलिए कृष्ण कहते हैं, 'तू मुझ पर छोड़ दे। मैं इनसे निपटे लेता हूँ। तू पाप कर बेफिक्री से। बस, एक बात मेरी सुन ले कि अहंकार को छोड़ दे।'

अहंकार छोड़ते ही कोई पाप कर ही नहीं सकता। सब पाप अहंकार से पैदा होते हैं। अहंकार छूटा, पाप की जड़ कट गयी। फिर कोई पाप के वृक्ष में न फल लगते हैं, न पत्ते लगते हैं, न फूल लगते हैं।

और अलग-अलग पत्तों को जो तोड़ने गये, वे नाहक भटके, क्योंकि जड़ बनी रहती है, नये पत्ते निकल आते हैं। एक तोड़ो, दस निकल आते हैं। वृक्ष समझता है, 'तुम कलम कर रहे हो'। वृक्ष और घना होता जाता है।

कृत्यों को—एक एक कृत्य को काटने जाओगे—कि बुरे को काटूं, अच्छे को करूँ—तब तक तुम भटकते ही रहोगे। जड़ को ही काट दो।

जिसने जड़ को काटा, उसने अचानक पाया कि पूरा वृक्ष ही गिर गया।

अहंकार जड़ है, समर्पण उस जड़ को काट देना है।



## आध्यात्मिक सम्प्रेषण की गोपनीयता • समर्पण और सम्बोधि • भगवद्गीता सुनने की पात्रता

### अठारहवाँ प्रवचन

प्रातःकाल, दिनांक ७ अगस्त, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

इदं ते नातपस्काय ना भक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।।६७।।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।।६८।।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।।६९।।



हे अर्जुन, इस प्रकार तेरे हित के लिए कहे हुए इस गीतारूप परम रहस्य को किसी काल में भी न तो तपरहित मनुष्य के प्रति कहना चाहिए और न भक्ति रहित के प्रति तथा न बिना सुनने भी इच्छावाले के ही प्रति कहना चाहिए; एवं जो मेरी निन्दा करता है, उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिए।

क्योंकि जो पुरुष मेरे में परम प्रेम करके इस परम गुह्य रहस्य गीता को मेरे भक्तों में कहेगा, वह निस्सन्देह मेरे को ही प्राप्त होगा।

और न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्यों में कोई है, और न उससे बढ़कर मेरा अत्यंत प्यारा पृथ्वी में दूसरा कोई होवेगा।

**पहले कुछ प्रश्न।**

● **पहला प्रश्न** : श्रद्धा और समर्पण के उपदेश को भगवान् कृष्ण सभी गोपनीयों से भी अति गोपनीय और परम वचन क्यों कहते हैं ?

पहली बात : गोपनीय वह वचन है, जो अत्यंत आत्मीयता के क्षण में कहा जा सके। आत्मीयता न हो, तो जिसे कहना ही संभव नहीं है; आत्मीयता के माध्यम से जो संवादित होता है; जहाँ विवाद हो, विचार हो, अपनी धारणा-मान्यता हो; जहाँ दो चेतनाएँ निष्कलुष-भाव से मिलती न हों, एक सूक्ष्म छिपा हुआ संघर्ष हो, वहाँ जो कहा ही न जा सके; कहा भी जाय, तो समझा न जा सके; समझ भी लिया जाय, तो माना न जा सके; मान भी लिया जाय, तो किया न जा सके। ऐसी स्थिति में जिसकी यात्रा प्रथम से ही गलत हो जाने की संभावना हो—ऐसा संदेश गोपनीय है।

जैसे प्रेम गोपनीय है, ऐसे ही सत्य भी गोपनीय है। प्रेमी बाजार में प्रेम के संलाप-संवाद में डूबने को राजी न होंगे। भरे बाजार में प्रेम की बात मौजू ही नहीं।

जहाँ धन की चर्चा चल रही हो चारों तरफ, वहाँ प्रेम की बात सार्थक नहीं है। जहाँ शोरगुल हो, बाजार हो, भीड़ हो—जहाँ बहुत हों, एकांत न हो—वहाँ प्रेम का संगीत पैदा ही नहीं हो सकता। वहाँ जो प्रेम की वीणा छेड़ दे, उसने गलत समय, गलत स्थान पर वीणा छेड़ दी। उससे जग-हँसाई भला हो, उससे प्रेम का पौधा पनपेगा नहीं। शायद सदा के लिए कुम्हला जाय। ऐसा आज पश्चिम में हुआ है।

लम्बे समय तक पश्चिम ने मनुष्य की काम-वृत्ति को दबाया—ईसाइयत के प्रभाव में। वह दमन एक अति पर पहुँच गया। और जब कोई चीज किसी अति पर पहुँच जाती है, तो इस बात का डर है कि बगावत हो, विद्रोह हो और दूसरी अति पैदा हो जाय। मन मनुष्य का घड़ी के पेन्डुलम की तरह घूमता है—एक छोर से दूसरे छोर पर चला जाता है। मध्य में रुकता नहीं। मध्य में जो रुकना जान गये, वे मन को मिटाने की कला जान गये।

तो पश्चिम में ईसाइयत ने दबाया काम को, दबाया प्रेम को—छिपाया, अस्वीकार किया, निन्दा की। उसका स्वभाविक परिणाम अंततः यह हुआ कि पश्चिम की युवा-शक्ति ने सारी सीमाएँ तोड़-दीं, सब नियम तोड़ दिये। और उस नियम के तोड़ने में वे यह भी भूल गये कि कुछ ऐसे नियम भी थे, जिनके बिना प्रेम जी ही नहीं सकता। कुछ ऐसे नियम भी थे, जो प्रेम को मार रहे थे; कुछ ऐसे नियम भी थे, जो प्रेम का आधार थे।

लेकिन जब नियम का विद्रोह शुरू हुआ, तो सभी नियम तोड़ दिये। उन सभी नियमों में एकांत, गोपनीयता का नियम भी टूट गया।

आज पश्चिम में प्रेम बीच बाजार में चल रहा है; उससे तृप्ति नहीं होती; उससे मन भरता नहीं—खिलता नहीं। प्रेम के कितने ही अनुभवों से लोग गुजरते हैं, प्रेम की प्यास नहीं बुझती। घाट-घाट का पानी पीते हैं, प्यास बुझती नहीं; कण्ठ और आग से भरता चला जाता है।

एक खतरा था ईसाइयत का, कि प्रेम को करीब-करीब मार डाला। नियम इतने कस गये कि फाँसी लग गयी। अब दूसरा खतरा है कि नियम इतने तोड़ दिये कि आधार खो गये।

पश्चिम से युवक-युवतियाँ मेरे पास आते हैं; उनकी बड़ी से बड़ी समस्या यह है कि प्रेम का जीवन में अनुभव नहीं होता। यद्यपि प्रेम के बहुत अनुभव उन्हें होते हैं, जैसा कि पूरब में संभव नहीं। प्रत्येक स्त्री, प्रत्येक पुरुष न मालूम कितने पुरुषों और स्त्रियों के संपर्क में आता है, प्रेम में पड़ता है। पर शब्द—प्रेम—थोथा मालूम पड़ता है, क्योंकि बीच बाजार में प्रेम को खड़ा कर दिया। उसकी गोपनीयता छिन्न-भिन्न हो गयी।

और जो प्रेम के साथ हुआ, वही श्रद्धा के साथ भी हुआ है।

कृष्ण ने अर्जुन को अत्यंत गोपनीय ढंग से ये बातें कहीं; क्योंकि अर्जुन चाहे संदेह भरा हो, फिर भी श्रद्धालु था। इसे भी तुम समझ लो।

श्रद्धा का यह अर्थ नहीं है कि तुम्हारे भीतर संदेह सभी समाप्त हो जाएँगे। श्रद्धा का मतलब यही है कि सन्देह के बावजूद भी तुम श्रद्धा करने को आतुर हो, तैयार हो—वह तुम्हारी भीतरी तैयारी है। अगर सन्देह सभी समाप्त ही हो गए हों, तब तो कृष्ण के कहने की भी कोई जरूरत नहीं है, तब तो बिन कहे ही संदेश पहुँच जाएगा—सुन लिया जाएगा; तब तो तुम्हारे भीतर का कृष्ण ही तुमसे बोलने लगेगा। तब बाहर के कृष्ण से सुनने तुम जाओगे क्यों?

श्रद्धा से इतना ही अर्थ है कि सन्देह मन में है, लेकिन सन्देह में श्रद्धा नहीं है। भीतर सन्देह उठते हैं, लेकिन उनको सहारा नहीं है। वे उठते हैं—पूर्व संस्कारों के आधार से, आदत के कारण। बार-बार, अनंत-अनंत जीवनों में उन्हें सहारा दिया है; इसलिए वे एक तरह का बल रखते हैं। उठते हैं। लेकिन आज उनको सहारा देने की आकांक्षा





नहीं रही है। अपने ही मन में उठते हैं, लेकिन फिर श्रद्धालु उनसे अपने को दूर रखता है, तटस्थ रखता है; उनके प्रति एक उपेक्षा रखता है।

मन तो उसका, श्रद्धा करने का है। भाव तो श्रद्धा करने का है, अगर सन्देह उठते हैं, तो वे उसे शत्रुओं जैसे मालूम होते हैं। उन्हें वह सींचता नहीं, जल नहीं देता, सहारा नहीं देता; उन्हें मिटाने को तत्पर है। हृदय उसका राजी है—संदेहों को मिटाने को; कला खोज रहा है—कि कैसे उन्हें मिटाया जा सके।

संदेहों के बावजूद अपने हृदय को कोई खोलने को राजी है। ऐसे क्षण में ही जो परम गोपनीय है, वह कहा जा सकता है।

उपनिषद् कहे गए—अत्यंत गोपनीयता में, गुरु और शिष्य के अत्यंत सामीप्य में, हार्दिक सम्बन्धों में।

वर्षों तक शिष्य गुरु के पास रहेगा, उस क्षण की प्रतीक्षा चलेगी : कब गुरु पुकारे। उस क्षण के लिए धीरज रखेगा, जब गुरु पाएगा योग्य—कि अब गोपनीय तत्त्व कहे जा सकते हैं; तब तक गुरु की सेवा-टहल करेगा। गायों को चरा लाएगा जंगल में, लकड़ियाँ काटेगा, घास काट कर ले आयेगा। पानी भरेगा। जो भी चलता है गुरुकुल में, उसमें सहयोगी होगा और प्रतीक्षा करेगा : कब बुला लिया जाय।

कथा है कि श्वेतकेतु बहुत दिन तक गुरु के पास रहा। वह जीवन का रहस्य जानना चाहता था; लेकिन शायद अभी तैयारी न थी। वर्षों बीत गये। बहुत कुछ उससे कहा गया, बहुत कुछ बताया गया, लेकिन परम गोपनीय न कहा गया। वह धीरज से प्रतीक्षा करता रहा।

कथा बड़ी मधुर है। कथा कहती है कि गुरु के गृह में जो हवन की अग्नि जलती थी, उस तक को दया आने लगी। अग्नि को दया! गुरु न पसीजा। लेकिन शिष्य के धैर्य को देखकर—जिस अग्नि को रोज-रोज वह जलाता था, ईंधन डालता था, हवन में गुरु की सहायता करता था—वह जो यज्ञ की वेदी थी, उसकी अग्नि को—जो सतत जलती रहती थी, अहर्निश जलती रहती थी, उसको भी देख-देख कर करुणा आने लगी। बहुत हो गया। प्रतीक्षा की भी एक सीमा है।

गुरु बाहर गया था, तो कहते हैं, अग्नि ने श्वेतकेतु को कहा कि 'गुरु कठोर है, और अब तू राजी हो गया है, तैयार हो गया है, फिर भी नहीं कह रहा है; तो मैं ही तुझे कहे देती हूँ।'

कहते हैं श्वेतकेतु ने कहा, 'धन्यवाद तुझे—तेरी कृपा के लिए, तेरी करुणा के लिए। लेकिन प्रतीक्षा तो मुझे मेरे गुरु के लिए ही करनी होगी। उनसे ही लूँगा। तुझे दया आ गई, क्योंकि तुझे और बातों का पता न होगा—जिनका गुरु को पता है। जरूर मेरी तैयारी में कहीं कोई कमी होगी अन्यथा कोई कारण नहीं है। गुरु कठोर नहीं है। मेरी

पात्रता अभी सम्हली नहीं। अभी मेरा पात्र कंपता होगा, अमृत को उंडेलने जैसा न होगा। उस कंपते पात्र से अमृत छलक जाय। या मेरे पात्र में छिद्र होंगे—कि अमृत उस पात्र से बह जाय—कि मेरा पात्र उलटा रखा होगा—कि गुरु उंडेले और मुझ में पहुँच ही न पाये। जरूर कहीं मुझ में ही भूल होगी। धन्यवाद—तेरे प्रेम और तेरी करुणा को; लेकिन प्रतीक्षा मुझे गुरु के लिए करनी होगी।'

वर्षों प्रतीक्षा करता है शिष्य, उस प्रतीक्षा में ही निकट आता है।

धैर्य से ज्यादा निकट लाने वाला कोई तथ्य दुनिया में नहीं है। और जहाँ-जहाँ अधैर्य हो जाता है—वहीं-वहीं निकटता खो जाती है। जहाँ-जहाँ तुम जल्दी में होते हो, वहाँ-वहाँ तुम निकट नहीं हो पाते।

निकटता समय माँगती है—अनंत समय माँगती है। और जीवन के जितने गुह्य-तत्त्व है, उनको जानने के लिए तो बहुत समय माँगती है। अगर प्रेम को जानना है, तो वर्षों लगेंगे और अगर श्रद्धा को जानना है—तो जन्मों।

अगर प्रार्थना सीखनी है, तो धैर्य की धातु ही में ही तो प्रार्थना ढलती है। धैर्य के ही पत्थर पर प्रतिमा बनती है—प्रार्थना की। अगर धैर्य से ही बच गये, तो प्रार्थना कभी न बनेगी। तब ऐसा ही होगा कि ऊपर-ऊपर से तुम चिपका लोगे प्रार्थना को, लेकिन उसकी जड़ें तुम्हारे हृदय में न होंगी। तुम्हारे जीवन से उस प्रार्थना को, कोई सम्बन्ध न होगा। जा सकते हो तुम मंदिरों में, मसजिदों में, प्रार्थना गृहों में। पूजा कर सकते हो, अर्चना कर सकते हो। सब ऊपर-ऊपर होगा। तुम्हारा भीतर अछूता रह जाएगा। और असली बात भीतर है। बाहर प्रार्थना उठे, न उठे, बड़ी बात नहीं—भीतर हो जाय।

श्रद्धा और समर्पण अत्यंत गोपनीय हैं; वे प्रेम से भी ज्यादा गोपनीय हैं; क्योंकि प्रेम में भी थोड़ी आकांक्षा, थोड़ी आशा, थोड़ी वासना रह ही जाती है।

इसे हम ऐसा समझें : एक तो काम-वासना का जगत् है, जहाँ तुम्हारे सभी सम्बन्ध वासना से ही भरे होते हैं। मित्रता बनाते हो, तो इसलिए कि कुछ पाना है। मित्रता गौण है, पाना महत्वपूर्ण; मित्रता साधन—पाना साध्य।

काम के सम्बन्ध चाहे कितने ही गहरे मालूम पड़ें, गहरे हो ही नहीं सकते, क्योंकि तुम जिससे जुड़ते हो, उससे जुड़ने का तो कोई सवाल नहीं है। उससे कुछ पाना है, वह पा लिया कि बात खतम हो गई। फिर उस व्यक्ति को तुम ऐसे ही फेंक देते हो, जैसे चलाई गई कारतूस बेकार हो जाती है। और उसे तुम कचरा-घर में फेंक आते हो; फिर उसमें कुछ बचता नहीं। आम चूस लिया, रस चला गया; खोल फेंक आते हो।

जब तक चूसा न था, तब तक आम को बड़ा सम्हाल कर रखा था। जब तक कारतूस चली न थी, तब तक बड़ी हिफाजत थी। तब तक ऐसा लगता था, हीरे सम्हाल रहे हो। अब चल गई, कारतूस बच गई; बात व्यर्थ हो गई।





तुम ऐसे ही भूल जाते हो व्यक्तियों को, जैसे वह कूड़ा-करकट है। उनके ऊपर चढ़ गए, सीढ़ियाँ बना लीं, फिर उन्हें भूल गए।

राजनीति में, पद की दौड़ में, धन की दौड़ में—व्यक्तियों का उपयोग साधन की तरह होता है। राजनीतिज्ञ हाथ जोड़े खड़ा होता है—एक मत के लिए, एक वोट के लिए। जब वह हाथ जोड़ कर खड़ा होता है, तब ऐसा लगता है कि कितने भक्ति-भाव से, कितनी श्रद्धा से तुम्हारे द्वार आया है। उस क्षण शायद तुम सोचते हो कि तुमसे बड़ा आदमी कोई भी नहीं; देखो, प्रधान मंत्री, राष्ट्रपति हाथ जोड़े खड़े हैं। पद पर पहुँचते ही यह आदमी तुम्हें पहचानेगा भी नहीं। न केवल नहीं पहचानेगा, बल्कि इसके मन में पीड़ा की एक रेखा रहेगी कि कभी इस आदमी के सामने हाथ जोड़ कर खड़ा भी होना पड़ा था। यह इसका बदला भी लेगा। यह तुम्हें कभी क्षमा नहीं कर पाएगा। क्योंकि किन्हीं क्षणों में तुम्हारे सामने हाथ जोड़ने पड़े थे, वह याददास्त काटेगी, चुभेगी—काँटे की तरह।

इसलिए शक्ति की दौड़ में दौड़ने वाले लोगों के साथ जरा सोच-समझ कर संबंध बनाना; क्योंकि वे जब सीढ़ियाँ चढ़ जाते हैं, तो सीढ़ियों को मिटाने में लग जाते हैं। क्योंकि जिस सीढ़ी से वे स्वयं चढ़े हैं, उससे खतरा है; दूसरा भी चढ़ सकता है। सीढ़ी तो निष्पाप होती है। इसलिए सभी राजनीतिज्ञ जिन लोगों के सहारे पद पर पहुँचते हैं, उन्हीं को मिटाने में लग जाते हैं। लगना ही पड़ेगा; वह सीधा नियम है। अन्यथा दूसरे चढ़े आ रहे हैं—उन्हीं सीढ़ियों पर!

दुनिया का कोई राजनीतिज्ञ अपने निकटतम सहयोगियों को भी बहुत पास नहीं आने देता। खतरा है। फासले पर रखता है। फासला इतना होना चाहिए कि अगर वह पास आने की कोशिश करे, तो इसके पहले कि पास आये, रोका जा सके। दूरी बनाए रखनी चाहिए।

संसार में सब तरह के सम्बन्ध काम के सम्बन्ध हैं, जहाँ प्रयोजन है किसी और बात से। लेकिन तुम धोखा व्यक्तियों को देते हो—कि प्रयोजन तुमसे है, जैसे नमस्कार हम तुम्हें कर रहे हैं।

तुम्हें नमस्कार कोई भी नहीं कर रहा है; तुम्हारे भीतर बिना चली हुई कारतूस है—वोट है। वह मिलते ही यह आदमी तुम्हें भूल जाएगा। भूल जाय, तो भी ठीक है। खतरा यह है कि यह तुम्हें कभी क्षमा भी न कर सकेगा। क्योंकि किसी असहाय क्षण में इसको तुम्हारे सामने हाथ जोड़ने पड़े थे। यह तुम्हें नीचा दिखाएगा; यह तुम्हें किसी दिन नीचा दिखाए बिना न मानेगा।

यह तो काम का जगत् है।

दूसरा एक सम्बन्ध है—काम से थोड़ा उठा हुआ, उसे हम प्रेम का सम्बन्ध कहते हैं।

काम के जगत् में तो किसी तरह की कोई गोपनीयता नहीं होती, वह तो बाजार है, वह तो भीड़ है, संसार है।

दूसरा सम्बन्ध होता है : प्रेम का। प्रेम का अर्थ है : अनेक न रहे, दो रहे। प्रेमी रहा, प्रेयसी रही। प्रेमी रहा, प्रेम-पात्र रहा। माँ रही, बेटा रहा। पति पत्नी रहे—दो रहे। दो मित्र रहे। अब सम्बन्ध काम का नहीं। अब दूसरा व्यक्ति अपनी निजता में मूल्यवान है। इसलिए नहीं कि वह तुम्हें कुछ दे सकता है। वह सीढ़ी नहीं है, वह साधन नहीं है, स्वयं साध्य है।

इमेनुएल कांट, जर्मनी के एक बहुत विचारशील व्यक्ति, ने अपने सारे नीति शास्त्र को इस नियम पर ही आधारित बनाया है। उसका कहना है कि वहीं तक नीति है, जहाँ तक दूसरा व्यक्ति साध्य है; जहाँ साधन बना, अनीति शुरू हो गई। यह बात महत्वपूर्ण है।

किसी व्यक्ति का साधन की तरह उपयोग करना अनैतिक जीवन-आचरण है। और दूसरे व्यक्ति को साध्य की महत्ता देना नैतिक शिखर है।

दूसरा व्यक्ति स्वयं में महत्वपूर्ण है; किसी कारण से नहीं—कि उससे थोड़ा धन कमा लेंगे, कि पद पर पहुँच पाएँगे, कि उसको सीढ़ी बना लेंगे। नहीं। दूसरे व्यक्ति की उपयोगिता के कारण वह मूल्यवान नहीं है—यूटिलिटी के कारण वह मूल्यवान नहीं है। दूसरा व्यक्ति अपनी निजता के कारण मूल्यवान है।

कोई भी उपयोग न हो . . तो समझो कि माँ को बेटा है, वह उसे प्रेम करती है। इसलिए थोड़े कि बेटा कल धन कमाएगा। अगर इसलिए करती हो, तो माँ-बेटे का सम्बन्ध ही समाप्त हो गया। तब तो यह संबंध बाजार का हो गया। अगर इसलिए प्रेम करती हो कि बेटा कल इज्जत कमाएगा और मुझे भी प्रतिष्ठा मिलेगी, तो बात खतम हो गई। अगर इसलिए प्रेम करती हो, तो प्रेम ही नहीं है।

जब तक तुम बता सको कि 'इसलिए' हम प्रेम करते हैं, तब तक प्रेम होता ही नहीं। जहाँ 'इसलिए' है, वहाँ कैसा प्रेम ?

माँ सिर्फ कहेगी, कि 'पता नहीं क्यों ! बस, प्रेम है।' और यह लड़का साधु बने तो भी प्रेम रहेगा, असाधु बने, तो भी प्रेम रहेगा; शायद थोड़ा ज्यादा ही—कि भटक गया। इसके लिए और भी करुणा जगेगी। यह अच्छा बन जाय, तो प्रेम रहेगा ही; सफल रहे, तो प्रेम रहेगा; असफल हो जाय, तो और भी कचोट लगेगी; और भी प्रेम जगेगा। यह जीवन में बहुत सुखी हो जाय—धन पा ले, तो माँ प्रसन्न होगी। यह दुःखी हो जाय, पीड़ित हो, तो इससे और भी ज्यादा प्रेम का सम्बन्ध बना रहेगा।

नहीं, उपयोगिता का सवाल नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि लड़का उपयोगी न होगा।





काम के सम्बन्ध में उपयोगिता पर दृष्टि है; व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं। प्रेम के सम्बन्ध में व्यक्ति का मूल्य है, उपयोगिता गौण है। सधेगी—ठीक। नहीं सधेगी—ठीक। बहुत सधती है; पर वह बात गौण है।

जिसे तुम प्रेम करते हो वह, तुम्हारे हजार तरह से काम आता है, लेकिन वह बात गौण है। उस काम आने की वजह से तुम प्रेम नहीं करते। वह प्रेम की छाया होगी—लेकिन प्रेम का लक्ष्य नहीं है। वह प्रेम का परिणाम होगा, लेकिन प्रेम का फल नहीं है। उसके लिए ही तुमने प्रेम न किया था।

अगर मित्र असमय में काम आ गया, यह उसकी कृपा है। न काम आता, तो कोई शिकायत नहीं थी। उपयोगी सिद्ध हुआ, यह धन्यभाग है। न होता, तो इससे प्रेम में कोई जरा भी अन्तर न पड़ता। उपयोगिता छाया की तरह है।

और तीसरा सम्बन्ध है : प्रार्थना का। पहले में उपयोगिता लक्ष्य है। दूसरे में उपयोगिता छाया की परह है—बाईप्रोडक्ट—किनारे-किनारे चलती है, सीधे—प्रधान रास्ते पर उसकी कोई गति नहीं है। पास-पास चलती है। है वहाँ। न होती, तो भी चलता। लेकिन होती है। और तीसरा सम्बन्ध है : प्रार्थना का, श्रद्धा का, समर्पण का; वहाँ उपयोगिता का सवाल ही नहीं है।

और जब तक तुम्हारे लिए उपयोगिता है, तब तक तुम गुरु के निकट न जा सकोगे। जब तक तुम किसी लाभ के लिए गुरु के पास जाते हो, तब तक तुम पास न जा सकोगे। जब पास जाना ही आनंद होता है, तभी तुम पास जा सकोगे। जब तक तुम कुछ पाने जाते हो, तब तक पास न जा सकोगे; क्योंकि तुम्हारे और गुरु के बीच—जो तुम्हें पाना है—वह बीच में दीवाल की तरह खड़ा रहेगा।

अगर तुम सत्य भी पाने गुरु के पास आए हो, तो सत्य भी दीवाल की तरह खड़ा हो जाएगा। मोक्ष पाने आए हो, तो मोक्ष दीवाल की तरह खड़ा हो जाएगा। तब तुम समझे ही नहीं।

गुरु के साथ जो सम्बन्ध है, वह अत्यन्त निरपयोगी सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध इस संसार का है ही नहीं—जहाँ उपयोगिता का विस्तार है। वह लाभ और लोभ का सम्बन्ध नहीं है। वह सम्बन्ध अपने आप में ही साध्य है। पास होना ही आनंद है।

उपनिषद् शब्द बड़ा प्यारा है। इस शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक अर्थ होता है—पास होना—गुरु के पास होना, गुरु के निकट होना, गुरु के पास बैठना—सत्संग। और दूसरा अर्थ है उपनिषद् का : गोपनीय; दूसरा अर्थ है गुप्त—अत्यंत गोपनीय। और दोनों अर्थ जुड़े हैं। क्योंकि उस अत्यंत निकटता में—जहाँ कोई सिर्फ गुरु के पास होने आया है, अत्यंत गोपनीय का अपने आप आविर्भाव होता है।

गुरु देता नहीं, शिष्य लेता नहीं। क्योंकि गुरु देने को उत्सुक हो, तो प्रयोजन आ

गया। शिष्य लेने को उत्सुक हो, तो प्रयोजन आ गया। गुरु देता नहीं, शिष्य लेता नहीं; घटना घटती है।

इस जगत् में सबसे चमत्कारपूर्ण घटना श्रद्धा का सम्बन्ध है, प्रार्थना का सम्बन्ध है।

झेन फकीरों ने बड़ी मीठी बातें कही हैं। झेन फकीर बासो ने एक छोटी-सी हाइकू—एक छोटी-सी कविता लिखी है।

कविता यह है: बासो बैठा है एक दिन सरोवर के तट पर, झील शांत है। कोई लहर भी नहीं है। सुबह का क्षण है। सूरज निकलता है। धीरे-धीरे प्रकाश बढ़ता है और बगुलों की एक कतार शुभ्र तीर की तरह जाती हुई झील के ऊपर से गुजरती है। झील में बगुलों की छाया बनती है, प्रतिबिम्ब बनता है। और बासो ने एक कविता लिखी।

कविता का अर्थ यह है: 'झील के ऊपर उड़ते हुए बगुलों की कतार; न तो झील उत्सुक है प्रतिबिम्ब बनाने को और न बगुले उत्सुक हैं—अपना प्रतिबिम्ब देखने को। पर प्रतिबिम्ब बनता है।' न तो बगुले उत्सुक हैं कि देखें झुक कर नीचे, कि झील में प्रतिबिम्ब बनता है या नहीं। न झील आतुर है, कि बगुले उड़ें और मैं प्रतिबिम्ब बनाऊँ। पर प्रतिम्बिब बनता है। न तो बगुलों के चित्त में कोई वासना है, न झील के चित्त में कोई वासना है। बस, निकटता से ही प्रतिबिम्ब बन जाता है।

गुरु, और शिष्य की निकटता में ही वह जो अत्यंत गोपनीय है, वह संवादित हो जाता है; उसका लेन-देन हो जाता है।

न गुरु देना चाहता है, न शिष्य लेना चाहता है। घटना घटती है। और वही परम घटना है—जब लेने वाला लेने को आतुर न था। क्योंकि जब तक लेने वाला लेने को आतुर है, तब तक मन में तनाव बना ही रहेगा; तब तक वह देखता ही रहेगा, भविष्य में झाँकता ही रहेगा, कि कब मिले, कब मिले!

इतनी देर और हो गई, अब तक मिला नहीं! कहीं मैं अपने को धोखा तो नहीं दे रहा हूँ। कहीं गलत आदमी के पास तो नहीं पहुँच गया! कहीं और जाऊँ; किसी और के पास तलाशूँ। कोई और द्वार खटखटाऊँ। नहीं; तब तो तुम गुरु के पास हो ही न पाओगे; क्योंकि तुम्हारा चित्त भविष्य में होगा—जो है ही नहीं।

तुम तो गुरु के पास तब ही हो पाओगे, जब मन में कोई फलाकांक्षा नहीं है। कहीं जाने को नहीं है; कुछ होने को नहीं है। तुम बस, हो। मंजिल आ गई। और उसी क्षण में गुरु भी अनायास तुम्हारे भीतर बहना शुरू हो जाएगा। इसलिए नहीं कि वह बहना चाहता है। नहीं; तब कुछ रुकावट नहीं है—इसलिए बहेगा। जैसे झरने के ऊपर पत्थर रखा हो; झरना नहीं बहता। पत्थर हट जाय, झरना बहता है; कोई इसलिए नहीं कि बहना चाहता है। बहना स्वभाव है।

जिस व्यक्ति ने सत्य को पा लिया है, सत्य उससे बहना चाहता है। उसकी आकांक्षा





नहीं कि सत्य बहे। उससे सत्य वैसे ही बहता है, जैसे फूल से गंध बहती है; दीये से प्रकाश बहता है; नदियाँ सागर की तरफ बहती हैं। ऐसा ही स्वाभाविक है।

कोई मन नहीं है बहने का। बस, बहना घटना है। और जहाँ भी कोई हृदय लेने को राजी हो जाता है..। 'लेने को राजी' का अर्थ ही यही है कि जहाँ लेने का सवाल ही मिट जाता है, जहाँ तत्परता आ जाती है, पात्रता आ जाती है; बस, वहीं घट जाता है।

इसलिए कृष्ण इसे अति गोपनीय कहते हैं। यह प्रेम से भी ज्यादा गोपनीय क्षण में घटता है—श्रद्धा के क्षण में घटता है।

और दूसरी बात; इसे गोपनीय कहने का कारण यह भी है कि खतरा है इसमें। अपात्र को दे दिया जाय तो बड़े खतरे हैं। सत्य से ज्यादा खतरनाक तलवार नहीं है। और वह दुधारी तलवार है। और तुम अगर तैयार नहीं हो, तो तुम उससे अपने को नुकसान कर लोगे, दूसरे को नुकसान कर दोगे।

यह सुन कर तुम्हें हैरानी होगी, लेकिन मैं इसे कह देना चाहता हूँ: असत्य खतरनाक है ही नहीं। वह तो निर्जीव है, उसमें खतरा भी क्या हो सकता है। उसमें प्राण ही नहीं है। वह तो मुरदा है। उसके पास टाँगें ही नहीं हैं चलने को।

असत्य को भी चलना हो तो सत्य की टाँगें उधार माँगनी पड़ती हैं। इसलिए तो सत्य बोलने वाला पूरी कोशिश करता है कि मैं असत्य नहीं बोल रहा हूँ, सत्य बोल रहा हूँ। और तुम्हें अगर भरोसा आ जाय कि यह सत्य बोल रहा है, तो ही उसका असत्य काम कर पाता है।

असत्य इतना निर्जीव है, इतना निर्वीर्य है, उससे ज्यादा नपुंसक तुम कोई और चीज नहीं खोज पाओगे। अगर उसको चलना भी हो दो कदम, तो सत्य का धोखा हो जाय, तो ही चल सकता है—नहीं तो नहीं चल सकता है।

असत्य से कोई बड़े खतरे नहीं होते दुनिया में। इसलिए असत्य तो तुम्हें जिससे कहना हो, कह देना। लेकिन सत्य बड़ी प्रगाढ तेजस्वी ऊर्जा है। वह ऐसी धार है कि अगर गलत हाथ में पड़ जाय, तो या तो खुद को काट लेगा वह, या दूसरे को काट देगा। छोटे बच्चे के हाथ में जैसे दे दी हो तलवार—चमकती तलवार; वह खिलौना समझ लेगा।

सत्य गोपनीय है; उसी को देना है, जो उसे झेल सके। वह उसी को देना है, जिसके जीवन में हानि न हो जाय। उसी को देना है, जो सत्य से सुरक्षित होगा, सत्य से असुरक्षा में न हो जाएगा। जो सत्य से महा जीवन को पाने चलेगा, सत्य जिसके लिए आत्मघात न बन जाएगा। इसलिए भी परम सत्यों को गोपनीय कहा गया है। वह तभी देने हैं, जब तुम तैयार हो जाओ; उसके पहले खतरा है।

सभी सत्य को पाना चाहते हैं—बिना यह जाने कि तुम जिसे पाना चाहते हो, उसे

सम्हाल सकोगे ? तुम्हारी आँखों से तुम उस महासूर्य को देख सकोगे ? आँखें अंधी तो न हो जाएँगी ?

अगर तुम्हारी आँखें दीये को ही देखने के योग्य हैं, तो महासूर्य को देखने की कोशिश मत करना। आँखें फूट जाएँगी। फिर दीया भी दिखाई न पड़ेगा।

क्रम-क्रम से जाना होगा। दीये के साथ अभ्यास करना होगा। धीरे-धीरे यात्रा करनी होगी। एक दिन तुम भी महासूर्य के साथ आँखें मिलाने को राजी हो जाओगे। और जिस दिन कोई महासूर्य के साथ आँखें मिलाने को राजी हो जाता है, उस दिन महाक्रांति घटित होती है। तुम्हारे भीतर सब बदल जाता है। लेकिन उस क्षण की तैयारी है।

इसलिए भी सत्य गोपनीय है। वह हर किसी को कह देने योग्य नहीं है।

ज्ञानियों ने शास्त्र भी लिखे हैं, तो इस ढंग से लिखे हैं, कि हर कोई उसे पढ़ ले, तो समझ नहीं पाएगा। तलवारें छिपा दी हैं। ज्यादा से ज्यादा तुम म्यान को छू पाओगे। तलवार तक तुम्हारी पहुँच न हो पाएगी। म्यान से कोई खतरा नहीं है।

शास्त्र इस ढंग से लिखे गए हैं कि ज्यादा से ज्यादा तुम शब्द को छू पाओगे; शब्द यानी म्यान। शब्द के भीतर छिपा हुआ अर्थ तो तुम्हारे लिए गूढ ही रह जाएगा।

सत्य इस भाँति छिपाया गया है कि तुम यह समझोगे कि म्यान ही तलवार है। इसलिए तो तुम शास्त्र को पूजते हो। वह म्यान को पूज रहे हो। तलवार का तुम्हें पता ही नहीं है। तलवार शब्दों में छिपाई गई है। शब्दों में इस भाँति छिपाया है, आच्छादित किया है, कि जो जानता है, वही उघाड़ कर बता सकेगा। और वह तभी बताएगा, जब देखेगा कि तुम तैयार हो गए हो। वह तुम्हारी हजार तरह से परीक्षाएँ ले लेगा। कसौटियाँ कस लेगा। वह हजार मौकों पर तुम्हारी जाँच कर लेगा—कि तुम तैयार हो गए हो; आँख राजी है। तुम्हारी आँख की तेजस्विता कहने लगेगी कि 'हाँ; अब तुम्हारी आँखें खुद ही छोटे सूर्य बन गई हैं। अब तुम मिल सकते हो; महासूर्य से मिलन हो सकता है।'

वह छोटे-छोटे सत्य तुम्हें देगा, और देखेगा कि तुम क्या करते हो।

ऐसा हुआ कि विवेकानन्द रामकृष्ण के पास आये, तो रामकृष्ण ने उन्हें ध्यान की कोई विधि दी। रामकृष्ण के आश्रम में एक आदमी था—एक बहुत सीधा आदमी था, कालू उसका नाम था; वह बड़ा सरल चित्त था। उसका छोटा-सा कमरा था—जिसमें वह रहता—आश्रम में। और उस कमरे में तीन सौ देवी-देवता उसने रख छोड़े थे। खुद के लिए जगह ही न बची थी। बच भी नहीं सकती। जब देवी-देवताओं को बुलाओ, तो खुद को जगह खाली करनी पड़ती है। वह बामुश्किल किसी तरह सोने लायक जगह थी। और उसका दिन भर उसी में बीत जाता था। छः-छः घंटे लग जाते थे; क्योंकि अब सभी को मनाना। तीन सौ देवी देवता ! पूजा करो। और वह बड़े भाव से करता।





वह ऐसा जल्दी नहीं करता था कि एक आरती ली—एक कोने से दूसरे तक उतार दी; घंटी सबके लिए इकट्ठी—सामूहिक रूप से बजा दी; फूल सब पर बरसा दिये ! ऐसा नहीं था। एक-एक को एक-एक की निजता में पूजता था। फिर दिन-दिन भर बीत जाता था।

विवेकानन्द को यह बात कभी जँची नहीं। वे तर्कनिष्ठ आदमी थे। वे हमेशा कालू को कहते, 'तू यह क्या पागलपन कर रहा है ! पत्थरों के सामने सिर फोड़ रहा है ? और दिन भर खराब कर रहा है।' लेकिन कालू उनकी सुनता न। वह अपने काम में लगा रहता। वह आनंदित था; वह प्रसन्न था।

एक दिन विवेकानंद को ध्यान लग गया; पहली दफा ध्यान लगा। तलवार हाथ में आई। तो ध्यान लगते ही जो बात उनको याद आई, वह बड़ी हैरानी की है। उनको यह बात याद आई कि 'अब मेरे पास थोड़ी शक्ति है: चाहूँ तो कालू को रास्ते पर लगा सकता हूँ।'

अब कालू से कुछ लेना-देना नहीं था। वह बेचारा अपने कमरे में अपना ध्यान कर रहा था। लेकिन विवेकानंद का ध्यान लगा; थोड़ी-सी शक्ति का जागरण हुआ और ऐसा लगा, उस क्षण में, कि अगर मैं इस समय कालू को कह दूँ कि 'कालू, बाँध सारे देवी-देवताओं को एक पोटली में और फेंक आ गंगा में' तो वह जरूर फेंक आयेगा। इस समय मेरे शब्द में बल है।

उत्सुकता जगी करने की। वहीं बैठे-बैठे मन में ही कहा कि 'कालू, उठ। क्या कर रहा है यह सब ? बाँध सब देवी-देवताओं को एक पोटली में और फेंक आ गंगा में।'

सीधा-साधा कालू, उसके अन्तर्तम में यह आवाज पहुँच गई। उसने बाँधा एक पोटली में—सब देवी देवताओं को। आँसू गिरते जाते हैं। लेकिन करे भी क्या; उसे कुछ समझ में भी नहीं आ रहा है। उसे लग रहा है कि उसको ही ऐसा बोध हुआ है कि इन सबको फेंक आना है। शायद इन्हीं ने यह आवाज दी है। उसे कुछ पता नहीं कि क्या हो रहा है !

वह—बाँध के सब देवी देवताओं को—रोता हुआ—गंगा की तरफ जा रहा है। रामकृष्ण स्नान कर के लौटते हैं। उन्होंने कालू को कहा, 'तू रुक; एक-दो मिनट रुक। जल्दी मत कर।' कालू ने कहा, 'भीतर से पुकार आई है परमहंसदेव कि सब देवी-देवताओं को गंगा में डाल दो !' रामकृष्ण ने कहा, 'रुक, भीतर से कोई आवाज नहीं आई है। मेरे पीछे आ।'

द्वार खटखटाया; विवेकानन्द दरवाजा बंद किये अन्दर थे। द्वार खोला। रामकृष्ण ने कहा कि 'यह चाबी जो तुझे दी थी, मैं वापस लिए लेता हूँ। तू तो ध्यान का दुरुपयोग करने लगा—पहले ही दिन से। तुझे ध्यान मिला है, इससे दूसरों के ध्यान को बढ़ाता,

कि तू दूसरों के ध्यान को मिटाने लगा ! इससे दूसरों की श्रद्धा को थिर करता, कि तू दूसरों की श्रद्धा को अथिर करने लगा। और तुझे ध्यान मिला है तू उसकी भीतर नई से नई कीमिया बनाता; हर ध्यान को और ऊँचे उठने के लिए सहारा बनाता। उसका तू उपयोग कर रहा है—व्यर्थ। और कालू की मूर्तियों को अगर गंगा में भी फिंकवा दिया, तो इससे तुझे क्या होगा ? कालू का कुछ खो जाएगा, तुझे कुछ भी न मिलेगा।' और ध्यान रखना : जब भी किसी के खोने में हम सहारा देते हैं, तो एक न एक दिन हम उसका फल भोगेंगे; हमारा भी कुछ खो जाएगा।

यही तो कर्म की सारी की सारी सिद्धांत की मूल शिला है—कि अगर तुम पाना चाहते हो—अपने जीवन में आनंद, तो दूसरों के आनंद के लिए सीढ़ियाँ बनाना। अगर तुम पाना चाहते हो दुःख, तो दूसरे के रास्ते पर काँटे बो आना।

रामकृष्ण ने कहा कि 'नहीं, तू योग्य नहीं है। यह चाबी मैं रखे लेता हूँ। यह जब तू मरेगा, उसके ठीक तीन दिन पहले मैं तुझे वापस लौटाऊँगा।'

और विवेकानंद जीवन भर तड़पे, फिर वैसे ध्यान की झलक न आई; फिर वैसे ध्यान की वर्षा न हुई। तड़पे, बहुत उपाय किए; सब चेष्टाएँ कीं; चेष्टा में कुछ कमी न की। विवेकानंद बलशाली व्यक्ति थे—महाबलशाली व्यक्ति थे। लेकिन ध्यान बल से थोड़े ही पाया जाता है।

ध्यान कोई बलात्कार थोड़े है, कि तुम जबरदस्ती कर दो। वह गुरु-प्रसाद है। वह अनायास मिलता है। वह तुम्हारी पात्रता से मिलता है—तुम्हारे बल से नहीं। वह तुम्हारी विनम्रता से मिलता है—तुम्हारे आक्रमण से नहीं।

तुम परमात्मा के घर पर हमलावर की तरह न जा सकोगे। और अगर हमलावर की तरह गए, तो तुम किसी और द्वार पर ही पहुँचोगे; परमात्मा के द्वार पर नहीं पहुँच सकते। फिर कितना ही खटखटाते रहो, तुम दीवाल खटखटा रहे हो। द्वार वहाँ है ही नहीं।

मैंने सुना है कि एक सेल्समेन एक मकान के सामने आया; एक बच्चा झाड़ के नीचे खेल रहा था। उसने पूछा कि 'बेटा, तेरी मम्मी घर के भीतर है ?' तो उसने कहा, 'हाँ है।' वह गया द्वार खटखटाने लगा। बड़ी देर हो गई, कोई आवाज नहीं—भीतर से। कोई है भी, ऐसा भी पता नहीं चलता ! थक गया। उसने लौटकर फिर कहा, कि 'बेटा तू तो कहता था कि घर में माँ है और मैं तो खटखटा-खटखटा कर हैरान हो गया; कोई जवाब नहीं देता।' उस बेटे ने कहा, 'वे तो हैं; लेकिन यह घर मेरा नहीं। यह तो खण्डहर है; इसमें कोई रहता ही नहीं।'

खटखटाने से ही कुछ न होगा। गलत घर के सामने खटखटाते रहो। ठीक घर चाहिए। पर ठीक घर बिना गुरु के इशारे के कैसे मिलेगा ?





वह चाबी रख ली गई। विवेकानंद ने बहुत चेष्टा की। और स्वाभिमानी व्यक्ति थे। और गुरु के साथ भी—स्वाभिमान—स्वाभिमानी व्यक्ति नहीं खो पाता। वह बना ही रहता है।

योग्य थे; सब तरह की चेष्टा की और सोचा कि जब एक दफा मुझे लग गई है झलक, तो अब क्यों न लगेगी। और चाबी कोई कैसे रख लेगा ? क्या मतलब चाबी रखने का ?

तर्कनिष्ठ आदमी थे; विचार करते थे। सब सोच-समझकर उन्होंने कहा कि, 'मैं कोशिश करता ही रहूँगा, कभी फिर घटेगा। पर वह घटी थी बात—प्रसाद से। इसलिए तो चाबी रख ली गई। फिर जिंदगी भर नहीं घटी।

विवेकानंद बहुत बहुत तड़पे, बहुत रोये। लेकिन मरने के तीन दिन पहले ध्यान लग गया। रामकृष्ण तो जा चुके थे, तब तक; लेकिन ऐसे व्यक्ति जाते नहीं।

ठीक तीन दिन पहले चाबी वापस उपलब्ध हो गई। जो जीवन भर चेष्टा से नहीं हुआ, वह मरने के तीन दिन पहले अनायास हो गया।

क्या घटना है ! अति गोपनीय है। खतरा है। अगर जरा-से भी गैर-तैयार हाथों में पड़ जाय—वह गुप्त ज्ञान, तो नुकसान हो सकता है।

और अज्ञानी का मन बड़ा कुतूहली है। जरा भी कुछ हाथ में लगे, तो वह उसका प्रयोग कर के देखना चाहता है।

● दूसरा प्रश्न : क्या समर्पण और सम्बोधि युगपत घटनाएँ हैं ? यदि हाँ, तो फिर समर्पित शिष्य को भी वर्षों वर्षों साधना से गुजरना पड़े, तो यह क्या दर्शित करता है ?

समर्पण और सम्बोधि युगपत घटनाएँ हैं। जिसे तुम समर्पण कहते हो, वह केवल समर्पण का रिहर्सल है, पूर्व-तैयारी है, समर्पण है नहीं।

तुम कर भी कैसे सकते हो समर्पण—एकदम से। पहले तैयारी तो करनी पड़ेगी। आये और समर्पण कर दिया—इतना आसान है ? समर्पण भी तो सीखना पड़ेगा। इंच-इंच चलना होगा। इंच-इंच खुद के अहंकार को काटना होगा, तभी समर्पण होगा।

तुम करते हो बातें, क्योंकि समर्पण शब्द तो कोई भी उपयोग कर सकता है।

अभी चार दिन पहले एक मित्र आये। वे कहने लगे . . . देखकर . . . । साँझ को जो लोग मेरे पास आये थे—किसी को ध्यान की कोई तकलीफ थी, किसी को कोई ध्यान ठीक लग रहा था, किसी को गहरा लग रहा था, किसी को कोई परिणाम हो रहे थे; वे सुनकर चौंके। वे मुझसे कहने लगे, 'मुझे तो कुछ नहीं करना है। मेरा तो समर्पण आपकी तरफ है। बस, आपके आशीर्वाद से हो जाय।'

अब सवाल यह है कि समर्पण कहीं बचाव तो नहीं है। 'मुझे कुछ नहीं करना है।' कहीं समर्पण तुम्हारे आलस्य का ही अच्छा नाम तो नहीं है ? कहीं समर्पण का मतलब यह तो नहीं है कि हमें करना ही नहीं है; अगर हाँ, कोई कर दे, तो ठीक। देखेंगे, जँचेगा

तो ठीक; ले लेंगे। नहीं जँचेगा, तो अपने घर जाएँगे !

समर्पण का मतलब यह तो नहीं है, कि तुम तैयार ही नहीं हो—कुछ भी करने को तैयार नहीं हो। मुफ्त पाना चाहते हो; कहीं समर्पण की यह आशा तो नहीं है कि आपके आशीर्वाद से मिल जाय। पर आशीर्वाद भी तो पाना होगा।

आशीर्वाद भी अगर मैं देना चाहूँ तो अकेला नहीं दे सकता; तुम्हें लेना होगा। आशीर्वाद के लिए भी तो तुम्हें हृदय को खोलना होगा।

तुम कहते हो, 'और कुछ मैं करना नहीं चाहता; यह हृदय खोलना, शांति लाना, ध्यान लगाना, समाधिस्थ होना—इस सब में मुझे मत उलझाओ आप। आप तो बस, आशीर्वाद दे दो।' तुम मुफ्त खोज में निकले हो।

तुम 'समर्पण'—गलत शब्द उपयोग कर रहे हो। अच्छा होता, तुम सीधा ही कहते, 'मैं कुछ करना नहीं चाहता; परमात्मा अगर मुफ्त मिलता हो तो मैं सोच सकता हूँ।' परमात्मा तुम्हारी जीवन-वासना की लिस्ट पर आखिरी है।

यही आदमी धन खोजने जाता है, तो मुझसे नहीं कहता कि 'मैं कुछ न करूँगा। बस, आपके आशीर्वाद से हो जाय तो ठीक, नहीं तो भाड़ में जाय।'

नहीं; जब यह धन खोजने जाता है, तो यह पूरी चेष्टा करता है। हो सकता है—आशीर्वाद भी माँगता हो, लेकिन आशीर्वाद के कारण चेष्टा नहीं छोड़ता है। आशीर्वाद को भी एक सहारा बना लेना है, लेकिन बाकी चेष्टा जारी रखता है।

लेकिन जब परमात्मा को खोजने आता है, तो कहता है, 'बस, आपके आशीर्वाद से हो जाय !'

शब्द बड़े मधुर लगते हैं; काव्यपूर्ण लगते हैं; ऐसा लगता है कि आदमी कितना भावुक है। कैसा भाविक है। कैसा श्रद्धालु है—कुछ नहीं करना चाहता। लेकिन यह आदमी अपने को धोखा दे रहा है।

समर्पण भी तो बहुत बड़ी घटना है। वह भी करनी पड़ती है। उसमें तुम्हारा साथ तो चाहिए। क्योंकि अन्ततः तो घटना तुम्हारे भीतर घटती है। तुम्हें झुकना होगा, मिटना होगा।

तो पहली तो बात यह है कि जिसे तुम समर्पण कहते हो, वह समर्पण होता नहीं। इसका यह मतलब नहीं है कि वह किसी काम का नहीं है। वह काम का है। उसे कर-कर के ही तो तुम असली समर्पण को उपलब्ध होओगे।

भूल-भूल कर ही तो ठीक रास्ता सूझेगा। कई बार गलत ढंग से करोगे, तभी तो अकल आयेगी—कि कुछ होता नहीं। तो ठीक की सूझ आयेगी।

समर्पण हजार बार करोगे, तब कहीं आखिरी में सफल हो पायेगा—एक हजार एक वीं बार।





तो तुम जो पूछते हो, 'क्या समर्पण और सम्बोधि युगपत घटनाएँ हैं', निश्चित ही; जिस दिन समर्पण घटता है, उसी दिन ही आशीर्वाद भी बरस जाता है, सम्बोधि भी बरस जाती है।

जिस दिन समर्पण हो जाता है, फिर क्षण भर की भी देर नहीं लगती परमात्मा के मिलन में; क्योंकि देर का कोई कारण नहीं रहा। बात ही खतम हो गई। समर्पण ही तो एक मात्र जरूरत थी, वह पूरी हो गई; अब देर किसलिए !

और कोई ऐसा थोड़े ही है कि परमात्मा किसी काम में उलझा है। तो तुम समर्पण करके बैठ गये, लेकिन अभी वह जरा उलझा है। जब वक्त होगा, तब आयेगा। और ऐसा थोड़े ही है कि क्यू लगा है—उसके द्वार पर कि जब तुम्हारा नंबर आयेगा . . ! माना कि तुमने समर्पण कर दिया, लेकिन जब तुम्हारा नम्बर आयेगा . . . । वहाँ कोई क्यू नहीं लगा है।

परमात्मा से प्रत्येक का सम्बन्ध निजी है। तुम्हारे और परमात्मा के बीच कोई भी नहीं है—सिवाय तुम्हारे। तुम हट जाओ बीच से और मिलन हो जाता है। तुम्हारे अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है, अवरोध नहीं है।

यहाँ समर्पण—वहाँ सम्बोधि। एक क्षण का भी फासला नहीं हो सकता। युगपत का अर्थ यही होता है। इधर जला दीया, उधर अँधेरा समाप्त। ऐसा नहीं कि तुमने जला लिया दीया, अब अँधेरा सोच रहा है कि समाप्त होएँ कि न होएँ; कि अँधेरा कह रहा है कि 'अभी बहुत अँधेरी रात है, अभी कहाँ बाहर जायें। अभी थोड़ा आराम कर लें !' कि अँधेरा कहता है कि 'अभी थके-माँदे हैं, अभी न जाएँगे; जलने दो दीये को।' कि अँधेरा कहता है कि 'हजारों साल से यहाँ रह रहे हैं। ऐसे तुमने जला लिया दीया और हम चले गए ! इतना आसान है क्या ? कोर्ट कचहरी करनी पड़ेगी। गुंडे लाने पड़ेंगे, तब निकलेंगे। और इतने दिन से यहाँ रहते-रहते मालिक हो गए हैं।'

नहीं, अँधेरा यह कुछ बातें कहता ही नहीं। इधर जला दीया, उधर तुमने पाया कि अँधेरा नहीं है।

जलते ही दीये के, अँधेरा नहीं पाया जाता है। ऐसे ही समर्पण और सम्बोधि—वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इधर समर्पण—उधर सम्बोधि।

'और यदि समर्पित शिष्य को भी वर्षों-वर्षों साधना से गुजरना पड़े, तो यह क्या दर्शित करता है ?' समर्पण अभी हुआ नहीं।

और अहंकार बड़ा सूक्ष्म है। समर्पण के खेल भी खेलता है। वह कहता है कि 'मैं वर्षों से समर्पित शिष्य हूँ।' वर्षों का कोई हिसाब है ? समर्पण में तो क्षण का हिसाब है। वर्षों का तो मतलब यह है कि कुछ न कुछ गलत कर रहे हो, नहीं तो कभी का घट गया होता।

एडीसन एक प्रयोग कर रहा था। एडीसन ने दुनिया में सबसे ज्यादा आविष्कार किये हैं—एक हजार आविष्कार किये हैं। तुम्हारी जिंदगी में जो छोटी-मोटी चीजें तुम देखते हो, वे एडीसन की हैं—रेडियो, बिजली, टेलीफोन। उस आदमी ने आदमी को सब तरफ से घेर दिया—आविष्कारों से।

वह एक आविष्कार बीस सालों से कर रहा था। टेलीफोन की खोज में लगा था। फिर वह पूरा हो गया। जिस दिन पूरा हुआ, उस दिन आधे घंटे में पूरा हुआ।

उसके एक विद्यार्थी ने पूछा कि 'मेरे मन में एक सवाल उठा है। वह सवाल यह है कि आप बीस साल से इस प्रयोग को कर रहे हैं। तो बीस साल + आधा घंटा—ऐसा हम मानें, कि आधा घंटे में यह हल हो गया—ऐसा हम मानें?' एडीसन ने कहा, 'अब मेरे बाद कोई भी इसको तैयार करना चाहे, तो आधा घंटा लगेगा। इसलिए आधे घंटे में ही बना है। बीस साल मैं गलत दरवाजों पर दस्तक देता रहा।' यह बात समझने जैसी है।

साधारणतः तो हम कहेंगे, 'यह खोज बीस साल में पूरी हुई।' लेकिन एडीसन बड़ी ही सूझ का आदमी था। उसने कहा कि 'अगर बीस साल में यह खोज पूरी हुई, तो फिर मेरे बाद कोई भी इसको बनाएगा, उसको फिर बीस साल लगने चाहिए। उसको नहीं लगेंगे; क्योंकि अब दरवाजा पता है। दूसरा आदमी सीधा जाएगा, दरवाजे पर दस्तक देगा, भीतर हो जाएगा। आधे घंटे में प्रयोग पूरा हो जाता है।

'मुझे दरवाजा पता नहीं था। मैं पहला आदमी था, तो मैं दूसरों के घरों पर दस्तक देता रहा। वहाँ कोई दरवाजा था नहीं, जो खुलता। खुले भी दरवाजे तो व्यर्थ थे। कुछ हल न हुआ। प्रयोग तो आधा घंटे में ही हुआ है। बीस साल किस जगह चोट करना—यह खोजने में लग गये।'

बुद्ध को ज्ञान हुआ। वह ज्ञान तो एक क्षण में हुआ है। छः साल गलत जगहों पर चोट करने में लग गये। महावीर को जो ज्ञान हुआ है, वह तो क्षण में हुआ है। बारह साल गलत जगह पर चोट करने में लग गये।

जैसे तुम एक पहेली हल कर रहे हो, दिन भर लग गया और हल नहीं हो रहा है। और फिर तुमने चाय पी और बगीचे में टहलने चले गये। और अचानक सूझ आ गई, लौट कर आये, पहेली हल हो गई।

यह जो सूझ जितनी देर में घटी है, उतनी ही देर में पहेली हल हुई है। बाकी दिन तुम गलत कुंजियों का सहारा लेते रहे।

सत्य तो क्षण भर में मिल जाता है, युगपत है। असत्य की बड़ी भारी श्रृंखला है। उस असत्य की श्रृंखला को पार करने में समय लगता होगा; सत्य को पाने में समय नहीं लगता। इसलिए तो हमने सत्य को कालातीत कहा है—जो समय में पाया ही नहीं





जाता, समय के बाहर है।

जो समय के बाहर है, उसे बीस साल में कैसे पाओगे? बीस लाख साल में कैसे पाओगे? वह समय के भीतर ही नहीं है। लेकिन समय के भीतर बहुत कुछ है, जिससे तुम्हें गुजरना पड़ेगा।

ऐसा समझो कि तुमने बहुत से वस्त्र पहन रखे हैं। तुम कपड़े उतारते हो—उतारते हो—उतारते हो। उतारने में एक घंटा लग जाता है, तब तुम नग्न हो पाते हो। नग्न होने में एक घंटा भर लगता है? कपड़ो की परतें कितनी हैं, इस पर निर्भर करता है। अगर एक आदमी एक ही कपड़ा पहने हुए है, तो एक क्षण में उतर जाता है। और एक आदमी चादर ओढ कर बैठा हुआ है; ऐसा फेंक दे और नग्न खड़ा हो जाता है। नग्न होने में तो क्षण भर भी नहीं लगता, लेकिन कितनी कपड़ों की परतें तुम्हारे ऊपर हैं, उनको उतारने का सवाल है।

कितनी अहंकार की परतें तुम्हारे ऊपर हैं, उनको उतारने का सवाल है।

समर्पण तो क्षण-भर में हो जाता है।

तो अगर वर्षों से कोई सोचता है कि वह समर्पित शिष्य है, तो सोचने में भूल है। समर्पण की तलाश करता होगा, समर्पण का खोजी होगा। समर्पित अभी नहीं है। अन्यथा घटना घट गई होती।

और ये जो इस तरह के प्रश्न उठते हैं, ये प्रश्न सोचने जैसे हैं। 'यदि हाँ, तो फिर समर्पित शिष्य को भी वर्षों-वर्षों साधना से गुजरना पड़े, तो यह क्या दर्शित करता है?' यह दर्शित करता है अधैर्य। यह दर्शित करता है कि तुम प्रतीक्षा करने को बिलकुल भी तैयार नहीं हो। यह दर्शित करता है—तुम्हारी छोटी बुद्धि। सत्य को भी तुम पा लेना चाहते हो, क्योंकि वर्षों-वर्षों से तुम साधना कर रहे हो!

क्या साधना कर रहे हो?

तुम कुछ ऐसा अनुभव करने लगते हो—थोड़े दिन अगर तुम खाली बैठकर ध्यान कर लिये या नमोकार का जप कर लिये या ओंकार का जाप कर लिये या अल्लाह-अल्लाह जप लिये, तो तुम सोचने लगते हो कि कुछ तुमने परमात्मा पर अनुग्रह किया! तुम अपनी फाईल में लिखने लगते हो कि 'देखो, इतनी दफा नाम जप चुका, करोड़ दफा राम का नाम ले लिया, अभी तक नहीं आये?' तुम्हारे भीतर शिकायत खड़ी होने लगती है।

तुम कर क्या रहे हो? तुम्हारे 'करने' से उसके आने का क्या सम्बन्ध है? तुम्हारे मिटने से उसका आना होता है। यह 'करना' तो तुम्हें भर रहा है। एक करोड़ दफा नाम ले लिये, दस करोड़ दफा नाम ले लिये; हजार उपवास कर लिये। रोज ध्यान कर रहे हैं—सुबह शाम। कितना समय गँवा दिया—ध्यान में! प्रार्थना कर रहे हैं, पूजा

कर रहे हैं। अभी तक नहीं हुआ !

यह जो 'अभी तक नहीं हुआ'—यहीं नहीं होने दे रहा है। यह जो 'अभी तक नहीं' हुआ का विचार है, यही काँटे की तरह तुम्हारे प्राणों में चुभा है। इसे भी छोड़ो कि 'जब तेरी मरजी। जैसी तेरी मरजी। कभी भी न होगा, तो भी हम प्रसन्न हैं। क्योंकि अगर यही तेरी मरजी है, तो यही हमारा होना है। हम तेरी मरजी से अपने को अलग नहीं रखते।'

यही तो कृष्ण की पूरी शिक्षा है गीता में कि तुम अपने कर्तापन को छोड़ दो और उसको कह दो कि 'जो तू करवाए। अगर तुझे संसार में रखना है, तो जरूर यही हितकर होगा। अगर तुझे ध्यान नहीं होने देना है, तो यही हितकर होगा। अगर तू रुकावट डाल रहा है—(ऐसा तुम्हें लगता है) तो ठीक; हम तेरी रुकावट से राजी हैं। तू रात दे तो रात, तू दिन दे तो दिन, अँधेरा लाये तो अँधेरा, प्रकाश लाये प्रकाश। तेरे हाथ से छूकर जो अँधेरा भी आता है—वह हमारे लिये प्रकाश है।' जिस दिन ऐसी भावदशा होती है, उस दिन समर्पण। फिर देर नहीं लगती है।

जब तक तुम देख रहे हो—किनारे से आँख खोल-खोल कर; ध्यान-व्यान नहीं कर रहे हो। बीच-बीच में आँख खोल कर देख लेते हो; भगवान् आया, नहीं आया ! फिर आँख बन्द कर के बैठ गये। फिर दो-चार माला के गुरिये फेरे; फिर जरा आँख खोली—'अभी तक न भगवान् आया, न पोस्टमैन आया—कि कुछ खबर लाता। तार ही भेज देता कि कब आते हैं !' फिर आँख बंद कर ली।

तुम बच्चों का खेल कर रहे हो। ऐसा न कोई पोस्टमैन आने को है, न कोई तार लाने को है। और अगर ऐसा कोई तार वगैरह आ जाय, तो किसी ने मजाक की होगी समझना।

ऐसा मुल्ला नसरुद्दीन रोज प्रार्थना करता था, तो वह यही कहता था कि 'सौ से कम कभी न लूँगा। सौ रुपये पूरे लूँगा—नगद। एक भी कम दिया तो मैं राजी होने वाला नहीं।'

पड़ोस का एक आदमी यह सुनते-सुनते थक गया। उसे मजाक सूझी कि यह सौ से कम तो लेगा नहीं। डर भी कोई नहीं है। तो उसने एक थैली में निन्यानबे रुपये रखकर—जब यह प्रार्थना कर रहा था और कह रहा था कि सौ से कम न लूँगा—इसके छप्पर पर चढ़ गया और छप्पर में से थैली गिरा दी।

थैली नीचे गिरी। इसने कहा, 'ठीक। पहले गिनूँगा। सौ से कम कभी न लूँगा।' थैली खोली; गिनती की। वे निन्यानबे थे। उसने कहा, 'अरे, तू भी बड़ा चालबाज है। एक रुपया थैली के काट लिये; कोई बात नहीं।'

अब वह पड़ोसी घबड़ाया। क्योंकि उसने तो मजाक ही की थी। लेकिन वह यह





कह रहा है कि 'एक रुपया थैली का तुमने काट लिया, कोई बात नहीं, बात साफ है। धंधे की है। समझ में आती है।'

अगर ऐसा कोई परमात्मा आ भी जाय—मोर-मुकुट बाँधे द्वार पर खड़ा हो जाय, तो समझना कि कोई अभिनेता नाटक से छूट गया है। सर्कस का कोई प्राणी निकल भागा है। या किसी पड़ोसी ने मजाक की है। कोई ऐसा आने को है ? कुछ ऐसा होने को है ?

और अगर तुम ऐसे आँख खोल-खोल कर देखते रहे, तो तुम शांत ही न हो पाओगे। इसलिए तो प्रतीक्षा पर इतना जोर है। और फलाकांक्षा के त्याग पर इतना जोर है।

समझो : जब तक फलाकांक्षा है, प्रतीक्षा तुम कर ही नहीं सकते; क्योंकि वह फल की याद आती ही चली जाती है। कब मिलेगा, कब मिलेगा, कब मिलेगा ? तुम जपते हो राम-राम-राम, लेकिन असली जाप नीचे चल रहा है—उससे भी गहरा—'कब मिलेगा, कब मिलेगा, कब मिलेगा ?' वह राम-राम ऊपर ऊपर है। 'कब मिलेगा' गहरे में है।

और 'कब मिलेगा', उसके पीछे तुम्हारा अहंकार छिपा है—कि मैं उसे पाकर रहूँगा। और तुम्हीं बाधा हो।

छोड़ो साधक-बाधक होने के भ्रम। शांत हो रहो। बड़ी तुम्हारी कृपा होगी।

और यह आँख खोल-खोल कर मत देखो। वह आ भी जाय, द्वार पर खड़ा भी हो जाय, तो वह खुद ही तुम्हारा सिर खटखटाएगा। जल्दी क्या है ? तुम क्यों पंचायत कर रहे हो ?

विठोबा की कथा है, महाराष्ट्र में, बड़ी प्रीतिकर है। विठोबा कृष्ण का नाम है। वे अपने एक भक्त को मिलने आये हैं; क्योंकि भक्त उनकी बड़े दिनों से प्रार्थना-पूजा कर रहा है। लेकिन जब वे आये हैं, तो भक्त की माँ बीमार है। वह अपनी माँ की सेवा कर रहा है। वे पीछे आकर खड़े हो गये; उन्होंने द्वार पर दस्तक दी। द्वार खुला था। भीतर आ गये। उन्होंने कहा कि 'देख, मैं तेरा प्यारा, तेरा कृष्ण, जिसकी तू याद करता रहा है, मैं आ गया।' भक्त ने कहा, 'तुम बे-वक्त आये। अभी मैं माँ की सेवा कर रहा हूँ। अभी फुर्सत नहीं है।'

पास ही एक ईंट पड़ी थी, वह उसने सरका दी। उसने कहा कि 'इस पर विश्राम करो।' उसने लौट कर देखा भी नहीं। 'जब माँ की सेवा पूरी कर लूँगा, तब फिर बातचीत होगी।'

ऐसे को भगवान् मिलते हैं। जो भगवान् को भी कह दे कि 'बैठो, विश्राम करो।' ईंट पर बिठाल दे भगवान् को। लौट कर भी न देखे।

कैसी उसकी प्रतीक्षा रही होगी ! कैसी उसकी ध्यान की गहराई रही होगी !

कैसा उसका भक्ति-भाव रहा होगा, जिसमें एक लहर भी नहीं उठती!

तुम तो ध्यान करो, हवा का झोंका दरवाजे को हिलाए; तुम लौट कर देखते हो: 'आ गए क्या! अभी तक नहीं आये?' फिर गुस्से में बैठ गये। फिर गुस्से से माला फेरने लगे।

उसने बिठा दिया भगवान् को कि 'बैठो।'

विठोबा के मन्दिर में अब भी कृष्ण उसी ईंट पर बैठे हैं। बैठना पड़ेगा भगवान् को। जब प्रतीक्षा इतनी हो, तो भगवान् जाएगा कहाँ!

वह कोई ऐसी चीज थोड़ी ही है कि आ जाय, चला जाय। वह तो मौजूद ही है, सिर्फ तुम्हारी प्रतीक्षा भर चाहिए। तुम सदा उसे अपने चारों तरफ घिरा हुआ बाहर-भीतर पाओगे। वही है—और कुछ भी नहीं।

पर यह झाँक कर देखनेवाला चित्त—तनाव से भरा हुआ, अशांत, फलाकांक्षा से पीड़ित, ज्वरग्रस्त है। यह उससे नहीं मिल पाता है।

अब सूत्र।

'हे अर्जुन, इस प्रकार तेरे हित के लिए कहे हुए इस गीतारूपी परम रहस्य को किसी काल में भी न तो तपरहित मनुष्य के प्रति कहना चाहिए, और न भक्तिरहित के प्रति, तथा न बिना सुनने की इच्छा वाले के ही प्रति कहना चाहिए। एवं जो मेरी निंदा करे, उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिए।'

समझने की कोशिश करो।

'इस प्रकार तेरे हित के लिए कहे हुए इस गीतारूप परम रहस्य को . . .।' यह अत्यंत गुह्य और गोपनीय है। इससे जीवन के आत्यंतिक द्वार खुलते हैं। यह कुंजी बहुत बहुमूल्य है, यह हर किसी को मत दे देना। ये मोती हैं, इन्हें पारखियों को देना। ये हीरे हैं, इन्हें जौहरियों को देना।

ऐसा हुआ। जुन्नून एक सूफी फकीर हुआ। उसके पास एक युवक आया और उसने कहा कि 'मुझे परमात्मा की तलाश है; सत्य की खोज है। आपकी खबर सुन कर आया हूँ। मुझे सत्य के दर्शन करा दें।' जुन्नून ने अपने खीसे में हाथ डाला, एक पत्थर निकाला और कहा, 'तू पहले एक छोटा-सा काम कर। यह तेरी पहली साधना है कि तू जा बाजार—सब्जीवालों की मण्डी में जाना और इस पत्थर को बेचने की कोशिश करना। बेचना नहीं है; कोशिश करना है। कितने लोग ज्यादा से ज्यादा दाम में माँगते हैं, खबर लेकर आ।'

वह वापस आया। सब्जीवालों ने कहा कि 'दो पैसे में ले लेंगे। सब्जी तौलने के काम आएगा; बटखरा हो जाएगा।'

फकीर ने कहा, 'तू अब ऐसा कर, सोने-चाँदी की दूकानों पर जा।' वह गया—





सोने-चाँदी की दुकानों पर। उन्होंने कहा, 'एक हजार रुपये में ले लेंगे।'

वह बहुत हैरान हुआ। दो पैसा? हजार रुपया? वह वापस लौटकर आया। उसने कहा कि 'बेच दूँ? कोई पागल हजार रुपये में लेने को तैयार है।' उस फकीर ने कहा, 'बेचना मत। अब तू जरा जौहरियों के बाजार में जा।' वहाँ वह गया। वहाँ दस हजार, बीस हजार, पचास हजार, लाख, दस लाख रुपये देनेवाले लोग मिले। वह तो घबड़ा गया। वह तो पागल हो गया कि मामला क्या है। दो पैसे और दस लाख। वह भागा हुआ आया। उसने कहा, 'बेच देना चाहिए। अब रोकने की जरूरत नहीं है। दस लाख तक . . .। एक आदमी बिलकुल पागल है; वह कह रहा है—दस लाख रुपये—इस पत्थर के!'

जुन्नून ने कहा, 'तू अभी रुक। बेचना नहीं है। पत्थर वापस कर। मैं सिर्फ तुझसे यह कह रहा हूँ कि सत्य की तू पूछने आया है मेरे पास, अगर मैं तुझे सत्य अभी निकाल कर दे दूँ—मेरे दूसरे खीसे में सत्य पड़ा है, तो तेरी स्थिति अभी सब्जी बाजार वाले आदमी की है। तू उसका बटखरा बना लेगा, उससे सब्जी तौलेगा।

'अभी तेरी स्थिति वह भी नहीं है, जो सोने-चाँदी की दुकान वालों की है। कम से कम हजार रुपये में भी माँगे। और तेरी स्थिति वह तो है ही नहीं, वह पागलपन तो तुझे है ही नहीं—जो जौहरी को हो सकता है। जिसने दस लाख में माँगा। वही आदमी जानता है—क्या इसका मूल्य है। यह करोड़ रुपये का पत्थर है। जिसने दस लाख में माँगा, है, उसे इसकी झलक है।

तो कृष्ण कहते है, 'इस परम रहस्य को किसी भी काल में तपरहित मनुष्य के प्रति नहीं कहना चाहिए।'

तपस्वी कौन है? तपस्वी का अर्थ है, जिसने सत्य को पाने के लिए अथक् चेष्टा की—अपने को जलाया, तपाया। जो कुतूहलवश नहीं आ गया है—सत्य को पूछने। जिसने सत्य को अपने को समर्पित किया है, जो सत्य के लिए मिटने को तैयार है। अगर जीवन की भी आहुति देनी पड़े, तो वह तैयार है। वह एक हाथ में अपने जीवन को लेकर आया है—'यह रहा जीवन, सत्य अगर मुझे मिल जाय, तो मैं जीवन देने को तैयार हूँ।'

तपस्वी का अर्थ है, जो सत्य को जीवन के ऊपर रखता है। जो कहता है, 'जीवन चला जाय, हर्जा नहीं; सत्य खरीद लेना है। जीवन दो कौड़ी का है जिसके लिए—सत्य के मुकाबले।

भोगी का अर्थ है, जो जीवन को किसी भी हालत में खोने को तैयार नहीं है। जिसके लिए जीवन से ऊपर कुछ भी नहीं है।

त्यागी का अर्थ है, जिसके लिए जीवन से भी ऊपर कुछ है। जो जीवन को भी कुछ पाने के लिए साधन बना लेता है। तो तपस्वी को गीता कहनी चाहिए।

कुतूहलवश कोई आया हो—उसको नहीं; जिज्ञासा मात्र से कोई आया हो—उसको नहीं; मुमुक्षा से आया हो—जो अपने जीवन को मोक्ष बनाने के लिए तत्पर हो, जो कहता हो, 'जान भी देनी पड़े, तो यह रही गरदन।'

बोधिधर्म भारत से बाहर गया, चीन गया—सैकड़ों साल पहले। वह सदा दीवाल की तरफ मुँह करके बैठता था।

कभी कभी मुझे भी उसकी बात जँचती है कि आदमी बड़ा समझदार था। अगर वह यहाँ होता, तो तुम्हारी तरफ नहीं देखता। तुम उसकी पीठ देखते, वह दीवाल की तरफ देखता। और वह कहता था, 'जब ठीक आदमी आयेगा, तभी मैं उसकी तरफ देखूँगा। हर एक की तरफ देखने से क्या फायदा! क्यों अपनी आँखें गँवाऊँ? क्यों? क्या जरूरत—देखने की? दीवाल में क्या खराबी है!'

वह कहता, 'अभी तो लोग ऐसे ही हैं, जैसे दीवाल। कुछ है नहीं; सपाट है। दरवाजा तक नहीं है उनके भीतर, जिसमें से प्रवेश कर सको। प्रवेश का उपाय ही नहीं है जिनके भीतर...।'

फिर उसका पहला शिष्य आया—हुई-नेंग। उसने कहा, 'बोधिधर्म, मुड़ता है इस तरफ, कि नहीं। गरदन काट कर रख दूँगा।' बोधिधर्म एक क्षण को तो रुका। उतने में ही उस हुई-नेंग ने अपना एक हाथ काट दिया और काट कर उसको उसके सामने रख दिया, और उसने कहा, 'मुड़ अन्यथा गरदन गिरेगी।'

बोधिधर्म एकदम घूमा—तेजी से। उसने कहा, 'आ गया भाई! तेरी मैं तो सालों से प्रतीक्षा करता था। कोई गरदन काटने की जरूरत नहीं। क्योंकि मैं कोई हत्यारा नहीं। लेकिन गरदन काटने की तैयारी काफी है। तैयारी चाहिए। तू काटने को तैयार है, तो तू मूल्य चुकाने को तैयार है। तो जो मेरे पास है—सम्पदा, वह मैं तुझे देने को राजी हूँ।'

मुफ्त किसी को दे दो सम्पदा, वह व्यर्थ चली जाती है, उसका मूल्य ही नहीं हो पाता।

तपरहित मनुष्य के प्रति नहीं कहना, न भक्तिरहित मनुष्य के प्रति कहना, क्योंकि जब भक्ति न हो, तो गोपनीय बात नहीं कही जा सकती। अत्यंत निकटता चाहिए।

पुराना शब्द है कि जब गुरु मंत्र देता है शिष्य को, तो हम कहते हैं: कान फूँकता है। उसका मतलब क्या है? उसका मतलब है: इतनी गुप्त है बात कि कान में ही कहता है। कोई और सुन न ले। वह गुफ्तगू है; वह बड़ी हृदय में कही गई है बात। 'कान फूँकना' तो प्रतीक है।

मगर मूढ़ गुरु हैं, जो कान फूँकते हैं। क्या करो! वे कान में कह देते है कि 'राम-राम जपना, यह तुम्हारा मंत्र है। किसी और को मत बताना।'

कान-फूँकना प्रतीक है; उसका अर्थ है: कानों-कान कहना; कोई दूसरे के कान में न पड़ जाय; अत्यन्त निकटता में कहना; सामीप्य में कहना।





इसीलिए तो यहाँ मैं बंद होकर बैठ गया हूँ; लोगों के आने के लिए सब तरह की बाधाएँ खड़ी कर दी है। जब तक कि कोई जबरदस्ती आना ही न चाहे, चेष्टा ही न करे, न आ पायेगा। सब तरह के उपाय हैं—उसको वापस भेज देने के।

तो जो कुतूहलवश आ गया है, वह दरवाजे से ही लौट जाएगा। जिसकी थोड़ी जिज्ञासा है, वह लक्ष्मी के दफ्तर से लौट जाएगा। और जिसकी मुमुक्षा है, वह ही यहाँ तक पहुँच पायेगा। जिसका प्रेम है, वह सब सह के यहाँ तक पहुँच जाएगा।

प्रेम कोई बाधाएँ नहीं मानता। प्रेम कोई सीमाएँ नहीं मानता। प्रेम बड़ी से बड़ी दीवालें लाँघ जाता है।

तो कृष्ण कहते हैं, 'भक्तिरहित के प्रति मत कहना', क्योंकि तुम तो कह दोगे, लेकिन जिसने भक्ति से सुना नहीं, वह समझेगा ही नहीं। तो क्यों अपनी श्वास खराब करनी।

डर यह है कि वह बुद्धि से समझेगा।

दो ही जगह है समझने की—या तो हृदय या बुद्धि। अगर भक्ति है, तो हृदय से समझेगा। वही समझने का ठीक केंद्र है। अगर भक्ति नहीं है, तो बुद्धि से समझेगा। वह तुमने जो कहा है, उसका तर्क बनाएगा, शास्त्र बनाएगा, सिद्धांत बनाएगा; उसमें वह भटक जाएगा।

बुद्धि का तो जंगल है, वहाँ कोई खुले स्थान नहीं हैं। हृदय का खुला आकाश है। हृदय में कोई कभी भटका नहीं, बुद्धि में लोग सदा भटके हैं।

तो बुद्धि वाला आदमी तो वैसे ही भटका है, उसको और यह गोपनीय बातें कह कर और न भटका देना; और उसका जंगल बड़ा मत कर देना। वह वैसे ही उलझा है।

'और न बिना सुनने की इच्छा वाले के प्रति ही कहना।' और जो सुनने को इच्छुक ही न हो, आतुर न हो, अभीप्सु न हो, उससे मत कहना। उसके तो कान पर भी नहीं पहुँचेगा।

और खतरा एक है कि जब सुनने की इच्छा न हो, तब अगर कोई कुछ कह दे, तो ऊब पैदा होती है। और उस ऊब के कारण वह सदा के लिए अनुत्सुक हो जाएगा।

बहुत बच्चे धर्म से इसीलिए अनुत्सुक हो जाते हैं। जब उनकी तैयारी नहीं होती सुनने की, तब माँ-बाप उनको गीता सुना रहे हैं। मन्दिर ले जा रहे हैं! वे घसिटे जा रहे हैं। उनको फिल्म में जाना है, पिक्चर देखना है। बाजार में मदारी आया है, ये कहाँ के कृष्ण और गीता को लगाए हुए हैं!

मैं एक संस्कृत महाविद्यालय में कुछ दिन तक अध्यापक था। संस्कृत विद्यालय था—महाविद्यालय था, तो पुराने ढंग से चलने का हिसाब था। तो सभी विद्यार्थियों को सुबह चार बजे उठना पड़ता, स्नान करना पड़ता। पाँच बजे प्रार्थना में इकट्ठे होना पड़ता।

मैं नया ही पहुँचा था; मेरे पास कोई और रहने का मकान न था, तो पहली ही रात मैं विद्यालय के छात्रावास में ही ठहरा। विद्यार्थियों को भी पता नहीं था कि मैं अध्यापक हूँ; नया नया था। और मैं भी सुबह चार बजे उठकर स्नान करता था, तो मैं भी कुएँ पर स्नान करने गया। वहाँ विद्यार्थी स्नान कर रहे हैं। मैंने सोचा था कि संस्कृत विद्यालय है, लोग स्नान करते हुए संस्कृत के श्लोकों का पठन कर रहे होंगे; वेद की ऋचाएँ दोहराते होंगे। वहाँ वे भगवान् तक को माँ-बहन की गालियाँ दे रहे हैं!

मैं थोड़ा हैरान हुआ, क्योंकि ठण्डा पानी है, सर्दी के दिन, चार बजे रात से उठना; कौन नहीं भगवान् को गाली देगा। वे परमात्मा से लेकर प्रिंसिपल को बड़े भद्दे ढंग से गाली दे रहे थे और उन्हें पता नहीं था कि मैं अध्यापक हूँ; नया-नया था। तो उन्होंने मेरी कोई फिक्र नहीं की। वे देते रहे। मैंने भी सुनी उनकी गालियाँ।

मैंने प्रिंसिपल को जाकर कहा कि 'यह आप गलत कर रहे हैं। इनके जीवन से सदा के लिए प्रार्थना का रस नष्ट हो जाएगा। इनके प्रार्थना के साथ गलत सम्बन्ध जोड़ा जा रहा है। विकृत स्थिति बनी जा रही है।'

प्रिंसिपल बोले, 'नहीं; वे सब अपनी मरजी से कर रहे हैं।' जैसा कि सभी अधिकारियों को खयाल है।

मैंने उनको कहा, 'तो फिर आप ऐसा करें, अगर वे अपनी मरजी से करते हैं, तो मैं एक तख्ती लगा देता हूँ कि कल चार बजे वही उठे, जिनको उठना हो। और आपको भी उठना पड़ेगा, ताकि हम दोनों मौजूद हो सकें—साक्षी—कि कौन आया, कौन नहीं आया।'

अब तक तो वे खुद तो उठते नहीं थे। मैंने कहा, 'तुम खुद ही सोचो। तुम खुद भी नहीं उठते चार बजे। तुम भी उठकर अगर स्नान करो, तो भी थोड़ा उनका गाली देने का मन कम हो जाय, कम से कम प्रिंसिपल को तो गाली न दें; परमात्मा को दें, तो कोई हरजा नहीं। तुम खुद भी नहीं उठते!'

प्रार्थना में कोई सम्मिलित नहीं होता; लेकिन उनकी मजबूरी है, क्योंकि वे सभी विद्यार्थी स्कॉलरशिप पर थे। संस्कृत पढ़ने कोई बिना स्कॉलरशिप के आता ही नहीं। सरकार स्कॉलरशिप दे, तो ही लोग संस्कृत पढ़ते हैं! नहीं तो कोई काहे के लिए पढ़ेगा! वे सब स्कॉलरशिप पर थे, इसलिए सबकी मजबूरी थी, न जाएँ तो उनकी स्कॉलरशिप कटती थी।

तो दूसरे दिन मैंने तख्ती लगा दी कि 'अब जिसको मरजी हो, वही प्रार्थना करे। जिसको मरजी हो वही चार बजे उठे।' दूसरे दिन मेरे और प्रिंसिपल के सिवाय वहाँ कोई भी नहीं आया। कुआँ खाली था। मैंने कहा, 'अब कम से कम कुएँ पर ज्यादा प्रार्थनापूर्ण स्थिति है। कम से कम कुआँ तो प्रार्थना कर रहा है। कोई गाली तो नहीं





बक रहा है! कोई यहाँ उपद्रव तो नहीं कर रहा है; सन्नाटा तो है। आकाश के तारे हैं। सुबह अच्छी है। जिसको नहाना है, वह आयेगा।' कोई नहीं आया।

जिन बच्चों को तुम जबरदस्ती मंदिर ले गए हो, उनको तुमने सदा के लिए मंदिर के विरोध में कर दिया है।

जो सुनने को राजी नहीं था, उसको तुमने सुनाने की कोशिश की है। तुमने उसके कान पर ही अत्याचार नहीं किया, तुमने उसके हृदय के द्वार भी बंद कर दिए हैं।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, 'उससे मत कहना, जो सुनने को राजी न हो'; इच्छा न हो। जब हजार बार पूछे, तब कहना।

बुद्ध का तो नियम था, कि जब तक कोई आकर तीन बार न पूछे, तब तक वे उत्तर ही न देते थे। कोई प्रश्न बुद्ध से पूछना हो, तो जाकर उनके चरणों में झुको। एक बार कहो, दो बार कहो, तीसरी बार कहो, तब शायद वे उत्तर दें। अन्यथा वे न देंगे। वे कहते हैं, 'जो कम से कम तीन बार पूछने को राजी न हो, उससे कहना ही नहीं।'

कहना उसी से, जिसका हृदय प्यासा हो, कंठ प्यासा हो, पानी की पुकार उठी हो—जिसके भीतर, उसीको जल-धार देना। गैर-प्यासे को पानी पिलाओगे, वमन हो जाएगा।

गैर-भूखे को भोजन करवाओगे? बीमारी होगी, कब्जियत होगी; स्वास्थ्य न होगा। भोजन भी जहर हो सकता है—अ-समय में। और जहर भी औषधि हो सकती है—समय पर। इसलिए ठीक समय और ठीक पात्र का सवाल है।

'और जो मेरी निंदा करता हो, उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिए'; क्योंकि जहाँ मन निन्दा से भरा हो, विरोध से भरा हो, वहाँ तुम कुछ भी कहो—अनर्थ होगा। तुम जो भी कहोगे, उससे उलटा अर्थ निकाला जाएगा। जब निंदा भीतर हो, तो तुम अपनी निंदा को हर चीज पर टाँग दोगे। तुम्हारी निंदा तुम्हारी आँखों पर छाई होगी। तुम उसी के माध्यम से देखोगे। हर चीज निंदा के ही रंग में रंग जाएगी। कोई जरूरत नहीं है; कोई प्रयोजन नहीं है कहने का।

'क्योंकि जो पुरुष मेरे में परम प्रेम कर के इस परम गुह्य रहस्य को, गीता को मेरे भक्तों में कहेगा, वह निस्सन्देह मेरे को ही प्राप्त होगा। और न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यंत प्यारा पृथ्वी पर दूसरा कोई होवेगा।'

भगवद्गीता भगवान् का गीत है। अर्जुन के बहाने स्वर्ग की गंगा को पृथ्वी पर उतारा है। उस गंगा को उन्हीं के पास ले जाना, जिनके हृदय में स्वर्ग की गंगा की प्यास उठ गई है।

जो अभी इसी पृथ्वी के जल से तृप्त हैं, उन्हें व्यर्थ परेशान मत करना। अभी यही जल उनके लिए काफी है। एक दिन आयेगा कि वे पायेंगे कि इस जल से किसी की प्यास

बुझती नहीं, तभी वे तलाश करेंगे—उस जल की—जो भगवान् का है।

भगवद्गीता एक दिव्य गीत है। सभी न सुन पायेंगे। संगीत को—उस संगीत को सुनने के लिए बड़ी अहर्निश तैयारी चाहिए; बड़ा श्रद्धा-भाव से भरा मन चाहिए। नाचता, उत्सव करता हुआ, एक अहोभाव चाहिए, तभी उस गीत की कड़ियाँ सुनाई पड़ेंगी। और तब वे गीत की कड़ियाँ साधारण न होंगी। वे गीत की कड़ियाँ भगवत्ता से भरी होंगी। उनका स्वाद इस पृथ्वी का नहीं है, उनका स्वाद परलोक का है।

उस स्वाद के लिए तैयार हो जाय कोई, तो कृष्ण कहते हैं: उससे जरूर कहना। 'और जो ऐसे प्यासे व्यक्ति को मेरा गीत पिला देता है, उससे ज्यादा प्यारा मेरा कोई भी नहीं है, क्योंकि इसका अर्थ हुआ, कि वह एक व्यक्ति को और भगवान् में वापस बुला लेता है।

इसका अर्थ हुआ कि एक हृदय को और उसने भगवत्ता में डुबा दिया। इसका अर्थ हुआ, एक बटोही भटका था, वह वापस लौट आया; उसे अपना घर मिल गया।

इसका अर्थ हुआ, अस्तित्व का एक खण्ड शांत हुआ, आनंदित हुआ, निर्वाण को उपलब्ध हुआ, निस्संशय हुआ। यात्रा एक खण्ड की पूरी हुई। अस्तित्व का एक टुकड़ा स्वर्ग को, शांति को, महासुख को, सच्चिदानंद को उपलब्ध हुआ।

स्वभावत: जो भगवान् के गीत में लोगों को डुबा देता है, उससे ज्यादा प्यारा भगवान् का और कौन होगा!

कृष्ण कहते हैं, 'वह मेरे भक्तों में मुझे परम प्रिय है। वह निस्संदेह मेरे को ही प्राप्त होगा।' वह मेरे साथ एकरूप हो जाता है।

कृष्ण के गीत को गाते-गाते व्यक्ति कृष्ण हो जाता है। भगवद्गीता को सुनते-सुनते, कहते-कहते अगर ताल-मेल बैठ जाय, अगर सुर बैठ जाय, साज बैठ जाय, तो व्यक्ति कृष्णमय हो जाता है। लेकिन घृणा से भरा हो, निन्दा से भरा हो, विरोध से भरा हो, तो यह नहीं हो पायेगा। उत्सुक न हो, अनुत्सुक हो, जबरदस्ती कहा जा रहा हो उसे, तो यह न होगा। अभी उसकी मुमुक्षा ही न हो, अभी वह धन चाहता हो, तुम धर्म की बात करते हो। तो तीर स्थान पर न लगेंगे। अभी वह पद चाहता हो, तुम परमात्मा की पुकार उठाते हो, उसे सिर्फ व्याघात मालूम होगा—कि तुम व्यर्थ का उपद्रव कर रहे हो।

व्यक्ति की आकांक्षा के विपरीत उसे परमात्मा में भी वापस नहीं पहुँचाया जा सकता है। स्वतंत्रता परम है, आखिरी है। और प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही स्वतंत्रता से जीता है। हम सहारा दे सकते हैं। बुद्ध पुरुष इशारा करते हैं, चलना तो प्रत्येक को स्वयं ही पड़ता है।



गीता कौन सुनाये • पुण्य का अहंकार • शास्त्र और गोपनीयता
मरण-काल में गीता-पाठ • गीता-ज्ञान-यज्ञ

उन्नीसवाँ प्रवचन

प्रात:काल, दिनांक ८ अगस्त, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञान यज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१ ॥



तथा हे अर्जुन, जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनों के संवादरूप गीता को पढ़ेगा अर्थात् नित्य पाठ करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञान-यज्ञ से पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है।

तथा जो पुरुष श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टि से रहित हुआ इस गीता का श्रवण-मात्र भी करेगा, वह भी पापों से मुक्त हुआ पुण्य करनेवालों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होवेगा।

**पहले कुछ प्रश्न।**

●पहला प्रश्न : यदि कोई तपरहित और भक्तिरहित व्यक्ति भी गीता सुनना चाहे, तो उसे सुनाना चाहिए अथवा नहीं ?

पहली बात—बजाय यह सोचने के कि 'किसको सुनाना चाहिए', पहले यह सोच लेना चाहिए कि 'मैं सुनाने योग्य हूँ या नहीं।' और यदि तुम सुनाने-योग्य हो, तो तुम्हें दर्पण की भाँति स्पष्ट हो जाएगा : किसको सुनाना चाहिए, किसको नहीं सुनाना चाहिए। तब निर्भर करेगा—जो व्यक्ति तप और भक्ति से रहित है, वह भी तप और भक्ति के लिए लालायित हो सकता है। जो आज दूर है, कल पास हो जाएगा। जो आज गिरा है, कल उठेगा।

तप और भक्ति से रहित व्यक्ति यदि सुनना चाहे, तो सुनना चाहने के दो कारण हो सकते हैं। एक : मात्र कुतूहल। तब तो नहीं सुनाना चाहिए। क्योंकि कुतूहल तो खुजली जैसा है; वह कहीं ले जानेवाला नहीं है। खुजाओ, थोड़ा रस मालूम होता है। लेकिन खुजली से घाव बनते हैं।

अगर कुतूहलमात्र हो, तो गीता के शब्द ही पहुँच पाएँगे उसके पास, अर्थ न पहुँच पाएगा। अर्थ की उसे आकांक्षा भी नहीं है। और उसके जीवन में गीता के शब्दों के घाव बन जाएँगे। गीता के अर्थों के फूल तो न लगेंगे; शब्दों के घाव बन जाएँगे। तुम्हारे सुनाने से अहित होगा उसका, हित न होगा। वह पंडित हो जाएगा।

कुतूहल ज्यादा से ज्यादा पांडित्य तक ले जा सकता है, क्योंकि कुतूहल बौद्धिक खुजलाहट है। लेकिन यह भी हो सकता है कि तप और भक्ति से रहित व्यक्ति जिज्ञासु हो; कुतूहल न हो, वस्तुतः जिज्ञासा जगी हो। अभी तप और भक्ति का उदय तो नहीं हुआ, लेकिन प्राणों में एक प्यास की पहली आवाज सुनाई पड़ी है, पहली पुकार उठी है। स्वभावतः पहली पुकार जिज्ञासा की ही तरह उठेगी।

गीता सुनाने से जिज्ञासु का खोज का द्वार खुलता है। उसके भीतर धीरे-धीरे मुमुक्षा

का जन्म होने लगेगा।

लेकिन यह सारी बात तुम्हें दिखाई पड़ जाएगी, अगर तुम सुनाने के योग्य हो।

कृष्ण ने कुछ भी नहीं कहा इस सम्बंध में—कि कौन सुनाये। किसको सुनाये, यह तो कहा; कौन सुनाये, यह नहीं कहा। उसका कारण है। क्योंकि कृष्ण को यह खयाल भी नहीं आया कि 'कृष्ण' हुए बिना कोई सुनाने की कोशिश करेगा; लेकिन लोगों ने की है। तो गीता के आसपास पंडितों की टीकाओं-टिप्पणियों का बड़ा जाल खड़ा हो गया है।

सुननेवाला हो सकता है, गलत ढंग से सुने और भटक जाए। लेकिन एक ही सुनने-वाला गलत ढंग से सुनता है; भटकता है; सुनानेवाला तो हजारों लोगों को सुनाता है, लाखों को सुनाता है। अगर सुनानेवाला ही गलत है, तो वह लाखों-करोड़ों को भटका देता है। और ध्यान रखना, गलत सुनानेवाला अनिवार्य रूप से गलत सुननेवाले को आकर्षित कर लेगा।

जीवन में आकर्षण के बड़े सूक्ष्म जाल हैं। जैसे स्त्री पुरुष को आकर्षित कर लेती है, या पुरुष स्त्री को आकर्षित कर लेता है; जैसे चुंबक के पास लोह-कण खिंचे चले आते हैं—ऐसे जीवन में बड़े सूक्ष्म जाल हैं आकर्षण के।

अगर गलत सुनानेवाला व्यक्ति है, तो गलत सुनानेवालों की भीड़ अपने-आप इकट्ठी हो जाएगी। ठीक सुननेवाला तो वहाँ टिक ही न सकेगा। क्योंकि ठीक सुननेवाले को तो वहाँ कुछ दिखाई ही न पड़ेगा—सिवाय अंधकार के। ठीक सुननेवाले की कसौटी पर तो ठीक सुनानेवाला ही उतरेगा। लेकिन गलत सुननेवालों की भीड़ इकट्ठी हो जाएगी।

कृष्ण ने कुछ कहा नहीं उस सम्बंध में, क्योंकि कहना भी मुश्किल है। और कृष्ण को खयाल भी न आया होगा कि लोग ऐसी अहम्मन्यता भी करेंगे। उन दिनों ऐसी अहम्मन्यता होती भी नहीं थी।

कृष्ण, महावीर और बुद्ध के समय में वही व्यक्ति बोलने जाता था, जिसने जाना हो; जिसने जाना न हो, वह बोलने की चेष्टा भी नहीं करता था। क्योंकि, बिना जाने बोलना महा अपराध है। उससे तुम न मालूम कितने लोगों के जीवन में काँटे बो दोगे। शायद तुम्हें बोलने में थोड़ा मजा आ जाय; रस आ जाय; शायद बोलते-बोलते तुम्हें लगे कि तुम बड़े महत्वपूर्ण हो गये हो, क्योंकि कई लोग तुम्हें सुन रहे हैं; शायद पांडित्य की अकड़ और अहंकार में थोड़ी तुम्हें तृप्ति मिले—लेकिन तुम्हारी व्यर्थ की तृप्ति के लिए न मालूम कितने लोग मार्ग से च्युत हो जाएँगे। तुम उन्हें भटका दोगे।

और इस संसार में बड़ा से बड़ा पाप हत्या नहीं है; इस संसार में बड़ा से बड़ा पाप किसी को उसके मार्ग से भटका देना है।





तो, जितने बड़े पाप 'अपात्र बोलनेवालों' ने किये हैं, उतने बड़े पाप किसी ने भी नहीं किये हैं। क्योंकि कोई तुम्हारी गरदन पर तलवार मार दे तो शरीर ही कटता है, फिर शरीर मिल जाएगा; लेकिन कोई तुम्हारी आत्मा को रास्ते से भटका दे, तो कुछ ऐसी चीज भटक जाती है कि जन्मों-जन्मों खोजकर शायद तुम मुश्किल से वापस अपनी जगह पर आ पाओगे। क्योंकि एक भटकाव दूसरे भटकाव में ले जाता है—कड़ियाँ जुड़ी हैं; दूसरा भटकाव तीसरे भटकाव में ले जाता है और पीछे लौटना मुश्किल होता चला जाता है।

तो, पहली तो बात ध्यान रखना : इसकी फिक्र मत करना कि कौन पात्र है सुनने में, कौन नहीं; पहले तो इसकी फिक्र करना कि 'मैं बोलने में पात्र हूँ? मैं कृष्ण पर कुछ कहूँ?' जब तक कृष्णचेतना का आविर्भाव न हुआ हो, तब तक मत कहना।

और इसके लिए किसी से पूछने जाना है? यह तो तुम भीतर ही जान सकोगे कि कृष्णचेतना का आविर्भाव हुआ या नहीं हुआ। इसकी और किसी से कसौटी लेने की जरूरत भी नहीं है; किसी से पूछने का कोई कारण भी नहीं है। पूछने तो वही जाएगा—जो संदिग्ध है। और कृष्णचेतना में संदेह नहीं है; वह असंदिग्ध, स्वतःप्रमाण अवस्था है; जब भीतर उदित होती है, तो तुम जानते हो—जैसे सूरज उग गया। अब तुम किसी से पूछते थोड़े ही हो कि रात है या दिन! और पूछोगे तो बताओगे कि तुम अंधे हो।

कृष्ण ने नहीं लगाई कोई शर्त बोलनेवाले पर, क्योंकि उन दिनों यह होता ही न था कि जो न जानता हो, वह बोले। जानकर ही कोई बोलता था; और जब तक न जान लेता था, तब तक कितना ही शास्त्रों से इकट्ठा कर ले, इस भ्रान्ति में नहीं पड़ता था कि मुझे अनुभव हो गया है।

श्वेतकेतु घर लौटा—अपने पिता के पास। बड़ा अकड़कर आ रहा था, जैसा कि पंडित सदा ही अकड़ जाता है। सब परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर लीं; सभी शास्त्र जानकर आ रहा था; वेदों का पारंगत ज्ञाता हो गया था। जो कुछ भी विश्वविद्यालय में सिखाया जा सकता था, सब सीख लिया था। गुरु के आश्रम में अब कुछ और बचा ही न था सीखने को। स्वभावतः, युवा था; अभी अहंकार ताजा था; अभी अकड़ नयी थी; अभी बाढ़ में था जीवन—अकड़कर आ रहा था।

पिता ने देखा उसे आते, उसको अकड़—लगी कि गलत है, क्योंकि जाननेवाला ऐसे अकड़कर कहीं आता है? यह तो अज्ञानी का लक्षण है।

पहली ही बात . . . ; बेटा आकर, चरणों में झुका; पिता ने पूछा कि 'मालूम होता है, तू सब जानकर आ गया!' श्वेतकेतु ने कहा, 'आप ठीक पहचाने। कुछ मैंने छोड़ा नहीं; जो भी जानने-योग्य था, सब जान लिया। सब चुकता करके आया हूँ, कुछ बचा नहीं है।'

तो पिता ने कहा, 'एक बात का उत्तर दे। तूने उस एक को जाना, जिसे जानने से

सब जान लिया जाता है; और जिसे न जानने से, कुछ भी जाना हो, तो उस जानने का कोई मूल्य नहीं ?'

श्वेतकेतु ने कहा, 'कैसा एक ? कौन-सा एक ? गुरु ने उसकी तो कोई बात ही नहीं की !'

तो, पिता ने कहा, 'फिर वापस जा। यह भी कोई जानना है ? हमारे कुल में नाममात्र के ब्राह्मण नहीं हुए हैं। हम ब्रह्म को जानकर ही अपने को ब्राह्मण कहते रहे हैं। ऐसा पैदाइश से किसी ने हमारे कुल में ब्राह्मण अपने को नहीं कहा है। तू जानकर लौट—ब्रह्म को जानकर लौट; अन्यथा ब्राह्मण न कहला सकेगा।'

उन दिनों कोई जरूरत न थी यह बात कहने की, क्योंकि ऐसा महापातक कोई करता ही न था। इसलिए कृष्ण ने कहनेवाले के लिए कुछ भी नहीं कहा है, सुननेवाले के लिए कहा है।

और अगर तुम्हारे भीतर जागरण हो गया है चैतन्य का, तो उस जागरण में तुम प्रत्यक्ष देख लोगे कि किससे कहना, किससे नहीं कहना।

कुतूहलवाले व्यक्ति को मत कहना; जिज्ञासु को कहना।

जिज्ञासा और कुतूहल में बड़ा बारीक फासला है। वे एक जैसे दिखाई पड़ते हैं। कुतूहल जिज्ञासा का झूठा सिक्का है। एक जैसे दिखाई पड़ते हैं !

जैसे एक छोटा बच्चा पूछता है—चले जा रहे हो रास्ते पर, तुम्हारा बच्चा साथ है—वह पूछता है : 'पक्षियों को दो पंख क्यों हैं ? वृक्ष में लाल फूल क्यों लगे हैं ? सूरज सुबह ही क्यों उगता है ? उगना तो रात में चाहिए—जब अँधेरा रहता है ! परमात्मा नासमझ है; सुबह उगाता है, जबकि प्रकाश है और रात में डुबा देता है—जबकि अँधेरा है।' वह पूछता जाता है।

तुम उसकी बात पर बहुत ज्यादा ध्यान नहीं देते। तुम कुछ-कुछ कहकर उसे टालते रहते हो। और तुम न भी टालो, तो वह खुद ही एक क्षण बाद भूल जाता है कि उसने क्या पूछा था, क्योंकि दूसरे प्रश्न खड़े हो जाते हैं।

वह कुछ पूछने के लिए नहीं पूछ रहा है। उसकी कोई जिज्ञासा नहीं है; कुतूहल है। उसके मन में तरंगें उठ रही हैं। हर चीज प्रश्नवाची है। लेकिन तुम यह मत सोचना कि वह कोई—किसी प्रश्न से अटका है कि इस प्रश्न का हल न हुआ, तो उसका जीवन दाँव पर लग जाएगा। उसे कुछ मतलब ही नहीं है। तुम इतना ही कह दो : 'बड़े होकर जान लोगे'—बात खत्म हो गई। वह यह भी नहीं पूछता कि 'तुम बड़े हो गये हो, तुमने जाना ?' वह कहता है, 'ठीक; होगा।' तुम कुछ भी उत्तर दे दो, उत्तर में उसे बहुत रस भी नहीं है; उसे पूछने का मजा है।

जैसे पंडित को बोलने का मजा है, वैसे कुतूहली को पूछने का मजा है। इसलिए





पंडित और कुतूहली का मेल बैठ जाता है। पंडितों के पास कुतूहली लोग इकट्ठे हो जाते हैं।

जिज्ञासु को पूछने के लिए नहीं पूछना है; पूछने पर प्राण अटके हैं; पूछने पर निर्भर है सब कुछ; पूछने पर दाँव लगा है—या इस पार, या उस पार; यह जीवन-मरण का सवाल है; वह हर कुछ नहीं पूछ रहा है। इसलिए जिज्ञासु कभी-कभी पूछेगा; लेकिन वह अपने प्राण उस एक प्रश्न में डुबा देगा। कुतूहली रोज पूछेगा, दिन में हजार बातें पूछेगा, और भूल जाएगा पूछकर, फिर दुबारा याद भी नहीं करेगा।

परमात्मा कुतूहल से नहीं जाना जाता। कुतूहल बहुत सस्ता है—जिसमें तुम दाँव ही नहीं लगाते; बस, पूछ लिया; राह चलते पूछ लिया !

मेरे पास ऐसे लोग आ जाते थे। मैं यात्राओं में था। मैं ट्रेन पकड़ने के लिए प्लेटफार्म पर चला जा रहा हूँ; कोई आदमी देख लेगा, पहचान लेगा, पास आ जाएगा; कहेगा, 'आपसे जरा एक बात पूछनी है : मन शांत कैसे हो ?'

मैं ट्रेन पकड़ रहा हूँ, ट्रेन छूटने को है, उसको खुद भी ट्रेन पकड़नी है ! स्टेशन पर पूछ रहा है : 'मन शांत कैसे हो ?' जैसे कोई बच्चों का खेल है ! कोई पूछता है कि 'ईश्वर है या नहीं। आप संक्षिप्त में उत्तर दें—हाँ या ना ?' मेरे हाँ और ना से क्या हल होगा ? अगर मेरे हाँ और ना से तुम्हारी ईश्वर की खोज पूरी हो जाती, तो वह कोई खोज थी ? वह दो कौड़ी की थी। खोज ही न थी।

जिज्ञासा—बात और है। तुम जिज्ञासा को हल करने के लिए चुकाने को तैयार होते हो, चाहे पूरा जीवन भी चुकाना पड़े। प्रश्न केवल प्रश्न नहीं हैं; प्रश्न तुम्हारे भीतर की अन्तर्व्यथा हैं। जीवन में उलझाव है—तुम समाधान चाहते हो, उत्तर नहीं।

कुतूहली उत्तर चाहता है; जिज्ञासु समाधान चाहता है। इसलिए कुतूहली पांडित्य तक पहुँच जाएगा कभी; जिज्ञासु समाधि तक जाएगा।

लेकिन जिसके भीतर कृष्णचैतन्य का आविर्भाव हुआ है, वह देख लेगा—कहाँ कुतूहल है, कहाँ जिज्ञासा है। उसे पहचानने में जरा भी भूल नहीं होती—ऐसे ही जैसे तुम मुर्दे को पहचान लेते हो और जिंदा आदमी को पहचान लेते हो। भला तुम बहुत बड़े चिकित्साशास्त्र के ज्ञाता न होओ—क्या तुम्हें अड़चन लगती है जानने में कि यह आदमी मुर्दा है और यह आदमी ज़िंदा है ? लाश को पहचानने में किसे देर लगती है !

जिज्ञासा तो जीवंत है। कुतूहल मुर्दा है, लाश है। और लाश के साथ सिर मत फोड़ना।

● दूसरा प्रश्न : भगवद्गीता पर आपके अमृत वचनों को सुनने के लिए क्या हमने पिछले जन्मों में पुण्य अर्जित किया था ?

उत्तर तो बाद में, पहले प्रश्न को समझने की कोशिश करनी चाहिए।

अहंकार बड़े सूक्ष्म रूप लेता है ! मुझे सुन भी रहे हो, तो वह भी तुमने पिछले जन्म में अर्जित किया होगा—पुण्य ! तुम्हारे भाव में प्रसाद-रूप से कभी कुछ घटित ही नहीं

होता ! तुम्हारे कर्त्तापन की अकड़ बड़ी गहरी है।

इस जन्म में तो दिखाई नहीं पड़ता कि तुमने कुछ अर्जित किया हो, तो निश्चित—तुमने पिछले जन्म में पुण्य किये होंगे, तभी तुम सुन रहे हो ! तुम मुझे धन्यवाद भी तो नहीं दे सकते।

तुम्हारा ही अर्जन है ! तुमने कमाया है ! अगर मैं तुमसे बोल रहा हूँ, तो तुम्हारी ही कमाई की वजह से बोल रहा हूँ ! तुम्हें प्रसाद कहीं भी नहीं दिखाई पड़ता !

तुम अगर परमात्मा के पास भी पहुँच जाओगे, तो तुम यही कहोगे कि जन्मों-जन्मों के पुण्य कर्मों से तुझे कमाया है ! वहीं तुम चूक जाओगे। यह अकड़ तुम्हें कहीं न रखेगी। तुम पहुँच ही न पाओगे, क्योंकि यह अकड़ ही तो रोक लेती है।

जिसने पुण्य किया है, वह तो विनम्र होता है। वह तो यह कहता है कि 'मेरा क्या पुण्य है ? मैंने कुछ भी तो किया नहीं; और इतना पा लिया है। निश्चित ही परमात्मा की अनुकंपा होगी, अनुग्रह होगा। मुझ अपात्र पर इतनी वर्षा हुई है ! मैं धन्यभागी हूँ !' लेकिन. . .। जिसने पुण्य किया है, उसकी तो यह भावदशा होगी कि 'मैं धन्यभागी हूँ, क्योंकि मुझ अपात्र पर वर्षा हो गई है। मैंने कुछ भी तो नहीं किया।'

और जिसने पुण्य नहीं किया है, उसका यह अहंकार होगा कि 'जो कुछ हुआ है, मेरे ही पुण्यों का अर्जन है। मैंने कमाया था, मैंने पाया है।'

शायद दूसरे तरह के आदमी को यह भी लगे कि 'जितना मिलना था, उतना भी नहीं मिला। कमाया तो बहुत था, उसके योग्य पाया भी नहीं है अभी।' क्योंकि अहंकार को सदा ऐसा लगता है कि मेरा श्रम ज्यादा है, पुरस्कार कम है। निरहंकारिता को सदा ऐसा लगता है कि मेरा श्रम तो कुछ भी नहीं है, पुरस्कार बहुत है। ना-कुछ किये मिल रहा है, अनायास मिल रहा है !

तो, पहले तो अपने प्रश्नों को बहुत गौर से सोचा करें। तुम्हारे प्रश्न ऐसे ही आकाश से नहीं आते—तुमसे आते हैं। तुम्हारे प्रश्न ऐसे ही शून्य से अवतरित नहीं हो जाते—तुम्हारे चित्त की गंध को साथ लाते हैं। सुगंध हो, तो सुगंध को लाते हैं; दुर्गंध हो, तो दुर्गंध को लाते हैं। तुम्हारे प्रश्नों में तुम्हारी पूरी आत्मा धड़कती है, तुम्हारी पूरी भावदशा धड़कती है।

क्या तुम कभी भी प्रसाद को न समझ पाओगे ? यह पूरी गीता प्रसाद की चर्चा है ! और गीता पूरी होने आ गई है—और तुम पूछ रहे हो, 'क्या मेरे पुण्य कर्मों के कारण ही आपके अमृत वचन सुनने का अवसर मिला ?'

तुम कर्ता को क्यों नहीं छोड़ सकते ? तुम यह कर्तापन को क्यों पकड़े हुए हो ? इसी कर्तापन के पीछे तुम्हारा अहंकार छिपा है।

समझो ! जानो ! —तुम्हारे किये से क्या मिलेगा ? तुम्हारे हाथ कितने छोटे हैं।





तुम इन छोटे-छोटे हाथों में परमात्मा को बाँधने चले हो, आलिंगन करने चले हो ! कर पाओगे ?

तुम्हारी बुद्धि कितनी छोटी है ! उस बुद्धि के छोटे-से छिद्र में तुम परमात्मा के विराट् आकाश को भरने चले हो ! भर पाओगे ?

तुम्हारे कृत्य का मूल्य क्या है ? तुमने पुण्य भी किये होंगे, तो क्या किये होंगे ? किसी भिखारी को कुछ पैसे दे दिए होंगे ? और पहले उसे भिखारी बनाया होगा—शोषण करके, तब पैसे दिये होंगे। पैसे कहाँ से आए थे तुम्हारे पास—देने को ? पहले शोषण, फिर दान ! पहले पाप, फिर पुण्य ! पहले हाथ रंग लो—खून से, फिर धो लेना !

तुम्हारे सभी पुण्य तुम्हारे पाप का प्रायश्चित हो सकते हैं, इससे ज्यादा उनका कोई मूल्य नहीं है। उनसे तुम कुछ पाते नहीं हो। उनसे तुम कुछ बहुत अहोभाव से मत भर जाना कि तुमने एक अस्पताल खोल दिया, कि एक धर्मशाला बना दी। तुम्हारे कारण कितने लोग बीमार हुए हैं—इसका तुमने हिसाब रखा है ? और तुम्हारे कारण कितने लोग बेघरबार हुए हैं—इसका तुमने हिसाब रखा है ? एक धर्मशाला बना दी, उसका तुमने हिसाब रखा है !

तुमने कितने प्राणों को चोट पहुँचाई है, रुग्ण किया है, कितने प्राणों में घाव बनाये हैं—उसका तुमने हिसाब रखा है ? नहीं, तुमने एक छोटा-सा दवाखाना खोल दिया, जहाँ होमियोपैथी की दो पैसे की दवाएँ तुम बाँटते रहते हो। वह तुमने पुण्य किया है !

तुम्हारे पुण्य क्या हैं ?

पुण्यवान व्यक्ति को ऐसा लगता है कि 'पुण्य कर ही कैसे सकता हूँ ? मेरा करना ही क्या है ?' यह पापी की दृष्टि है कि वह कहता है, मैंने पुण्य किये हैं। यह पाप का ही भाव है कि 'मैंने किया' है।

अहंकार पाप है। और पुण्य का अहंकार तो बहुत गहन पाप है। पुण्यात्मा को तो पता ही इतना चलता है कि 'मैंने भूलें ही भूलें की हैं। थोड़ा-बहुत सुधारने की कोशिश की; लेकिन क्या हल होता है ? भूलें अनंत हैं। सुधार न के बराबर है। इसलिए पुण्यवान तो कहेगा कि 'परमात्मा जब मिलेगा, वह उसके प्रसाद-रूप मिलता है—मेरे प्रयास-रूप नहीं। वह उसकी कृपा से मिलेगा—मेरे कर्मों से नहीं। मैं कर भी क्या सकूँगा ?'

और जिस दिन तुम्हें यह प्रसाद की भावना का उदय होगा, उस दिन तुम पाओगे, तुम्हारे जीवन में क्रान्ति होने लगी। नहीं तो तुम अपने अहंकार को बचाये ही चले जाओगे—नये-नये रूपों में।

अब यह तुमने खूब नयी तरकीब खोजी ! मुझे सुन रहे हो, उसमें भी तुम अपने कर्ता को ले आये ! सुनने जैसी सरल क्रिया में भी तुम्हारा तिरछा कर्ता आ गया।

तुम्हें कुछ भी नहीं करना पड़ रहा है; तुम सिर्फ सुन रहे हो। वह भी पूरी तरह सुन रहे हो—यह संदिग्ध है। सुनने में भी तुम अपना प्राण लगाये हो—यह भी निश्चित नहीं है। इधर सुने, उधर भूल जाते हो। मगर निश्चित—तुम्हारा अहंकार कहता है कि अगर यह सुनने का अवसर मिला है, तो जरूर पिछले जन्म में कोई पुण्य कर्म किये होंगे, अन्यथा यह मिलता ही कैसे?

प्रसाद-रूप कुछ मिलता ही नहीं? तो फिर तुम गीता को कभी भी न समझ पाओगे। फिर गीता से तुम्हारा कोई ताल ही न बैठेगा। तुम्हारे सुर अलग ही बज रहे हैं।

गीता की पूरी भूमिका इतनी है कि आदमी के किये कुछ होता है? सब उसके किये होता है। और जिस दिन तुम यह पहचान लेते हो, उसी दिन पुण्य का आविर्भाव होता है; उसके पहले पाप ही पाप है।

अगर सार में समझो तो अहंकार पाप है; निरहंकारिता पुण्य है। इसलिए पुण्य को यह तो भाव हो ही नहीं सकता कि मैंने किया है; यह भाव पाप को ही हो सकता है। करने की बात ही जरा दुर्गंधयुक्त है।

एक माँ है। उससे पूछो कि 'तूने अपने बेटे के लिए कितना किया है?' वह कहेगी, 'कुछ भी नहीं किया! जो-जो करना था, कुछ भी नहीं कर पायी।' वह रोने लगेगी कि 'जो कपड़े देने थे बेटे को, नहीं दे पायी। गरीबी है। जो दवा देनी थी, वह नहीं दे पायी। पैसे नहीं हैं। जो शिक्षा देनी थी, वह नहीं दे पायी।'

एक माँ से पूछो कि तूने क्या-क्या किया है, तो वह गिना ही न सकेगी कि उसने क्या किया है। और उसने बहुत किया है! एक माँ के करने का कोई अंत नहीं है। लेकिन वह गिना न सकेगी। अगर तुम उससे फेहरिश्त बनाने को कहो, तो कागज खाली रहेगा; सिर्फ उसके आँसुओं की बूँदें उस पर टपक जाएँगी। वह कहेगी, 'और कुछ भी नहीं किया, बस! जो होना था, वह तो हो ही नहीं पाया।'

लेकिन किसी संस्था के सेक्रेटरी को पूछो, या किसी देश के प्रधानमंत्री को पूछो! फेहरिश्त लम्बी होती जाएगी कि क्या-क्या किया है। जो नहीं किया है, वह भी उसमें जुड़ा है। जो कभी सोचा भी नहीं करने का, वह भी लिस्ट में है। लिस्ट बड़ी होती चली जाती है। संस्था का सेक्रेटरी—यह कोई प्रेम का सम्बंध नहीं है।

जहाँ प्रेम है, वहाँ लगता है, कुछ भी तो नहीं कर पाये। जो-जो करना था, सब अधूरा रह गया। जहाँ प्रेम का संबंध नहीं है, लाभ-लोभ का सम्बंध है, वहाँ जो नहीं किया है, उसका भी दावा है कि किया है। जो नहीं हुआ है, उसकी भी घोषणा है कि हो गया है।

पुण्य की भाव-दशा तो माँ के हृदय जैसी होगी। तुम बता ही न पाओगे : क्या-क्या तुमने किया है। तुम जब भी परमात्मा के सामने मौजूद होओगे, तुम गिर पड़ोगे, तुम रोओगे; तुम कहोगे कि 'मेरी कोई पात्रता न थी! यह तेरी अनुकंपा है! अगर तू मुझे





नरक भी भेज देता तो भी बुरा न था। उससे गणित सीधा बैठ जाता। उसके मैं योग्य था। वह मेरे सारे कर्तव्य की सार-सम्पदा थी—नरक ले आया। लेकिन तूने मुझे अपने पास बुला लिया है। यह तो मेरे कृत्य से इसका कोई सम्बंध नहीं जुड़ता। हाँ, इससे तेरी करुणा का सम्बंध होगा; मेरे कृत्य का कोई सम्बंध नहीं है।

अपने प्रश्नों को थोड़े गौर से देखा करें। वे तुम्हारे भीतर की अचेतन खबरें लाते हैं।

● तीसरा प्रश्न : भगवान् कृष्ण ने सब समय के लिए गीता सुनने-सुनाने के लिए कुछ नियम बनाये। लेकिन छापे के आविष्कार के बाद उसकी लाखों प्रतियाँ बिक रही हैं। फिर उसकी गोपनीयता कहाँ बची?

गोपनीयता कुछ ऐसी है कि नष्ट की ही नहीं जा सकती। गोपनीयता न तो बोलने से नष्ट हो सकती है, न लिखने से नष्ट हो सकती है। गोपनीयता—जो कहा है, उसके स्वभाव में है।

गीता बिक रही है, इससे गीता और भी गोपनीय हो गयी है। यह सुनकर तुम थोड़े हैरान होओगे।

इजिप्त में एक पुरानी कहावत है कि जिस चीज को आदमी से छिपाना हो, वह उसकी आँख के सामने रख दो, फिर वह उसे न देख पायेगा।

तुम्हें याद है, तुमने कितने दिनों से अपनी पत्नी का चेहरा नहीं देखा? खयाल है तुम्हें कि कब से तुमने अपनी माँ की आँख में आँख डालकर नहीं देखा? पत्नी इतनी मौजूद है, माँ इतनी पास है—देखना क्या? तुम भूल ही गये हो कि उसका होना भी होता है।

पत्नी मर जाती है, तब पता चलता है कि थी। पति जा चुका होता है, तब याद आती है कि अरे, यह आदमी इतने दिन साथ रहा, परिचय भी न हो पाया! इसलिए तो लोग किसी के मर जाने पर इतना रोते हैं। वे रोते उसके मर जाने के कारण नहीं हैं; वे रोते इसलिए हैं कि जिसके साथ इतने दिन थे, उसे देख भी न पाये भर-आँख; जिसके पास इतने दिन थे, इसके हृदय की धड़कन भी न सुन पाये; उससे कोई पहचान ही न हो पायी; वह अजनबी रहा, अजनबी ही विदा हो गया! और अब कोई उपाय नहीं है। इस विराट् संसार में कहीं मिलना होगा दुबारा उससे?—अब कोई उपाय नहीं है। यह अब घटना कभी घटेगी?—कहा नहीं जा सकता। घटी थी और चूक गये। इसलिए लोग रोते हैं।

जब तुम्हारा प्रियजन चल बसता है, तो तुम रोते इसलिए हो कि अवसर मिला था और चूक गया; हम उसे प्रेम भी न कर पाये।

वे इजिप्शियन फकीर ठीक कहते हैं कि किसी चीज को छिपाना हो, उसे लोगों की आँख के सामने रख दो। जो चीज जितनी निकट होगी, उतनी ही ज्यादा भूल जाती है।

और जो चीज जितनी ज्यादा साफ होगी, उतनी ही उलझ जाती है।

गीता इतनी गूढ़ कभी भी न थी, जब छपी न थी; जबसे छप गयी, बहुत गूढ़ हो गयी। घर के सामने रखी है; किताब खुली है; बैठे हो, पढ़ रहे हो; हजार दफे पढ़ लिये—और तुम्हें यह भ्रम पैदा हो गया है—हजार दफे पढ़ लेने से कि जान लिया, अब जानने को बचा क्या ? यही उसकी गोपनीयता है : बिना जाने तुम सोच रहे हो कि तुमने जान लिया।

शब्द के परिचय को तुम अर्थ का परिचय समझ रहे हो ! शरीर की पहचान को तुम आत्मा की पहचान समझ रहे हो। शब्द अर्थ नहीं है। शब्द तो केवल अर्थ को खोलने की कुंजी है।

गीता, बाइबिल या कुरान जिस दिन से छप गई हैं, उस दिन से बहुत गोपनीय हो गई हैं सब चीजें। जब ये छपी हुई न थीं, जब ऐसी सरलता से उपलब्ध न थीं—तो लोग हजारों मील की यात्रा करते थे। अब कहीं जाने की जरूरत नहीं है। गीता प्रेस गोरखपुर की गीता चार पैसे में बाजार-बाजार में उपलब्ध है।

ज्ञान बाजार में बिक रहा है—खरीद लाओ ! जितनी गठरी भरनी हो, भर लाओ।

जब शास्त्र छपे न थे, तब तुम्हें गुरु खोजना पड़ता था, क्योंकि शास्त्र को तुम सीधा समझ ही न सकोगे। तुम्हें कोई व्यक्ति खोजना पड़ता था—जो शास्त्र का धनी हो; जो शास्त्र को तुम्हारे लिए गम्य बनाये; जो शास्त्र की गोपनीयता को उघाड़े; जो परदे उठाये; जो घूँघट हटाये।

तुम्हें कोई व्यक्ति खोजना पड़ता था। तुम बुद्ध को, महावीर को, कृष्ण को खोजते फिरते थे।

हजारों मील की यात्रा लोग करते थे, ताकि कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाय, जो उस गुप्त को प्रकट कर दे। उस यात्रा में ही तुम्हारे जीवन में क्रांति घटती थी, क्योंकि वह यात्रा ही तपश्चर्या थी। उस यात्रा में टिके रहना ही तुम्हारी भक्ति थी, तुम्हारी श्रद्धा थी।

वह यात्रा कठिन थी। जीवन लग जाता था। मुश्किल से कुंजियाँ हाथ आती थीं। जितनी मुश्किल थी, उतनी ही तुम खोज में जाते थे।

अब खोज की जरूरत क्या है ? अब गीता समझने तुम हिमालय जाओगे ? अब गीता समझने के लिए तुम किसको खोजोगे ?—किसी व्यास को खोजोगे ? किसी कणाद को, किसी कपिल को, किसी बुद्ध को ? किसी पतंजलि के चरणों में बैठोगे ? क्या जरूरत ?

चार पैसे में मिलती है गीता, इसके लिए इतने परेशान होने की जरूरत क्या ! खरीद लाओ ! लेकिन जो किताब तुम घर ले आओगे, उस किताब का कृष्ण से कोई भी संबंध नहीं है। क्योंकि उस किताब में से तुम जो अर्थ निकालोगे, वे तुम्हारे होंगे।

तुम अपने से ज्यादा अर्थ थोड़े ही निकाल पाओगे। तुम अपने को ही पढ़ लोगे किताब





में; तुम कृष्ण को थोड़े ही पढ़ सकोगे। तुम्हारी जहाँ तक पहुँच है, वहीं तक तो तुम उन शब्दों में भी पहुँच पाओगे; तुमने अब तक जो सोचा-समझा है, वहीं तक तुम सोच-समझ पाओगे। तुमसे पार—किताब तुम्हें कैसे ले जाएगी ?

नहीं, किताब जिस दिन से छप गयी है, उस दिन से गोपनीयता गहन हो गयी है, बहुत गहरी हो गयी है। अब तो मुश्किल से कभी कोई उसका घूँघट उठाने की यात्रा पर जाता है। और मुश्किल से कभी तुम्हें वह आदमी मिल सकेगा—जो घूँघट उठाने में समर्थ है। हाँ, तुम्हें गीता के पंडित अब बहुत मिल जाएँगे; कृष्ण न मिल सकेंगे।

गीता की किताबों ने गीता के पंडित खड़े कर दिये हैं। उनसे जाकर तुम वह सब समझ लोगे—जो ऊपर-ऊपर का है। वे शब्द की खाल निचोड़कर रख देंगे, बाल की खाल निकाल देंगे। लेकिन जब तुम आओगे, तो जैसे खाली हाथ गये थे, वैसे ही खाली हाथ वापस लौट आओगे। तुम्हारे प्राण भरे हुए न होंगे। तुम्हारे भीतर का दीया वैसा ही बुझा होगा। और खतरा यह है कि हो सकता है, तुम यह सोचकर लौट आओ कि समझकर आ गये—गोपनीयता और महा गोपनीयता हो गयी !

नहीं; छापेखाने से गोपनीयता मिटी नहीं, बढ़ गयी है। और अब तो बहुत गहरी खोज हो, तो ही तुम खोज पाओगे।

यात्रा करते थे लोग हजारों मील की।

बौद्धों का बड़ा विश्वविद्यालय था—नालंदा। दस हजार विद्यार्थी थे। चीन—और लंका—और कम्बोदिया—और जापान—और दूर-दूर से लोग—मध्य एशिया और इजिप्त—सब तरफ से विद्यार्थी आते थे।

पैदल यात्रा थी। जो चल पड़ा, वह लौटकर भी आयेगा घर वापस, इसका पक्का न था। लोग रो लेते थे; मान लेते थे कि यह आदमी मरा।

जो भी तीर्थयात्रा को जाता, लोग रो लेते और गाँव के बाहर जाकर विदा कर आते कि गया यह आदमी, अब क्या लौटेगा ! घने जंगल थे, पहाड़-पर्वत थे, भयंकर खाइयाँ थीं, डाकू थे, जंगली जानवर थे ! और फिर जो गया है ऐसी खोज में, वह कहीं लौटता है ! यह खोज ऐसी है।

नालंदा जैसी जगह में, जहाँ ज्ञानियों का वास था, वहाँ वर्षों लग जाते। जवान आते लोग और बूढ़े हो जाते। और जब तक गुरु कह न दे कि हाँ, पूरी हो गयी बात . . .।

कथा है कि नालंदा विश्वविद्यालय के तीन विद्यार्थियों ने आखिरी परीक्षा पार कर ली थी, लेकिन गुरु जाने के लिए नहीं कह रहा था। आखिर एक दिन एक ने पूछा कि 'हम सुनते हैं कि आखिरी परीक्षा भी हमारी हो गयी, लेकिन लगता है हुई नहीं, क्योंकि हमसे जाने के लिए नहीं कहा जा रहा है ! बीस वर्ष हो गये हमें आये हुए। घर के लोग जीवित हैं या नहीं; जिनको पीछे हम छोड़ आये हैं, वे बचे भी या नहीं; माँ-बाप बूढ़े हैं—अब

हम जाएँ—अगर हमारी परीक्षा पूरी हो गयी हो ?'

तो गुरु ने कहा, 'आज साँझ तुम जा सकते हो।'

लेकिन आखिरी परीक्षा शेष रह गयी थी। पर आखिरी परीक्षा ऐसी थी कि वह ली नहीं जा सकती थी; वह तो एक तरह की कसौटी थी—जिसमें से गुज़रना पड़ता।

साँझ को तीनों विद्यार्थी विदा हुए। दूर नगर है, जहाँ रात जाकर टिकेंगे। साँझ होने लगी, सूरज ढल गया। एक झाड़ी के पास आये। गुरु झाड़ी में छिपा बैठा है। उसने झाड़ी के बाहर काँटे बिछा दिये हैं; छोटी-सी पगडंडी है, काँटे बिछा दिये हैं। एक विद्यार्थी पगडंडी से नीचे उतरकर, काँटों को पार करके आगे बढ़ गया। दूसरे विद्यार्थी ने छलाँग लगा ली। तीसरा रुक गया और काँटों को बीनकर झाड़ी में डालने लगा।

उन दो ने कहा, 'यह क्या कर रहे हो ? जल्दी ही रात हो जाएगी। दूर हमें जाना है; जंगल है, बीहड़ है, खतरा है। ये काँटे-वाँटे बीनने में मत लगो।' पर उस तीसरे विद्यार्थी ने कहा, 'सूरज डूब गया है, रात होने के करीब है। हमारे बाद जो भी आयेगा, उसे दिखायी नहीं पड़ेगा। हम आखिरी हैं इस पगडंडी पर आज की रात, जिनको कि दिखायी पड़ रहा है। बस, अब ढला सूरज, ढला। रात उतर रही है। इन्हें बीनना ही पड़ेगा। तुम चलो, मैं थोड़े पीछे हो लूँगा।'

और तभी वे चौंके कि झाड़ी से गुरु बाहर आ गया और उसने कहा, 'दो जो चले गये हैं, वापस लौट आएँ—वे परीक्षा में असफल हो गये। अभी उन्हें कुछ वर्ष और रुकना पड़ेगा। और तीसरा जो रुक गया है काँटे बीनने, वह उत्तीर्ण हो गया है; वह जा सकता है।'

क्योंकि, अंतिम परीक्षा शब्द की नहीं है; अंतिम परीक्षा तो प्रेम की है। अंतिम परीक्षा पांडित्य की नहीं है; अंतिम परीक्षा तो करुणा की है।

गुरु के चरणों में बैठकर लोग सीखते थे, वर्षों लग जाते थे। अजीब-अजीब परीक्षाएँ थीं। लेकिन खोजी खोज ही लेते थे—उन चरणों को, जहाँ घूँघट उठ जाते हैं।

देर लगती थी, कठिनाई होती थी। लेकिन कठिनाई की भी अपनी खूबी है। कठिनाई भी निखारती है; भीतर की राख को अलग करके झाड़ देती है, कूड़ा-करकट को जला देती है।

अब कुछ कठिन नहीं है। गीता चार पैसे में खरीद लो, खुद पढ़ लो। सब सरल अर्थ लिख दिये गये हैं। तुम यह मत सोचना कि गीता को गोपनीयता नष्ट हो गयी; गोपनीयता बहुत बढ़ गयी है।

गीता आँख के सामने रख दी गयी है—अब तुम्हें गीता दिखायी ही नहीं पड़ रही है। अब तो बहुत थोड़े से लोग—जिनको समझ है इस बात की कि तुम पढ़ोगे तो तुम अपने को ही पढ़ोगे शास्त्र में, शास्त्र को कैसे पढ़ोगे ? तुम्हें जो पता ही नहीं है, वह तुम शास्त्र से कैसे निकाल लोगे ? जो तुम्हें ज्ञात है, उसी की प्रतिध्वनि तुम्हें शब्द में भी सुनाई पड़ेगी।





—जिन्हें यह बोध है, वे केवल, गुरु की तलाश में जाएँगे।

शास्त्र की कुंजियां भी शास्ताओं के हाथ में हैं। शास्त्र अपने-आप में समर्थ नहीं हैं। वह भी किसी शास्ता के हाथ में पड़कर जीवंत होता है।

तुम शास्त्र को लिये घूमते रहो—इससे कुछ भी न होगा—जब तक कि किसी शास्ता को न खोज लो, जो तुम्हारे शास्त्र को पुनरुज्जीवित कर दे, जो अपने प्राण डाल दे उसमें, जो अपना अर्थ उसमें डाल दे और तुम्हारे सामने आविर्भूत हो जाए—वह चैतन्य, जिससे पहली दफा शास्त्र उतरा होगा। अन्यथा गोपनीय गोपनीय रहेगा। गोपनीय इतनी आसानी से खुलता नहीं।

सत्य का स्वभाव उसकी गोपनीयता है। तुम उसे बाज़ार में बेच ही नहीं सकते।

मैंने सुना है कि एक रात ऐसा हुआ, एक पति घर वापस लौटा—थका-माँदा यात्रा से। प्यासा था, थका था। आकर बिस्तर पर बैठ गया। उसने अपनी पत्नी से कहा कि 'पानी ले आ, मुझे बड़ी प्यास लगी है।'

पत्नी पानी लेकर आयी, लेकिन वह इतना थका-माँदा था कि लेट गया, उसकी नींद लग गयी। तो पत्नी रातभर पानी का गिलास लिये खड़ी रही बिस्तर के पास। क्योंकि उठाये तो ठीक नहीं—नींद टूटेगी। खुद सो जाए, तो ठीक नहीं—पता नहीं, कब नींद टूटे और पानी की माँग उठे; क्योंकि पति प्यासा सो गया है; तो रातभर पत्नी गिलास लिये खड़ी रही।

सुबह पति की आँख खुली, तो उसने कहा, 'पागल, तू सो गयी होती!' उसने कहा, 'यह संभव न था। तुम्हें प्यास थी, तुम कभी भी उठ आते!' 'तो तू उठा लेती', पति ने कहा। उसने कहा, 'वह भी मुझसे न हो सका, क्योंकि तुम थके भी थे और तुम्हें नींद भी आ गयी थी। तो यही उचित था कि तुम सोये रहो, मैं गिलास लिये खड़ी रहूँ। जब नींद खुलेगी—पानी पी लोगे। नहीं नींद खुलेगी, तो कोई हरजा नहीं। एक रात जागने से कुछ बिगड़ा तो नहीं जाता है।'

यह बात पूरे गाँव में फैल गयी। सम्राट् ने गाँव की उस पत्नी को बुलाकर बहुत हीरे-जवाहरातों से स्वागत किया। उसने कहा कि 'ऐसी प्रेम की धारा मेरी इस राजधानी में थोड़ी भी बहती है, तो हम अभी मर नहीं गये हैं; अभी हमारी संस्कृति का प्राण जीवित है, स्पंदित है।'

पड़ोस की महिला इससे बड़ी ईर्ष्या से भर गयी कि यह भी कोई खास बात थी—एक रात गिलास हाथ में लिये खड़े रहे, इसके लिए लाखों रुपये के हीरे-जवाहरात दे दिये हैं!—यह भी कोई बात है ?

उसने अपने पति से कहा, 'देखो जी, आज तुम थके-माँदे होकर लौटना। आते से ही बिस्तर पर बैठ जाना। पानी माँगना। मैं पानी लेकर आ जाऊँगी। लेकिन तुम आँख

बंद करके सो जाना और मैं खड़ी रहूँगी रातभर। और सुबह जब तुम्हारी आँख खुले, तो तुम इस-इस तरह के वचन मुझसे बोलना कि---'तू क्यों रातभर खड़ी रही? तू उठा लेती।' मैं कहूँगी, 'कैसे उठा सकती थी? तुम थके-माँदे थे।' तुम कहना कि तू सो जाती, तो मैं कहूँगी, 'कैसे सो जाती? तुम्हें प्यास लगी थी।' और इतने जोर से यह बात होनी चाहिए कि पड़ोस में लोगों को पता चल जाए, सुनाई पड़ जाए। क्योंकि यह तो हद हो गयी! ज़रा रातभर . . . और किसको पक्का पता है कि खड़ी भी रही कि नहीं, क्योंकि रात सो ली हो, झपकी ले ली हो और फिर सुबह उठ आयी हो, और बात फैला दी हो! मगर हमें भी यह---सम्राट् से---पुरस्कार लेना है।'

पति साँझ थका-माँदा वापस लौटा। लौटना पड़ा---जब पत्नी कहे कि थके-माँदे लौटो; लौटना पड़ा। आते ही बिस्तर पर बैठा। कहा, 'प्यास लगी है।' पत्नी पानी लेकर आयी। पति आँख बंद करके लेट गया, कोई नींद तो आई नहीं; लेकिन मजबूरी है---जब पत्नी कहती है, तो मानना पड़ेगा। और फिर लाखों---करोड़ों के हीरे-जवाहरात! उसके मन को भी भा गये।

अब पत्नी ने सोचा कि बाकी दृश्य तो सुबह ही होनेवाला है, अब कोई रातभर बेकार खड़े रहने में भी क्या सार है? और किसको पता चलता है कि खड़े रहे कि नहीं खड़े रहे? वह भी सो गयी---गिलास-विलास रखकर।

सुबह उठकर उसने जोर से बातचीत शुरू की कि पड़ोस जान ले। सम्राट् के द्वार से उसके लिए भी बुलावा आया, तो बहुत प्रसन्न हुई। लेकिन जब दरबार में पहुँची तो बड़ी हैरान हुई; सम्राट् ने वहाँ कोड़े लिये हुए आदमी तैयार रखे थे, और उस पर कोड़ों की वर्षा करवा दी। वह चीखी-चिल्लाई कि 'यह क्या अन्याय है? एक को हीरे-जवाहरात; मुझे कोड़े? किया मैंने भी वही है!'

सम्राट् ने कहा, 'किया वही है---हुआ नहीं है। और होने का मूल्य है; करने का कोई मूल्य नहीं है।'

जीवन में यह रोज़ होता है! अगर हृदय में स्पंदन न हो रहा हो, तो तुम कर सकते हो; लेकिन उस करने से क्या अर्थ है?

सारे मंदिर, मसजिद, गिरजे, गुरुद्वारे 'कर' रहे हैं। धर्म क्रियाकांड है। हो नहीं रहा है।

गीता पढ़ी जा रही है, की जा रही है; हो नहीं रही है। तुमने सुन लिया है कि गीता को पढ़नेवाले पाप से मुक्त हो गये, मोक्ष को उपलब्ध हो गये---तुमने सोचा, हम भी हो जायँ! तुमने भी पढ़ ली; लेकिन तुम्हारा पढ़ना उस दूसरी पत्नी जैसा है।

तुम परमात्मा को धोखा न दे पाओगे। साधारण सम्राट् भी धोखा न खा सका; वह भी समझ गया कि ऐसी घटनाएँ रोज़ नहीं घटतीं। और पड़ोस में ही घट गई---और





वही की वही घटी---बिलकुल वैसी ही घटी! यह तो कोई नाटक हुआ!

जीवन पुनरुक्त नहीं होता। हर भक्त ने परमात्मा की प्रार्थना अपने ढंग से की है---किसी और के ढंग से नहीं। हर प्रेमी ने प्रेम अपने ढंग से किया है। कोई मजनू और लैला---शीरी और फरिहाद---उनकी किताब रखकर और पन्ने पढ़-पढ़कर और कण्ठस्थ कर-करके प्रेम नहीं किया है।

कोई जीवन नाटक नहीं है कि उसमें पीछे प्राम्पटर खड़ा है, और वह कहे चले जा रहा है, 'अब यह कहो, अब यह कहो।' जीवन जीवन है। तुम उसे पुनरुक्त करके खराब कर लोगे।

गीता तुम हज़ार दफे पढ़ लो; लेकिन जैसे अर्जुन ने पूछा था, वैसी जिज्ञासा न होगी, वैसी प्राणपण से उठी हुई मुमुक्षा न होगी। तो जो कृष्ण को सरल हुआ कहना, जो अर्जुन को सम्भव हुआ समझना---वह तुम्हें न घट सकेगा।

दोहराया जा ही नहीं सकता---जगत् में कुछ। प्रत्येक घटना अनूठी है। इसलिए सभी रिचुअल, सभी क्रियाकांड धोखाधड़ी है, पाखण्ड है। तुम भूलकर भी किसी की पुनरुक्ति मत करना, क्योंकि वहीं धोखा आ जाता है---और प्रामाणिकता खो जाती है।

प्रामाणिक के लिए मुक्ति है, पाखंडी के लिए मुक्ति नहीं है। और तुम कितना ही लाख सिर पटको और कहो कि 'मैंने भी तो वैसा ही किया था, मैंने तो ठीक अक्षरशः पालन किया था नियम का---फिर यह अन्याय क्यों हो रहा है?' अक्षरशः पालन का सवाल ही नहीं है। हृदय के साथ उठें स्वर---इसका सवाल है।

● **चौथा प्रश्न**: क्या यह सही है कि ज्ञानी और गुरु बोले या लिखे गये शास्त्रों में सब ज्ञान नहीं प्रकट करते? क्या कुछ कीमती कुंजियाँ छिपा ली जाती हैं, जो पात्र शिष्यों को गोपनीयता में बताई जाती हैं?

नहीं, ज्ञानी कुछ भी छिपाता नहीं; लेकिन सत्य का स्वभाव छिपा होना है। ज्ञानी तो सब बता देना चाहता है, लेकिन चाहकर भी बता नहीं सकता। सत्य का स्वभाव अभिव्यक्ति में आता नहीं, उसकी अभिव्यंजना होती नहीं। बाँधो, बाँधो---शब्द तो आ जाता है बाहर, अर्थ पीछे ही छूट जाता है। इसलिए लाओत्सु कहता है: जो कहा जा सके---वह धर्म नहीं, सत्य नहीं, ताओ नहीं। जो न कहा जा सके---वही सत्य है।

तो गुरु तो सब देना चाहता है। गुरु, और कृपण होगा देने में?---यह बात ही मानने की नहीं है। वह तो तुम पात्र न भी होओगे, तो भी उंडेल देना चाहता है। लेकिन कुछ ऐसा है, जो देकर दिया ही नहीं जा सकता। वह तो तुम जब पात्र हो जाओगे, तब घटता है। कोई देता नहीं, कोई लेता नहीं---घटता है।

फिर से तुमसे कहता हूँ कल की बात---कि बगुलों की कतार निकल जाती है झील

के ऊपर से ; न तो बगुलों की कोई आकांक्षा है कि झील में कोई प्रतिबिम्ब बने और न झील का कोई मनोभाव है कि प्रतिबिम्ब बनाये ; पर बगुलों की कतार गुज़रती है, प्रतिबिम्ब बनता है।

वह जो परम गोपनीय है, प्रकट होता है : जब गुरु और शिष्य का मिलन होता है—शब्द का संवाद नहीं, अन्तरतम का मिलन होता है ; एक गहन चैतन्य का आलिंगन होता है। वह ठीक वैसी ही अवस्था है, जैसे कभी प्रेमी और प्रेयसी के सम्भोग में घटती है : वह शरीर का सम्भोग है। गुरु और शिष्य के बीच आत्मा का सम्भोग घटित होता है। सम्भोग शब्द ही उसके लिए सही है ; उससे कम कोई शब्द काम नहीं देगा।

पुरुष और स्त्री के बीच, दो प्रेमियों के बीच तो शरीर मिलते हैं, शरीर की ऊर्जा का लेन-देन होता है। उसी लेन-देन से नये शरीर का जन्म होता है, बच्चे पैदा होते हैं, जीवन का आविर्भाव होता है। गुरु और शिष्य के बीच एक संभोग घटित होता है : वह चैतन्य का है। वहाँ दो आत्माएँ मिलती हैं और एक हो जाती हैं। और उन्हीं दो आत्माओं के मिलन में शिष्य का पुनर्जन्म होता है। एक नया व्यक्ति पैदा होता है। शिष्य जो था कल तक, एक क्षण पहले तक—वह गया ; अब जो आता है, वह बिलकुल और है।

इन दोनों के बीच कोई सातत्य भी नहीं। इन दोनों के बीच कोई सिलसिला भी नहीं, कोई श्रृंखला भी नहीं। पुराना गया, नये का आविर्भाव होता है। यह नया पुराने का ही सुधरा हुआ रूप नहीं है ; यह पुराने में ही की गयी टीम-टाम—ऊपर से की गई लीपा-पोती नहीं है ; यह बिलकुल नया है। पुराने को इसका पता ही न था।

एक बीच में खाई पड़ गयी। पुराना गया। बीच में खाई है और कोई सेतु नहीं है। इसको हमने द्विज होना कहा है।

जब गुरु की चेतना से शिष्य की चेतना का संभोग घटित होता है तो शिष्य द्विज हो जाता है—ट्वाइसबॉर्न—उसका दुबारा जन्म हुआ ! तभी हम उसको ब्राह्मण कहते हैं ; उसके पहले उसको ब्राह्मण मत कहना। क्योंकि द्विज जब तक कोई नहीं, वह क्या ब्राह्मण ? वह नाममात्र को ब्राह्मण है। ठीक ब्राह्मण तो तभी है, जब फिर से जन्म हो गया।

एक जन्म मिलता है माँ-बाप से ; वह जन्म दो शरीरों के मिलन से होता है। एक जन्म मिलता है गुरु से ; वह जन्म दो चेतनाओं के मिलन से होता है।

शरीर तो कितने ही पास आ जायँ, तो भी दूर बने रहते हैं। क्षणभर को शायद, बस, मिलन होता है। वह मिलन भी पूरा नहीं है। उस मिलन में भी फासला रहता है—कम रहता है, बहुत कम रहता है, दूरी न के बराबर रहती है ; लेकिन न के बराबर दूरी भी काफी दूरी है।

असली मिलन तो आत्माओं का है, जहाँ कोई दूरी नहीं रह जाती ; जहाँ कल तक





दो थे, अब एक ही धड़कता है।

तो, गुरु छिपाता कुछ भी नहीं ; लेकिन कुछ है—जिसे वह चाहे तो भी प्रकट नहीं कर सकता। उस 'कुछ' का स्वभाव गोपनीयता है। वह घटता है—किसी मिलन के क्षण में।

बुद्ध एक पहाड़ से गुजर रहे हैं। जंगल है और पतझड़ के दिन हैं, और पत्ते ही पत्ते रास्तों पर बिछे हैं। आनंद ने उनसे पूछा कि 'भंते, भगवान्' क्या आपने सभी कह दिया है—जो आप कहना चाहते थे, या कुछ छिपा लिया है ?' बुद्ध ने सूखे पत्ते अपने हाथ में उठा लिये मुट्ठियों में और कहा, 'आनंद, देखता है, मेरे हाथ में कितने पत्ते हैं ?' आनंद ने कहा, 'देखता हूँ।' तो बुद्ध ने कहा, 'इतना मैंने कहा है। और देखता है, इस वनप्रांत में कितने पत्ते पड़े हैं—इतना अनकहा रह गया है। लेकिन तू यह मत सोचना कि मैंने उसे बचाया है ; वह कहा ही नहीं जा सकता है। मेरी सब चेष्टा के बावजूद भी इतना कह पाया हूँ—जितने मेरे हाथ में पत्ते हैं। शेष इतना अनकहा रह गया है। लेकिन जिसने मेरे हाथ के पत्तों की कुंजियाँ समझ लीं, वह इस अनकहे को भी खोल लेगा। जो मैंने कहा है, वह कुंजी जैसा छोटा है, लेकिन महल खुल जाएँगे। जो उसे समझ गया, उसे यह सब अनकहा भी एक दिन सुना हुआ हो जाएगा। जो मैंने कभी कहा नहीं, वह भी सुन लिया जाएगा।'

नहीं, गुरु तो कुछ छिपाता नहीं। छिपाना उसका स्वभाव नहीं है। लेकिन सत्य का स्वभाव छिपा होता है।

सत्य ऐसा ऊपर सतह पर आता नहीं ; वह गहराई में होता है। इसलिए कहते हैं ; कहने की भरसक चेष्टा होती है, थोड़ी-बहुत भनक आती भी है—बस, भनक ही आती है ; असली पीछे छूट जाता है। उस असली को जानने के लिए तो गुरु के साथ परम मिलन की अवस्था चाहिए ; उसके पूर्व वह घटित नहीं होता है।

● पाँचवाँ प्रश्न : गीता तो शाश्वत है, सर्वजनहिताय है—फिर भी कृष्ण ने व्यक्ति-विशेष और समय-विशेष की सीमा दे दी, और आप भी इससे सहमत होते लगते हैं ! क्या सीमा देने से असंख्यों के लिए द्वार बंद नहीं हो गये ?

कोई किसी के लिए द्वार बंद नहीं करता है। द्वार तो खुला ही हुआ है, लेकिन तुम अगर प्रवेश ही न करना चाहो, तो जबरदस्ती धक्के देकर प्रविष्ट भी नहीं किये जा सकते। तुम अगर द्वार को देखना ही न चाहो, तो तुम्हें कोई भी नहीं दिखा सकता। हजार कृष्ण तुम्हारे आसपास खड़े हो जायँ, तो भी तुम्हें नहीं दिखा सकते। तुमने अगर न देखने का तय ही कर रखा हो, तो दिखाने का कोई उपाय नहीं है।

नहीं, कृष्ण किसी के लिए द्वार बंद नहीं कर रहे हैं ; वे तो इतना ही कह रहे हैं, 'जो न देखना चाहें, उनको व्यर्थ कष्ट मत देना ; उनको स्वतंत्रता देना।'

कृष्ण कह रहे हैं, 'जो सुनना न चाहे, उसे सुनाना मत।'

क्या तुम चाहते हो, उसको सुनाया जाय, जो सुनना नहीं चाहता ? यह तो पाप होगा। यह तो हिंसा होगी। यह द्वार खोलना न होगा; यह तो द्वार और भी बंद कर देना होगा, क्योंकि जो सुनना नहीं चाहता था, सुनने से और भी नाराज हो जाएगा।

जो सुनना न चाहता था, उसके भीतर प्रतिरोध होगा। उसके भीतर तुम ऐसी दशा पैदा कर दोगे कि वह कभी अगर सुनना भी चाहता भविष्य में, तो अब वह भी न हो सकेगा। बहुत बार जबरदस्ती लोगों को अच्छा बनाने की चेष्टा ही उन्हें बुरा बनाने का कारण होती है।

जबरदस्ती किसी को साधु नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि साधुता स्वतंत्रता से फलित होती है। 'जबरदस्ती' से साधुता का कोई सम्बंध ही नहीं है।

तुम थोड़ा सोचो, क्या तुम्हें जबरदस्ती मोक्ष में ले जाया जा सकता है ? यह तो बात उलटी हो जाएगी। क्योंकि मोक्ष का अर्थ ही मुक्ति है। वहाँ भी अगर जबरदस्ती से ले जाए गये—हाथ में हाथकड़ियाँ डालकर, पीछे बंदूक लगाकर—तो वह नरक होगा; मोक्ष कैसे होगा ? वह तो तुम्हारी स्वतंत्रता से ही फलित होगा। तुम ही जाओगे—नाचते हुए, अहोभाव से भरे हुए—तो ही जा सकते हो। कोई तुम्हें धक्के नहीं दे सकता।

कृष्ण इतना ही कह रहे हैं कि जो न सुनना चाहे, उसे मत सुनाना; यह भी करुणावश। तुम्हें बड़ा कठिन होगा—यह समझना कि इसमें कैसी करुणा हो सकती है ! करुणा तो यह है कि कोई सुने या न सुने तुम लाउडस्पीकर लगाकर उसकी छाती पर घूंघर मूतना। ऐसा लोग करते हैं। और उनसे अगर तुम कहोगे कि भई, तुम यह लाउडस्पीकर लगाकर क्यों गीता का पाठ कर रहे हो, तो वे कहते हैं कि यह धार्मिक काम है; इसमें सबको सुनना ही चाहिए। विद्यार्थियों को परीक्षा देनी है और वे धार्मिक काम कर रहे हैं ! वे रातभर अखण्ड गीता का पाठ कर देते हैं। वे पाप कर रहे हैं।

असल में गीता तो गुफ्तगू है। वह तो, जो सुनना चाहता है—उसके बीच, और जो सुनाने की योग्यता रखता है—उसके बीच, एक निजी सम्बंध है। उसके लिए बाज़ार में लाउडस्पीकर लगाकर और जो नहीं सुनना चाहते, उनको सुनवाना। . . . धर्म की जो तुम वर्षा मुफ्त करवाते हो, वह अधर्म की हो जाती है।

तुम्हारी करुणा है, अगर तुम उसको जबरदस्ती न सुनाओ—जो सुनना नहीं चाहता। क्यों ? क्योंकि शायद तब किसी दिन वह सुनने को अपने-आप राज़ी हो जाए। उसे जीवन से ही सीखने दो।

इसलिए अकसर ऐसा होता है, अच्छे माँ-बाप के घर अच्छे बेटे पैदा नहीं होते। क्योंकि अच्छे माँ-बाप अच्छा बनाने की इतनी चेष्टा करते हैं कि उसी में बिगाड़ देते हैं।

गांधी जैसे अच्छे बाप को खोजना मुश्किल है। लेकिन गांधी के लड़के सब तीन-तेरह





हो गये। बड़ा लड़का मुसलमान हो गया। मुसलमान होने में कुछ हरजा नहीं है।

लेकिन गांधी का लड़का मुसलमान हो क्यों गया ? शराब पीने लगा, जुँआरी हो गया। हरिदास उसका नाम था, उसने अपना नाम अब्दुल्ला गांधी रख लिया।

गांधी का ही हाथ था इसमें। गांधी समझ नहीं पाये। वे जबरदस्ती सुधारने की कोशिश में लगे थे। जबरदस्ती सुधारने की कोशिश का यह फल हुआ . . .। उठो तीन बजे ब्रह्ममुहूर्त में, पूजा, स्नान-ध्यान ! बच्चे बच्चे हैं। उन्हें क्रोध आता है। नींद के दिन हैं अभी। अभी सुबह बड़ी मधुर लगती है, मधुर नींद आती है। उस वक्त वेद-वचन, उपनिषद् और गीता बड़े कर्कश मालूम होते हैं। उस समय मधुरतम वाणी भी बड़ी बेसुरी लगती है।

जबरदस्ती उठाये जाओ; जबरदस्ती श्रम में लगाये जाओ; जबरदस्ती पूजा-पाठ-प्रार्थना; न 'यह' खा सकते हो, न 'वह' पी सकते हो; बच्चे के साथ ऐसा व्यवहार किया जाय जो कि बूढ़ा भी जरा बेचैनी अनुभव करता है करने में—न सिनेमा देख सकते, न नाटक जा सकते हो; न होटल में जा सकते हो, न मिठाई खा सकते हो; न ज्यादा नमक, न ज्यादा मिर्च, न ज्यादा मसाला—सब तरह से बच्चों को ऐसा सताया—न स्कूल-कॉलेज में पढ़ने जा सकते हो, क्योंकि यह शिक्षा अधार्मिक है ! तो गांधी ही बाप, वही शिक्षक, वही गुरु ! उन्होंने चौबीस घंटे सता दिया—इन बच्चों को। यह लड़का भाग खड़ा हुआ।

यह मुसलमान क्यों हो गया ? और जब मुसलमान हुआ, और गांधी को खबर मिली और गांधी दुखी हुए—तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। तो उसने कहा, 'फिर क्या हुआ गांधी का वह—अल्लाह ईश्वर तेरे नाम ! सब को सन्मति दे भगवान् ! जब वे सदा यह ही कहते हैं कि अल्लाह और ईश्वर एक के ही नाम हैं, तो मेरे मुसलमान होने से तकलीफ क्यों हो रही है ?' वह जानना चाहता था कि तकलीफ होती है या नहीं। 'होती है, तो तुम नाहक झूठी बातें कर रहे थे।'

जुआ खेलने लगा, शराब पीने लगा, मांसाहारी हो गया। गांधी ने शाकाहारी बनाने की ऐसी अथक् चेष्टा की कि मांसाहारी बना डाला। इसमें गांधी जिम्मेदार हैं।

अतिशय नियम बगावत पर ले जाता है, विद्रोह पर ले जाता है, प्रतिक्रिया पैदा करता है।

कृष्ण की समझ बहुत गहरी है। कृष्ण कहते हैं, 'जो न सुनना चाहे उसे मत सुनाना।' नाराज भी होने की कोई जरूरत नहीं। यह स्वतंत्रता है उसकी। और जो भक्तिपूर्वक न सुनना चाहे, उसे भी मत सुनाना। कोई सुनना भी चाहे और भक्तिपूर्वक न सुनना चाहे, उसे भी मत सुनाना। क्योंकि यह बात ही ऐसी है कि बहुत प्रेम में ही समझ में आती है। उसका समय क्यों खराब करना ? अपना समय क्यों खराब करना ?

और अगर कोई तपपूर्वक न सुनना चाहे, तो मत सुनाना। क्योंकि यह बात ऐसी है—यह जीवन को निखारने की है। अग्नि से गुज़रना होगा। तपश्चर्या मार्ग है। जो इसके लिए राज़ी न हो, उसके लिए ऐसी बातें सुनाकर उसके संसार को खराब मत करना। उसको संसार में चलने दो, भोगने दो। वह अपने ही भोगने से किसी दिन त्याग के तत्त्व को समझेगा; तभी उसे समझाना।

कृष्ण किसी के लिए द्वार बंद नहीं कर रहे हैं; जो द्वार से नहीं जाना चाहते, उन्हें जबरदस्ती धक्के मत देना, इतना ही कह रहे हैं।

और यह शुद्धतम करुणा है।

● आखिरी सवाल : अकसर हिन्दुओं में वृद्धजनों को उनके मरणकाल में गीता सुनाई जाती है। क्या यह महज क्रियाकाण्ड है अथवा इसमें कुछ तत्त्व है?

तत्त्व तो था, है नहीं अब। अब तो महज क्रियाकाण्ड है।

तत्त्व था, और तत्त्व फिर भी हो सकता है। तत्त्व तब हो सकता है, जब किसी ने जीवनभर गीता के साथ अपनी सुर-धुन बजाई हो; गीता के साथ कोई रमा हो; गीता के साथ नाचा हो; गीत गीता का—गूँजा हो प्राणों में; जीवनभर कोई गीता की छाया में जीया हो; गीता में विश्रांति पायी हो; गीता में शरण खोजी हो; गीता में ज्योतिर्मय का दर्शन हुआ हो; गीता के शब्द शब्द ही न रहे हों, गीता के शब्दों में छिपे हुए अर्थ की थोड़ी-थोड़ी प्रतीति, थोड़ा-थोड़ा स्वाद आना शुरू हुआ हो—ऐसा जीवनभर किसी ने साधा हो, तो फिर मृत्यु के क्षण में गीता से ही विदा देना सार्थक है। क्योंकि मृत्यु के क्षण में जीवनभर का सार-निचोड़ सगृहीत होता है। मृत्यु के क्षण में प्राण जीवनभर के अनुभव को इकट्ठा करते हैं, फिर पंख फैलाते हैं और नयी यात्रा पर जाते हैं।

तो जीवनभर जो स्वर बजा हो, उसी स्वर के साथ समाप्ति हो, समारोप हो, ताकि अगले जीवन का आधार बन जाये गीता। क्योंकि इस जीवन में जो आखिरी भाव-दशा होगी, वही अगले जीवन में पहली भाव-दशा होगी। इस जीवन में जो अंत है, शिखर है, वही अगले जीवन की बुनियाद है।

लेकिन किसी आदमी का जीवनभर गीता से कोई सम्बंध ही न रहा हो; कृष्ण से कुछ लेना-देना न रहा हो; कोई आत्मीयता ही न हो; जीवन बाज़ार में बीता हो; धन-पद की चौकड़ी में ही जीवन गया हो; राजनीति की शतरंज में ही सब गँवा दिया हो; व्यर्थ की दौड़धूप में, आपाधापी में सब गँवा दिया हो—ऐसे हारे-थके आदमी को अब और गीता का कष्ट मत देना। अब इसे कम से कम शांति से मर जाने दो।

इसका गीता से कुछ लेना-देना नहीं है; इसे गीता बड़ी बेसुरी मालूम पड़ेगी, अनजाना स्वर मालूम पड़ेगा। इसके कान में गीता से रस पैदा नहीं होगा, विरसता आयेगी। इस मरते आदमी को कम से कम शांति से मर जाने दो।





अच्छा तो यही होगा कि जब यह मर रहा हो, तो इसके पास रुपये खनकाना—इसके जीवनभर का सार वही है। जब यह मर रहा हो, तो कहना, 'घबड़ाओ मत, मरने के बाद तुम्हें नोबल प्राइज मिलनेवाली है; कि घबड़ाओ मत, राष्ट्रपति ने तय कर लिया है : पद्म-भूषण या भारतरत्न मरने के बाद, पोस्ट्यूमस तुम्हें उपाधि मिलनेवाली है; कि घबड़ाओ मत, इस जिंदगी में तो प्रधानमंत्री न हो सके, लेकिन अगली जिंदगी में बिलकुल निश्चित है।' कुछ ऐसी बातें कहना, जिससे इसके प्राण का तालमेल हो। जीवनभर तो अशांति रही, कम से कम इसको मरते वक्त झूठी सांत्वना दे देना—कम से कम विदा होते वक्त उधेड़बुन में न जाए; अब और गीता मत सुनाना। क्योंकि गीता से इसका क्या लेना-देना?

यह गीता उसे ऐसी लगेगी कि यह क्या हो रहा है? इससे उसका कोई सम्बंध ही नहीं है। लेकिन मरता बेचारा कुछ कर भी नहीं सकता; वह करीब-करीब बेहोश हालत में हुआ जा रहा है और तुम गीता रटे जा रहे हो—अब तुम जो भी दुष्टता करना चाहो, वह कर सकते हो।

कृष्ण ने कहा है, जो सुनना न चाहे, उसे सुनाना मत। कृष्ण ने कहा है, जो भक्ति से न सुनना चाहे, उसे सुनाना मत। कृष्ण ने कहा है, जो तपपूर्वक न सुनना चाहे, उसे सुनाना मत। इस मरते हुए आदमी में तुम क्या देख रहे हो? यह सुनना चाहता है, भक्तिपूर्वक सुनना चाहता है, तपपूर्वक सुनना चाहता है? जिसने जीवन में न सुना, वह मृत्यु में कैसे सुनना चाहेगा? मृत्यु तो सार-निचोड़ है जीवन का। तुम इसे दुःख मत दो। तुम इसे चुपचाप मर जाने दो।

लेकिन अकसर ऐसा होता है कि जिसने जिंदगीभर राम का नाम न लिया, उसके कान में हम राम दोहराते हैं; हम सोचते हैं कि चलो जिंदगीभर नहीं हुआ, मरते वक्त तो कम से कम हो जाए। लेकिन जो इसने नहीं किया है, वह किया नहीं जा सकता। कोई दूसरा थोड़े ही इसके लिए नाम ले सकता है। जो इसने अपनी स्वतंत्रता से नहीं किया है, वह इसकी सम्पदा नहीं बन सकता।

तुम नाम लोगे राम का—तुम भी कहाँ लोगे? घर के लोगों को भी कहाँ फुर्सत है! उनको दुकान, बाजार, पच्चीस चीजें हैं! वे एक पण्डित-पुरोहित को पकड़ लायेंगे—किराये का एक आदमी! वह इसके कान में राम-राम जपेगा। उसको भी कोई मतलब नहीं है; उसको भी अपने से मतलब है—काम पूरा हो, समय बीते, पैसा ले, अपने घर जाय। मरते वक्त उसको भी कोई किराये का आदमी ही सुनायेगा।

धर्म कहीं किराये के आदमियों से हो सकता है?

तुम किसी से प्रेम करते हो; क्या तुम प्रेम करने के लिए किसी किराये के आदमी को भेज सकते हो?—कि 'मुझे ज़रा फुर्सत नहीं, काम-धाम में लगा हूँ, तू ज़रा चला जा

और मेरी प्रेयसी को प्रेम कर आ ! वह अकेली है और तड़फती होगी । उसे मेरी याद आती होगी, लेकिन अभी मैं उलझा हूँ ।'

अगर तुम प्रेम किराये के आदमी से नहीं करवा सकते, तो प्रार्थना तुम कैसे करवा सकते हो ? तुम परमात्मा के पास दलाल भेजते हो ? तुम कहते हो, हम तो न आ सकेंगे, ज़रा उलझे हैं; मगर आप नाराज़ मत होना, एक किराये का आदमी भेज देते हैं !

इससे तो बेहतर था, तुम किसी को भी न भेजते । कम से कम शोभन था । अब यह तो बहुत अशोभन है । किराये का आदमी और धर्म में बीच में लाना ? बिलकुल अशोभन है । यह तो अपमानजनक है । यह तो तुम परमात्मा का तिरस्कार कर रहे हो । इससे बड़ा और तिरस्कार क्या हो सकता है ?

नहीं, भूलकर भी नहीं । हां, जिस आदमी के जीवन में गीता गुंथी रही हो, उसे सुना देना चाहे । हालांकि उसे सुनाने की कोई ज़रूरत नहीं; उसके भीतर गूँज होती ही रहेगी । गीता उसके कण्ठ में ही होगी । कृष्ण उसके प्राण में हीं होंगे––जब वह विदा होगा । यही तो उसका निचोड़ है । जीवनभर फूलों से यही तो उसने इत्र छांटा है । वह इसी में डूबा हुआ जाएगा । तुम्हारे सुनाने की जरूरत नहीं । लेकिन सुना दो, तो कोई हर्जा नहीं ।

पर उसको तो सुनाना ही मत, जिसका गीता से कोई सम्बंध न रहा हो । वह तो बड़ी बेतुकी बात हो जाएगी । वह तो ऐसे हो जाएगा कि जिसने कभी शास्त्रीय संगीत में कोई रस न लिया हो, वह मर रहा है और तुम शास्त्रीय संगीतज्ञ उसके पास बिठा दो—वह कहेगा कि कम से कम मुझे शांति से मर जाने दो । यह दुःस्वप्न और क्यों पैदा कर रहे हो ? यह इनका आलाप मेरे प्राणों को कंपाता है ! ये मुझे यमदूत जैसे मालूम होते हैं ।

मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन सुनने गया था—एक शास्त्रीय संगीतज्ञ को । जब वह आलाप भरने लगा, तो उसकी (नसरुद्दीन की) आँख से आँसू गिरने लगे । वह एकदम बहुत विह्वल होकर रोने लगा । पड़ोसी ने कहा उसे, 'क्या हुआ नसरुद्दीन ? हमने कभी सोचा भी न था कि तुम शास्त्रीय संगीत के इतने बड़े प्रेमी हो । तुम्हारी आँख से आँसू बह रहे हैं !'

नसरुद्दीन ने कहा कि 'मैं तुम्हें बताता हूँ, माईजान, यही बीमारी मेरे बकरे को भी हो गयी थी । बस, ऐसे ही आ आ. . .ऽ. . .ऽ. . .करते-करते मेरा बकरा भी मरा था । यह आदमी मरेगा । शास्त्रीय संगीत से मुझे कुछ लेना-देना नहीं, मगर यह आदमी बीमार है ।'

तुम गीता सुना रहे हो उसको—जिसका शास्त्रीय संगीत से कोई सम्बंध नहीं ! वह समझेगा कि क्यों यह बकरे की तरह मर रहे हो ! क्यों आ. . .ऽ. . .ऽ. . .ऽ का आलाप कर रहे हो ?

जीवन में एक संगति है । जो कदम तुमने कभी नहीं उठाया, वह मरते वक्त न उठा





सकोगे । उसका कोई उपाय नहीं है !

अब सूत्र ।

'तथा हे अर्जुन, जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनों के संवाद-रूप गीता को पढ़ेगा, अर्थात् नित्य पाठ करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञान-यज्ञ से पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है ।'

'हे अर्जुन, जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनों के संवाद-रूप गीता को पढ़ेगा'—जिस सम्भोग की मैंने बात कही, वही कृष्ण कह रहे हैं : 'इस धर्ममय हम दोनों के संवाद-रूप. . .।'

एक तो विवाद है—जहाँ जो भी तुमसे कहा जाता है, तुम उसके विपरीत सोचते हो । एक संवाद है—जहाँ तुमसे जो भी कहा जाता है, तुम उसके अनुकूल सोचते हो, सामंजस्य का अनुभव करते हो । तुम्हारा हृदय उसके साथ-साथ धड़कता है—विपरीत नहीं । एक गहन सहयोग होता है ।

तो कृष्ण कहते हैं, 'इस धर्ममय हम दोनों के संवाद-रूप गीता को जो भी पढ़ेगा . . .।' एक संवाद घटित हुआ है, एक अनूठी घटना घटी है । दो व्यक्तियों ने अपने को एक-दूसरे में उंडेला है, एक-दूसरे में डूबे हैं ।

इस अनूठी घटना को कृष्ण 'धर्ममय' कहते हैं । यही धर्म की घटना है, जहाँ दो चेतनाएँ इतने अपूर्व रूप से एक-दूसरे में डूब जाती हैं कि कोई अस्मिता और अहंकार की घोषणा नहीं रह जाती कि हम अलग-अलग हैं; अपनी कोई सुरक्षा की आकांक्षा नहीं रह जाती; बूँद जैसे सागर में डूब जाय, सरिता जैसे सागर में कूद जाय !

'इस धर्ममय हम दोनों के संवाद-रूप गीता को जो पढ़ेगा, नित्य पाठ करेगा . . .।' नित्य-पाठ एक अनूठी बात है, जो पूरब में ही विकसित हुई । पश्चिम में नित्य-पाठ जैसी कोई चीज़ नहीं है । पश्चिम में लोग किताबें पढ़ते हैं, पाठ नहीं करते । किताब पढ़ने का अर्थ है: पढ़ ली एक बार, खत्म हो गई बात; अब उसे दुबारा क्या पढ़ना ? जो पढ़ ही ली, दुबारा क्या पढ़ना ? एक फिल्म एक बार देख ली, बात खत्म हो गई, दुबारा क्या देखने को बचता है ? एक उपन्यास एक बार पढ़ लिया, बात खत्म हो गई । फिर दुबारा उसे वही पढ़ेगा, जो मंदबुद्धि हो, जिसकी अकल में कुछ भी न आया हो । दुबारा कोई क्यों पढ़ेगा ?

लेकिन पाठ का अर्थ है : करोड़ों बार पढ़ना, जीवनभर पढ़ना ।

नित्य-पाठ का क्या अर्थ है फिर ? यह साधारण पढ़ना नहीं है । नित्य-पाठ का अर्थ है : धर्म वचन ऐसे वचन हैं कि तुम एक बार उन्हें पढ़ लो, तो यह मत समझना कि तुमने पढ़ लिया । उनमें पर्त दर पर्त अर्थ हैं । उनमें गहरे-गहरे अर्थ हैं । तुम जैसे-जैसे गहरे उतरोगे, वैसे-वैसे नये अर्थ प्रकट होंगे । जैसे-जैसे तुम उनमें प्रवेश करोगे, वैसे-वैसे पाओगे : और नये द्वार खुलते जाते हैं ।

गीता को तुम जितनी बार पढ़ोगे, उतने ही अर्थ हो जाएँगे । बहु-आयामी है प्रत्येक

शब्द—धर्म का। और तुम्हारी जितनी प्रज्ञा विकसित होगी, उतनी ही ज्यादा तुम्हें अर्थ की अभिव्यंजना होने लगेगी। कृष्ण का ठीक-ठीक अर्थ जानते-जानते तो तुम कृष्ण ही हो जाओगे—तभी जान पाओगे, उसके पहले न जान पाओगे।

ऐसा समझो कि जब तुम गीता शुरू करोगे, तो तुम ऐसे पढ़ोगे, जैसा अर्जुन है; और जब गीता पूरी होगी, तो तुम ऐसे पढ़ोगे, जैसे कृष्ण हैं। और बीच में हजारों सीढ़ियां होंगी।

बहुत बार—बहुत बार तुम्हें लगेगा, 'इतनी बार पढ़ने के बाद भी यह अर्थ इसके पहले क्यों नहीं दिखाई पड़ा? यह शब्द कितनी बार मैं पढ़ गया हूँ, लेकिन इस शब्द ने कभी ऐसी धुन नहीं बजाई मेरे भीतर! आज क्या हुआ?'

आज भावदशा और थी। आज तुम्हारा चित्त शांत था, तुम आनंदित थे, तुम प्रफुल्लित थे, तुम थोड़े ज्यादा मौन थे—नया अर्थ प्रकट हो गया। कल तुम परेशान थे, मन उपद्रव से भरा था, यही शब्द तुम्हारी आँख के सामने से गुज़रा था; लेकिन हृदय पर इसका कोई अंकुरण नहीं हुआ था, कोई छाप नहीं छोड़ सका था, कोई संस्कार नहीं बना सका था।

ऐसे बहुत-बहुत भाव-दशाओं में, बहुत-बहुत चेतना की स्थितियों में तुम गीता का पाठ करते रहना, बहुत-बहुत तरफ से गीता को देखते रहना—तुम्हें नये-नये अर्थ मिलते चले जाएँगे।

हम धर्मग्रंथ उसी को कहते हैं, जो पढ़ने से न पढ़ा जा सके, जो केवल पाठ से पढ़ा जा सके। इसलिए हर किताब का पाठ नहीं किया जाता, सिर्फ धर्मग्रंथ का पाठ किया जाता है।

असल में जिसका पाठ किया जा सकता है—वही धर्मग्रंथ है। जिसमें रोज़-रोज़ नये-नये अर्थ की कलमें लगती जायँ, नये फूल खिलते जायँ; तुम हैरान ही हो जाओ कि तुम जितने भीतर जाते हो, और नये रहस्य खुलते चले जाते हैं; इनका कोई अंत नहीं मालूम होता—तभी तुम धर्मग्रंथ पढ़ रहे हो। इसे तुम्हें रोज़ ही पढ़ना होगा। यह तुम्हें तब तक पढ़ना होगा, जब तक कि आखिरी अर्थ प्रकट न हो जाय, जब तक कि कृष्ण का अर्थ न प्रकट हो जाय।

जैसे हम प्याज़ को छीलते हैं, ऐसे गीता को रोज़ छीलते चले जाना। एक पर्त उघाड़ोगे, नयी ताज़ी पर्त प्रकट होगी। वह पहले से ज्यादा ताज़ी होगी, नयी होगी, गहरी होगी। उसे भी उघाड़ोगे, और भी नयी पर्त मिलेगी। ऐसे उघाड़ते जाओगे, उघाड़ते जाओगे—एक दिन सब पर्तें खो जाएँगी, भीतर का शून्य प्रकट होगा। वही शून्य कृष्ण का अर्थ है। उस शून्य में ही समर्पण हो जाता है, उस शून्य में ही कोई डूब जाता है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, 'जो हम दोनों के इस धर्ममय संवाद-रूप गीता को पढ़ेगा,





नित्य-पाठ करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञान-यज्ञ से पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है।' उसे कोई और यज्ञ करने की जरूरत नहीं; उसने रोज़ ज्ञान-यज्ञ कर लिया। जितनी बार उसने मेरे शब्दों को—तुझसे कहे शब्दों को, अर्जुन—बड़े प्रेम और श्रद्धा और आस्था से पढ़ा; और जितनी बार इस गीता का उसके भीतर भी थोड़ा-थोड़ा उदय हुआ; वह भी नाचा और डोला और मतवाला हुआ; उसने भी यह शराब पी, जो हम दोनों के बीच घटी है; वह भी इसी मस्ती में मस्त हुआ—जिसमें हम दोनों डोलते गये हैं और डूबते गये हैं—उतनी ही बार उसने ज्ञान-यज्ञ किया, ऐसा मेरा मत है। उसे किसी और यज्ञ की कोई जरूरत भी नहीं है।

'तथा जो पुरुष श्रद्धायुक्त और दोष-दृष्टि से रहित इस गीत का श्रवणमात्र भी करेगा, वह भी पापों से मुक्त हुआ पुण्य कर्म करनेवालों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होवेगा।'

'और जो पुरुष श्रद्धायुक्त' . . . , बड़े प्रीतिभाव से, अनन्य श्रद्धा से, संदेह की एक रेखा भी न उठती हो; 'दोष-दृष्टि से रहित', दोष न खोजने को तैयार हो, क्योंकि दोष जो खोजने को तैयार है, उसे मिल ही जाएँगे; लेकिन इन दोषों के मिल जाने से किसी और की कोई हानि नहीं है, उसकी ही हानि है। तुम अगर गुलाब के पौधे के पास जाओगे और काँटे ही खोजना चाहते हो, तो मिल ही जाएँगे—वे वहाँ हैं, काफी हैं; मगर इससे सिर्फ तुम्हारी हानि हुई। जो गुलाब के फूल का दर्शन हो सकता था, और जो दर्शन तुम्हारे जीवन को रूपान्तरित कर देता—उससे तुम वंचित हो गये।

जो दोष-दृष्टि से रहित, श्रद्धाभाव से, काँटों को नहीं गिनेगा जो, फूलों को छुएगा, जो फूलों की गंध को अपने भीतर ले जाएगा, अपने द्वार खोलेगा; भयभीत नहीं, संदिग्ध नहीं—असशंय, आस्था से भरा हुआ—'वह श्रवणमात्र से भी . . . !' क्योंकि ऐसी घड़ी में, ऐसी भाव-दशा में श्रवण भी काफी है। ऐसा सुन लिया, तो सुनने से भी पार हो जाता है। क्योंकि ऐसा सुना हुआ तीर की तरह प्राणों के प्राण तक उतर जाता है।

' . . . श्रवणमात्र भी करेगा, वह पापों से मुक्त हुआ पुण्य कर्म करनेवालों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त हो जाएगा।'

मात्र श्रवण से भी!

बुद्ध ने बड़ा ज़ोर दिया है—सम्यक् श्रवण पर। महावीर ने कहा है कि मेरा एक घाट श्रावक का है—जिसने ठीक से सुन लिया, वह भी नाव पर सवार हो गया, वह भी उस पार पहुँच जाएगा। कृष्णमूर्ति राइट लिसनिंग पर रोज़-रोज़ समझाते हैं—ठीक से सुन लो।

जानने का अर्थ सिर्फ ठीक से सुन लेना है। लेकिन ठीक से सुन लेना बड़ी मुश्किल से घटता है—क्योंकि हज़ार बाधाएँ हैं; आलोचक की दृष्टि है; दोष देखने का भाव है; निंदा का रस है। उसमें तुम काँटों में उलझ जाते हो। काँटे हैं।

मेरे पास तुम सुन रहे हो—अगर दोष देखने की दृष्टि हो, दोष मिल जाएँगे। इस पृथ्वी पर ऐसा कुछ भी नहीं है, जहाँ काँटे न हों। क्योंकि काँटे फूलों की रक्षा के लिए हैं। काँटे फूलों के दुश्मन नहीं है, विपरीत भी नहीं हैं—वे फूलों की रक्षा के लिए हैं; वे फूलों के पहरेदार हैं; उनके बिना फूल नहीं हो सकते। और जितना सुगंधयुक्त गुलाब होगा, उतने ही बड़े काँटे होंगे। जितना बड़ा गुलाब का फूल होगा, उतने ही बड़े काँटे होंगे। वे रक्षा कर रहे हैं।

तो तुम्हें काँटों से उलझने की कोई जरूरत नहीं है। काँटे हैं; तुम फूल को देखो।

और एक मजे की बात है। अगर तुमने फूल को ठीक से देखा, जीया, अपने भीतर जाने दिया, तो तुम एक दिन पाओगे कि सब काँटे फूल हो गये। तुम्हारी दृष्टि फूल की हो गयी, अब तुम्हें काँटे दिखायी ही नहीं पड़ते। और अगर तुमने काँटों को ही गिना और उनको ही चुभा-चुभाकर देखा, घाव बनाये, तो तुम फूल से भी डर जाओगे; फूल से भी ऐसे डरोगे, जैसे फूल भी काँटा है। एक दिन तुम पाओगे, फूल बचे ही नहीं तुम्हारे लिए, काँटे ही काँटे हो गये।

तुम्हारी दृष्टि ही अंततः तुम्हारा जीवन बन जाती है।

तो जिसने श्रद्धा से, प्रेम से, अहोभाव से—दोष-दृष्टि से नहीं, सत्य की आकांक्षा-अभीप्सा से मात्र सुना भी—वह भी मुक्त हो जाता है।

इससे बड़ी भूल पैदा हुई। कृष्ण के इन वचनों से वही हुआ—जिसका डर था। लोगों ने समझा, 'तो फिर ठीक है, गीता सुन लेने से सब हो जाता है।' मगर वे भूल गये शर्तें—श्रद्धायुक्त, दोष-दृष्टि से रहित।

इसका मतलब यह नहीं कि सोये-सोये सुन लेना; सोये रहोगे, न संदेह उठेगा, न दोष-दृष्टि होगी, आँख बंद किये झपकी लेते रहना। धार्मिक सभाओं में लोग सोये रहते हैं। इसका मतलब सोये-सोये सुनना नहीं है; इसका मतलब है बहुत जागरूक होकर सुनना, ताकि दोष-दृष्टि प्रविष्ट न हो जाए। दोष-दृष्टि नींद का हिस्सा है, मूर्च्छा का हिस्सा है।

बहुत अनन्य जागरूक चैतन्य होकर सुनना, ताकि श्रद्धा का आविर्भाव हो जाय—तो ही सुनने से भी कोई पार हो जाता है।



# परमात्मा से जो जोड़े • मनन और निदिध्यासन • समग्रता कृष्ण और महावीर का मार्ग-भेद • समर्पण और मिलन

**बीसवाँ प्रवचन**

प्रातःकाल, दिनांक ६ अगस्त, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टते धनञ्जय ।।७२।।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धात्वप्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ।।७३।।



इस प्रकार गीता का माहात्म्य कहकर भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन से पूछा, 'हे पार्थ, क्या यह मेरा वचन तूने एकाग्रचित्त से श्रवण किया; और हे धनजय, क्या तेरा अज्ञान से उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ ?

इस प्रकार भगवान् के पूछने पर अर्जुन बोला, 'हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है, इसलिए मैं संशयरहित हुआ स्थित हूँ और आपकी आज्ञा पालन करूँगा।
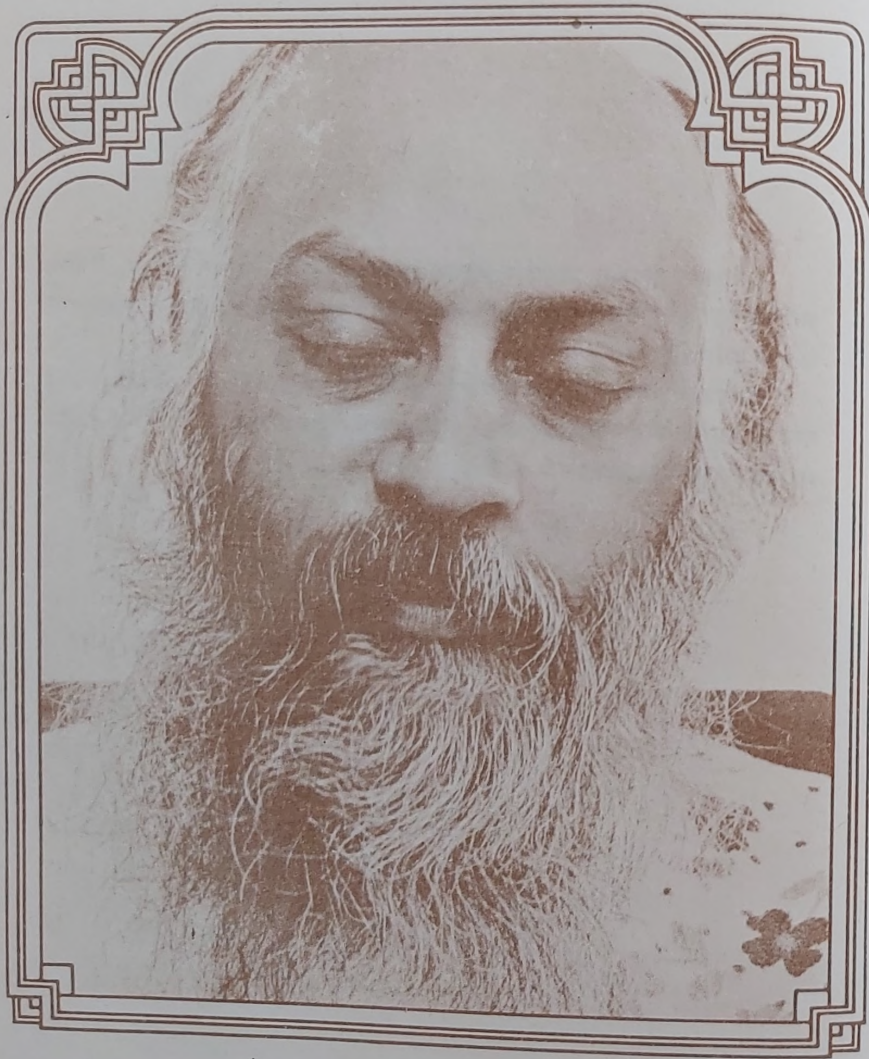
**पहले कुछ प्रश्न।**

● पहला प्रश्न : गीता के सभी अध्यायों को योग-शास्त्र क्यों कहा है ?

योग शब्द का अर्थ है : जो जोड़े—जो परमात्मा से जोड़ दे, जो सत्य से जोड़ दे, जो स्वयं से जोड़ दे।

सभी शास्त्र योग-शास्त्र हैं। शास्त्र शास्त्र ही न होगा—अगर योग-शास्त्र न हो। क्योंकि परमात्मा से न जोड़ता हो, तो उसे शास्त्र कहने का कोई अर्थ ही नहीं है। लेकिन योग की एक विपरीत परिभाषा भी है।

भर्तृहरि ने कहा है, 'योगावियोगाः—योग वह है, जो तोड़े, जिससे वियोग हो जाय।' वह बात भी बड़ी मधुर है। जो संसार से तोड़ दे, वह योग। जो शरीर से तोड़ दे, वह योग। जो परायों से तोड़ दे, वह योग।

तो योग एक दुधारी तलवार है। एक तरफ जोड़ता है, एक तरफ तोड़ता है। संसार से तोड़ता है, स्वयं से जोड़ता है। असत्य से तोड़ता है, सत्य से जोड़ता है। अज्ञान से तोड़ता है, ज्ञान से जोड़ता है।

तो विपरीत दिखाई पड़ने वाली परिभाषाएँ भी विपरीत नहीं हैं।

तोड़े बिना जोड़ना भी संभव नहीं है। मिटाए बिना बनाने का कोई उपाय नहीं है। मरे बिना अमृत को पाने का कोई मार्ग नहीं है।

गीता योग-शास्त्र है।

अर्जुन मोह से भरा है। मोह का अर्थ है : संसार से जुड़ा होना; मोह का अर्थ है, जिससे तुम्हारे और संसार के बीच सेतु बन जाय।

मोह सेतु है, जिससे तुम पराये की यात्रा पर निकलते हो—आसक्ति की, ममत्व की—संसार की दौड़ पर जाते हो।

अर्जुन को दिखाई पड़ रहा है : मेरे हैं, पराये हैं, मित्र हैं, प्रियजन हैं, शत्रु हैं—इन सब को मार कर अगर मैंने सिंहासन को पा भी लिया, तो अपनों को ही मार कर पाये

गये सिंहासन में क्या अर्थ होगा ! इस योग्य मालूम नहीं पड़ती—इतनी बड़ी हिंसा—कि सिंहासन के लिए इन्हें मारने चलूँ।

तो यहाँ थोड़ा समझने जैसा है। जो ऊपर से देखेगा, उसे तो लगेगा कि अर्जुन लोभ के ऊपर उठ रहा है। क्योंकि वह कह रहा है : क्या करूँगा—इस सिंहासन को; क्या करूँगा—इस राज्य-साम्राज्य को; क्या करूँगा—धन-सम्पदा को; अगर अपनों को ही मारकर यह सब मिलता हो, इतने खून-खराबे पर अगर यह महल मिलता हो; रक्त से भर जाएगा सब और खाली सिंहासन पर मैं बैठ जाऊँगा—इसका क्या मूल्य है ?

ऊपर से देखने पर लगेगा कि अर्जुन का लोभ टूट गया है। लेकिन लोभ तो टूट नहीं सकता, जब तक मोह है। और भीतर तो वह यह कह रहा है, 'इन्हें मैं कैसे मारूँ।' अगर ये पराये होते, तो उसे मारने में कोई अड़चन न होती। यह प्रश्न ही न उठता उसके मन में।

इनके साथ ममत्व है, भाई-चारा है। बन्धु-बान्धव हैं। कितनी ही शत्रुता हो, तो भी साथ ही बड़े हुए हैं, एक ही परिवार में बड़े हुए हैं। एक ही घर के दीये हैं। मोह है।

अगर अर्जुन का लोभ सच में ही समाप्त हो गया होता, तो मोह की जड़ें नहीं हो सकती थीं; क्योंकि लोभ का वृक्ष मोह की जड़ों पर ही खड़ा है।

कृष्ण को देखते अड़चन न हुई होगी—कि यह बात तो बड़ी अलोभ की करता है, लेकिन मोह पर आधार है। इसलिए यह झूठा आधार है।

जब तक मोह न टूट जाय, तब तक लोभ टूटेगा नहीं। और पत्तों को काटने से कभी भी कुछ नहीं होता, जड़ें ही काटनी चाहिए।

लोभ तो पत्तों जैसा है, मोह जड़ों जैसा है। मोह संसार से जोड़ता है।

कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि मोह के कारण ही तुम संसार भी छोड़ दो। लेकिन छोड़ना झूठा होगा।

किसी की पत्नी मर गई। बहुत लगाव था, बड़ी आसक्ति थी। और अब लगा कि 'पत्नी के बिना कैसे जी सकूँगा; नहीं जी सकता हूँ।' वैसा आदमी संसार छोड़ कर हिमालय चला गया।

उसने संसार छोड़ा ? क्योंकि वह कहता है : पत्नी के बिना कैसे जी सकूँगा। उसने संसार छोड़ा नहीं है। पत्ते काटे हैं; जड़ को सम्हाला। वह कह रहा है, 'पत्नी के बिना मैं जी ही नहीं सकता।' पत्नी होती तो बड़े मजे से जीता।

उसकी शर्त थी संसार के साथ। वह शर्त पूरी नहीं हुई। वह संसार छोड़ नहीं रहा है। वह बड़ा गहरा संसारी है। शर्त को पूरी करना चाहता था। वह पूरी नहीं हुई। तो छोड़ता है। लेकिन छोड़ना पछतावे में है, पीड़ा में है।





जो त्याग पीड़ा से और दुःख से पैदा हो, वह त्याग नहीं है। जो आनंद और अहोभाव से पैदा हो, वही त्याग है।

संसार छोड़ा जाय—किसी असफलता के कारण—कि दिवाला निकल गया—कि जीवन में असफलता मिली—कि बेटा मर गया—कि घर में आग लग गई—ऐसी अवस्थाओं में अगर कोई संसार छोड़ दे, तो वह छोड़ना छोड़ना है ही नहीं। क्योंकि मेरा घर था, जिसमें आग लग गई, उसकी पीड़ा है। घर मेरा था ही नहीं कभी। पत्नी मेरी थी, जो चल बसी। पत्नी मेरी कभी थी ही नहीं। तो सारी भ्रांति होगी।

अर्जुन बात तो अलोभ की करता मालूम पड़ता है; लेकिन भीतर मोह छिपा है। तो कृष्ण उसे मोह से तोड़ने की चेष्टा कर रहे हैं।

पूरी गीता में मोह से तोड़ने का उपाय है। और जिस दिन कोई मोह से टूट जाता है, स्वयं से जुड़ जाता है।

मोह दूसरे से जोड़ता है—अन्य से, पराये से, अपने से भिन्न से। पत्नी हो, पति हो, बेटा हो, मित्र हो, धन हो, राज्य हो—स्वयं के अतिरिक्त से जोड़ने वाला तत्त्व मोह है।

मोह टूट जाय, तो दूसरे से तो हम अलग हुए। और मोह की जगह जीवन में श्रद्धा आ जाय, तो हम स्वयं से जुड़े, सत्य से जुड़े, परमात्मा से जुड़े।

जैसे मोह जोड़ता है संसार से, वैसे ही श्रद्धा जोड़ती है—परमात्मा से।

मोह अहंकार का विस्तार है, श्रद्धा समर्पण का। इसलिए गीता के प्रत्येक अध्याय को कहा गया है—योग-शास्त्र। वह तोड़ता भी है—जो गलत है उससे। और जोड़ता भी है—जो सही है उससे।

● दूसरा प्रश्न : कल आपने समझाया कि सम्यक् श्रवण से भी सम्बोधि घटित हो सकती है। इस सन्दर्भ में वेदांत के तीन चरण : श्रवण, मनन और निदिध्यासन के क्या अर्थ हैं ?

सम्यक् श्रवण से समाधि उपलब्ध हो सकती है। अगर कोई परिपूर्ण, समग्र चित्त से सुन ले—उसे सुन ले, जिसे सत्य उपलब्ध हुआ हो; कृष्ण को सुन ले, बुद्ध को सुन ले, महावीर को सुन ले और उस सुनने में अपने मन की बाधाएँ खड़ी न करे—विचार न उठाए, निस्तरंग होकर सुन ले, स्थिर चित्त होकर सुन ले, तो उतने से ही सम्बोधि घटित हो जाती है।

क्योंकि सत्य तुमने खोया थोड़े ही है, केवल तुम भूल गए हो। सत्य को कहीं तुम छोड़ थोड़े ही आए हो; उसे छोड़ने का उपाय नहीं है। सत्य तो तुम्हारा स्वभाव है।

जैसे कोई नींद में खो गया हो, और भूल जाय : मैं कौन हूँ। नशे में खो गया हो, और भूल जाय : घर, पता, ठिकाना, अपना नाम। उसे कुछ करना थोड़े ही पड़ेगा; सिर्फ याद दिलानी होगी।

पहले महायुद्ध की घटना है। महायुद्ध हुआ, तो अमेरिका में पहली बार राशनिंग हुई; कार्ड बने; नियंत्रण हुआ। बहुत बड़ा वैज्ञानिक थामस अल्वा एडीसन—वह तो कभी बाजार गया भी नहीं था, कभी कुछ खरीदा भी नहीं था। लेकिन राशन कार्ड बनवाने उसे जाना पड़ा। स्वयं ही आना होगा—अपना कार्ड बनवाने, तो खड़ा हो गया। लम्बी कतार थी। एक-एक का नाम बुलाया जाता और लोग जाते। जब वह बिलकुल कतार के शुरू में आ गया और उसके आगे का आखिरी व्यक्ति भी बुलाया जा चुका, फिर आवाज आयी: 'थामस अल्वा एडीसन।' पर वह खड़ा रहा—जैसे कि यह नाम किसी और का हो। दुबारा आवाज आयी; वह खुद भी इधर-उधर देखने लगा कि किसको बुलाया जा रहा है!

पीछे खड़े एक आदमी ने कहा कि 'महानुभाव, जहाँ तक मुझे याद है, अखबारों में आपका चित्र देखा है। तो मुझे तो लगता है, आप ही थामस अल्वा एडीसन हैं। आप किसको देखते हैं?' उसने कहा कि 'भाई, ठीक याद दिलाई, मुझे खयाल ही न रहा।'

एडीसन को भूल जाने का कारण था। वह इतना प्रख्यात विचारक था, इतना बड़ा वैज्ञानिक था कि कोई उसका नाम लेकर तो बुलाता नहीं था। वर्षों से किसी ने उसका नाम तो लिया नहीं था। सम्मानित व्यक्ति था; उसके विद्यार्थी तो उसे प्रोफेसर कहते। वह भूल ही गया था; अपने काम में, धुन में, इतना लगा रहा था।

अकसर बहुत विचारशील लोग भुलक्कड़ हो जाते हैं। इतने खो जाते हैं—विचारों में कि छोटी-छोटी चीजें याद नहीं रह जातीं।

अब यह बड़ा कठिन लगता है कि कोई अपना नाम भूल जाय। लेकिन नाम भी तो सिखावन ही है। तुम कोई नाम लेकर आये तो थे नहीं—संसार में।

सिखाया गया है कि तुम्हारा नाम एडीसन है, राम है, कृष्ण है। नाम सिखावन है।

हर सीखी चीज भूली जा सकती है। नाम भी भूला जा सकता है। हम भूलते नहीं, क्योंकि चौबीस घंटे उसका उपयोग होता है। और हम भूलते नहीं, क्योंकि हम बड़े अहंकारी हैं और नाम के साथ हमने अहंकार जोड़ लिया है।

लेकिन थामस अल्वा एडीसन बड़ा सरल चित्त आदमी था। बहुत कहानियाँ हैं—उसके भुलक्कड़पन की।

वह इतना सरल चित्त था, इतना बड़ा विचारक था कि हजार उसने आविष्कार किए। लेकिन वह बड़ी मुश्किल में पड़ जाता था। वह कुछ खोज लेता; लिख देता कागज पर। फिर वह कागज न मिलता। उसके घर भर में कागज छाये हुए थे—जहाँ वह लिख-लिख कर छोड़ता जाता। कहते हैं कि अगर उसकी पत्नी न होती, तो वह एक भी आविष्कार नहीं कर सकता था, क्योंकि पत्नी सम्हाल कर कागजात रखती। लेकिन कागजात इतने हो गए कि पत्नी भी न सम्हाल पाये। तो मित्रों ने कहा, 'तुम ऐसा क्यों नहीं करते कि





अलग-अलग फुटकर कागज पर लिखने के बजाय, डायरी में लिखो।' उसने कहा, यह बात बिलकुल ठीक है।' उसने डायरी में लिखी। पूरी डायरी खो गई। उसने अपने मित्रों से बड़ी नाराजगी जाहिर की। उसने कहा कि 'एक-एक कागज पर लिखता था, तो एक-एक कागज ही खोता था। यह पूरी डायरी ही खो गई। इसमें कोई पाँच सौ सूत्र लिखे थे। यह तुम्हारा सूत्र काम न आया!'

यह आदमी भूल गया—अपनी धुन में था। लेकिन जैसे ही पीछे के आदमी ने याद दिलाई कि 'आपका चेहरा अखबार में देखा है। नाम आपका ही एडीसन मालूम होता है।' तत्क्षण स्मृति आ गई।

परमात्मा को हम भूल सकते हैं—खो नहीं सकते। क्योंकि परमात्मा कोई परायी बात नहीं, तुम्हारे भीतर का अन्तर्तम है—तुम्हारे ही मंदिर में विराजमान; तुम्हीं हो। तुम्हारी निजता का ही नाम है; तुम्हारे स्वभाव की ही प्रतिमा है।

इसलिए श्रवण से भी सम्बोधि घटित हो सकती है। कोई इतना ही कह दे कि तुम ही हो।

यही तो उपनिषद् कहते हैं: 'तत्त्वमसि श्वेतकेतु—तू ही है, श्वेतकेतु।'

यह घटना बड़ी प्रीतिकर है। श्वेतकेतु सब जानकर घर आया है। लेकिन पिता ने कहा, 'यह जानना किसी काम का नहीं है। तूने ब्रह्म को जाना या नहीं?'

श्वेतकेतु ने कहा, 'अगर मेरे गुरु को पता होता, तो वे जरूर मुझे सिखाते। उन्होंने हाथ खोलकर लुटाया है। जो भी उन्हें मालूम था, उन्होंने सब मुझे दिया है। और उन्होंने स्वयं ही मुझसे कहा कि श्वेतकेतु, अब मेरे पास सीखने को कुछ भी नहीं बचा। अब तू घर लौट जा। तो वे झूठ न बोलेंगे।' तो फिर उद्दालक ने—श्वेतकेतु के पिता ने—कहा, 'तो फिर तुझे मुझे ही सिखाना पड़ेगा। तो तू जा बाहर वृक्ष में फल लगे हैं, वह तोड़ ला।' फल तोड़ लाये गए।

श्वेतकेतु के पिता ने कहा, 'इन्हें काट।' फल काटे गये। बीज ही बीज भरे थे। पिता ने कहा, 'यह एक बीज इसमें से चुन ले। क्या यह एक बीज इतना बड़ा वृक्ष हो सकता है?' श्वेतकेतु ने कहा, 'हो सकता है नहीं; होता ही है। एक बीज बो देने से इतना बड़ा वृक्ष हो जाता है।' तो पिता ने कहा, 'इस बीज में वृक्ष छिपा होगा। तू बीज को भी काट। हम उस वृक्ष को खोजें, जो इसके भीतर छिपा है।'

श्वेतकेतु ने बीज भी काटा, पर वहाँ तो कुछ भी न था। वहाँ तो शून्य हाथ लगा। श्वेतकेतु ने कहा, 'यहाँ तो मैं कुछ भी नहीं देखता हूँ।' उद्दालक ने कहा, 'जो नहीं दिखाई पड़ रहा है, जो अदृश्य है, उसी से यह महावृक्ष, यह दृश्य पैदा होता है। और हम भी ऐसे ही शून्य से आये हैं। वह जो नहीं दिखाई पड़ता है, उससे ही हमारा भी जन्म हुआ है।'

श्वेतकेतु ने पूछा, 'क्या मैं भी उसी महाशून्य से आया हूँ?' इस प्रश्न के उत्तर में ही

उपनिषदों का यह महावचन है : 'तत्त्वमसि श्वेतकेतु। हाँ, श्वेतकेतु, तू भी वहीं से आया है; तू भी वही है।'

और कहते हैं यह अमृत वचन सुनकर श्वेतकेतु ज्ञान को उपलब्ध हो गया। यह तो श्रवण से ही हुआ। कुछ करना न पड़ा। यह तो किसी ने चेताया। सोये थे—किसी ने जगाया। आँख खुल गई। होश आ गयी।

श्रवण से ही हो सकता है। लेकिन वेदांत के ये तीन सूत्र बड़े महत्वपूर्ण हैं।

वेदांत कहता है : श्रवण, मनन और निदिध्यासन। पहले सुनो; फिर गुनो; फिर करो। सुनो; फिर सोचो; फिर साधो।

तो फिर ये इन तीन सूत्रों की क्या जरूरत है? इन सूत्रों की जरूरत इसलिए है क्योंकि तुम्हारा सुनना पूरा नहीं है। तुम सुनते हो और नहीं सुनते हो।

अगर मैं तुमसे कहूँ, 'श्वेतकेतु, तुम वही हो।' सुना तुमने; लेकिन नहीं सुना। अन्यथा श्वेतकेतु जिस ब्रह्म को उपलब्ध हो गया सुन के, तुम भी हो जाते!

सुन तो लेते हो, लेकिन उतर नहीं पाता, तीर गहरे नहीं जाता।

हृदय के द्वार बन्द हैं; शिलाएँ अटकी हैं, झरना भीतर बहता नहीं है। शिलाओं पर टकरा जाते हैं—महावचनों के तीर और वापस लौट आते हैं। तुम वैसे रह जाते हो। ज्यादा से ज्यादा इतना हो सकता है कि शिला पर थोड़े से निशान छूट जाते हैं, जिनको तुम पांडित्य कहते हो। लेकिन हृदय बिंधता नहीं है। निशाना लगता नहीं।

तुम डाँवाडोल हो रहे हो, इसलिए तीर कहीं से भी जाय, तुम्हारे अन्तःस्तल को नहीं भेद पाता।

तुम कंपते हुए हो, चंचल चित्त हो। सुनते तो हो, लेकिन चंचल चित्त कैसे सुन पायेगा? स्थिर चित्त चाहिए। थिर प्रज्ञा चाहिए। नहीं तो तुम सुन भी लेते हो, पर सुनना कान का ही हो पाता है—हृदय का नहीं हो पाता। आत्मा तक आवाज नहीं पहुँचती। आँख भी खुल जाती है, तो भी भीतर की दृष्टि बंद ही बनी रह जाती है।

इसलिए वेदांत कहता है कि श्रवण से कुछ लोग उपलब्ध हो जाएँगे। वे बड़े अनूठे, विरले पुरुष हैं : जिन्होंने सुना और काफी हो गया।

अधिक लोग उतने से न पहुँच पायेंगे। उन्हें कमी पूरी करनी पड़ेगी। जो उन्होंने सुना है, उसे गुनना पड़ेगा, सोचना पड़ेगा, उस पर ध्यान करना पड़ेगा।

एक बार सुनने से नहीं हुआ है, तो जो सुना है, उसको भीतर गुँजाना, बार-बार सोचना, स्वाध्याय करना, बहुत-बहुत मन की अवस्थाओं में उसी-उसी गूँज को फिर-फिर उठाना। शायद किसी दिन संधि मिल जाय। किसी दिन मन ताजा हो और बात पकड़ जाय। किसी दिन मन के द्वार जाने-अनजाने खुले छूट गये हों, और तीर भीतर प्रविष्ट हो जाय। किसी दिन प्रफुल्लता हो—तुम्हें घेरे हुए, ऐसी भाव-दशा हो कि तुम आनंद





और अहोभाव से भरे हो उस क्षण जो कान तक से सुना था, वह हृदय तक पहुँच जाय।

और चौबीस घंटे तुम्हारे चित्त की दशा बदलती है। सुबह तुम कुछ और, दोपहर होते-होते कुछ और, साँझ होते-होते कुछ और। कभी थके हो, कभी क्रोधित हो, कभी प्रसन्न हो, कभी उदास हो, कभी आनंदित हो। इन सभी दिशाओं में—इन सभी दशाओं में तुम एक ही अनुगूँज को उठाये जाना; शायद किसी दिन ताल-मेल बैठ जाय। तो जो सुनने से नहीं हो सका, वह शायद मनन से हो जाय।

तो मनन का अर्थ है : पुनरुक्ति; उसी-उसी को बार-बार सोचना; उसी-उसी को बार-बार गुनना। एक चोट से नहीं टूटी चट्टान, तो बार-बार उस पर चोट किए जाने का नाम मनन है। टूटेगी।

जलधार भी गिरती है, वह भी तोड़ देती है चट्टानों को। तो अगर मनन की धार गिरेगी, तो भीतर की चट्टान टूटेगी।

कबीर ने कहा है, 'रसरी आवत जात है, सिल पर परत निशान।' वह मनन के लिए कहा है कि रस्सी आती जाती है—कुएँ के घाट पर; पत्थर है मजबूत; रस्सी कोई मजबूत तो नहीं है। पत्थर से क्या मुकाबला। लेकिन 'रसरी आवत जात है, सिल पर परत निशान।' वह जो सिल बहुत मजबूत थी, वह भी साधारण-सी रस्सी के आते-जाते, आते-जाते—वर्षों में—निशान से भर जाती है।

श्रवण तो एक चोट है। मनन चोट के सातत्य का नाम है। अगर एक चोट से नहीं टूटी है बात . . .। कुछ होंगे, जिनकी टूट जाएगी। पर वे विरले होंगे। उनके ऊपर नियम नहीं बनाया जा सकता। कोई श्वेतकेतु कभी जाग जाएगा—एक ही वचन से। लेकिन श्वेतकेतुओं की भीड़ नहीं मिलती। और श्वेतकेतु से बाजार भरे हुए नहीं हैं। और श्वेतकेतु पृथ्वी पर खोजने जाओगे—सदियों में कभी एक-दो मिलता है। वह नियम नहीं है। वह अपवाद है।

इसलिए मनन की जरूरत है। श्रवण के साथ सोचना, चोट करना।

लेकिन फिर बहुत हैं, जो श्रवण भी करते रहते हैं—जन्मों-जन्मों और कुछ भी नहीं होता। मनन भी चूक गया, श्रवण भी चूक गया, तब निदिध्यासन। तब तुमने जो सुना है, तब तुमने जो सोचा है—उसे साधना भी है।

अब यह तुम हैरान होओगे जानकर कि साधना का अर्थ ही यह है कि तुम बहुत कमजोर हो, इसलिए साधना की जरूरत है। जो बलशाली हैं, वे सुन कर मुक्त हो जाते हैं। जो उनसे थोड़े कम बलशाली हैं, वे सोच कर मुक्त हो जाते हैं। जो उनसे भी कम बलशाली हैं, उनको साधना करनी पड़ती है।

बुद्ध ने कहा है : कुछ घोड़े हैं, वे तब तक न चलेंगे, जब तक उनको मारो ना। कुछ घोड़े हैं, सिर्फ कोड़ा फटकारो और वे चल पड़ेंगे। और कुछ घोड़े हैं, जो कोड़े की छाया

देखकर दौड़ते हैं। फटकारने की भी जरूरत नहीं है। कोड़ा है—इतनी याददाश्त उनको होना काफी है।

तो कुछ हैं, जो सुनकर उपलब्ध होते हैं। कुछ हैं जो, सोच कर—सोच-सोच कर—मनन चिंतन से उपलब्ध होते हैं और कुछ हैं, जो साधकर।

तीसरा वर्ग जगत् में बड़े से बड़ा वर्ग है। अगर सौ मनुष्य हों, तो सन्तानबे प्रतिशत तो तीसरे वर्ग के होंगे। वे साधना किये बिना मुक्त न हो सकेंगे। दो प्रतिशत ऐसे लोग होंगे, जो मनन से मुक्त हो जाएँगे। और एक प्रतिशत ऐसा व्यक्ति होगा, जो श्रवण से मुक्त हो जाएगा।

● तीसरा प्रश्न : सम्यक् श्रवण को उपलब्ध होने का क्या उपाय है ?

उपाय है—तन्मयता से सुनना; उपाय है—ऐसे सुनना, जैसे एक-एक शब्द पर जीवन और मृत्यु निर्भर है। उपाय है—ऐसे सुनना, जैसे पूरा शरीर कान बन गया; और कोई अंग न रहे। ऐसे सुनना, जैसे यह आखिरी क्षण है; इसके बाद कोई क्षण न होगा; अगले क्षणं मौत आने को है।

ऐसी सावधानी से सुनना कि अगर अगले क्षण मौत भी आ जाय, तो पछताना न पड़े।

सम्यक् श्रवण को सीखने का अर्थ है : सुनते समय सोचना नहीं; विचारना नहीं; क्योंकि तुम अगर विचार रहे हो, तो सुनेगा कौन ? और मन की यह आदत है।

मैं बोल रहा हूँ और तुम सोच रहे हो कि ये ठीक कहते हैं, कि गलत कहते हैं। तुम सोच रहे हो कि तुम्हारे तर्क में बात पटती है, नहीं पटती है ! तुम सोच रहे हो कि तुम्हारे सम्प्रदाय से मेल खाती है, नहीं खाती है ? तुम सोच रहे हो, कि तुमने जिसे गुरु माना, वह भी यही कहता है—नहीं कहता है।

तुम मुझे सुन रहे हो, वह ऊपर-ऊपर रह गया, भीतर तो तुम सोच में लग गये।

मैं देखता हूँ : अगर तुम से मेल खाती है, तो तुम्हारा सिर हिलता है कि ठीक। इसलिए नहीं कि मैं ठीक कह रहा हूँ। अगर उतना तुम सुन लो, तो तुम श्वेतकेतु हो जाओ।

जब तुम सिर हिलाते हो, तो मैं जानता हूँ : तुम्हारे सम्प्रदाय से मेल खाती है बात; तुम्हारे शास्त्र के अनुकूल पड़ रही है। तुम्हारे सिद्धान्त से विरोध नहीं है।

जब मैं देखता हूँ कि तुम्हारा सिर इनकार में हिल रहा है, तो मैं जानता हूँ कि तुम्हारे पक्ष में नहीं पड़ रही है बात। तुम अब तक जैसा मानते रहे हो, उससे भिन्न है, या विपरीत है।

और जब मैं देखता हूँ कि तुम दिग्विमूढ बैठे हो, तब तुम तय नहीं कर पा रहे कि पक्ष में होना कि विपक्ष में होना। बात तुम्हारी समझ में ही नहीं पड़ रही कि तुम निर्णय ले सको।

इन तीनों से बचना। इस बात की फिक्र मत करना—सुनते समय, कि तुम्हारे पक्ष





में है या नहीं। क्योंकि अगर तुम्हारा पक्ष सत्य है, तब तो सुनने की जरूरत ही नहीं। तब तो मेरे पास आने का कोई प्रयोजन ही नहीं है। तुम जानते ही हो। तुमने पा ही लिया है। यात्रा पूरी हो गई।

अगर तुमने नहीं पाया है, अगर अभी भी यात्रा जारी है और खोज जारी है, और तुम्हें लगता है : अभाव, खटकता है अभाव; खोजना है, पाना है, पहुँचना है, तो फिर तुमने जो अब तक सोचा है, उसे किनारे रख देना; उसको बीच में मत लाना अन्यथा वह तुम्हें सुनने ही न देगा। और तुम जो सुनोगे, उसको भी रंग से भर देगा—अपने ही रंग से भर देगा। तुम वही सुन लोगे, जो तुम सुनने आये थे। और तुम उन-उन बातों को सुनने से चूक जाओगे, जो तुमसे मेल न खाती थी। तुम्हारा मन चुनाव कर लेगा।

तुम मन को सुनने मत देना। मन को कहना, 'तू चुप। पहले मैं सुन लूँ। अगर सुनने से हो गया ठीक, अगर न हुआ, तो फिर तेरा उपयोग करेंगे, फिर मनन करेंगे। लेकिन पहले मुझे परिपूर्ण भाव से सुन लेने दे।'

और मजे की बात यह है, कि जिन्होंने परिपूर्ण भाव से सुन लिया, उन्हें मनन करने की जरूरत नहीं रह जाती।

मनन की जरूरत ही इसलिए पड़ती है कि सुनते समय भी तुम सोचे जा रहे हो। एक धुआँ तुम्हें घेरे हुए है—विचारों का।

बचपन से तुमने हर चीज के सम्बन्ध में धारणा बना ली है। वह धारणा तुम्हें पकड़े हुए है। बचपन में तुम्हारी समझ कितनी थी ? तुम्हारा बोध कितना था ? लेकिन तुमने सब धारणाएँ बचपन में बना ली हैं और उन धारणाओं को तुम बुढ़ापे तक खींच रहे हो ! यह बड़ी उलटी बात है।

बचपन की धारणाएँ तो मूढता की धारणाएँ हैं, उनको बुढ़ापे तक खींच रहे हो ! बचपन में तुमने पूछा था : 'संसार किसने बनाया ?' और तुम्हारे पिता ने या गुरु ने या शिक्षक ने कहा, 'परमात्मा ने बनाया—ऐसे ही जैसे कुम्हार घड़े रचता है।' अब भी तुम्हारे मन में परमात्मा की वही धारणा है—वही बचपन की। बचपन में हल हो गई थी बात। ठीक। तुम्हें बात जँच गई कि कुम्हार बरतन-भांडे बनाता है, बढ़ई फर्नीचर बनाता है। बिना बनाये तो ये चीजें बन नहीं सकतीं। कोई बनाने वाला होगा। बस, तुम तृप्त हो गए थे। अब भी तुम उसी धारणा से भरे हो।

मैंने सुना है : एक परिवार के बैठक खाने में दो मछलियाँ काँच के बरतन में चक्कर मार रही थीं। एक मछली ने रुक के दूसरी से पूछा, 'तुम्हारा क्या खयाल है—ईश्वर है या नहीं ?' दूसरी मछली थोड़ी दार्शनिक प्रकृति की थी। उसने थोड़ा विचार किया। उसने कहा, 'होना ही चाहिए अन्यथा हमारा पानी रोज कौन बदलता है ! अगर परमात्मा न हो, तो इस बरतन का पानी कौन बदलता है रोज ?'

मछलियों के लिए यह बहुत भारी घटना है कि कोई पानी बदलता है।

तुम्हारा परमात्मा भी इन मछलियों के परमात्मा से ज्यादा नहीं है। क्योंकि तुम सोच नहीं सकते कि बिना बनाये चीजें कैसे बन जाएँगी ! लेकिन तुम्हारे बचपन में तुमने जो धारणा पकड़ी थी, कभी तुमने पूछा कि 'परमात्मा को किसने बनाया है !' तब तुम्हारी धारणा डगमगाने लगेगी। तब तुम्हें सन्देह उठेगा। तब तुम्हें लगेगा कि अगर परमात्मा बिना बनाया हो सकता है, तो फिर यह धारणा—कुम्हार की और बढ़ई की—ना-समझी की है। लेकिन बचपन की धारणाएँ तुम्हें घेरे रखती हैं।

नास्तिकता-आस्तिकता हिन्दू-इसलाम, जैन-बौद्ध—सब बचपन में पकड़ी गई धारणाएँ हैं। उनसे तुम घिरे बैठे हो। उनकी दीवालें तुम्हारे चारों तरफ हैं। वह तुम्हारा कारागृह है।

जब तुम सुनने आते हो, तो उस कारागृह के बाहर आकर सुनो—खुले आकाश के नीचे।

मैं तुमसे यह नहीं कह रहा हूँ कि जो मैं कह रहा हूँ, उसे मान लो। मानने का तो सवाल ही नहीं है। मैं तो तुमसे कह रहा हूँ, पहले सुन लो; मानने की बात तो बाद में उठती है। पहले समझ तो लो कि मैं क्या कह रहा हूँ; फिर मानना, न मानना।

और मजे की तो घटना यह है कि अगर सत्य हो, तो तुम्हें सोचने की ज़रूरत ही न पड़ेगी।

अगर तुमने खुले आकाश के नीचे खड़े होकर सुन लिया, तो सत्य को सुनना लेना ही पर्याप्त है। तुम्हारा रोआँ-रोआँ उसके साथ सिहर उठेगा। तुम्हारी धड़कन-धड़कन उसे ताल देगी। तुम्हारी समग्रता कहेगी, 'ठीक है।' यह नहीं कि तुम्हारे मन के कुछ विचार कहेंगे : 'ठीक है।' तुम्हारा समग्र अस्तित्व कहेगा कि ठीक है। हड्डी-मांस-मज्जा कहेगी कि 'ठीक है।' यह कोई तर्क की निष्पत्ति न होगी। यह तुम्हारे पूरे जीवन की भाव-दशा बन जाएगी।

तो श्रवण से उपलब्ध हो सकता है कोई, लेकिन श्रवण सीखना पड़े। अभी तो तुम सभी मानते हो कि श्रवण तुम जानते ही हो; क्योंकि तुम्हारे कान ठीक हैं। और कोई कान का डॉक्टर नहीं कहता कि कान में कोई खराबी है। तुम समझे कि बस, जब कान में कोई खराबी नहीं है, तो सम्यक् श्रवण है ही।

कान का डॉक्टर जिसको ठीक सुनना कहता है, उसको हम ठीक सुनना नहीं कहते। कान थोड़े ही सुनते हैं। कान तो केवल उपकरण हैं। कान के पीछे जो बैठा है, वह सुनता है। हाँ, कान बिगड़ जायँ, तो उस तक खबर नहीं पहुँचती। कान सिर्फ खबर पहुँचाते हैं।

यह तो ऐसे ही है, जैसे किसी ने फोन किया। तुमने फोन उठाया। फोन थोड़े ही सुनता है; तुम सुनते हो। लेकिन तुम नहीं सुनने को राजी हो, तुम जबरदस्ती सुन रहे हो,





तो ठीक है। या तुम पहले से ही तय हो कि यह आदमी गलत है। अब किया है फोन, तो सुने लेते हैं। फोन थोड़े ही सुनता है। कान तो फोन से ज्यादा नहीं है। वह तो यंत्र है। उनके पीछे तुम जो हो, तुम्हारी चेतना जो पीछे खड़ी है, वह सुनती है। कान से आने दो आवाज; मन को तुम्हारे और कान के बीच खड़ा मत होने दो। हटाओ। मन से कहो, 'तू जरा रास्ता दे। मेरी आँख को जरा खाली छोड़, मेरे कान को जरा खाली छोड़। मैं देख सकूँ। फिर जरूरत होगी, तुझे बुला लेंगे।'

अगर श्रवण से न हो सके, तो फिर मनन करना। फिर मन को बुला लेना। और अगर मन से भी न हो सके, तो फिर साधना करना। फिर शरीर को भी बुला लेना।

ये तीन अंग हैं। सुन कर ही हो जाय, तो शुद्ध चैतन्य में घट जाता है। सुन कर न हो, तो मन की सहायता की जरूरत है; तो मनन। अगर मनन से भी न हो, तो फिर शरीर की भी साधना में जरूरत है; तो फिर निदिध्यासन।

जब चेतना, मन और शरीर तीनों लग जाते हैं—तो साधना। जब चेतना और मन दोनों लगते हैं, तो मनन। और जब चेतना शुद्ध सुनती है—अकेली और उतना ही काफी होता है, तो सम्यक् श्रवण।

●चौथा प्रश्न : कृष्ण के प्रति आकर्षित होना, क्या जीवन के अन्य आकर्षणों से मुक्त होना नहीं है ?

सोचना पड़े। यहीं कृष्ण का भेद है।

अगर तुम महावीर में आकर्षित होते हो, तो तुम्हें संसार के समस्त आकर्षणों से मुक्त होना पड़ेगा। अगर महावीर की तरफ जाते हो, तो संसार के विपरीत जाना पड़ेगा, वह महावीर का मार्ग है।

लेकिन कृष्ण के सम्बन्ध में मामला जरा नाजुक है, और गहरा है।

कृष्ण कहते हैं : अगर तुम्हें मेरी तरफ आना है, तो तुम्हें संसार के आकर्षण में ही मुझे खोजना पड़ेगा; क्योंकि मैं वहाँ भी मौजूद हूँ। वहाँ से भागने की कोई जरूरत नहीं है।

इसे ऐसा समझो : तुम्हें भोजन में रस है। अगर तुम महावीर की सुनते हो, तो अस्वाद व्रत होगा। तब तुम्हें स्वाद छोड़ना है। भोजन ऐसे कर लेना है कि काम है, जरूरत है; स्वाद नहीं लेना है। भोजन को ऐसे शरीर में डाल देना है कि काम शरीर का चल जाय, लेकिन उसमें कोई रस नहीं लेना है। स्वाद छोड़ना है, भोजन जारी रखना है। भोजन बे-स्वाद हो जाय, अस्वाद हो जाय, स्वादहीन हो जाय, स्वादातीत हो जाय। स्वाद न रह जाय। बस, शरीर का धर्म है, पूरा कर देना है। तो भोजन ले लेना है।

अगर तुम कृष्ण की बात समझो, तो कृष्ण कहते हैं कि तुम इतना गहरा स्वाद लो कि भोजन के स्वाद में ही तुम्हें ब्रह्म का स्वाद आने लगे; अन्न ब्रह्म हो जाय। स्वाद की गहराई में उतरो।

महावीर कहते हैं—अस्वाद; कृष्ण कहते हैं—महास्वाद।

ये संसार में खिले हुए फूल हैं; एक तो उपाय है कि इनकी तरफ पीठ कर लो, अपने भीतर प्रविष्ट हो जाओ। एक उपाय है : इन फूलों के सौंदर्य में इतने गहरे उतर जाओ कि फूल की देह तो भूल जाय, सिर्फ सौंदर्य का ही स्पन्दन रह जाय, तो भी तुम पहुँच जाओगे।

तुम जहाँ हो—अभी, वहाँ से दो रास्ते जाते हैं। एक रास्ता है : संसार की तरफ पीठ कर लो, आँख बंद कर लो, अपने में डूब जाओ।

इसलिए महावीर परमात्मा की बात नहीं करते, सिर्फ आत्मा की बात करते हैं। आँख बन्द करो, अपने में डूब जाओ।

कृष्ण परमात्मा की बात करते हैं। वे कहते हैं : यह जो चारों तरफ सब फैला है—वही है। जरा गौर से देखो : तुम्हें संसार दिखा है, क्योंकि तुमने गौर से नहीं देखा है।

संसार दिखने का अर्थ है : है तो परमात्मा ही, तुमने ठीक से नहीं देखा है। देखने में थोड़ी जरा भूल हो गई है। इसलिए संसार दिखाई पड़ रहा है।

संसार परमात्मा ही है—गलत ढंग से देखा गया। जरा आँख को सम्हालो; जरा चित्त को साफ करो; जरा और गौर से देखो; और तन्मय हो कर देखो, और लीन हो जाओ—और तुम पाओगे कि संसार तो मिट गया, परमात्मा मौजूद है। संसार तो खो गया, परमात्मा प्रकट हो गया।

तो कृष्ण के अर्थों में अगर तुम आकर्षित होते हो—परमात्मा की तरफ, तो जीवन के आकर्षणों से हटने की कोई जरूरत नहीं है। जीवन के आकर्षण को भी परमात्मा को ही समर्पित कर देने की जरूरत है।

इसलिए तो अर्जुन को वे युद्ध से भागने नहीं दे रहे हैं। अगर अर्जुन ने महावीर से पूछा होता, तो महावीर कहते कि 'बिलकुल ठीक अर्जुन, जल्दी तुझे समझ आ गई। छोड़; कुछ सार नहीं है—युद्ध में। हाथ सिर्फ रक्त से रंगे रह जाएँगे। सदा के लिए पाप हो जाएगा। और जो मिलेगा, वह कूड़ा-करकट है : राज्य-महल, धन-सम्पत्ति—क्या है उसका मूल्य?'

वे ठीक कहते हैं। वह भी एक मार्ग है।

और कृष्ण भी कहते हैं : 'भागने की कोई भी जरूरत नहीं; सिर्फ तू अज्ञान को छोड़ दे।'

ज्ञान से देखा गया संसार ही परमात्मा है। अज्ञान से देखा गया परमात्मा संसार जैसा मालूम पड़ता है।

कृष्ण की कीमिया ज्यादा गहरी है। मुझसे भी कृष्ण का ज्यादा तालमेल है।

महावीर की बात ठीक है; उससे भी लोग पहुँच जाते हैं। लेकिन वह ऐसे ही है कि





तुम किसी तीर्थ-यात्रा पर निकले हो। एक रास्ता मरुस्थल से होकर जाता है। वह भी पहुँचता है। और एक रास्ता वनप्रान्तों से होकर गुजरता है, जहाँ झरने हैं, झरनों का कल-कल नाद है। जहाँ फूल खिलते हैं—अनूठे, जहाँ हवाएँ सुगन्धों से भरी हैं, जहाँ पक्षी गीत गाते हैं—अलौकिक के, जहाँ वृक्ष सदा हरे हैं, जहाँ बहुत गहरी छाया है। जहाँ जल है, जहाँ रस धाराएँ बहती हैं।

तो दो रास्ते हैं : एक मरुस्थल से होकर जाता है; एक सुन्दर वनप्रान्तों से होकर जाता है।

मैं तुमसे यह नहीं कह रहा हूँ कि मरुस्थल में कोई सौन्दर्य नहीं है। मरुस्थल का भी एक सौंदर्य है। तुम्हारी परख की बात है। कुछ लोग तो ऐसे हैं, जो मरुस्थल के सौंदर्य के दीवाने हैं।

योरोप का एक बहुत बड़ा विचारक—लारेन्स—पूरी जिन्दगी अरब में रहा। उसने अपने संस्मरणों में लिखा है कि 'जैसा सौंदर्य अरब के रेगिस्तानों में है, वैसा संसार में कहीं भी नहीं है।' जब मैंने इसे पढ़ा, तो मैं चौंका। रेगिस्तान में सौन्दर्य? फिर मैंने उसकी किताब बड़े गौर से पढ़ी कि इस आदमी का भी एक अनूठा अनुभव है। और उसकी बात में भी थोड़ी सचाई है। वह कहता है कि जैसा सन्नाटा मरुस्थल में होता है, वैसा सन्नाटा कहीं भी नहीं हो सकता। और जैसा विस्तीर्ण विराट् मरुस्थल में दिखता है, वैसा कहीं नहीं दिखता। वृक्ष हैं, पहाड़ियाँ हैं—बाधा डाल देती हैं। मरुस्थल असीम है, कोई कूल-किनारा नहीं दिखता। जहाँ तक देखते चले जाओ—वही है। आकाश जैसा है।

और मरुस्थल में एक तरह का सौन्दर्य है। और एक तरह की पवित्रता—एक तरह की शुचिता है। रेत का कण-कण स्वच्छ है।

रात जैसी मरुस्थल की सुन्दर होती है, कहीं भी नहीं होती। दिनभर का उत्तप्त जगत् और रात सब शीतल हो जाता है।

और मरुस्थल में तारे जैसे साफ दिखाई पड़ते हैं, कहीं नहीं दिखाई पड़ते। क्योंकि सभी जगह थोड़ी न थोड़ी भाप हवा में होती है। इसलिए भाप की परतें हवा में होती हैं, तारे साफ नहीं दिखाई पड़ते। थोड़े धुंधले होते हैं। मरुस्थल में तो कोई भाप होती नहीं, हवा बिलकुल शुद्ध होती है, सूखी होती है, उसमें कोई जलकण नहीं होते, इसलिए तारे इतने निकट मालूम होते हैं, और इतने साफ मालूम होते हैं कि हाथ बढ़ाया और छू लेंगे।

निश्चित ही, जब मैंने लारेन्स को पढ़ा, तो मुझे लगा : उसकी बात में सचाइयाँ हैं। मरुस्थल का भी अपना आकर्षण है।

तब बात इतनी है कि तुम्हें जो रुचिकर लगे।

महावीर का मार्ग मरुस्थल का मार्ग है। वे सूखे रेगिस्तान से गुजरते हैं। जरूर उनको सौन्दर्य मिला होगा। अन्यथा वे क्यों गुजरते! कोई कारण न था। उन्होंने उस

सूखी भूमि में भी कुछ देखा होगा—लारेन्स की तरह कोई सन्नाटा, कोई स्वच्छता, कोई ताजगी उन्हें वहाँ मिली होगी। विराट् का उन्हें अनुभव हुआ होगा।

पर वन-प्रान्तों से गुजरने का भी अपना मजा है।

कृष्ण का रस : बिना छोड़े, संसार से बिना भागे, संसार से ही गुजर कर परमात्मा तक पहुँचने का रस है।

दोनों पहुँच जाते हैं। इसलिए तुम्हें जो रुचिकर लगे, उसे चुन लेना।

और इस रुचि की बात को जन्म पर मत छोड़ना। क्योंकि जन्म से रुचि का कोई सम्बन्ध नहीं है।

अब मैं ऐसे जैनों को जानता हूँ, जिनके लिए कृष्ण बड़े काम के हो सकते हैं। लेकिन वे उनका उपयोग न करेंगे। वे कहते हैं : यह कुंजी हमारे काम की नहीं है। इस घर में हम पैदा ही नहीं हुए हैं। हम तो महावीर के मार्ग से जाएँगे। और उनकी पूरी जीवन-दशा महावीर से मेल नहीं खाती।

ऐसे हिन्दुओं को मैं जानता हूँ, जो कृष्ण का भक्ति-भाव किये चले जाते हैं। लेकिन भक्ति-भाव का उनसे कोई तालमेल नहीं है। उनके लिए मरुस्थल जमता। उनके ओठों पर भक्ति के गीत शोभा नहीं देते। उनके हृदय का उससे कोई साथ नहीं है। वे संकोच से भरे हुए आरती करते हैं। उनको लगता है : यह क्या मूढ़ता कर रहे हैं। लेकिन अब जिस घर में पैदा हुए हैं, उस ढंग से पूरा करना पड़ता है। वे डरे-डरे हैं।

ध्यान रखना जन्म से तुम्हारे जीवन की कोई व्यवस्था नहीं बनती। तुम अपनी समझ से खोजने की कोशिश करना : किससे तुम्हारा ताल-मेल है। और साहस रखना। जिसके साथ तालमेल हो, उसके साथ जाने की हिम्मत रखना। तो शायद तुम पहुँच जाओगे। अन्यथा तुम बहुत भटकोगे।

● पाँचवाँ प्रश्न : मोक्ष फलित होता है—यदि श्रद्धा और शरणागति से, तो बंधन किससे फलित होता है?

सन्देह और अहंकार से।

● छठवाँ प्रश्न : कृष्ण ने अर्जुन के प्रति अपना उपदेश समाप्त कर तुरंत गीता माहात्म्य बताना क्यों उचित समझा?

पहला कारण : अर्जुन की चेतना उस घड़ी के करीब आने लगी, जहाँ वह भी कृष्णरूप हो जाएगा। जल्दी ही घड़ी करीब आयेगी। अर्जुन को पता चले, इसके पहले कृष्ण को पता चल जाना स्वाभाविक है।

तुम्हें पता चले, इसके पहले मुझे पता चल जाना स्वाभाविक है कि क्या हो रहा है। तुम्हारे, ध्यान में उतरने के पहले मुझे पता चल जाएगा, कि उतर रहे हो। तुम्हारी समाधि फलित होने के पहले मैं तुम्हें खबर दे दूँगा कि समाधि आने के करीब है। उसकी पहली





पग-ध्वनि तुम्हें नहीं, मुझे सुनाई पड़ेगी; क्योंकि मैं उन पगध्वनियों को पहचानता हूँ। तुम्हारे लिए तो वे पहली बार बजेंगे स्वर; तुम उनको पहचान न पाओगे।

अर्जुन पहुँचने लगा है करीब, जहाँ वह कहेगा कि मैं निःसंशय हुआ। जहाँ वह कहेगा : तुम्हारे प्रसाद से मेरा संशय क्षीण हो गया; मेरे अज्ञान से भरा हुआ मोह मिट गया; और तुम्हारी अनुकंपा से मैं थिर हो गया हूँ। मेरी प्रज्ञा ठहर गई। अब तुम जो आज्ञा दो, वही मैं करूँगा। अब मेरा कोई होना नहीं है। अब तुम्हीं हो।'

जल्दी ही वह घड़ी आ रही है। उस घड़ी का आगमन अर्जुन के अचेतन में शुरू हो गया है।

जैसे पानी में एक बबूला उठता है—रेत से उठता है बबूला। उठता है, ऊपर की तरफ। चलता है—धरातल की तरफ। समय लगता है। जितनी गहरी पानी की धार हो . . .। जब सतह पर आ जाएगा, तब तुम्हें दिखाई पड़ता है कि बबूला पानी का प्रकट हुआ। लेकिन जो गहरे डुबकी मारना जानता है, वह जानता है कि कब बबूले ने यात्रा शुरू की।

अर्जुन के भीतर उसकी गहरी अन्तर्आत्मा से यह भाव उठना शुरू हो गया है। उसकी सुगंध उसके चारों तरफ आने लगी होगी। कृष्ण के नासापुट अर्जुन की उस भीनी सुगन्ध से भरे गये होंगे। पहचान लिया होगा उन्होंने कि फूल अब खिला—अब खिला; कली अब खिली—अब खिली। पंखुड़ियाँ अब खुलने के करीब है। सुबह होती है, रात जा चुकी है।

इसके पहले कि अर्जुन कहे कि मैं पहुँच गया—वहाँ, जहाँ तुम पहुँचाना चाहते थे; तुम्हारी अनुकंपा से . . . उन्होंने गीता का माहात्म्य कहा। क्यों? क्योंकि इसके बाद अर्जुन योग्य हो जाएगा। जो कृष्ण ने अर्जुन से कहा है, अर्जुन किसी और से कहने में समर्थ हो जाएगा। बता देना जरूरी है कि वह किससे न कहे। क्योंकि अकसर ऐसा होता है . . .।

जैसे छोटे बच्चे को तुमने देखा हो, जब वे पहली दफा चलना शुरू करते हैं, तो दिनभर चलने की कोशिश करते हैं। क्योंकि चलना इतना नया अनुभव होता है, इतना आह्लाद-कारी—कि वे बार-बार फिर खड़े हो जाते हैं; थक जाते हैं, मगर फिर खड़े हो जाते हैं।

तुमने छोटे बच्चों को देखा होगा, जब वे बोलना शुरू करते हैं, तो दिन भर बकवास करते हैं। वे बकवास इसलिए कर रहे हैं कि एक नई कला उन्हें उपलब्ध हुई है; वे उसका उपयोग करना चाहते हैं। तुम कहते हो, 'चुप रहो।' वे चुप रह नहीं सकते; क्योंकि अगर वे चुप रहें, तो जिन्दगी भर के लिए चूक जाएँगे। वे तो बोलेंगे; वे तो चर्चा करेंगे; वे तो बात करेंगे; वे तो एक ही बात को बार-बार कहेंगे। वे फिर-फिर लौट कर आ जाएँगे—खबर लेकर कि बाहर ऐसा हो रहा है! इन सब बातों से कोई मतलब नहीं है; बात करने से मतलब है। क्योंकि एक नई कला उपलब्ध हुई है। वे उसका अभ्यास कर लेना चाहते हैं।

और ठीक ऐसी ही घटना तब घटती है, जब तुम्हें पहली दफा परमात्म-जीवन का अनुभव होता है। तब तुम्हारे पूरे प्राण उसे दूसरों से कहना चाहते हैं।

तो कृष्ण कहते हैं, 'उससे कहना, जो सुनने को राजी हो। उससे कहना, जो भक्ति-भाव से सुनने को राजी हो। उससे कहना, जो तपपूर्वक सुनने को राजी हो।'

इसके पहले कि अर्जुन के जीवन में वह नया उन्मेष उठे और वह कहने लगे—लोगों को, उसे सचेत कर देना जरूरी है।

और वे गीता का माहात्म्य भी कहते हैं—इसके साथ ही। क्यों? क्योंकि यह भी हो सकता है कि कहीं ये सारी शर्तें—कि उससे मत कहना, जो सुनने को राजी न हों; उससे मत कहना, जो भाव से न सुने, भक्ति से न सुने; उससे मत कहना, जो तपश्चर्यारत न हो—कहीं ऐसा न हो कि अर्जुन चुप ही रह जाय; कहे ही न। यह भी दुर्घटना होगी। क्योंकि इसके जीवन में आये और यह कहे ही न। गलत को कहे—दुर्घटना होगी। अनकहा रह जाय, बिन कहा रह जाय, तो दुर्घटना होगी।

तो इसलिए वे महात्म्य भी कहते हैं कि कहने का क्या-क्या लाभ है: अर्जुन, जो इसको कहेगा, वह मेरा सर्वाधिक प्यारा है। वह मेरे प्यारों में अति उत्तम है। जो इसे कहेगा, वह मेरा काम कर रहा है; समर्पित है। जो इसे कहेगा, कह कर ही सभी पापों से मुक्त हो जाएगा। वह उन स्थानों को, उन स्थितियों को पायेगा—जो परम पुण्यों से मिलती हैं। सिर्फ कह कर भी...।'

तो दो बातें हैं: एक तो वे चेता रहे हैं कि गलत से मत कहना। और दूसरा: वे कह रहे हैं: गलत के डर से कहीं चुप मत रह जाना। कहना जरूर; ठीक को खोज कर के कहना। हर किसी को मत कहना।

इसलिए इसके पहले कि अर्जुन के भीतर कृष्ण का फूल खिले, उन्होंने गीता माहात्म्य की बात कही है।

अब सूत्र।

इस प्रकार गीता का माहात्म्य कहकर भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से पूछा, 'हे पार्थ, क्या यह मेरा वचन तूने एकाग्र चित्त से श्रवण किया? और हे धनंजय, क्या तेरा अज्ञान से उत्पन्न मोह नष्ट हुआ?'

पूछने को ही पूछ रहे हैं। जाँच के लिए पूछ रहे हैं। इसलिए पूछ रहे हैं कि अर्जुन को खबर मिली या नहीं! जो हुआ है, उसकी खबर कृष्ण को तो मिल गई है।

झेन फकीर कहते हैं, कि जब उनका कोई शिष्य ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है, तो उसे आकर बताने की जरूरत नहीं रहती। गुरु खुद ही उसके पास जाकर उसे कहता है कि 'अब क्या कर रहा है—बैठा हुआ! आकर बताया नहीं; खबर नहीं दी?'

बोकोजू अपने गुरु के पास था—वर्षों तक। अनेक बार कुछ छोटे-मोटे अनुभव होते।





कभी कुण्डलिनी जगती लगती। कभी भीतर प्रकाश होता। कभी कोई कमल खिलता मालूम होता। वह आ-आ कर के खबर देता। गुरु कहता, 'यह कुछ भी नहीं है। सब मन का खेल है।' थक गया; वर्षों आना; बार-बार कहना; और गुरु यही कहे: 'मन का खेल है। यह कुछ भी नहीं। यह बच्चों की बातें छोड़। यह ना-समझी की बातें छोड़। सभी अनुभव सांसारिक हैं। उस अवस्था को पाना है, जहाँ कोई अनुभव नहीं रह जाता—केवल साक्षी बचता है, देखने वाला बचता है—दृश्य कोई भी नहीं।'

फिर एक दिन बोकोजू आया, वह द्वार के भीतर प्रविष्ट ही हुआ था कि गुरु खड़ा हो गया और उसने कहा, 'तो आज हो गया बोकोजू।' बोकोजू ने कहा, 'लेकिन आज तो मैंने कुछ कहा ही नहीं। और हर बार मैं आकर कुछ कहता था, तुम इनकार करते रहे। और आज मेरे बिना कहे...!' तो गुरु ने कहा, 'जब हो जाता है, तो तुझसे पहले हमें पता चलता है। आज तेरी चाल और, आज तेरे चारों तरफ की हवा और; आज तेरे भीतर जो नाद गूँज रहा है, जिन्होंने अपना नाद सुन लिया है, वे उसे सुनने में तत्क्षण समर्थ हो जाएँगे।'

कृष्ण को पता तो चल गया है, इसीलिए माहात्म्य कहा है। नहीं तो माहात्म्य कहने की कोई जरूरत न थी। अब तक नहीं कहा; अठारह अध्याय बीत गए। अचानक माहात्म्य कहा है। अचानक यह बताया कि कौन पात्र है, किसको कहना। अचानक यह कहा है कि कहने का कितना मूल्य है। बिन कहे मत रह जाना।

पता चल गया है, लेकिन पूछते हैं—माहात्म्य कह कर, 'हे पार्थ, क्या यह मेरा वचन तूने एकाग्र चित्त से श्रवण किया?' तूने सुना—क्या कहा मैंने? तूने समझा—क्या कहा मैंने? तू जागा? तूने देखा: कौन हूँ मैं? 'और हे धनंजय, तेरा अज्ञान से उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ?'

वे यह कह रहे हैं: अब भीतर जरा टटोल के देख: कहाँ है तेरा मोह? कहाँ हैं वे बातें—तेरे भीतर—कि ये मेरे अपने प्रियजन खड़े हैं। इनको मैं कैसे काटूँ। अब जरा पीछे मुड़, खोज—कहाँ गये वे प्रश्न, शंकाएँ—वे सारी चित्त की विचलित दशाएँ—कहाँ हैं अब? 'तेरा अज्ञान से उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ?'

भगवान् के ऐसा पूछने पर अर्जुन बोला, 'हे अच्युत, आप की कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है। और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है। इसलिए मैं संशय रहित हुआ स्थित हूँ। और आपकी आज्ञा पालन करूँगा।'

एक-एक शब्द बहुमूल्य है। सारी गीता की चेष्टा इन थोड़े से शब्दों के लिए थी—कि अर्जुन के भीतर ये थोड़े से शब्द प्रकट हो सकें। यह कृष्ण का पूरा आयोजन; इतने-इतने बार अर्जुन को समझाया; बार-बार अर्जुन का छिटक छिटक जाना—कृष्ण का फिर-फिर उठाना। यह इन थोड़े से शब्दों को सुनने के लिए था।

सारे गुरुओंकी चेष्टाएँ शिष्य से उन थोड़े से शब्दों को सुनने के लिए हैं—कि किसी दिन वह घड़ी आयेगी सौभाग्य की और शिष्य का हृदय अहोभाव से भरकर कहेगा, 'आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया। मुझे स्मृति प्राप्त हुई। संशयरहित हुआ मैं स्थित हूँ। और आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा है।'

'हे अच्युत . . .।' अच्युत का अर्थ है : जो कभी डिगाया न जा सके। अर्जुन ने बहुत डिगाने की कोशिश की—कृष्ण को। कितने संदेह उठाये ! कितने प्रश्न पूछे ! कोई भी थक जाता। कोई भी कहता कि 'बस, बहुत हुआ। अब मेरा सिर मत खा।' लेकिन बार-बार कृष्ण फिर अनुकंपा से भरे अपना हाथ बढ़ा लेते हैं।

तो अर्जुन कहता है : 'हे अच्युत . . .।' तुम जो कि डिगाये नहीं जा सके . . .। और वही गुरु तो तुम्हें थिर कर सकेगा—जिसे तुम डिगा न सको। जो गुरु तुम से डिग जाय, वह तुम्हें कैसे अनडिगा बना सकेगा ? वह तो असंभव है।

कृष्ण न तो नाराज हुए, न परेशान हुए, न चिंतित हुए, न निराश हुए। जरा भी डिगे नहीं।

तो अर्जुन कहता है, 'हे अच्युत, आप की कृपा से मेरा मोह नष्ट हुआ।'

'तुम्हारे प्रसाद से . . .।' यह बहुत बहुमूल्य बात है। वह सीधा भी कह सकता था : 'मेरा मोह नष्ट हुआ'। लेकिन तब भूल हो जाती। तब गीता अभी समाप्त नहीं हो सकती थी। यात्रा और चलती।

अगर वह कहता, 'मेरा मोह नष्ट हुआ' तो 'मेरा' अभी भी महत्वपूर्ण था। मोह नष्ट हो गया—इसको भी वह 'मेरे' का ही आभूषण बना लेता। अभी भी वह अकड़ से कहता : 'मेरा मोह नष्ट हुआ।' तो कृष्ण को फिर चेष्टा करनी पड़ती।

नहीं; पहली बार उसने कहा है : 'आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हुआ'—मेरे प्रयास से नहीं; तुम्हारे अनुग्रह से; तुम बरसे मेरे ऊपर—अकारण; मेरी कोई पात्रता न थी; मेरा कोई पुण्य का उदय भी न था। मैं खो जाता अन्धकार में, तो शिकायत करने का कोई उपाय न था। लेकिन तुम बरसे, तुम औघड़दानी, तुमने बिना मेरी पात्रता की फिक्र किये मेरे ऊपर खूब बरसा की, खूब अमृत बरसाया। तुम्हारे प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हुआ।

जब भी मैं नष्ट होता है, तो वह परमात्मा के प्रसाद से नष्ट होता है।

अगर तुम यह कहो कि 'मेरे ही प्रयास से नष्ट हुआ—मेरी साधना से, मेरे तप से; तो वह अभी नष्ट हुआ ही नहीं। अभी तपस्वी के भीतर तप में तपा हुआ अहंकार खड़ा ही रहेगा। यह खतरनाक अहंकार है। यह पवित्र अहंकार है। यह साधारण आदमी के अहंकार से भी ज्यादा उपद्रव से भरा हुआ रोग है।

साधारण आदमी का अहंकार तो रोगग्रस्त है, अपवित्र है। उसे भी लगता है, यह





बीमारी जैसा है, छोड़ना है। नहीं छूटता, मजबूरी है। पर छोड़ने की आकांक्षा है।

'पवित्र अहंकार'—जिसको कृष्णमूर्ति ने 'पायस इगोइज्म' कहा है, वह साधु पुरुषों को उपलब्ध होता है। तप किया, धारणा की, ध्यान किया, समाधि को पाया। चेष्टा से उत्पन्न हुआ, श्रम से पाया, अपने ही प्रयास से पाया, तो बड़ा सघन और सूक्ष्म अहंकार निर्मित होता है।

अगर कृष्ण जरा-सा शब्दों में फर्क पाते, अगर अर्जुन जरा बदल कर बात कहता—जमीन आसमान का अंतर हो जाता।

अगर उसने इतना ही कहा होता, 'मेरा मोह नष्ट हो गया', तो अभी और चेष्टा करनी जरूरी थी। अभी मोह भला नष्ट हो गया हो, लेकिन अब इस नष्ट हुए मोह ने एक और नया अहंकार खड़ा कर दिया कि—'मेरा मोह नष्ट हो गया'।

'आपकी कृपा से, तुम्हारे प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया। हे अच्युत, और मुझे मेरी स्मृति प्राप्त हुई।'

वह यह नहीं कहता कि मुझे कुछ नया मिल गया। जो मिला है, वह केवल स्मृति है; वह स्मरण है। जो मिला है, वह केवल याददाश्त है—जिसे मैं भूल गया था, जो मेरे भीतर था, और जिसकी तरफ मेरी नजर न रही थी, तुमने मेरी दृष्टि को फेर दिया। तुमने मुझे याद दिला दी। तुमने मुझे मुझसे ही मुलाकात करवा दी, मुझे मुझसे ही मिला दिया।

पर तुम्हारे प्रसाद से हुआ है।

अपने हाथ से तो कभी भी मैं यहाँ नहीं पहुँच पाता। शायद जितनी मैं चेष्टा करता, उतनी ही स्मृति मुश्किल होती चली जाती।

जिसको कबीर सुरति कहते हैं, नानक सुरति कहते हैं, जिसको बुद्ध ने सम्यक् स्मृति कहा है, वही अर्जुन कहता है, मुझे स्मृति प्राप्त हुई। अब मैं पहचान गया—अपने को। अब मुझे याद आ गई—मेरे 'होने' की। अपने ही अस्तित्व से मुलाकात हो गई। अब मैं अपने आमने-सामने खड़ा हूँ। और इसलिए अब मैं संशयरहित स्थित हूँ।

जिस दिन भी तुम्हें स्मरण आ जाता है कि तुम कौन हो, उसी क्षण सब संशय गिर जाते हैं।

विस्मरण की अँधेरी रात में संशयों की बाढ़ उपजती है। स्मरण के प्रकाश में सब संशय ऐसे ही खो जाते हैं, जैसे दीया जल जाय, तो अँधेरा खो जाता है। सुबह सूरज उग आये, तो रात विदा हो जाती है, रात के तारे बिदा हो जाते हैं।

'संशय रहित हुआ स्थित हूँ . . .।' और अब मुझे कुछ करना नहीं पड़ रहा है—स्थिर होने के लिए। अचानक मैं पाता हूँ, हे अच्युत, कि स्मृति क्या आ गई, मैं स्थित हो गया हूँ। मेरी प्रज्ञा ठहर गई। अब दीये की लौ हिलती नहीं। तूफान आयें, आंधियाँ उठें,

मेरे भीतर कोई कंपन नहीं हो रहा है। स्थित हुआ—मैं अपने भीतर ठहर गया हूँ।

यह गीता का लक्ष्य है : स्थितप्रज्ञ की अवस्था। जब चेतना थिर हो जाय, जैसे कोई दीये की लौ हो, और हवा के झोंके उसे कंपा न सकें; थिर रहे—अकंप, निष्कंप।

'और अब आज्ञा की प्रतीक्षा करता हूँ।' अब तक वह कहता था, 'मैं ऐसा करना चाहता हूँ, वैसा करना चाहता हूँ। ये मेरे प्रियजन हैं, इन्हें मैं मारना नहीं चाहता। मैं त्याग करना चाहता हूँ। मैं संन्यास लेना चाहता हूँ।' पहली बार उसने कहा कि 'अब थिर हुआ; स्मृति मुझे आ गई। अच्युत; अब तुम्हारी आज्ञा। अब तुम्हारी मरजी। अब तुम जो कहो। अब मुझे रत्ती भर भी प्रश्न नहीं है। तुम जो कहोगे, वह ठीक है या गलत—यह सवाल नहीं है। अब तुम जो कहोगे—वह ठीक ही है।' यह थोड़ा समझ लेने जैसा है।

जब तक ऐसी दशा न आ जाय, तब तक गुरु से मिलन नहीं। जब तुम ऐसा न कह सको—'अब तुम जो कहो वही ठीक है'; अब ठीक और गलत का कोई मापदण्ड हम तुम पर लागू न करेंगे; अब तुम्हारा कहना ठीक; तुम्हारा न कहना, गलत। तुम जो न कहो—वह गलत; तुम जो हाँ कहो—वह ठीक। तुम जो छोड़ दो, वह गलत। तुम जो इशारा करो, वह सही। अब तुम्हारा होना पर्याप्त है।' पर यह तभी होता है, जब स्वयं का स्मरण आ जाय।

स्वयं की पहचान के साथ ही गुरु के भीतर की पहचान भी होती है।

अभी तक कृष्ण सखा थे, साथी थे, सारथी थे, हितेक्षु थे, मंगलकामी थे—जिसको बुद्ध ने कहा है : कल्याणमित्र। मित्र थे और कल्याण चाहते थे। इस क्षण गुरु हुए।

इस घड़ी आकर अर्जुन शिष्य हो गया, इस घड़ी आकर रथ ही अर्जुन ने कृष्ण के हाथों में नहीं छोड़ा, अपने को भी छोड़ दिया—कि अब तुम मेरे भी सारथी हो गये। तुम मेरे घोड़ों को ही मत सम्हालो, अब मुझे भी सम्हालो। अब तुम मेरे रथ की ही लगाम मत पकड़ो, मेरी लगाम भी पकड़ लो। अब मैं थिर हुआ। स्मरण को उपलब्ध हुआ। तुम्हें पहचान पाता हूँ। तुम्हारी महिमा को देख पाता हूँ—कि तुम कौन हो। यह अपने को पहचान के मैं तुम्हें भी पहचान गया हूँ। अब मुझे कोई संशय नहीं है। अब तुम्हारी आज्ञा की प्रतीक्षा है।

जिस दिन शिष्य आज्ञा की प्रतीक्षा करता है—समर्पण हो गया; शिष्य उसी दिन शिष्य बनता है; और उसी दिन गुरु में उसे परमात्मा के दर्शन होते हैं।



## समर्पण—या महाविनाश • परमात्मा को झेलने की पात्रता विचार से विषाद • विषाद, समर्पण और आत्म-स्मरण

### इक्कीसवाँ प्रवचन

प्रातःकाल, दिनांक १० अगस्त, १९७५, श्री रजनीश आश्रम, पूना

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगंयोगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥



इसके उपरान्त संजय बोला, हे राजन्, इस प्रकार मैंने श्री वासुदेव के और महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत रहस्ययुक्त और रोमान्चकारक संवाद को सुना।

श्री व्यासजी की कृपा से दिव्य-दृष्टि के द्वारा मैंने इस परम रहस्ययुक्त गोपनीय योग को साक्षात् कहते हुए स्वयं योगेश्वर श्री कृष्ण भगवान् से सुना है।

इसलिए हे राजन्, श्री कृष्ण भगवान् और अर्जुन के इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक, और अद्भुत संवाद को पुनः पुनः स्मरण करके मैं बारम्बार हर्षित होता हूँ।

तथा हे राजन्, श्री हरि के उस अद्भुत रूप को भी पुनः पुनः स्मरण करके मेरे चित्त में महान् विस्मय होता है, और मैं बारम्बार हर्षित होता हूँ।

हे राजन, विशेष क्या कहूँ ! जहाँ योगेश्वर श्री कृष्ण भगवान् हैं और जहाँ गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन है, वहीं पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मत है।

पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : गीता में कृष्ण का जोर समर्पण, भक्ति और श्रद्धा पर है, लेकिन आज की विश्व-स्थिति में लोग बुद्धि-केंद्रित और संकल्प-केन्द्रित हैं। इस स्थिति में गीता का मार्ग किस प्रकार मौजू बैठता है?

इसलिए ही मौजू बैठता है।

लोग जब अति बुद्धि-केन्द्रित होते हैं, तब बुद्धि एक घाव की तरह हो जाती है। बुद्धि का उपयोग तो उचित है, लेकिन बुद्धि के द्वारा संचालित होना उचित नहीं है। बुद्धि उपकरण रहे—उपयोगी है; बुद्धि मालिक बन जाय—घातक है।

चूंकि युग बुद्धि-केन्द्रित है, बुद्धि एक घाव बन गयी है। उससे न तो जीवन में आनंद फलित होता, न शांति का आविर्भाव होता, न जीवन में प्रसाद बरसता—जीवन केवल चिंताओं—और चिंताओं से भर जाता है; विचार—और विचारों की विक्षिप्त तरंगें व्यक्ति को घेर लेती हैं।

बुद्धि अगर मालिक हो जाय, तो विक्षिप्तता तार्किक परिणाम है। बुद्धि अगर सेवक हो, तो अनूठी है। उसके ही सहारे तो सत्य की खोज होती है। फर्क यही ध्यान रखना कि बुद्धि तुम्हारी मालिक न हो; मालिक हुई कि बुद्धि उपाधि हो गयी।

इसीलिए कृष्ण का उपयोग है। उनकी समर्पण की दृष्टि औषधि बन सकती है।

एक तरफ ढल गया है जगत्—बुद्धि की तरफ; अगर थोड़ा भक्ति, थोड़ी श्रद्धा का संगीत भी पैदा हो, तो बुद्धि से जो असंतुलन पैदा हुआ है, वह संतुलित हो जाय; यह जो एकांगीपन पैदा हुआ है, एकांत पैदा हुआ है, वह छूट जाय; जीवन ज्यादा संगीतपूर्ण हो, ज्यादा लयबद्ध हो।

हृदय और बुद्धि अगर दोनों तालमेल से चलने लगें, तो तुम परमात्मा तक पहुँच जाओगे।

ऐसा ही समझो कि कोई आदमी यात्रा पर निकला हो; बायाँ पैर कहीं जाता हो,

दायाँ कहीं जाता हो—वह कैसे पहुँचेगा मंजिल तक ? हृदय कुछ कहता हो, बुद्धि कुछ कहती हो, दोनों में तालमेल न हो—तो तुम कैसे पहुँच पाओगे ? बुद्धि ले जाएगी—व्यर्थ के विचारों में, व्यर्थ के ऊहापोह में, कुतूहल में; हृदय तड़फेगा प्रेम के लिए, प्यासा होगा श्रद्धा के लिए—दोनों दो दिशाओं में खींचते रहेंगे; तुम न घर के रह जाओगे, न घाट के।

ऐसी ही दशा मनुष्य की हुई है।

समर्पण का यह अर्थ नहीं है कि बुद्धि को तुम नष्ट कर दो। समर्पण का इतना ही अर्थ है कि बुद्धि अपने से महत्तर की सेवा में संलग्न हो जाए।

अभी श्रेष्ठ को अश्रेष्ठ चला रहा है; यही तुम्हारी पीड़ा है। अगर श्रेष्ठ अश्रेष्ठ को चलाने लगे—यही तुम्हारा आनंद हो जाएगा।

अभी तुम सिर के बल खड़े हो; जीवन में पीड़ा ही पीड़ा है, नरक ही नरक है। तुम पैर के बल खड़े हो जाओ। अभी तुम उलटे हो।

बुद्धि कीमती है—इसे ध्यान रखना। लेकिन बुद्धि घातक है, अगर अकेली ही कब्जा करके बैठ जाए। और बुद्धि की वृत्ति है—मोनोपोली की—एकाधिकार की। बुद्धि बड़ी ईर्ष्यालु है। जब बुद्धि कब्जा करती है; तो फिर किसी को मौका नहीं देती। जब विचार तुम्हें पकड़ लेते हैं, तो फिर निर्विचार के लिए कोई जगह नहीं छोड़ते। अगर दो विचारों के बीच निर्विचार भी तिरता रहे, तो विचारों से कुछ बिगड़ता नहीं—तुम उनका भी उपयोग कर लोगे।

जो होशियार हैं, जो कुशल हैं—वे जीवन में किसी चीज़ का इनकार नहीं करते—वे सभी चीज़ का उपयोग कर लेते हैं। जो कुशल कारीगर है, वह किसी पत्थर को फेंकता नहीं; वह मंदिर के किसी न किसी कोने में उसका उपयोग कर लेता है। और कभी-कभी तो ऐसा हुआ है कि जो पत्थर किसी भी काम का न था, और फेंक दिया गया था, आखीर में वही शिखर बना।

जीवन में कुछ भी फेंकने योग्य नहीं है, क्योंकि परमात्मा व्यर्थ तो देगा ही नहीं। अगर तुम्हें फेंकने जैसा लगता हो, तो तुम्हारी नासमझी होगी। जीवन में सभी कुछ सम्यक् रूपेण उपयोग कर लेने जैसा है।

आज मनुष्य ज्यादा बुद्धि की तरफ झुक गया है। वह पक्षपात ज्यादा हो गया; सन्तुलन टूट गया है। आदमी गिरा-गिरा—ऐसी अवस्था में है; नाव डूबी-डूबी—ऐसी अवस्था में है : एक तरफ झुक गयी है। कृष्ण की बात इसीलिए मौज़ू है।

संकल्प का भी मूल्य है, जैसे बुद्धि का मूल्य है। वस्तुतः जिसके भीतर संकल्प न हो, वह समर्पण भी कैसे करेगा ?

तुम इन बातों को सुनकर चुनाव करने में मत लग जाना, अन्यथा पछताओगे।





ये बातें चुनाव करने के लिए नहीं हैं; ये बातें तुम्हें पूरे जीवन की एक विहंगम दृष्टि देने के लिए हैं। जीवन की समग्रता तुम्हें दिखायी पड़नी चाहिए। और जब भी कभी एक चीज़ ज्यादा हो जाती है, तो उससे विपरीत पर ज़ोर देना पड़ता है, ताकि संतुलन थिर हो जाए।

समर्पण का यह अर्थ मत समझना कि जिनके जीवन में संकल्प की कोई क्षमता नहीं, वे समर्पण कर पाएँगे। वे समर्पण भी कैसे करेंगे ? समर्पण से बड़ा संकल्प है कोई ? 'सब कुछ छोड़ता हूँ'—इससे बड़ा कोई संकल्प हो सकता है ? 'सब कुछ परमात्मा के चरणों में रख देता हूँ'—इससे बड़ा कोई संकल्प हो सकता है ? यह तो महा संकल्प है।

संकल्प का भी उपयोग कर लेता है—समझदार व्यक्ति। वह संकल्प को समर्पण में नियोजित कर देता है। वह संकल्प के बैलों को समर्पण की गाड़ी में जोत देता है। यात्रा तो वह समर्पण की करता है, लेकिन संकल्प की सारी ऊर्जा का उपयोग कर लेता है।

और ध्यान रखना—ऊर्जा तटस्थ है। ऊर्जा कहीं भी नहीं ले जा रही है; तुम जहाँ ले जाना चाहो, वहीं ले जाएगी।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन एक कार बेचनेवाली दुकान में गया। उसने एक कार बड़ी देर तक गौर से देखी। दुकानदार ने बहुत समझाया। उसकी उत्सुकता देखी—लगा कि खरीदार है। प्रशंसा में उसने कहा कि 'यह कार दो घंटे में दिल्ली पहुँचा देती है; बड़ी तेज़ गाड़ी है।' नसरुद्दीन ने कहा, 'फिर सोचकर कल आऊँगा।' वह कल आया। कहने लगा कि 'नहीं भाई, नहीं खरीदनी है।' दुकानदार ने कहा, 'लेकिन हो क्या गया ? क्या भूलचूक मिली ?' उसने कहा, 'भूलचूक का सवाल ही नहीं। मुझे दिल्ली जाना ही नहीं; मुझे लखनऊ जाना है ! रातभर सोचा कि दिल्ली जाने का कोई कारण ? कोई कारण दिखायी नहीं पड़ता !'

अब कार न तो दिल्ली ले जाती है, न लखनऊ ले जाती है, सिर्फ ले जाती है।

ऊर्जा तटस्थ है।

संकल्प अहंकार में भी ले जा सकता है—समर्पण में भी। यह बड़ी गुह्य बात है। इसे थोड़ा ध्यानपूर्वक समझना।

संकल्प अहंकार में भी ले जा सकता है; वह तो ऊर्जा है। तुमको अगर अहंकार भरना हो, तो तुम अपने सारे संकल्प को अहंकार के भरने के लिए ही नियोजित कर देना। तुम परमात्मा की तरफ पीठ कर लेना। लेकिन पीठ करने में भी ताकत लगती है। वह ताकत उतनी ही है, जितनी चरणों में सिर रखने में लगती है।

परमात्मा के खिलाफ लड़ने में उतनी ही ताकत लगती है, जितनी उसके आनंद में विभोर होकर नाचने में लगती है। नास्तिक परमात्मा के खिलाफ तर्क खोजने में उतनी ही शक्ति लगता है, जितना आस्तिक उसकी अर्चना में लगाता है।

नास्तिक नासमझ है। क्योंकि अगर यह सिद्ध भी हो जाय कि परमात्मा नहीं है,

तो भी नास्तिक को कुछ मिलेगा नहीं; उसकी जीवन-धारा मरुस्थल में खो गयी, वह सागर तक पहुँचेगी नहीं। इसी जीवन-धारा से सागर तक पहुँचा जा सकता था।

नास्तिक को मैं गलत नहीं कहता, सिर्फ नासमझ कहता हूँ। आस्तिक को मैं समझदार कहता हूँ।

नास्तिक को मैं पापी नहीं कहता, सिर्फ भूल से भरा हुआ कहता हूँ। और भूल से किसी और को वह नुकसान नहीं पहुँचाता, अपने को ही पहुँचाता है। जितनी ताकत परमात्मा से लड़ने में लगती है, उतनी ताकत में तो परमात्मा मिल जाता है।

ऊर्जा तटस्थ है। संकल्प को ही लगाना पड़ता है—अहंकार के लिए, और संकल्प को ही लगाना पड़ता है—समर्पण के लिए।

अगर अहंकार से थक गये हो, उसके काँटे चुभ गये हैं—हृदय में गहरे, घाव बन गये हैं, तो अब उसी संकल्प को—जिसे तुमने अहंकार की पूजा में नियत किया था, अब उसी संकल्प को समर्पण की सेवा में लगा दो।

ऊर्जा का कोई गन्तव्य नहीं है; गन्तव्य तुम्हारा है; तुम जिस तरफ चल पड़ो; अगर तुम नरक जाना चाहो, तो पैर नरक ले जाएँगे। पैर यह न कहेंगे कि नरक क्यों ले जाते हो! पैरों को कोई प्रयोजन नहीं। पैरों को चलने से प्रयोजन है। तुम स्वर्ग ले जाओ, पैर स्वर्ग ले जाएँगे।

ध्यान रखना—तुमने जीवन की जो भी दशा बना ली है, उसी ऊर्जा से जीवन की दशा बिलकुल भिन्न भी हो सकती है।

तुमने कभी खयाल किया—'चिंतित आदमी कितनी शक्ति लगाता है चिंता में!' वही शक्ति प्रार्थना में लग सकती थी। अशांत व्यक्ति कितनी शक्ति लगाता है अशांति में! उससे ही तो शून्य का जन्म हो सकता था।

तुम व्यर्थ को खोजने में कितना दौड़ते हो! उतनी दौड़ से तो सार्थक घर आ जाता। उतनी दौड़ से तो तुम अपने घर वापस आ जाते। बाजार में कितना तुम श्रम कर रहे हो! उतने श्रम से तो यह सारा संसार मंदिर हो जाता। इसे बहुत खयाल में रख लो।

यह युग बुद्धि का युग है और संकल्प का—संकल्प यानी अहंकार का। इसलिए मैं कहता हूं कि अगर पश्चिम धर्म की तरफ मुड़ा—जैसा कि मुड़ रहा है—तो पूरब को मात कर देगा; क्योंकि ऊर्जा उसके पास है। अभी उसने बड़े भवन बनाने में लगाई है ऊर्जा—तो सौ और डेढ़ सौ मंजिल के मकान खड़े कर दिये हैं। अभी उसने चाँद-तारों पर पहुँचने में ऊर्जा लगाई है, तो चाँद-तारों पर पहुँच गया है। अगर कल उसके जीवन में क्रान्ति आयी—आयेगी ही, क्योंकि चाँद-तारे तृप्त नहीं कर रहे हैं; डेढ़ सौ मंजिल के मकान भी कहीं नहीं पहुँचाते—अधर में लटका देते हैं; विराट् धन-सम्पदा पैदा हुई है। ऊर्जा है, संकल्प है, बल है—अगर ये बलशाली लोग कल धर्म की तरफ लगेंगे, तो इनके मंदिर तुम्हारे मंदिरों





जैसे दीनहीन न होंगे। ये अगर चाँद पर पहुँचने के लिए जीवन को दाँव पर लगा देते हैं, तो समाधि में पहुँचने के लिए भी जीवन को दाँव पर लगा देंगे। ये तुम जैसे काहिल सिद्ध न होंगे, सुस्त न होंगे।

इस बात को स्मरण रखो कि जिसके पास बड़ा संकल्प है, उसी के पास बड़ा समर्पण होगा; जिसके पास पका हुआ अहंकार है, वही तो चरणों में झुकने की क्षमता पाता है।

इसलिए मैं नहीं कहता कि तुम अहंकार को काटो, गलाओ—मैं कहता हूँ, पकाओ, प्रखर करो, तेजस्वी करो; तुम्हारा अहंकार जलती हुई एक लपट बन जाय, तभी तुम समर्पण कर सकोगे।

तुमसे मैं यह नहीं कहता हूँ कि तुम काहिल होकर गिर जाओ पैरों में, क्योंकि खड़े होने की ताकत ही न थी। ऐसे गिरे हुए का क्या मूल्य होगा? खड़े हो ही न सकते थे—इसलिए गिर गये! सिर उठा ही न सकते थे—इसलिए झुका दिया। ऐसे पक्षाघात और लकवे से लोगों के समर्पण का कोई भी मूल्य नहीं है। मूल्य तो उसी का है, जिसने सिर को उठाया था और उठाये चला गया था, और सब आकाशों में सिर को उठाये खड़ा रहा था; बल था; बड़े तूफान आये थे और सिर नहीं झुकाया था; बड़ी आँधियाँ आई थीं और इंचभर हिला न सकी थीं; संसार में लड़ा था, जूझा था।

अर्जुन जैसा अहंकार चाहिए! योद्धा का अहंकार चाहिए! इसलिए जब अर्जुन झुकता है, तो क्षणभर में महात्मा हो जाता है।

अब तक संजय अर्जुन को महात्मा नहीं कहता, आज अचानक अर्जुन महात्मा हो गया! इस आखिरी घड़ी में। पटाक्षेप होने को है, गीता-अध्याय समाप्त होने को है—अचानक अर्जुन महात्मा हो गया! क्या घटना घटी? वही ऊर्जा जो योद्धा बनाती थी, वही अब समर्पित हो गयी।

तुम यह मत सोचना कि अर्जुन की जगह अगर कोई दुकानदार होता, तो इतनी आसानी से महात्मा हो जाता। नहीं; वह अपने हिसाब लगाता। वह गणित बिठाता। वह देखता कि फायदा किस में है। जीवन दाँव पर न लगता। वह इतनी सरलता से न कहता, 'जो आपकी आज्ञा!'

ऐसा नहीं कि अर्जुन लड़ा नहीं; लड़ा; लड़ा तभी तो कह सका; लड़ा, जूझा; कृष्ण से उसने कोई कमी नहीं रखी—लड़ने में। सब तरफ से उसने संघर्ष लिया; सब तरफ से कोशिश की—अपनी ही बात पर अडिग रहने की। लेकिन जब पाया कि अपनी बात गलत है; जब सब तरफ से पाया, छिद्र ही छिद्र हैं; नाव सब तरफ से बचाने की उसने कोशिश की, लेकिन न बचा पाया; नाव डूब गयी—तो झुका।

यह झुकना ऐसा ही नहीं है कि बस, झुक गया—औपचारिकता से। नहीं; संघर्ष किया, अपने संकल्प को बचाये रखने की कोशिश की; कृष्ण के आगे जल्दी और सरलता

से झुक नहीं गया—झुका तब, जब झुकने के सिवाय उपाय ही न रहा।

जब संकल्प ने ही बता दिया कि यही मार्ग है; जब अहंकार ने ही पक कर कह दिया कि 'अब फल को गिरना चाहिए'; पक गया, अब कोई कच्चा नहीं है—तब गिरा।

इसलिए कहता हूँ, इस युग को कृष्ण की जरूरत है। अहंकार पक गया है। संकल्प प्रगाढ हुआ है। मनुष्य के हाथ में बड़ी ऊर्जा है। यह ऊर्जा नरक ले जाएगी। यह ऊर्जा पृथ्वी को हिरोशिमा और नागासाकी में बदल देगी। अगर जल्दी ही इस ऊर्जा का रूपांतरण न हुआ, अगर यह ऊर्जा संकल्प से हटकर समर्पण की तरफ न बही, तो यह रेगिस्तान में खो जाएगी, मरुस्थल में खो जाएगी। इसके साथ आदमी भी खो जाएगा। एक महा अग्नि होगी, महा विस्फोट होगा।

मनुष्य की प्रौढता पकी है, और कृष्ण के संदेश की ऐसे क्षण में जरूरत है।

● दूसरा प्रश्न : कृष्ण ने ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन को दिव्य-दृष्टि दी और अपना विराट् विश्वरूप दिखाया, फिर अर्जुन के भयभीत होने पर उसके बाद भक्ति-योग का उपदेश दिया। दिव्य-दृष्टि के मिलने के पश्चात, सात अध्यायों के बाद, अर्जुन का समर्पण पूरा हुआ, तथा वह कृष्ण-चेतना के प्रसाद से कृतकृत्य हुआ। दिव्य दृष्टि और कृष्ण-चेतना के बीच इस अन्तराल का अर्थ क्या है? इतना फासला क्यों है?

उसका कारण है।

जो दिव्य-दृष्टि अर्जुन को मिली, वह अर्जुन की उपलब्धि न थी—कृष्ण की भेंट थी। वह कृष्ण ने दी थी। वह उधार थी। अर्जुन की पात्रता से ज्यादा थी। पात्र कंप गया, भयभीत हो गया। अर्जुन इतनी विराट् घटना के लिए तब तैयार न था। अर्जुन ने बूँद माँगी थी—और सागर आ गया। बूँद होती—सम्हाल लेता; सागर को न सम्हाल पाया। जड़ों तक कंप गया, भयभीत हो गया, चिल्लाने लगा, 'अब बंद करो यह। वापस लौट आओ—अपने मनमोहक रूप में। यह मुझसे नहीं देखा जाता।'

कृष्ण ने जानकर यह धक्का दिया। नहीं कि कृष्ण को पता नहीं है कि अर्जुन अभी तैयार नहीं है; लेकिन साधना के लम्बे पथ पर बहुत-से धक्कों की भी जरूरत पड़ती है। क्योंकि तुम अपने जीवन की आदतों में इतने जड़ हो गये हो कि जब तक कि कोई विराट् धक्का न लगे, तब तक तुम हिलते ही नहीं। तुम अपनी आदतों के वर्तुल में इस भाँति घूमते रहते हो—जैसे यंत्र। जब तक कोई आकर ज़ोर से तुम्हें धक्का ही न दे, तब तक तुम पटरी से नीचे नहीं उतरते।

एक विद्युत के धक्के की तरह, एक इलेक्ट्रिक शॉक की तरह बहुत बार गुरु को शिष्य के ऊपर टूट पड़ना पड़ता है। वैसा ही कृष्ण ने किया; वही जो झेन फकीर करते हैं—लेकर डण्डा शिष्य पर टूट पड़ते हैं, मारते भी हैं, पीटते भी हैं; कभी उठाकर द्वार के बाहर भी फेंक देते हैं। ऐसे ही कृष्ण टूट पड़े बड़े सूक्ष्म रूप से।





अर्जुन बार बार कह रहा था कि 'मुझे भरोसा नहीं आता—तुम यह जो कहे जाते हो कि तुम्हीं हो केन्द्र—सारे अस्तित्व के; कि तुम्हीं ने बनाया यह जगत्—इस पर मुझे संदेह है। मैं तो तुम्हारा यही रूप देखता हूँ—जो सदा से देखा कि तुम मेरे सखा हो। अगर ऐसा सच है, तो दिखाओ मुझे वह विराट् रूप—जिसकी तुम बात करते हो।'

एक ऐसी घड़ी आ गयी कि कृष्ण को वह विराट् रूप अर्जुन पर गिरा देना पड़ा। उससे अर्जुन हिला, कंपा; सदा के लिए कंप गया—फिर दुबारा वापस अपने पुराने ढाँचे में बैठ न पाया। उसकी जिज्ञासा ने नया आयाम ले लिया।

लेकिन वह दृष्टि उधार थी। वे कृष्ण ने आँखें दी थीं, इसलिए उन आँखों से उसने देखा। कृष्ण ने आँखें वापस ले लीं—वापस संसार, वापस माया का जगत् दिखायी पड़ने लगा।

इसका बड़ा महत्वपूर्ण अर्थ है। इसका अर्थ है कि बुद्ध पुरुष अगर तुम्हें कुछ झलक भी दिखा दें, तो वह तुम्हारी न हो पाएगी। तुम्हें निखरना होगा। तुम्हें अपनी जीवन-दृष्टि को उतना पारदर्शी करना होगा।

तो बुद्ध पुरुषों से दृष्टि उधार मत माँगना; दृष्टि को स्वच्छ करने के उपाय भर माँगना। उनसे यह मत कहना कि 'एक बार आपकी आँख से इस संसार को देख लेने दो।' तुम देख भी लोगे, तो सिर्फ घबड़ाओगे। तुम उसे पचा न पाओगे। जो तुम देखोगे, वह इतना विराट् होगा कि तुम्हारे आँगन में समा न पाएगा; तुम्हारा आँगन टूट जाएगा; दीवालें गिर जाएँगी; तुम एक खण्डहर हो जाओगे।

समय के पहले कुछ भी न माँगना; हालाँकि मन होता है—समय के पहले माँग लेने का।

मन तो बच्चों जैसा है। जिसकी न पात्रता है, न तैयारी है, उसको भी पा लेने की आकांक्षा होती है।

अर्जुन जिद्द किये गया। फिर कृष्ण ने देखा कि ठीक है, योद्धा है, क्षत्रिय है, गिरने दो इस पर पूरा आकाश; शायद वही इसे कंपायेगा; शायद वही इसे मेरे प्रति सजग करेगा कि मैं कौन हूँ; नहीं तो यह मुझे ऐसे ही देखता रहेगा, जैसा इसे मैं दिखायी पड़ रहा हूँ।

बुद्ध को तुमने देखा, महावीर को देखा, कृष्ण को देखा—कुछ भी तो दिखायी नहीं पड़ा; साधारण पुरुष दिखायी पड़े—जैसे तुम थे, ऐसे ही वे थे। इसका कारण यह नहीं था कि वे तुम जैसे थे; इसका कारण कुल इतना था कि तुम्हारे पास और ढंग से देखने की आँख ही न थी, अन्यथा तुम उनमें सब देख लेते। सारे चेतना के शिखर उनमें प्रकट थे; लेकिन तुम्हारी आँख चमड़ी से ज्यादा भीतर न जा सकी। हड्डी-मांस-मज्जा की देह ही तुम देख सके। बस, उतनी ही तुम्हारी आँख की क्षमता है।

अर्जुन ने आँख उधार माँग ली। उससे उसे विराट् दिखा, ब्रह्म दिखा, विस्तीर्ण

दिखा। लेकिन जिसके लिए तुम्हारी तैयारी न हो गयी हो, वह अगर प्रसाद से भी मिल जाय, तो तुम्हें उसे छोड़ना पड़ेगा। क्योंकि तुम उसे पचा ही न पाओगे। तुम उसे आत्मसात न कर सकोगे। तुम उसे अपने जीवन का अंग न बना पाओगे। तुममें और उसमें फासला इतना होगा कि वह एक दुःख-स्वप्न की भाँति हो जाएगा! तुम उसे भुलाना चाहोगे। तुम चाहोगे, 'जल्दी वापस ले लो।'

इस जगत् में सब कुछ उधार दिया जा सकता है, दिव्यता उधार नहीं दी जा सकती—यह अर्थ है उस घटना का।

दिव्यता के लिए तुम्हें धीरे-धीरे अपने को निखारना होता है, एक शुचिता लानी होती है। फिर भी दिव्यता जब मिलती है, तब प्रसाद-रूप ही मिलती है; तुम्हारी पात्रता के कारण नहीं मिलती, पर तुम्हारी पात्रता के कारण मिलती है—तो खोती नहीं। अगर अर्जुन पात्र रहा होता—उस क्षण में, तो वह जो दृष्टि मिली थी, वह उसकी हो जाती। गीता वहीं समाप्त हो जाती। सात अध्यायों की और ज़रूरत न थी।

सात प्रतीकात्मक आँकड़ा है। किसी की शादी करते हैं, तो हम सात चक्कर लगवाते हैं। सात यानी संसार।

दिव्य दृष्टि मिल गयी, फिर भी पूरा संसार का चक्कर जारी रहा, सात चक्कर लग गये!

सात दिन में हमने समय को बाँट दिया है। समय यानी संसार। सात का वर्तुल है।

दिव्य दृष्टि उधार थी, इसलिए पूरा संसार फिर लगा, फिर पूरे संसार से भटकना पड़ा, फिर सात भाँवर लीं, तब कहीं वह उस जगह आ पाया—जहाँ उसको अपनी दृष्टि मिली।

वही है प्रमाणिक, जो तुम्हारे भीतर उगा है, उपजा है। जो फूल तुम्हारे भीतर खिला है, वही सच्चा है; यद्यपि उसको खिलने के लिए भी बहुत हज़ारों-करोड़ों मील दूर सूरज की किरणों की ज़रूरत है; वह भी बिना प्रसाद के नहीं खिलेगा।

समझे फर्क?

एक कली है: रातभर प्रतीक्षा की है, जन्मों-जन्मों से राह देखी है; छिपी थी कभी बीज में, फिर ज़मीन में उपजी, अंकुर में छिपी, वृक्ष में छिपी थी; हज़ारों कठिनाइयों और संघर्षों के बाद कली बनी; रातभर प्रतीक्षा की है; पंखुड़ियाँ तैयार हैं खुलने को—पर सूरज की प्रसाद-रूप वर्षा हो तभी न?

सुबह सूरज उगा, कली खिल गयी! पास में ही एक प्लास्टिक का फूल भी रखा है: वह बिना सूरज के खिला है; न रात देखता, न दिन देखता; वह सच्चा है ही नहीं। उसे खिलने की कोई ज़रूरत नहीं है, मरने की भी कोई ज़रूरत नहीं। उसमें कोई सुगंध भी नहीं है; उसमें जीवन की लीला भी नहीं है। उसमें न कुछ कंपता, न डुलता। उसमें कोई





प्रवाह नहीं है। वह जड़ है, वह मृत है। प्लास्टिक से ज्यादा मुरदा चीज़ तुम न खोज पाओगे!

और अब वैज्ञानिक कहते हैं कि जल्दी हम हृदय भी प्लास्टिक के लगा देंगे, आदमी के शरीर के अंग भी प्लास्टिक के कर देंगे।

आदमी वैसे ही बहुत झूठा हो गया है। अब कृपा करो! अब उसको और प्लास्टिक का मत करो, नहीं तो वह और झूठा हो जाएगा। अभी थोड़ी-बहुत उसकी कली कभी-कभी खिलती है—किसी कृष्ण के सूर्य के पास, वह भी मुश्किल हो जाएगी। प्लास्टिक का हृदय क्या धड़केगा?

यह संजय कहता है कि 'ये वचन मैंने स्वयं ही सुने; स्मरण कर-करके मेरा हृदय आह्लादित होता है।' कहीं प्लास्टिक का होता हृदय, तो यह कहता, 'वचन सुने; मेरे हृदय में कुछ भी नहीं होता है।'

प्लास्टिक का हृदय कहीं हर्षित होगा—स्मरण कर-करके!

यह बात ही रोमांचित करती है संजय को। वह कहता है, 'मैंने सिर्फ सुनी है; दूर से सुनी है; गुरु की कृपा से सुनी है—व्यास की कृपा से सुनी है। मैंने सिर्फ सुनी है। मैं कोई भागीदार न था। मुझसे बात कही भी न गयी थी। कहनेवाले कृष्ण थे, सुननेवाला अर्जुन था; मैं तो बहुत दूर था। व्यास की कृपा से मुझे दृष्टि मिली, इसलिए उसे देख सका। लेकिन मेरा हृदय भी आंदोलित होता है आनंद से। सुन-सुनकर भी मैं पुलकित हो गया हूँ। ऐसी अनूठी, ऐसी विस्मयकारक घटना घटी! हरि का ऐसा रूप देखा!'

होता प्लास्टिक का हृदय, तो जैसे टेलीविज़न दूर से देख लेता है, ऐसा संजय ने भी देखा होता—संजय न हुए होते, टेलीविजन हुए होते। कुछ भी पुलकित न होता, कुछ भी हर्षित न होता।

टेलीविज़न को क्या फर्क पड़ता है कि फिल्म-अभिनेता का चित्र उतरता है उस पर, कि कोई तस्कर का, कि कृष्ण का, कि बुद्ध का—कोई फर्क नही पड़ता; यंत्रवत है।

असली फूल खिलता है अपने भीतर से, लेकिन ज़रूरत होती है—सूरज के प्रसाद की। नकली फूल कभी खिलता ही नहीं; उसे किसी प्रसाद की भी कोई ज़रूरत नहीं होती।

तुम जब खिलोगे, तब दो घटनाओं का मेल होगा: तुम तैयार होओगे—कली की भाँति और सूरज आयेगा, और तुम्हें तुम्हारी नींद से जगायेगा। सूरज फैलायेगा—अपनी किरणों का जाल तुम्हारे चारों तरफ।

वही तो कृष्ण करते हैं, वही बुद्ध करते हैं। वही अगर तुम राजी हो तो मैं कर रहा हूँ: तुम्हारी कली के आसपास किरणों का एक जाल, किरणों की अंगुलियों से धीमे-धीमे तुम्हें सहलाना और जगाना! नींद लम्बी है, बहुत प्राचीन है। उठना बहुत मुश्किल है। पर अगर कली जीवित है, तो उठ ही आयेगी।

एक घड़ी घटी—अर्जुन के जीवन में, जब आँख उधार थी। उससे केवल भय पैदा हुआ। उससे अर्जुन महात्मा न बना। उससे अर्जुन के जीवन में महत् का अवतरण न हुआ; विराट् देख लिया और महात्मा न बना, महत् का अवतरण न हुआ! विराट् द्वार पर खड़ा हो गया, उसने घबड़ाकर आँखें बंद कर लीं—जैसे सूरज की तरफ तुमने देखा हो और आँखें धुंधिया गईं, कुछ दिखाई न पड़ा, आँखें बंद हो गईं, अँधेरा फैल गया।

विराट् को देखने का अर्थ है: अरबों-खरबों सूरज को एक साथ देखना। यह एक सूरज तो बहुत छोटा सूरज है, टिमटिमाता दीया है। अरबों-खरबों सूरज देखे अर्जुन ने—कृष्ण के भीतर; सूरजों का जन्म देखा, उनका विलीन होना देखा; सृष्टि का बनना देखा—और मिटना देखा; सृजन के क्षण से लेकर प्रलय के क्षण तक पूरा एक क्षण में सब संग्रहीभूत देखा; जन्म में छिपी मौत देखी; प्रकाश में छिपा अँधेरा देखा; सौंदर्य में छिपी कुरूपता देखी। घबड़ा गया। कंप गया। कहा, 'बंद करो! यह आँख अपनी वापस लो।'

महत् द्वार पर खड़ा हुआ, अर्जुन महात्मा न हो सका। अभी अर्जुन तैयार ही न था। यह अमृत तो आया, लेकिन ऐसे आया, जैसे वर्षा में नदी में बाढ़ आ जाती है। तुम घबड़ा उठते हो। तुम कहते हो, 'गंगा मैया, वापस ले ले। यह तो घर बहा जाता है! यह तो खेत डूब गया। यह तो जानवर मरे जाते हैं। यह तो प्राण पर संकट हो गया।' यही जल खेती को हरियाली देता है। इसी जल के बिना पशु मर जाते हैं। इसी जल के बिना आदमी न होगा, सभ्यता न होगी।

सारी सभ्यताएँ नदियों के किनारे बड़ी हुईं। इसलिए तो हिन्दू नदियों को इतनी पूजा देते रहे हैं। क्योंकि सारा मनुष्य, सारा संस्कार, सारी सभ्यता, सारा खेल नदी के किनारे है, जल के आसपास है।

तुम अगर वैज्ञानिक से पूछो तो बताएगा, तुम अपने भीतर अट्ठासी परसेंट पानी हो; जल ही जल है, गंगा ही गंगा भीतर बह रही है।

जल खो जाता है, सभ्यताएँ खो जाती हैं, मरुस्थल रह जाते हैं, खण्डहर रह जाते हैं। इसी जल से जीवन है और यही जल बाढ़ की तरह आता है—भयंकर विकराल बाढ़ की तरह और जीवन को मिटाने लगता है, मृत्यु हो जाता है। जिसने सींचा था वृक्षों को, वही बहा ले जाता है। जिसने कण्ठों की प्यास बुझाई थी, वही उनको डुबा देता है। चीख-पुकार। कुछ सुनाई नहीं पड़ता।

अर्जुन को दृष्टि तो मिली थी, लेकिन उस दिन कृष्ण में बाढ़ आयी। अर्जुन तैयार न था—उतनी बड़ी बाढ़ के लिए। उसके पास बाँध न था कि इस बाढ़ का उपयोग कर लेता। इस विराट् जल को भर लेता, इतनी उसके भीतर क्षमता न थी। सात अध्याय और लग गये—एक पूरा संसार और लग गया—तब कहीं जाकर उसे अपनी दृष्टि





उत्पन्न हुई।

दोनों में बड़ा फर्क है। जब अर्जुन कृष्ण से दृष्टि माँग रहा था, तब वह अहंकारी है। वस्तुतः वह मानता नहीं है कि कृष्ण यह कर सकते हैं। उसे विश्वास नहीं है; भीतर सन्देह है। वह तो परीक्षा ले रहा है। शिष्य गुरु की परीक्षा ले रहा है—दुर्घटना घटेगी।

गुरु शिष्य की परीक्षा ले, समझ में आ सकता है। लेकिन अर्जुन जब पूछ रहा है, 'दिखाओ अपना विराट् रूप', तो वह यह नहीं सोच रहा है कि ये दिखा पाएँगे। वह जानता है कि 'भलीभाँति इनको जानता हूँ: बचपन के साथी हैं, सखा हैं; अच्छे-बुरे सब कामों में साथ रहे हैं; धोखा-धड़ी में भी तालमेल रहा है; षड्यंत्र में सहयोगी रहे हैं—अचानक ये विराट् के दावेदार हो गये! ये भगवान् हैं?' इसको एकदम इनकार भी नहीं कर सकता, क्योंकि कृष्ण की मौजूदगी भीतर उसे हलके-हलके हृदय को भी छूती है; कहीं ऐसा लगता भी है, हो न हो ठीक ही हों। लेकिन भरोसा भी नहीं आता; संदेह प्रबलता से खड़ा है—पैर जमाकर खड़ा है, अगंद की भाँति खड़ा है, वह हटता नहीं। वह तो बाढ़ न आ जाएगी, तब तक अगंद हटेगा भी नहीं; आकाश न टूटेगा, तब तक अगंद हटेगा भी नहीं।

पूछता है कृष्ण से अर्जुन। उसे भरोसा नहीं था। और कृष्ण ने जो उसे अपना विराट् रूप दिखाया, वह इसलिए नहीं दिखाया कि उसका समर्पण था और वह विराट् देखने के योग्य हो गया था; उसका अहंकार था, और अहंकार मिटेगा नहीं, जब तक वह विराट् के नीचे दब न जाय, टूटेगा नहीं।

तो पहली घटना तो अहंकार से ही उपजी थी, संदेह से उपजी थी। दूसरी घटना सात अध्यायों के बाद समर्पण से उपजी है।

अब उसने अपने को कृष्ण के चरणों में छोड़ा है। उसने कहा, 'जो तुम्हारी आज्ञा, जो तुम्हारी मरजी। मुझे स्मृति उपलब्ध हो गयी। मेरा प्राण थिर हुआ, प्रज्ञा स्थिर हुई। अब मैं देखने में समर्थ हुआ हूँ। जीवन का सब राज मुझे दिखायी पड़ गया है—तुम्हारी प्रसाद-रूप कृपा से। अब तुम्हारी जो आज्ञा। अब मैं नहीं हूँ; अब तुम ही हो। अब तुम जो कराओ, वही होगा। पहले भी तुम जो करा रहे थे, वही हो रहा था; लेकिन मैं समझता था कि मैं कर रहा हूँ। अब सच बात दिखायी पड़ गयी।'

होता तो वैसा ही है—जैसा परमात्मा करवाता है; तुम चाहे मानो या न मानो—इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। न मानने से तुम सिर्फ अज्ञान में जीते हो; मानने से तुम बोध को उपलब्ध हो जाते हो। होता तो वही है—जो वह कराता है। रत्तीभर भी फर्क नहीं पड़ता—तुम्हारे करने से। लेकिन तुम्हें बहुत फर्क पड़ जाता है—जमीन-आसमान का फर्क पड़ जाता है।

अब यह जो घटना घटी है, यह समर्पण से घटी है, श्रद्धा से घटी है। संदेह जा चुका है। स्मृति उपलब्ध हुई है।

यह बड़ा प्यारा उद्घोष है कि 'मुझे स्मृति उपलब्ध हुई; मैं जाग गया; मैं अपने को देख लिया हूँ। अब कोई झंझट नहीं। अब मैं जानता हूँ कि मैं हूँ ही नहीं।'

अब यह बड़े मजे की बात है। जिन्होंने अपने को नहीं देखा, वे मानते हैं कि हैं; और जिन्होंने अपने को देखा, उन्होंने जाना कि वे नहीं हैं। जो अपने से मिले नहीं, उनको पक्का भरोसा है कि वे हैं; और जिन्होंने अपने से मुलाकात की, उन्होंने पाया कि वहाँ कोई है ही नहीं, घर सूना है; सिर्फ परमात्मा की आवाज गूँजती है—वही है।

जो अपने भीतर गये, उन्होंने परमात्मा को पाया, स्वयं को कभी पाया ही नहीं। जो अपने से बाहर-बाहर रहे, उन्होंने स्वयं को पाया।

इसलिए तो कबीर उलटबाँसियाँ कहते हैं। वे कहते हैं, बड़ी उलटी बातें संसार में हो रही हैं। वे कहते हैं कि 'मैंने देखा कि नदी में आग लगी है; मैंने देखा कि मछलियाँ झाड़ पर चढ़ गयी हैं!' वे इसी बात की तरफ इशारा कर रहे हैं। कहते हैं: 'एक अचम्भा मैंने देखा, नदिया लागी आग।' वे इसी अचम्भे की तरफ कह रहे हैं कि जो है ही नहीं, जो हो ही नहीं सकता—नदी में आग लगना—वह मैंने होते देखा है।

तुम हो ही नहीं और तुम्हारे न होने में भी आग लगी है। तुम जले जा रहे हो, तड़फे जा रहे हो, परेशान हुए जा रहे हो; दौड़े जा रहे हो—उस अहंकार को भरने को, जो है ही नहीं! उसे भरने का उपाय भी कैसे हो सकेगा—जो है ही नहीं? होता तो भर भी लेते!

और जिन्होंने अपने को जाना—अब यह बड़े मजे की बात है—जिन्होंने अपने को जाना, उन्होंने यही जाना कि नहीं हैं। अज्ञानी 'हैं' और ज्ञानी 'नहीं हैं'!

लाओत्से इसीलिए बार-बार कहता है कि 'एक मुझको छोड़कर सभी समझदार हैं; एक मैं ही नादान हूँ; एक मैं ही पागल हूँ—यहाँ समझदारों की बस्ती में; सभी होशियार हैं, क्योंकि सभी को पक्का पता है कि वे हैं; एक मैं ही संदिग्ध हो गया हूँ; एक मेरी ही नींव कट गई है, जड़ें कट गई हैं; मुझे ही पता है कि मैं नहीं हूँ; एक मैं ही कंप रहा हूँ हवा के झोंकों में, बाकी लोग तो थिर खड़े हैं, बड़े अडिग खड़े हैं!'

यह घटना घट रही है। यह अचम्भा रोज़ घट रहा है। जिस क्षण अर्जुन ने अपने को देखा, कहा, 'तुम्हारी जो आज्ञा, क्योंकि तुम्हीं हो। और मैं इनकार करूँ तो भी कर नहीं सकता हूँ, क्योंकि मैं हूँ नहीं। और जो मैंने अब तक इनकार किये थे, वे सब झूठे हो गये—सपने में किये होंगे। क्योंकि यह हो ही कैसे सकता है; जब मैं ही न था, तो इनकार कैसे होते?''

इसको कहते हैं, 'मुझे अपनी स्मृति आ गयी!' और स्मृति आते ही प्रज्ञा थिर हो जाती है।

जब मैं हूँ ही नहीं तो कंपेगा कौन? क्या ऐसी कोई पत्ती कंप सकती है तूफानों में—जो है ही नहीं? जब तक पत्ती है, कंपेगी; छोटा-सा भी हवा का झोंका आयेगा तो कंपेगी;





और तूफान आएँगे, तब तो बहुत कंपेगी—विक्षिप्त होकर कंपेगी। हाँ; पत्ती हो ही न, तो फिर क्या कंपेगी?

बुद्ध एक गाँव से गुज़रे हैं। लोगों ने गालियाँ दी हैं। और उन्होंने कहा कि 'ठीक, तुम्हें जो करना था, तुमने किया; अब मैं जाऊँ? मुझे दूसरे गाँव जल्दी पहुँचना है।' पर उन्होंने कहा, 'हमने जो गालियाँ दी हैं, उनका क्या?' तो बुद्ध बहुत हँसने लगे। उन्होंने कहा, 'तुम थोड़ी देर से आये। दस वर्ष पहले आना था—तब मैं था। तब तुम्हारी गालियों के उत्तर मुझसे निकलते। अब कौन उत्तर दे? तुम गालियाँ देते हो, यहाँ भीतर सन्नाटा है। वहाँ उत्तर देनेवाला अब नहीं है।'

उसी दिन प्रज्ञा थिर होती है—जिस दिन तुम मिट जाते हो। जब तक तुम हो, तब तक थिरता न आएगी। स्थितप्रज्ञ वही हो पाता है, जो शून्यभाव को उपलब्ध हो जाता है।

यह था अन्तराल: सात अध्याय पूर्व उधार थी दृष्टि; सात अध्याय बाद दृष्टि अपनी है।

उधार का भरोसा मत करना; दो कौड़ी उसका मूल्य नहीं है। अपनी ही खोज करना।

बुद्ध पुरुषों से संकेत लेना, सत्य मत लेना। सत्य तो कोई किसी को दे नहीं सकता। उनसे मार्ग लेना, मंजिल मत ले लेना। मंजिल तो कोई किसी को दे नहीं सकता। वे इशारा करें, उनके इशारे पर चलना, लेकिन चलना तुम्हीं। यह मत सोचना कि बुद्ध पुरुष तुम्हारे लिए चलें, और तुम उनकी आँखों से देख लोगे और उनके पहुँचने में तुम पहुँच जाओगे।

नहीं; कृष्ण जैसा पुरुष भी अपनी आँख देकर अर्जुन को केवल पीड़ा ही दे पाता है, कोई आनंद नहीं दे पाता। उधार आँख का कोई भी मूल्य नहीं है।

तुम बुद्ध पुरुषों के हृदय से न धड़क सकोगे; धड़कोगे भी तो घबड़ा जाओगे, क्योंकि वह हृदय बड़ा है, वह विराट् है। उसमें तुम तूफानों की गूँज पाओगे, आँधियों का अँधड़ पाओगे, पहाड़ों का गिरना पाओगे—सृजन पाओगे, प्रलय पाओगे। उस धड़कन को तुम सह न पाओगे। तुम्हारा छोटा-सा हृदय, घड़ी की तरह टिकटिक होनेवाला हृदय, उस विराट् उथल-पुथल को सह न पाएगा। तुम उसके नीचे दबकर मिट जाओगे।

तो अगर कृष्ण जल्दी ही न खींच लें—अपनी दृष्टि को वापस, तो अर्जुन खो जाएगा, जल जाएगा, भस्मीभूत हो जाएगा।

नहीं; दृष्टि उधार नहीं पायी जा सकती। दृष्टि के लिए स्वयं को निखारना जरूरी है।

● तीसरा प्रश्न: जर्मन विचारक शापेनहार ने जब गीता पढ़ी, तो उसे सिर पर उठाकर नाचने लगा; फिर क्या वह कृष्ण-चेतना की ओर अग्रसर हुआ? और बर्ट्रेंड रसेल ने भी गीता पढ़ी, परन्तु वे कृष्ण से बहुत प्रभावित नहीं हुए। सम्भवतः वे बुद्ध से प्रभावित हुए हैं। फिर भी वे बुद्ध के भी शिष्य नहीं बने! इन दोनों घटनाओं पर कुछ प्रकाश डालें।

शापेनहार और रसेल की चित्त-दशा बिलकुल अलग-अलग है। शापेनहार विषाद

की दशा में है--वहीं जहां अर्जुन।

शापेनहार पश्चिम का सबसे दु:खवादी विचारक है--उदास; जीवन सिर्फ एक संताप है ! वह विषाद-योग की दशा में था--जब उसके हाथ में गीता पड़ी। सब तरफ उसने खोजा था। लेकिन उसका विषाद मिटता नहीं था, घना होता था। वह अर्जुन की ही भाव-दशा में था।

बहुत प्रगाढ विचारक था शापेनहार। प्रगाढ विचारक विषाद की अवस्था में पहुँच ही जाते हैं। उसे कोई किरण न दिखाई पड़ती थी। अँधेरा ही अँधेरा था ! अमावस की रात थी। कहीं सुबह होती भी है--इसका भी भरोसा खो गया था। और तब उसके हाथ में गीता पड़ी--ऐसे जैसे प्यासे को मरुस्थल में अचानक झरना मिल गया ! वह झरने का कलकल नाद अगर अचानक मरुस्थल में मिल जाय, तो तुम तानसेन के संगीत को सुनना पसंद न करोगे, सब संगीत फीके हो जाएँगे। वह नाद अद्‌भुत होगा, क्योंकि तुम्हारी प्यास से मेल खाएगा।

संयोग की बात थी : शापेनहार ठीक अर्जुन की दशा में था, और गीता उसके हाथ पड़ गयी। गीता उसने पढ़ी और एक ही बैठक में पढ़ गया। वह आँख न झपक सका। श्वास अवरुद्ध हो गयी। उठायी गीता--सिर पर--और नाचने लगा। हार कर लोगों ने, परिवार के लोगों ने, मित्रों ने, शिष्यों ने समझा कि अब वह पूरा पागल हुआ। डर तो उन्हें पहले से था कि इतने विषाद में कोई रहेगा, तो पागल हो जाएगा; अब हो गया पागल ! यह क्या पागलपन है ? लेकिन शापेनहार ने कहा, 'जिस किरण का मुझे भरोसा नहीं था, वह किरण का भरोसा मिला। यात्रा लम्बी है। मंजिल मिले या न मिले; पर भरोसा मिल गया है। गीता में मुझे किरण मिल गयी, झलक मिल गयी।'

नहीं कि वह महात्मा हो गया; हो जाएगा किसी जन्म में। क्योंकि जहाँ आशा है, वहाँ सुबह ज्यादा दूर नहीं। देर-अबेर शापेनहार घर लौट गया होगा, या लौट जाएगा। लेकिन विषाद अकेला नहीं रहा; विषाद में--अँधेरे-भरे घर में एक सूरज की किरण उतर आई। अब उस किरण के सहारे को लेकर सूरज तक जाया जा सकता है। लम्बी यात्रा है। लेकिन सूरज भी कहीं होगा, अन्यथा किरण नहीं हो सकती थी। कृष्ण की किरण उसे छू गयी।

रसेल विषाद में नहीं था, इसलिए चित्त-दशा राज़ी ही नहीं थी। रसेल साधारण प्रसन्नचित्त आदमी था। उदासी और दु:ख से उसका कोई तालमेल नहीं। और जब विषाद ही न हो, तो गीता शुरू नहीं होती। इसलिए तो गीता विषाद-योग से शुरू होती है।

जो अभी जीवन में दु:खी ही नहीं हुआ, उसे अभी जीवन की पीड़ा ही नहीं दिखायी पड़ी, उसने जीवन की रात ही नहीं पहचानी, काँटे का ही अनुभव नहीं हुआ--अभी उससे गीता का मेल नहीं होगा।





रसेल ने पढ़ ली होगी--ऐसे ही जैसे बिन प्यासे आदमी के पास से जल की धार बहती रहे। देख ली, आँख उठा ली; बाकी उस देखने से कोई नाचेगा नहीं। बिन प्यासे आदमी के पास से जल का कलकल नाद होता रहे, थोड़ी देर में उसे लगेगा कि 'बन्द करो यह शोरगुल, कोई काम ही नहीं हो पाता।' उसे उस कलकल नाद में जीवन का परम संगीत नहीं सुनायी पड़ेगा।

ध्यान रखना : भीतर प्यास हो, तो ही बाहर जल में संगीत सुनायी पड़ सकता है।

रसेल ठीक अवसर में नहीं था। ठीक क्षण न था--जहाँ गीता से मेल हो जाय। चूक गया। बुद्ध से थोड़ा मेल रसेल का हुआ, क्योंकि बुद्ध प्रखर बुद्धिवादी हैं; यद्यपि बुद्धि के पार ले जाते हैं, लेकिन बुद्धि के ही माध्यम से ले जाते हैं।

कृष्ण का सूत्र तो समर्पण है। बुद्ध का सूत्र समर्पण नहीं है। बुद्ध का सूत्र तो ध्यान है।

बुद्ध तो कहते हैं, बुद्धि से विचार करो--जितना कर सकते हो, अन्ततः करो, आत्यन्तिक रूप से विचार करो। और ऐसी घड़ी आ जाएगी कि विचार करते-करते ही तुम विचार के पार हो जाओगे; क्योंकि विचार की एक सीमा है, और तुम्हारी सीमा नहीं है। लेकिन विचार से ही तुम पाओगे।

बुद्ध का धर्म बुद्धि का धर्म है। रसेल को जमा। रसेल को जीसस भी इतने नहीं जमते हैं, यद्यपि वह ईसाई घर में पैदा हुआ है। क्योंकि जीसस का भी तालमेल कृष्ण से ज्यादा है--समर्पण, प्रार्थना, भक्ति-भाव ! तर्क पर नहीं है ज़ोर जीसस का। लेकिन बुद्ध बड़े तर्कनिष्ठ हैं। इसलिए दुनिया में जो आदमी भी तर्कनिष्ठ है, वह बुद्ध से निश्चित प्रभावित होगा।

लेकिन बुद्ध के साथ यह रसेल बहुत दूर तक न गया। वह वहीं तक गया, जहाँ तक बुद्ध रसेल के साथ गये। इस फर्क को समझ लेना।

जहाँ तक बुद्ध रसेल के साथ गये, वहाँ तक रसेल उनके साथ गया। उसके आगे रास्ते अलग हो गये। फिर वह बुद्ध के साथ नहीं गया, इसलिए बुद्ध का शिष्य नहीं बना।

जहाँ तक रसेल के साथ बुद्ध ने मेल खाया, रसेल ने कहा, 'बिलकुल ठीक।' जहाँ मेल भिन्न हुआ, टूटा, रसेल ने बुद्ध से कहा, 'अपने रास्ते और तुम्हारे रास्ते अलग; अब हम अलग-अलग जाते हैं। यहाँ तक साथ रहा, ठीक; लेकिन यात्रा सदा हमारी साथ नहीं हो सकती। अब तुम गड़बड़ बात करते हो !'

क्योंकि रसेल मानता है कि बुद्धि के ऊपर कोई तत्त्व है ही नहीं। इस सम्बन्ध में वह बहुत मताग्रही है। वह कहता है, 'बुद्धि आखिरी तत्त्व है। इसके ऊपर तुमने बात की कि अंधविश्वास शुरू हुआ। इसके ऊपर तुमने बात की कि फिर तुमने उपद्रव शुरू किया--फिर दुनियाभर के उपद्रव आ जाएँगे : भूत-प्रेत, भगवान्--सब पीछे से आ जाएँगे; मोक्ष, स्वर्ग, नरक, पाप-पुण्य, पादरी, पुरोहित, पंडित--सब आ जाएँगे। जैसे ही तुमने

तर्क का साथ छोड़ा कि ये सब अँधेरे के वासी एकदम प्रवेश कर जाएँगे।' और रसेल कहता है, 'इनसे बचना है।' रसेल कहता है, धर्म से बचना है।

रसेल की बात में थोड़ी सचाई है, क्योंकि धर्मों ने बहुत अहित किया है। अहित इसीलिए किया है कि धर्म धर्म नहीं रहे—सम्प्रदाय हो गये। लेकिन अहित तो हुआ है। मनुष्य को अँधेरे में डाल रखने में सहयोगी बन गये धर्म। ले जाना था—प्रकाश की तरफ, ले नहीं गये। कारागृह बन गये; बनना थी—मुक्ति, स्वतंत्रता। जंजीरें ढालीं उन्होंने। प्राणों में पंख न लगाये कि तुम आकाश में उड़ जाते। चर्च और मंदिर और मसजिद और गुरुद्वारे तुम्हें घेर कर खड़े हो गये—वे जेलखाने बन गये। उनमें तुमने स्वतंत्रता का संगीत न सुना; कारागृह की बास, दुर्गंध आयी।

रसेल भी ठीक कहता है कि इससे ऊपर जाने में खतरा है। इसलिए इससे आगे वह बुद्ध के साथ नहीं जाता। इसलिए उनका शिष्य भी नहीं बन पाता। उसकी जरूरत नहीं है अभी। अभी विचार उसको काफी मालूम पड़ता है।

जरूरत का सवाल है।

जैसे एक सात साल का बच्चा है, काम-वासना की उसे अभी ज़रूरत नहीं है; चौदह का होगा, तब ज़रूरत होगी। एक समय होता है—हर चीज़ का।

अगर विचार में रसेल चलता ही चला जाय, तो एक दिन शापेनहार की स्थिति में आयेगा। विचार विषाद में ले जाएगा। और जब विचार विषाद में ले जाएगा, तब सम्बन्ध जुड़ेगा; तब या तो वह बुद्ध के साथ जाने को राज़ी हो जाएगा—विचार के पार, या कृष्ण के साथ राजी हो जाएगा—समर्पण को।

जहाँ तुम्हारे विचार की समाप्ति होती है—वहीं बुद्ध, कृष्ण, क्राइस्ट खड़े हैं। तुम्हारी विचार की सीमा के पार खड़े हैं। जब तक तुम विचार के खिलौनों से खेल रहे हो, तब तक तुम्हारा उनसे सम्बन्ध न होगा।

रसेल बहुत प्रगाढ विचारक नहीं है। अगर प्रगाढ विचारक हो, तो विषाद पैदा होगा। क्योंकि जिसने गौर से देखा, उसे दुःख दिखायी पड़ेगा ही। दुःख है। और जिसे दुःख दिखायी पड़ेगा, वह आनंद की खोज में निकलेगा ही। क्योंकि दुःख से प्राण राज़ी नहीं होते हैं।

अब सूत्र।

इसके उपरान्त संजय बोला, 'हे राजन्, इस प्रकार मैंने श्री वासुदेव के और महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत, रहस्ययुक्त और रोमांचकारक संवाद को सुना।'

थोड़ा जीवंत, थोड़ा प्राणवान चैतन्य हो, तो सुनकर भी द्वार खुलने लगेंगे।

बात संजय से कही न गयी थी। संजय तो केवल एक गवाह है। कही थी—किसी और ने, कही थी—किसी और के लिए। संजय तो एक प्रत्यक्षदर्शी गवाह है—एक





चश्मदीद गवाह है। संजय तो सिर्फ एक साक्षी है। उसने वही दोहरा दिया है—अंधे धृतराष्ट्र के सामने—जो घटा था। संजय तो एक रिपोर्टर है—एक अखबारनवीस। लेकिन उसके जीवन में भी कुछ घटने लगा।

सत्य की महिमा ऐसी है कि तुम उसके निकट जाओगे, तो वह तुम्हें छू ही लेगा। तुम शायद गवाही की तरह ही गये थे, या तुम सिर्फ एक दर्शक की भाँति गुज़रे थे—लेकिन सत्य की महिमा ऐसी है, उसका रहस्य ऐसा है कि तुम्हारे हृदय में कुछ होना शुरू हो जाएगा। तुम दर्शक की भाँति गये हो, लेकिन दर्शक की भाँति वापस न लौट सकोगे।

अभी ऐसा हुआ। एक युवक अफ्रीका से मुझे मिलने आया। वह मुझे मिलने निकला ही नहीं था। जा रहा था न्यूज़ीलैंड। जिस हवाई जहाज़ में सफर कर रहा था, उसमें एक संन्यासी मिल गया। उत्सुकता जगी। माला देखी, चित्र देखा। पूछा। तो उसने सोचा कि एक दिन के लिए उतर जाऊँ। कुतूहलवश आया था। सब छोड़कर न्यूज़ीलैंड जा रहा था—अफ्रीका से। वहीं बसने का इरादा था। यहाँ आया, मुझे मिला। कुछ बात छू गयी। दिन लम्बाने लगे। एक दिन की जगह सात दिन रुका—सात दिन की जगह तीन सप्ताह रुका। फिर संन्यस्थ हो गया। फिर न्यूज़ीलैंड जाने की बात छोड़ दी।

फिर एक दिन वह मुझसे आकर कहने लगा, 'यह भी अजीब बात हुई! कभी स्वप्न में सोचा नहीं था कि संन्यस्थ हो जाऊँगा। संन्यास शब्द से ही कभी कोई सम्बन्ध न था। कभी यह भी न सोचा था कि मैं कोई धार्मिक व्यक्ति हूँ। चर्च से मेरा कोई नाता नहीं रहा। जा रहा था किसी और प्रयोजन से, योजना कुछ और बनाई थी—कुछ का कुछ हो गया। और अब?—अब क्या करूँ?' वह मुझसे पूछने लगा, 'अब कहाँ जाऊँ? अफ्रीका वापस लौट जाऊँ? न्यूज़ीलैंड जाऊँ? कि यहीं रह जाऊँ?'

मैंने उससे कहा, 'तू सोच ले—जहाँ तुझे जाना हो।' उसने कहा कि 'अब न सोचूँगा, क्योंकि सोचकर तो न्यूज़ीलैंड जा रहा था! और वर्षों से सोच रहा था। और सब इंतज़ाम करके निकला था। सब बेच-बाच कर आया हूँ। पीछे सब समाप्त कर आया हूँ। आगे जाने की कोई जगह न रही। और जहाँ बीच में आज खड़ा हूँ, यहाँ कभी सोचा न था। तो जब अन-सोचा होता है और सोचा नहीं होता, तो अब सोचना क्या! आप ही कह दें। जो आज्ञा!'

कभी दर्शक भी, कभी कुतूहलवशात आ जाय—सत्य के करीब, तो उसके हृदय में भी रोमांच हो जाता है।

'इसके उपरान्त संजय बोला, हे राजन्, इस प्रकार मैंने श्री वासुदेव के और महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत, रहस्ययुक्त और रोमांचकारक संवाद को सुना।' मेरा भी रोमांच हो गया है! मैं भी आपूरित हो गया हूँ! सुन-सुनकर मैं भी और हो गया!

और संजय कहता है, 'महात्मा अर्जुन'! उसने एक अपूर्व जन्म देखा है। वह एक

ऐसे जन्म की घटना का गवाह रहा है कि कोई दूसरा ऐसा गवाह खोजना मुश्किल है : जिसने संदेह को समर्पण बनते देखा; जिसने अहंकार को विसर्जित होते देखा; जिसने योद्धा को संन्यासी बनते देखा; जिसने क्षत्रिय के अहंकार को ब्राह्मण की विनम्रता बनते देखा; जिसने अर्जुन का नया जन्म देखा; शुरू से लेकर—अ से लेकर आखीर तक, पूरी जीवन-यात्रा देखी। वह कहता है, 'महात्मा अर्जुन'! अब 'साधारण अर्जुन' कहना ठीक न होगा।

'श्री व्यास जी की कृपा से दिव्य दृष्टि द्वारा मैंने इस परम रहस्ययुक्त गोपनीय योग को साक्षात् कहते हुए स्वयं योगेश्वर श्री कृष्ण भगवान् से सुना है। इसलिए हे राजन्, श्री कृष्ण भगवान् और अर्जुन के इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवाद को पुनः पुनः स्मरण करके मैं बारम्बार हर्षित होता हूँ।'

—जैसे एक झरना भीतर कलकलित हो रहा है; जैसे भीतर एक फुहार पड़ी जाती है; बार-बार मेघ घिर आते हैं, बार-बार बरसा हो जाती है!

'बारम्बार हर्षित होता हूँ—स्मरण कर-करके!' जो देखा है वह अपूर्व है। जैसा आँखों से देखा नहीं जाता—ऐसा देखा है! जो कभी सुना नहीं—ऐसा सुना है! और जो घटना देखी है—भरोसे के योग्य नहीं है!

अहंकार समर्पण बन जाय, इससे ज्यादा रहस्ययुक्त घटना इस संसार में दूसरी नहीं है। इससे बड़ी कोई रोमांचकारी घटना नहीं है। यह अपूर्व है। यह असाधारण से भी असाधारण बात है।

और व्यक्ति तब तक साधारण ही रहता है, जब तक अहंकार में रहता है। जिस दिन अहंकार समर्पण बनता है, उस दिन व्यक्ति भी असाधारण हो जाता है। उसके पैर जहाँ पड़ते हैं, वहाँ मंदिर हो जाते हैं। वह मिट्टी छूता है और स्वर्ण हो जाती है। उसकी हवा में काव्य होता है। उसके स्पर्श से सोये लोग जाग जाते हैं—मृत जीवित हो जाते हैं।

मरे हुए अर्जुन को पुनः जीवित होते देखा है। हाथ-पाँव शिथिल हो गये थे, गांडीव छूट गया था; उदास, थका-माँदा अर्जुन बैठ गया था। विषाद की कथा को आनंद तक पहुँचते देखा है! नरक से स्वर्ग तक की पूरी की पूरी सोपान-सीढ़ियाँ देखी हैं!

'पुनः स्मरण करके बारम्बार हर्षित होता हूँ।'

'तथा हे राजन्, श्री हरि के उस अद्भुत रूप को भी पुनः पुनः स्मरण करके मेरे चित्त में महान् आश्चर्य होता है।'

कितनी करुणा! कितनी बार अर्जुन छूटा; भागा; फिर-फिर खींचकर उसे ले आये। ज़रा भी नाराज़ न हुए! एक बार भी उदासी न दिखाई! कितना अर्जुन ने पूछा, थका डाला पूछ-पूछकर—वही-वही बात, लेकिन कृष्ण उदास न हुए; वे फिर-फिर वही कहने लगे; फिर-फिर नये द्वारों से कहने लगे—नये शब्दों में कहने लगे!





कृष्ण पराजित न हुए! अर्जुन का संदेह पराजित हुआ—कृष्ण की करुणा पराजित न हुई। अर्जुन का अज्ञान पराजित हुआ—ज्ञान कृष्ण का, पराजित न हुआ।

'महान आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार हर्षित होता हूँ।'

संजय कुछ कह नहीं पा रहा; बार-बार कहता है, 'बस, हर्षित हो रहा हूँ।' एक गीत बज रहा है भीतर। नाचने का मन हो रहा है।

और उसे कुछ भी नहीं हुआ है। वह दूर खड़ा दर्शक है।

धन्यभागी हैं वे भी, जो धर्म के दर्शक बन जायँ। धन्यभागी हैं वे भी, जो मंदिर के पास से गुज़र जायँ और जिनके कानों में मंदिर की घंटियों का नाद भी पड़ जाय! क्योंकि वह भी हर्षित करेगा।

'हे राजन, विशेष क्या कहूँ! जहाँ योगेश्वर श्री कृष्ण भगवान् हैं और जहाँ गांडीव धनुषधारी अर्जुन है, वहीं पर विजय है, श्री है, विभूति है, अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है।'

और वह यह कह रहा है कि माना कि आपके पुत्र विपरीत खड़े हैं और आपका (पिता का) हृदय चाहेगा कि वे जीत जायँ, लेकिन यह असंभव है। क्योंकि जहाँ कृष्ण भगवान् हैं—और जहाँ महात्मा अर्जुन है—वहीं होगी नीति, वहीं होगा सत्य, वहीं होगी श्री, वहीं होगी सम्पदा, वहीं आएगी विजय।

सत्य ही जीतता है—असत्य नहीं।

तो संजय कहता है, माना, आपके (पिता के) हृदय को मैं समझता हूँ कि आप चाहेंगे कि आपके बेटे जीत जायँ, लेकिन यह हो नहीं सकता। यह असम्भव है। सत्य ही जीतेगा। सत्य ही जीतना भी चाहिए।

विषाद से शुरू होनेवाली यह गीता—सत्य की विजय पर पूरी हो जाती है।

विषाद में तुम हो। गीता के इशारे तुम्हारे काम पड़ जायँ, तो सत्य की विजय-यात्रा तुम्हारी भी पूरी हो सकती है।

कोई भी कारण नहीं है, जो अर्जुन को हुआ, वह सभी को हो सकता है। कोई भी बाधा नहीं है।

जितनी बाधाएँ अर्जुन को थीं, उससे ज्यादा तुमको नहीं हैं। जितना अज्ञान अर्जुन का था, उससे ज्यादा तुम्हारा नहीं है।

इसलिए अगर तुम राज़ी हो—जैसा अर्जुन राज़ी था; संदेह के बावजूद भी राज़ी था; संदेह के बावजूद भी कृष्ण के साथ चलने को राज़ी था; संदेह के बावजूद भी खोजने की उत्सुकता थी—तो पहुँच गया मंजिल पर। प्रत्येक व्यक्ति पहुँच सकता है। परमात्मा प्रत्येक व्यक्ति के भीतर की स्वभाव-सिद्ध संभावना है।

गीता के ये सारे वचन हज़ार-हज़ार बार मैंने दोहरा कर तुमसे कहे—इस आशा

में ही कि किसी क्षण में, किसी मनोभाव की दशा में चोट पड़ जाएगी, तीर लग जाएगा। तीर लगा हो, तो उसे सम्हालना। उसकी पीड़ा अमृतदायी है। उस पीड़ा को सींचना।

संसार में मिला सुख भी असार है। परमात्मा के मार्ग पर मिला दुःख भी अहोभाग्य है।

उसे पाने में कितनी ही कठिनाई हो, जिस दिन तुम पाओगे, उस दिन जानोगे—कठिनाई कुछ भी न थी। क्योंकि जो मिलेगा, वह अमूल्य है। तुम किसी भी मूल्य से उसे कूत नहीं सकते। जब तक नहीं मिला, तब तक भले लगे कि बड़ी कठिनाई है; जिस दिन मिलेगा, उस दिन तुम भी कहोगे, 'तेरे प्रसाद से!'

गीता समाप्त हो जाती है—लेकिन तुम्हारी यात्रा शुरू होती है! और सम्हलकर चले, होशपूर्वक चले, तो एक दिन जरूर वह अहोभाग्य की घड़ी आएगी, जब तुम्हारी स्मृति जगेगी; तुम्हें अपना स्मरण आयेगा; भूला विस्मरण—भूला-बिसरा अपना स्वरूप याद आयेगा; तुम्हारी प्रज्ञा थिर होगी! और उसी दिन इस जगत् के सारे रहस्य तुम्हारे लिए खुल जाएँगे! तुम फिर याद कर-करके ही आनंदित होओगे—आह्लादित होओगे! फिर तुम्हारा रोआँ-रोआँ पुलकित होगा! तुम्हारी धड़कन-धड़कन स्वर्ग के सुख से भर जाएगी!

जब तक तुम्हें स्मरण नहीं आया अपना, तब तक दुःख है, तब तक महा अंधकारपूर्ण रात्रि है जीवन, अमावस है। जैसे ही स्मरण आया, फिर कोई रात्रि होती ही नहीं। फिर दिवस ही दिवस है।